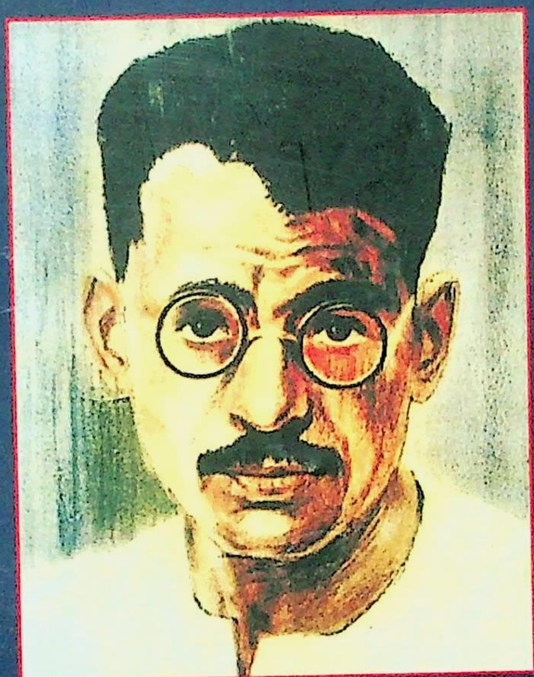


युगपुरुष
गणेशशंकर विद्यार्थी
व्यक्तित्व और कृतित्व



संपादक - श्री तिलक



दुबले-पतले शरीर में कैद एक बहुत बड़ी हस्ती, पद की लालसा से मुक्त, पैसे के प्रलोभन से परे और प्रतिष्ठा की प्यास से कहीं ऊपर; लेखक, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, वक्ता, संगठनकर्ता, एक छटपटाती आत्मा, न्याय के लिए संघर्ष में सुख अनुभव करनेवाले; एक समर्पित जीवन, जो आदर्श के लिए जिया और आदर्श की वेदी पर कुरबान हो गया।

गणेशशंकर विद्यार्थी एक बहुमुखी व्यक्तित्व, जिसका काम था देशवासियों को जगाना, शिक्षित करना, लामबंद करना, आजादी की लड़ाई में उन्हें आगे बढ़ाना, प्रोत्साहित करना और ललकारना। संघर्ष उसका पेशा था और जन-साधारण उसका हथियार।

अपने आदर्श की प्राप्ति में उन्होंने कभी कठमुल्लापन नहीं बरता। उनका दरवाजा अहिंसावादियों और क्रांतिकारियों दोनों के लिए समान रूप से अंत तक खुला रहा। गुलामी, अन्याय, असमानता, शोषण, छुआछूत, सामंती अत्याचार आदि के खिलाफ संघर्ष में ईमानदारी के साथ जूझनेवाला हर सिपाही उनका अपना था, भले ही उसके द्वारा अपनाये गए संघर्ष के तौर-तरीके उनसे मेल न खाते हों।

बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न विद्यार्थीजी के व्यक्तित्व के बहुत से रूप थे और हर रूप हर छवि दूसरी से बढ़कर थी—आकर्षक और लुभावनी। अपने जीवन में अपनी ही कलम से अपने अलग-अलग रूपों को समय-समय पर उन्होंने पाठकों के सामने जिस शक्ल में प्रस्तुत किया था, उनको बटोरकर उस चयन से जो कुछ बन पाया, वह पुस्तक प्रस्तुत है।

विश्ववि...ात स्मारक

युगपुरुष

गणेशशंकर विद्यार्थी

व्यक्तित्व और कृतित्व

भाग-1

(खंड 1 से 5)



प्राक्कथन
स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि

समापन
आला हज़रत मौलाना कल्बे सादिक

प्रेरणा
शिव वर्मा

परिकल्पना
डॉ. वी.सी. पांडेय

मार्गदर्शन
आचार्य रामकृष्ण तैलंग

निर्देशन
पंडित विष्णु त्रिपाठी

संपादक मंडल
डॉ. बृजलाल वर्मा   डॉ. संतशरण अवस्थी   डॉ. प्रतीक मिश्र
मनोज कपूर   श्रीप्रकाश गुप्त   विश्वबन्धु बाजपेई

कार्यकारी संपादक
रामकिशोर बाजपेयी

प्रबंध संपादक
योगेश श्रीवास्तव

संपादक
श्री तिलक

पांडुलिपि
राजकुमार यादव

छायांकन
गजेन्द्र सिंह

सज्जा
सिद्धेश्वर अवस्थी

आवरण
योगी

संयोजन
यदुपति सिंहानिया

प्रस्तुति
डॉ. गौरहरि सिंघानिया

गणेशजी के अभिन्न श्रद्धेय पितामह स्व. कमलापतजी सिंघानिया
की पुण्य स्मृति में

युगपुरुष

गणेशशंकर विद्यार्थी

व्यक्तित्व और कृतित्व

भाग-1

संपादक

श्री तिलक


प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

ISO 9001:2008 प्रकाशक

प्रकाशक • **प्रभात प्रकाशन**
4/19 आसफ अली रोड,
नई दिल्ली–110002
संस्करण • प्रथम, 2013
मूल्य • सात सौ रुपए (प्रति खंड)
चौदह सौ रुपए (दो खंडों का सैट)
मुद्रक • भानु प्रिंटर्स, दिल्ली

GANESHSHANKAR VIDHYARTHI (VOL. I)
Published by Prabhat Prakashan, 4/19 Asaf Ali Road, New Delhi-2
Vol. I Rs. 700.00 ISBN 978-93-5048-271-1
Set of Two Vols. Rs. 1400.00 ISBN 978-93-5048-273-5
e-mail: prabhatbooks@gmail.com

स्वराज्य के आदि उद्घोषक
प्रकाण्ड पंडित, पत्रकार पुरोधा एवं उत्कट देशभक्त
लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
की पुण्य स्मृति को
असीम श्रद्धा सहित समर्पित

ॐ



संस्थापक
स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि
निवृत्त जगद्गुरु शंकराचार्य
ज्योतिर्मठ शाखा

भारत माता मंदिर
समन्वय कुटीर, सप्त सरोवर,
हरिद्वार-249410 (उत्तराखंड) भारत
Telephone : Office : 01334-260256, Fax : 01334-260981
Bharat Sadan : 01334-260111, Fax : 01334-260010

भारतवर्ष संतों, साध्वियों एवं शहीदों का देश है। संतों की तपश्चर्या, साध्वी सतियों का आत्मत्याग, धैर्य एवं शहीदों की निष्काम सेवा पूर्ण बलिदान ही संस्कृति-वृक्ष का सिंचन करते रहे हैं। इनके बिना देश काल-कवलित हो जाता और इतिहास के पृष्ठों का प्रसुप्त अध्याय बनकर रह जाता। महर्षि दधीचि के जीवन में तो संत की तपस्या एवं शहीदों के बलिदान, दोनों के दर्शन होते हैं। रानी पद्मिनी की जौहर ज्वाला में सौंदर्य की आहुति देनेवाली हजारों बहनों का स्मरण करते ही मन, बुद्धि, प्राण, शौर्य से परिपूर्ण हो जाते हैं। अन्याय को सहन न करने का गंभीर निनाद चित्तौड़ दुर्ग की चिता से आज भी सुनाई पड़ रहा है। फिरंगियों के अत्याचारपूर्ण शासन से देश को मुक्त कराने के लिए सैकड़ों नामी, अनामी व्यक्तियों ने जो बलिदान दिए, जीवन की खाद भारत भूमि को दी, स्वयं विलीन हो गए, किंतु शहीदी की जो सुगंध दे गए, वह अमिट है, अमर है। माँ के वैभव को अमरत्व प्रदान करने के लिए अपनी चार दिन की जिंदगी को जो सार्थकता शहीद देते हैं उसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता। हमारी प्रणति उसे अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

स्वातंत्र्य-समर के सेनानियों ने निर्वासन, अज्ञातवास, वेष-परिवर्तन, कारावास, अपमान और फाँसी के विषमय दारुण कष्ट झेले, किंतु भारतमाता की सेवा का परित्याग नहीं किया। उन अभिनव तपस्वियों को जितने भी वंदन समर्पित किए जाएँ, न्यून ही रहेंगे।

शहीद शिरोमणि गणेशशंकर विद्यार्थी ने आदर्श पत्रकार के रूप में कीर्तिमान स्थापित किया है। वे ऐसे आदर्श के आलोकस्तंभ हैं जिसका प्रकाश कभी मंद

नहीं होगा। अनेक बाधाओं के बीच उन्होंने 'प्रताप' दैनिक की स्थापना, प्रबंध-संपादन अकेले ही किया, उन प्रतिकूलताओं का आकलन कर पाना भी आज कठिन है। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, श्रेष्ठि-दरिद्र, सुपठित-अपठित के मध्य बनी रेखाओं को गणेशशंकर विद्यार्थीजी ने कभी स्वीकार नहीं किया। हिंदू-मुसलिम सद्भाव की स्थापना एवं राष्ट्रीय एकता के लिए अपने प्राण दे डाले। विद्यार्थीजी में गणेश का धैर्य और क्षमा तथा शंकर के तेज, शौर्य और सात्विक रोष का समावेश हुआ है, इसलिए उनका नाम 'गणेशशंकर' सार्थक हुआ है। उनकी लेखनी के तेज से शस्त्रधारी भी काँपते थे। कानपुर नगर को गौरव प्राप्त है कि यहाँ से प्रकाशित 'प्रताप' के ताप ने निरर्थक आलस्य की शीतलता में जीने वालों को उत्तप्त कर राष्ट्रसेवा में लगाया।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी लोकोत्तर महापुरुष थे। उनकी स्मृति में प्रकाशित 'युग पुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी' पूरे राष्ट्र को पुनः कर्तव्य पथ पर समारूढ़ कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

ग्रंथ के संपादक एवं प्रकाशक बधाई के पात्र हैं। शहीद का स्मरण परमात्मा के स्मरण के समान ही है। उनके इस दिव्य स्मरण यज्ञ में मुझ अकिंचन संन्यासी को भी उन्होंने ऋत्विक (होता) बना लिया है। मैं परमेश्वर से ग्रंथ के अधिकाधिक प्रसार हेतु प्रार्थना करता हूँ। राष्ट्र जागरण कार्य पूर्ण हो, यही सर्वसमर्थ भगवान से मेरी विनम्र अभ्यर्थना है।

स्वामी सत्यमित्रानन्द

(स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि)

डॉ. सै. कल्बे सादिक

सचिव, तौहीदुल मुस्लिमीन ट्रस्ट, लखनऊ
उपाध्यक्ष, ऑल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड
अध्यक्ष, इराज लखनऊ मेडिकल कॉलेज, लखनऊ
एम.यू. कॉलेज, अलीगढ़
अध्यक्ष, यूनिटी कॉलेज, लखनऊ
हजरत इमाम जैनुल आबेदीन (अ.) अस्पताल, लखनऊ

'यथा नाम तथा गुणा:' की कहावत को पूरी तरह से चरितार्थ करनेवाले श्री गणेशशंकर विद्यार्थीजी का संपूर्ण जीवन वास्तव में 'गागर में सागर' के समान है, जिसमें पाठक चाहे कितनी ही बार डुबकियाँ लगाएँ, हर बार उन्हें उनके व्यक्तित्व से संबंधित एक नई जानकारी मिलती है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी' के द्वारा उनके बहुआयामी चरित्र का चित्रांकन करने में जिस स्नेह एवं उदारता के साथ सबने इस सारस्वत कार्य में सहयोग दिया उसके लिए मैं समस्त गणमान्य साहित्यकारों, विचारकों, राजनीतिज्ञों, संस्थापकों, पत्रकारों, संपादक मंडल एवं प्रकाशन समिति के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अथक प्रयासों के द्वारा ही आज हम श्री गणेशशंकर विद्यार्थीजी जैसे तेजस्वी एवं कर्मठ व्यक्तित्व से पुन: परिचित हो सके हैं।

सन् 1931 ई. में 'चौबे गोला' कानपुर में हिंदू-मुसलिम सांप्रदायिकता की अग्नि से उन्मादित लोगों को शांत करने की प्रक्रिया में उन्होंने अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। उनके इस बलिदान से मन में बार-बार यही प्रश्न उठता है कि—क्या महात्मा गांधी और गणेश शंकरजी ने एक ही लक्ष्य को हासिल करने, हिंदू-मुसलिम एकता को बनाए रखने व ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कमजोर करने के लिए ही अपने प्राणों का बलिदान नहीं किया?

विचारणीय है कि राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी आज हमारा देश जिस भ्रष्टाचार व अनाचार की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है, इस बारे में अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थीजी अगर जीवित होते तो उनकी कितनी गंभीर प्रक्रिया होती—इस बात का तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रंथ वर्तमान समय में पूर्णत: उपयोगी है व देश और दुनिया को वर्तमान अँधेरे से बाहर लाकर 'विश्वबंधुत्व' के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करेगा। ऐसी शुभकामनाओं के साथ मैं इस ग्रंथ का पूरी तरह से स्वागत करता

हूँ। हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि इससे उत्साहित होकर पाठकगण विद्यार्थीजी के बताए रास्ते पर चलकर एक नए भारत का निर्माण करेंगे। यही इस ग्रंथ का मुख्य उद्‌देश्य है और यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि भी होगी।

(डॉ. सै. कल्बे सादिक)

भैरोंसिंह शेखावत



उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है। प्रातः स्मरणीय विद्यार्थीजी एक युग पुरुष थे, जिन्होंने जीवन भर सत्य और स्वतंत्रता की अमर ज्योति को प्रज्वलित करने का कार्य किया।

इसी उद्देश्य से उन्होंने कानपुर से 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारंभ किया था। उनका कहना था, ''मैं पत्रकार को सत्य का पुजारी मानता हूँ। सत्य को प्रकाशित करने के लिए वह मोमबत्ती की तरह जलता रहता है।'' उनके विचार में समाचार-पत्र को रात के चौकीदार की भूमिका का निर्वहन करना चाहिए, जिससे कोई चोर चोरी करने का साहस ही नहीं जुटा सके। उन्होंने न केवल यह सब कहा, बल्कि उन्होंने सदैव एक जुझारू पत्रकार के रूप में इन उच्च आदर्शों का पूरी निष्ठा के साथ अनुसरण किया।

विद्यार्थीजी लगभग तीन वर्ष तक उत्तर प्रदेश की प्रांतीय काउंसिल के सदस्य रहे। उन्होंने एक जागरूक विधायक के रूप में जिस गहन अध्ययन और निर्भीकता के साथ जन समस्याओं को सदन में उजागर किया, वह हमारे सभी निर्वाचित प्रतिनिधियों के लिए प्रेरणादायक है।

विद्यार्थीजी राष्ट्रीयता, सामाजिक समरसता और जनकल्याण के लिए प्रतिबद्ध थे। उनके जीवन आदर्शों से प्रेरणा लेकर हम समता, समृद्धि और स्वाभिमान की भावना से परिपूर्ण राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। मैं प्रकाशन समिति को बधाई देता हूँ कि वे 'युग पुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी-व्यक्तित्व और कृतित्व' ग्रंथ का प्रकाशन कर रहे हैं। मुझे आशा है कि नई पीढ़ी इस प्रकाशन से प्रेरणा प्राप्त करेगी।

मैं विद्यार्थीजी के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रकाशित ग्रंथ की सफलता के लिए शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

नई दिल्ली
26 सितंबर, 2005

(भैरोंसिंह शेखावत)

दो शब्द

काल की शिला पर लौह-लेखनी से लिखे गए ये अमिट आलेख उस महापुरुष की अलभ्य-अमर कृतियाँ और संस्मृतियाँ हैं जो भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम का एक प्रखर ज्योति-पुंज था। अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी विश्व इतिहास की उन गिनी-चुनी विभूतियों में से थे, जिनकी मौत महापुरुषों के लिए भी स्पृहा की वस्तु बन जाती है। सांप्रदायिकता के विषधर का फन कुचलते हुए गणेशजी ने अपने प्राण होम दिए थे—मानवता के लिए, राष्ट्र के उद्धार के लिए।

गणेशजी प्रतिभाओं के आगार थे। उनमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लोहा लेने का अदम्य साहस और उत्कट निर्भीकता थी, कुशल राजनीतिक नेतृत्व की अकूत क्षमता थी, सच्ची इंसानियत थी, गहन विवेक से वे परिपूर्ण थे, परम तेज और ओजस्विता थी उनमें। वे लेखनी-वीर थे। हिंदी पत्रकारिता के प्रकाश-स्तंभ थे। दुर्गा और सरस्वती, दोनों के वरद पुत्र थे। राष्ट्रीयता की साकार मूर्ति थे। वाग्मिता के धनी थे।

उनकी और उनसे संबद्ध रचनाओं में साहित्य है, इतिहास है, राजनीति है, दर्शन है, क्या कुछ नहीं है? वे युगों-युगों तक प्रेरणा के स्रोत हैं, संदेश की वाहिका हैं। उनमें यदि उत्कृष्ट राष्ट्रीयता की भावनाएँ और देश-प्रेम है, तो संप्रदायवाद, सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का प्रबल प्रतिरोध भी है। उनमें आक्रोश है, तो सत्परामर्श और सदेच्छाएँ भी हैं। आशा और आस्था है, तो क्षोभ और असंतोष भी है। तीव्र बौद्धिकता और नीतिमत्ता है, तो हार्दिकता और भावुकता भी है और सबसे बड़ी बात यह कि उनमें से प्रत्येक रचना में एक राह है—उजाले की राह।



उनकी और अन्य विद्वानों की ये रचनाएँ शोधार्थियों के लिए खजाने के रत्नकण हैं—दुर्लभ, विस्मृत। इतिहास के अध्येताओं और राष्ट्रीयता के प्रेमियों के लिए ये मूल्यवान रोचक सामग्री हैं, जो गणेशजी के प्रिय नीति श्लोक के साथ सादर प्रस्तुत है।

—संपादक

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव व मरण मस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

—**भर्तृहरि नीतिशतक (1/85)**

नीति में निपुण लोग चाहे निंदा करें अथवा प्रशंसा, लक्ष्मी आए अथवा अपनी इच्छा से चली जाए, आज ही मृत्यु हो जाए अथवा कालांतर में हो, धीर पुरुष न्याय के पथ से एक पग भी विचलित नहीं होते।

अनुक्रम

खंड-1
युग दधीचि

खंड-2
उनके संस्मरण

खंड-3
उनका 'प्रताप'

खंड-4
उनकी कलम से

खंड-5
उनके पत्र

खंड-6
उनका जेल जीवन

खंड-7
उनका विधायकत्व

खंड-8
उनके जन्माक्षर

खंड-9
उनका महाप्रयाण

खंड-10
उनके स्मारक

उनके कतिपय समकालीन

खंड-11
काव्याञ्जलि

खंड-12
श्रद्धाञ्जलि

परिशिष्ट

बलिदान के कुछ समय पूर्व
बलिदान स्थल, चौबेगोला, कानपुर
पार्थिव अवशेष
शोक संतप्त जन समूह
स्मृति चिह्न
अंतिम क्षणों के साथी
गयाप्रसाद पुस्तकालय
दंगाइयों के बीच
किशन पेन्टर की तूलिका से
प्रतिमा अनावरण समारोह
उमड़े श्रद्धालु
विद्यार्थी प्रतिमा
गणेश व्यायामशाला
बलिदान स्थल, चौबेगोला
चौबेगोला स्थित हनुमान मंदिर
चिकित्सा महाविद्यालय
गणेश उद्यान में विद्यार्थी-प्रतिमा
समाधि-स्थल, हथगाँव, फतेहपुर
विद्यार्थी प्रतिमा, हथगाँव, फतेहपुर
ग.शं.वि. इंटर कालेज हथगाँव
विद्यार्थी चौराहा, फतेहपुर
ग.शं.वि. महाविद्यालय, सेमरझाल
प्रथम दिवस आवरण
'फिलैटिलिस्ट्स' द्वारा श्रद्धांजलि
विद्यार्थी वीथिका, कानपुर संग्रहालय
पं. नेहरू द्वारा माल्यार्पण
शास्त्री जी द्वारा श्रद्धांजलि
श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा प्रतिमा अनावरण
स्मृति-दीप प्रज्वलित करती पुत्री श्रीमती विमला विद्यार्थी

खंड-1

युग दधीचि

युग दधीचि

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी सन् 1931 में क्रूर काल की कराल लीला का अकाल शिकार हो गए। उनकी वह शहादत मानवता की इबादत थी। उन्हीं के पावन शुभ्र चरित्र के विविध पटलों का आख्यान इस ग्रंथ का मुख्य प्रयोजन है।

इस ग्रंथ में गणेशजी के समयुगीन साहित्यकारों, राजनेताओं तथा देशभक्तों द्वारा प्रणीत महत्त्वपूर्ण लेख संकलित हैं। इनके अतिरिक्त इसमें स्वयं गणेशजी द्वारा लिखित मौलिक लेख भी सम्मिलित हैं। इस ग्रंथ में विद्यार्थीजी के जीवन का अभाव एवं प्रभाव, शौर्य एवं बलिदान अपनी समग्रता में अंकित हैं।



यह संकलन सर्वांग सुव्यवस्थित है। इसमें न तो कुछ छूटा है, न टूटा। च्युति एवं त्रुटि की अविद्यमानता ने ग्रंथ को प्रमाणपुष्ट, संरक्षणीय तथा संस्मरणीय बना दिया है।

—डॉ. बृजलाल वर्मा

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

युग दधीचि



कर्मयोगी गणेशजी

नारायणप्रसाद अरोड़ा

पं. प्रयागनारायण के मंदिर में राय देवीप्रसादजी 'पूर्ण' के वाचनालय में मैं अंग्रेजी दैनिक 'वंदे मातरम्' पढ़ने जाया करता था। वहाँ एक दिन एक दुबले-पतले आदमी से भेंट हुई। उनकी आँखों में तेज और बात-चीत में उमंग दिखलाई दी। पूछने पर मालूम हुआ कि वे करेंसी में काम करते हैं, परंतु देश-सेवा करने के इच्छुक हैं। प्रतिदिन मिलने से घनिष्ठता बढ़ गई। कुछ दिनों पश्चात् हम दोनों ने एक पत्र निकालने की योजना तैयार की। फलस्वरूप 'प्रताप' निकला। इस मुख्तसर से आदमी ने अपने अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम से 'प्रताप' को एक संस्था बना दिया। करेंसी ऑफिसर से कुछ कहा-सुनी होने के कारण एक दिन अकस्मात् गणेशजी ने करेंसी की क्लर्की से इस्तीफा दे दिया। उसी समय से उनके जीवन का रास्ता बदला। उनमें देशभक्ति और लेखन-शक्ति थी, किंतु सरकारी नौकरी के कारण वे खुलकर कोई काम नहीं कर सकते थे। अब उनका मार्ग साफ हो गया।

जिस समय गणेशजी नौकरी छोड़ आए, उस समय इन पंक्तियों का लेखक कानपुर के पं. पृथीनाथ मिडिल स्कूल में एक छोटा सा अध्यापक था और स्कूल के हेडमास्टर बाबू सजीवनलाल पर उनका पुराना शिष्य होने के नाते खासा प्रभाव रखता था। अत: गणेशजी को भी वहाँ एक अध्यापक की जगह मिल गई।

हम दोनों को राजनीति से विशेष प्रेम था। केवल स्कूल की अध्यापकी से संतोष नहीं था। उस समय सार्वजनिक जीवन भी ऐसा नहीं था कि रोज-रोज कुछ काम करने को मिल जाता। अत: उग्र विचारों का प्रचार करने के लिए हमने श्री अरविंद घोष के साप्ताहिक पत्र की एजेंसी ली और पत्र का

प्रचार करने लगे। हमारे कार्य में आर्थिक लाभ का दृष्टिकोण तनिक भी न था। हम तो गरम दल के राजनीतिक विचारों को फैलाना चाहते थे।

पं. उदयनारायण बाजपेयी की माता के देहांत पर हम दोनों की बाबू सजीवनलाल से कुछ कहा-सुनी हो गई, क्योंकि हम दोनों के प्रचार कार्य से वे कुछ असंतुष्ट भी थे। अतएव, हम दोनों नौकरी छोड़ आए। गणेशजी स्वर्गीय सेठ रामगोपाल के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए और मैं कुछ दिन बाद मारवाड़ी स्कूल का हेडमास्टर। सेठ रामगोपालजी उस समय के एकमात्र मारवाड़ी थे, जो आर्यसमाजी थे और राजनीति से प्रेम रखते थे।

कानपुर के राजनीतिक जीवन को आगे बढ़ाने का बहुत कुछ श्रेय गणेशजी को है। खिलाफत आंदोलन के समय आज का श्रद्धानंद पार्क खुर्दमहल पार्क कहलाता था। यह पार्क म्यूनिसिपैलिटी का है। इसमें सार्वजनिक सभाएँ म्यूनिसिपैलिटी की आज्ञा से होती थीं। इसमें बगैर आज्ञा लिए हुए सभाओं का करना गणेशजी ने मौलाना हसरत मोहानी की सलाह से शुरू कर दिया था। वही प्रथा आज तक चली आ रही है। डॉ. मुरारीलाल को सार्वजनिक जीवन में घसीट लाने का श्रेय भी गणेशजी को ही है।

उस समय की कांग्रेस कमेटी के सभापति डॉ. मुरारीलाल थे और मंत्री इन पंक्तियों का लेखक। गणेशजी ज्वायंट सेक्रेटरी थे। गणेशजी अपने सीनियरों का सदा आदर करते थे। इसका एक छोटा उदाहरण नीचे की घटना है।

एक बार जब खुर्दमहल पार्क में कानपुर जिला राजनैतिक कॉन्फ्रेंस हुई और सुंदरलालजी सभापतित्व के लिए बुलाए गए, तब मैं बीमार था। गणेशजी मुझे देखने आए। बातचीत के दौरान कॉन्फ्रेंस संबंधी सूचनाओं में मेरा नाम देने की बात आई, तो मैंने कहा कि मैं तो बीमार हूँ, आप सारी सूचनाएँ अपने नाम से दिया करें, परंतु गणेशजी ने नहीं माना और यद्यपि कॉन्फ्रेंस में मैंने एक तिनका भी नहीं हिलाया था, किंतु समस्त कार्यक्रम में मेरा नाम पहले और अपना नाम बाद में वे देते रहे। यह है उनका बड़ों का आदर करने का एक छोटा सा नमूना। इसके विपरीत आजकल लोग बड़े से बड़े को धक्का देकर आ धमकते हैं।

आचार्य प्रवर श्री द्विवेदीजी ने एक दिन इन पंक्तियों के लेखक से कहा, ''अब तो आप खूब लिखने लगे, कुछ सरस्वती के लिए भी लिखिए और अपने मित्र गणेशजी से भी कहिए कि वे भी सरस्वती के लिए कुछ लिखा करें।'' अब हम दोनों सरस्वती के लिए लिखने लगे और अकसर जूही पहुँचने लगे।

कर्मयोगी गणेशजी

थोड़े दिन पश्चात् गणेशजी स्थायी रूप से श्री द्विवेदीजी के सहकारी बन गए। यहीं से उन्हें 'अभ्युदय' से बुलावा आया और वे सरस्वती छोड़कर 40 रुपए मासिक पर 'अभ्युदय' में काम करने प्रयाग चले गए।

इसी बीच में हम दोनों की बातचीत हो गई थी कि अपना एक पत्र निकाला जाए। गणेशजी के प्रयाग चले जाने से वह बात कुछ ढीली तो अवश्य पड़ गई, परंतु उसे एकदम छोड़ा नहीं गया। पत्रों के द्वारा उक्त स्कीम पकती रही और जब पक्की हो गई, तब गणेशजी 'अभ्युदय' छोड़कर कानपुर आ गए और उन्होंने 40/- के बजाय 30/- पर काम करना स्वीकार कर लिया। कई दिनों के वाद-विवाद के पश्चात् 'प्रताप' नाम तय हुआ। मैंने उसे पंडित प्रतापनारायण मिश्र की स्मृति समझा और गणेशजी ने राणा प्रताप का स्मारक। प्रथम अंक में हम दोनों के इन्हीं दो महापुरुषों पर लेख हैं।

प्रेस के लिए हम दोनों कारोनेशन प्रेस के मालिक पं. यशोदानंदन के पास पहुँचे और उन्होंने तीसरा साझी होकर 'प्रताप' को छापना स्वीकार कर लिया, किंतु यह शर्त लगाई कि हम थोड़ा सा पैका टाइप अपना मँगा लें। टाइप के लिए ऑर्डर गया और मैं चूँकि मारवाड़ी स्कूल का हेडमास्टर था और 100 रुपए पाता था, मैंने टाइप की 127 रुपए की वी.पी. छुड़ाई और काम शुरू हो गया। 'प्रताप' का चौथा खंभा पंडित शिवनारायण मिश्र थे। उन्होंने भी 'प्रताप' की पूँजी में 100 रुपए जमा कराए। मैं मैनेजर और गणेशजी संपादक हुए और देवोत्थानी एकादशी 9 नवंबर सन् 1913 में 'प्रताप' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ।

श्री द्विवेदीजी से लेकर हमें अपने अन्य साथियों का जैसे पंडित ब्रह्मानंदजी तिवारी और पंडित गिरजानंदजी त्रिवेदी आदि का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। मित्रगण चपरासी और दफ्तरी से लेकर क्लर्क और लेखक तक का काम करते थे। किसी को कोई काम करने से इनकार न था। जो काम सामने आया, उसे किसी ने भी कर लिया। यह थी मित्रों की निःस्वार्थ सेवा और हम लोगों की एक उद्देश्य की प्रेरणा। आगे चलकर 'प्रताप' को काफी कष्ट उठाने पड़े और वह उनको पार करके गणेशजी की अमर कीर्ति को स्थापित करने तथा अत्याचार का भंडाफोड़ करने का एकमात्र साधन बना।



कर्मयोगी गणेशजी

विद्यार्थीजी का 'प्रताप'

सत्यभक्त

कानपुर यद्यपि सन् 1857 से ही स्वाधीनता संग्राम के वीरों की लीलास्थली रहा, तो भी वह लोक में एक व्यापारिक नगर के नाम से विख्यात हुआ। जनसाधारण उसको कल-कारखानों और सेठ-साहूकारों का स्थान जानते और मानते थे। ऐसे नगर को राष्ट्रीय मुक्ति मोरचे और क्रांति का एक प्रमुख केंद्र बनाने में बहुत बड़ा श्रेय आत्म बलिदानी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी को है।

सन् 1923 के अंतिम महीनों में जब मैं नागपुर से 'प्रणवीर' का संपादकत्व छोड़कर मजदूर आंदोलन में भाग लेने की भावना से कानपुर पहुँचा, तो मेरा प्रथम संपर्क श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा से हुआ, जो सच्चे अर्थों में इस नगर के थे। वे आरंभ से ही विद्यार्थीजी के सहयोगी और सहायक थे, यद्यपि दोनों में कभी-कभी प्रतिद्वंद्विता भी छिड़ जाती थी। मैं अरोड़ाजी के माध्यम से ही गणेशजी के संपर्क में आया, जो समय पाकर स्थायी हो गया। मैं इन दोनों महानुभावों को कानपुर की दो सर्वोपरि विभूतियाँ मानता रहा और आज भी मेरी वह मान्यता स्थिर है।

यद्यपि विद्यार्थीजी कानपुर के पुराने निवासी नहीं थे, शिक्षा और नौकरी के उद्देश्य से ही यहाँ आए थे, किंतु बहुत थोड़े समय में ही उन्होंने यहाँ के राजनीतिक जीवन में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। वे स्वभाव से ही तेजस्वी और निर्भीक थे और जिस किसी से मिलते थे उसी का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित कर लेते थे। जिस समय वे करेंसी ऑफिस में 20 रुपए की नौकरी करते थे अथवा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ 'सरस्वती' के संपादकीय विभाग में काम करते थे, तब भी शहर के धनी-मानी और विद्वान् उनके इन

गुणों को समझ कर उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। फिर जब उन्होंने 'प्रताप' साप्ताहिक को प्रकाशित करके देश के राजनीतिक जीवन में एक नया प्राण फूँक दिया, तो सामान्य जनता भी विद्यार्थीजी की प्रशंसक बन गई। वह दुबली-पतली काया और अल्प साधन-सामग्री वाला व्यक्ति देखते-देखते देशवासियों का पूजनीय बन गया, यह परिवर्तन एक चमत्कार जैसा लगता था।

मैं आरंभ से ही 'प्रताप' का पाठक था। संभवत: उसका प्रथम अंक भी मैंने बड़े शौक से पढ़ा था। साठ वर्ष बीत जाने पर भी यह मुझे अच्छी तरह याद है कि उस समय के अन्य समाचार-पत्रों की तुलना में 'प्रताप' एक नई ही चीज था। अन्य पत्र जहाँ अधिकांश में इधर-उधर से संग्रह किए समाचार और लेखों से भरे रहते थे, 'प्रताप' का मुख्य कार्य जनता की शिकायतों को प्रकाशित करना और उनके लिए आंदोलन करना था। देशी रियासतों के अन्याय पीड़ित निवासी तो उसे अपना उद्धारक ही समझने लगे थे। जमींदारों और ताल्लुकेदारों के अत्याचारों से पीड़ित अवध के किसानों के लिए विद्यार्थीजी ने घनघोर आंदोलन किया और उनके लिए बड़े-बड़े मुकदमों में फँसकर बहुत अधिक आर्थिक और शारीरिक हानि सहन की।

वे मजदूरों के भी बड़े समर्थक थे और कानपुर की मजदूर सभा का कार्यकर्ता रमजान सहायता के लिए सदा ही उनके पास दौड़ा आता था। इसी सिलसिले में मेरी भी उनसे चाहे जब भेंट और बातचीत हो जाती थी। विद्यार्थीजी का सबसे बड़ा गुण जो मुझे दिखाई पड़ा, वह उनकी उदारता था। उनका आरंभिक जीवन बड़ी आर्थिक कठिनाई में बीता था। पढ़ाई-लिखाई का खर्च चलाना भी मुश्किल होता था। बाद में भी वर्षों तक उनको बहुत सादगी से ही निर्वाह करना पड़ता था, पर वे दूसरों की हर तरह से सहायता करने को हमेशा तैयार रहते थे। जिनसे उनका मतभेद अथवा थोड़ा-बहुत झगड़ा भी होता, आवश्यकता पड़ने पर उनका भी काम कर देने को तैयार रहते थे।

क्रांतिकारियों की सहायता करने में पुलिस को संदेह हो जाने का खतरा भी उठाते थे। देशी राज्यों के शासकों से बिना विशेष साधनों के भी भिड़ते रहते थे और उनके विरोध तथा वैर को खुशी से सहन करते रहते थे। यह सब कार्य वे नि:स्वार्थ भाव से ही करते थे, क्योंकि उस जमाने में इस तरह के कामों में भाग लेने से सिवाय हानि के लाभ की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

विद्यार्थीजी का 'प्रताप'

विद्यार्थीजी उच्च कोटि के लेखक थे। राष्ट्रीय समस्याओं पर उनके लेख बड़े चाव से पढ़े जाते थे। उनकी तेजस्विता उनके लेखों में भी दिखाई पड़ती थी और कितने व्यक्ति उनसे प्रेरणा लेकर देशभक्त और जन-सेवक बन गए, इसकी गिनती नहीं की जा सकती। साथ ही उन्होंने न जाने कितने व्यक्तियों को अपने पास रखकर लेखक और संपादक बना दिया। भगतसिंह ने भी कई महीने तक 'प्रताप' कार्यालय में रहकर काम सीखा था। मेरे मित्र शंकरलाल वर्मा स्कूल में पढ़ते-पढ़ते विद्यार्थीजी की ओर आकर्षित हो गए और भरतपुर रियासत के अन्याय-अत्याचारों की शिकायतें 'प्रताप' में छपाने से अधिकारियों के गुस्से का शिकार बन गए। उनको स्कूल से ही निकाल दिया गया। इसी तरह उनसे प्रेरणा लेकर अन्य सैकड़ों व्यक्ति जन-सेवक बन गए और मातृभूमि के उद्धार के लिए उन्होंने बहुत कुछ कर दिखाया।

विद्यार्थीजी अकसर अपने कार्यालय में ही रहते थे, तो भी नगर के सभी वर्गों पर उनका असीम प्रभाव था और उनके प्रत्येक कार्य के लिए अनेक सहायक मिल जाते थे। उनका प्रभाव देशव्यापी था और हिंदीभाषी भारत में तो उनका 'प्रताप' सबसे अधिक लोकप्रिय और आदरणीय था।



शांति-क्रांति के मसीहा

का. शिवकुमार मिश्र

क्रांतिकारी किसे कहा जाए, प्रश्न यह है? व्यापक अर्थ में तो जो कोई भी समाज को आज की मंजिल से आगे की मंजिल पर ले जाने के लिए प्रयत्नशील हो वही क्रांतिकारी है। इस अर्थ में ब्रिटिश राज्यकाल में जिन लोगों ने भी विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के प्रयत्न में सक्रिय भाग लिया, वे सभी क्रांतिकारी थे और वे सभी सम्मान के पात्र हैं। चाहे वे कांग्रेसी विचारधारा के लोग हों, या साम्यवादी विचारधारा के लोग अथवा सशस्त्र क्रांति पर विश्वास रखने वाले महापुरुष।

कानपुर इन तीनों महान् राष्ट्रीय विचारधाराओं का संगम-स्थल बन चुका था। ये धाराएँ कांग्रेस, क्रांतिकारी दल और कम्युनिस्ट आंदोलन की धाराएँ थीं। इन तीनों धाराओं में आपसी मतभेदों और टकरावों के बावजूद अद्‌भुत समन्वय व पारस्परिक सहयोग था।

इस समन्वय के सूत्रधार थे गणेशशंकर विद्यार्थी। अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में उनको सम्माननीय स्थान प्राप्त था। वे साम्यवादी विचारों के प्रबल समर्थक थे और अपने पत्रों में सत्यभक्त को खूब स्थान देते थे। क्रांतिकारियों के वे प्राण थे। उन्होंने काकोरी केस के अभियुक्तों की सहायता के लिए एक समिति का गठन किया था। जिन दिनों अमर शहीद रोशन सिंह और अशफाकउल्ला खाँ काकोरी केस में फरार थे, वे उन्हें अपने साथ पेजनियाँ (राजस्थान) लेकर गए थे और उनकी शरणस्थली का प्रबंध किया था। वे ही श्री रामप्रसाद 'बिस्मिल' की लिखित आत्मकथा चुपचाप जेल से निकाल लाए थे और उसे प्रकाशित किया था। उन्होंने अनेक पुस्तकों व लेखों द्वारा क्रांतिकारी

विचारों के प्रचार में जबरदस्त काम किया था। उन्होंने 'प्रताप' प्रेस में भगतसिंह को भी शरण दी थी।

क्रांतिकारी साहित्य के प्रचार के लिए उन्होंने चौक बाजार में 'प्रकाश पुस्तकालय' के नाम से एक दुकान की स्थापना भी करवाई थी। यह पुस्तकालय वर्षों तक क्रांतिकारी आंदोलन के प्रचार के खुले केंद्र का काम करता रहा। यों तो इस पर भी पं. शिवनारायण मिश्र वैद्य का स्वामित्व था, लेकिन उन्होंने इससे एक पैसा भी मुनाफा नहीं कमाया। श्री जगदीशनारायण शुक्ल आदि से अंत तक उसके व्यवस्थापक रहे। वे क्रांतिकारियों के सदा समर्थक और सहायक रहे हैं। इस पुस्तकालय द्वारा सारे हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रों में क्रांतिकारी साहित्य का प्रसारण होता रहा। यहाँ से 'बंदी जीवन', 'आनंदमठ', 'अमेरिका का स्वातंत्र्य युद्ध', 'आयरलैंड की गदर की कहानियाँ', 'रूस की राज्य क्रांति' और इसी प्रकार की बहुत सी पुस्तकें हजारों की संख्या में बिका करती थीं।

श्री जगदीशनारायणजी किताबों के जब्त हो जाने के बाद भी उनकी रक्षा करने और युवकों के हाथों में उन्हें पहुँचाने की कला में सिद्धहस्त थे। जब्त हो जाने के बाद भी 'चाँद' का फाँसी अंक और 'हिंदू पंच' के बलिदान अंक की सहस्त्रों प्रतियाँ उनके द्वारा युवकों को उपलब्ध कराई गई थीं। क्रांतिकारी पर्चा 'बम का दर्शन' उनके द्वारा अनेक जिलों को भेजा गया। कानपुर-देहरादून षड्यंत्र के पहले क्रांतिकारियों ने इसी पुस्तकालय के मार्फत बंगाल और राजस्थान से कुछ शस्त्र भी मँगाए थे। गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा यह पुस्तकालय क्रांतिकारियों को दी गई अमूल्य भेंट थी।

फिर भी विद्यार्थीजी को केवल क्रांतिकारियों का सहायक मानना गलत होगा। सन् 1921-22 के असहयोग और खिलाफत आंदोलनों में वे सबसे आगे थे। सन् 1930 के सत्याग्रह आंदोलन की आँधी भी उन्हीं ने चलाई थी। कानपुर के मजदूर आंदोलन में भी उनकी प्रमुख भूमिका थी। मजदूर सभा की स्थापना में वे और मौलाना हसरत मोहानी प्रमुख सूत्रधार थे।

विद्यार्थीजी ने कानपुर के जूट मिल व गैंजेज फ्लावर मिल की जंगी हड़तालों का स्वयं संगठन किया था। किसान आंदोलनों और देशी रियासतों के आंदोलनों में उनकी जबरदस्त रुचि थी। रायबरेली के ताल्लुकेदारों के खिलाफ तथा मुंशीगंज के पुल पर किसानों पर किए गए गोली कांड के विरुद्ध वे सहस्त्रमुख थे। हरदोई जिले के मदारी व देऊ पासी के आंदोलनों को भी उन्होंने

प्रबल समर्थन दिया था। रियासती आंदोलनों में श्री विजय सिंह पथिक के नेतृत्व में चले बिजौलिया सत्याग्रह के भी वे प्रबल समर्थक थे। हिंदू-मुसलिम एकता के लिए अपने प्राणों की आहुति देकर वे महामानव हिंदू-मुसलिम ऐक्य के मसीहा की भाँति सर्वमान्य हुए।

इस प्रकार विद्यार्थीजी राष्ट्रीय आंदोलन में समन्वयवाद के मूर्तिमान स्वरूप थे। उन्होंने सारे देश में कानपुर का मस्तक ऊँचा किया। ठीक ही है—कानपुर गणेशजी का नगर है।

क्रांतिकारी आंदोलन गणेशजी का चिर ऋणी है।



विद्यार्थीजी के सान्निध्य में

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अरे, बाप रे! 'प्रताप' के संपादक स्वनामधन्य गणेशशंकर विद्यार्थी। वे इनके मित्र हैं! चलो मैं भी देखूँ उस बहादुर को। मैं 'प्रताप' का ग्राहक था। लेख पढ़ा करता था। क्या ओज, क्या शैली। तबीयत फड़क उठती थी। आज उसी संपादक के दर्शन होंगे।

मैंने अपने मन में 'प्रताप' संपादक की एक तसवीर बना रखी थी। उनके लेख पढ़कर वह तस्वीर बनाई थी। सोचा था कि छह-साढ़े छह फुटा जवान होगा। विशाल साफा बाँधता होगा। हाथ में भारी लट्ठ लिये रहता होगा। मूँछें महाराणा प्रताप की तरह ऐंठी हुई होंगी। जब वह चलता होगा, तब सी.आई.डी. वाले उसके पीछे चलते दुबकते होंगे और जब वह घूमकर कभी-कभी 'हुश' कर देता होगा, तब सी.आई.डी. वालों में भगदड़ मच जाती होगी। जो इतनी झन्नाटे की बात लिख सकता है, वह जरूर कोई लहीम-शहीम भीमकाय नरपुंगव होगा। नाम के आगे विद्यार्थी देखकर यह अनुमान कर लिया था कि गणेशशंकर विद्यार्थी वाकई में स्टूडेंट होगा और बी.ए. के बाद एम.ए. क्लास में पढ़ता होगा। यह थी मेरे मन में गणेशजी की तसवीर।

जब चतुर्वेदीजी के साथ कांग्रेस पंडाल में पहुँचा और वहाँ जलपान के खेमे में एक निहायत दुबले-पतले चश्मा लगाए, किंतु तेजस्वी नवयुवक को चतुर्वेदीजी से गले मिलते देखा, तब मैं अचकचाया। क्या यही विद्यार्थीजी हैं? हे भगवान! मेरी तसवीर पुछ गई। तंदुरुस्त, तगड़े, अक्खड़, साढ़े छह फुटे बलिष्ठ नौजवान की कल्पना की थी। गणेशजी निकले निहायत ही मझोले या ठिगने कद के दुबले-पतले युवक। खैर यही क्या कम सौभाग्य था कि गणेशजी

के दर्शन हो गए।

वहीं पर पास में एक बनिए साहब तशरीफ रखते थे। पीली पगिया बाँधे, भले से कपड़े पहने, एक छड़ी लिये, नेत्रों में बुद्धि का तेज बटोरे। अगर कोई ऐसा आदमी दिखे, जिसकी पाग कहे पंसारी है, पर जिसकी तेजस्विता कहे कि बाबू है, तो आप क्या करेंगे? संभवतः आप जरा गड़बड़ी में पड़ जाएँगे। मैं जरा दूर खड़ा था। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि चतुर्वेदीजी उस बनिया रूपधारी को प्रणाम कर रहे हैं, मैं कुछ समझ न पाया।

बाद में मालूम हुआ कि वह महानुभाव स्वनामधन्य श्रीमान बाबू मैथिलीशरण गुप्त थे। चतुर्वेदीजी कह रहे थे, ''आज मुझे अपने गुरुवर के भी दर्शन हो गए।'' मैंने पूछा, 'आपके गुरु कौन?' उन्होंने कहा, ''वह पाग बाँधे जो सज्जन थे वह मेरे गुरु श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं।'' जब मैंने यह सुना तब एक अकली गद्दा लगाया। मैं बोल उठा, 'अच्छा अब पकड़ा है मैंने। आप तो बड़े छिपे रुस्तम मालूम पड़ते हैं। क्यों जनाब आप ही एक भारतीय आत्मा नाम से कविता लिखते हैं न, बोलिए।' माखनलालजी का चेहरा फक। उन्होंने सोचा अच्छा, सी.आई.डी. साथ में लगा है। वह बोले, ''ऐं, नहीं तो। मैंने यह कब कहा?'' मैं बोला, 'ओ महाशय रहने भी दीजिए।'

'प्रभा'[1] में 'एक भारतीय आत्मा' ने कई महीने पहले श्री मैथिलीशरण स्तवन लिखा था। उसमें उन कविजी ने उन्हें गुरु के रूप में स्मरण किया था। और आज आप कहते हैं कि गुप्तजी आप के गुरु हैं, तो फिर जनाब, क्या मैं एक और एक को जोड़कर दो भी नहीं बना सकता। सच मानिए, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी यह सुन कर ऐसे चकराए कि उनकी सिट्टी-पिट्टी गुम। मैं इस बात पर खुश था कि आज मैंने बड़ी भारी खोज की। पहली बात तो 'प्रभा' संपादक का पता पाया, दूसरी बात यह कि 'भारतीय आत्मा' का घूँघट

1. 'प्रभा' मासिक पत्रिका खंडवा से प्रकाशित होती थी। रामनवमी 1913 ई. से प्रकाशित इस पत्रिका के संपादक पद पर श्री कालूराम गंगराडे का नाम छपता था। यथार्थ में पं. माखनलाल चतुर्वेदी ही इसके कर्ताधर्ता थे। सरकारी नौकरी के कारण वे कई नामों से जैसे—'एक भारतीय आत्मा', 'एक साहित्य-प्रेमी' लिखते थे। बाद में 'प्रभा' कानपुर से प्रकाशित हुई तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, गणेशजी

इसके संपादक रहे। सन् 1926 में यह पत्रिका बंद हो गई।

हटाया। तीसरे यह कि विद्यार्थीजी के दर्शन हुए। चौथे यह कि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के भी दर्शन हुए।

खैर सुबह हुई तो माखनलालजी गणेशजी के स्थान पर चलने की तैयारी करने लगे। मुझे भी साथ चलने को कहा। मैं साथ हो लिया। गणेशजी शायद गणेशगंज के एक मकान में ठहरे हुए थे। उनके साथ थे, उनके मित्र पंडित शिवनारायण मिश्र[1] और महाशय काशीनाथजी[2]। माखनलालजी ऊपर कोठरी में ठहरे और मैं एक नीचे की कोठरी में जम गया। गणेशजी ने पूछा, तो माखनलालजी ने कह दिया कि एक विद्यार्थी है, आ गया है। अब यह फिक्र हुई कि कांग्रेस कैसे देखी जाए। मैं खूब भटका, कुछ लाभ न हुआ। टिकट मिलने बंद हो गए थे। मैं बड़ा निराश हुआ। शाम को लौटकर आया। उदास था। गणेशजी ने पूछा, ''क्यों जनाब, कल कांग्रेस है, आपके पास टिकट है?'' मैंने कहा कि दिन भर दौड़ लगाई, सफलता न मिली। वह बोले, ''कोशिश कीजिए। जरा स्वावलंबन सीखिए।'' सुनकर चुप हो गया। स्वावलंबन की दुम में खट-खटा। दिन भर झक मारी, मारा-मारा फिरा, कुछ लाभ न हुआ और यह हजरत स्वावलंबन का पाठ पढ़ा रहे हैं, पर क्या कहता।

दूसरे रोज छोटे लाट साहेब कांग्रेस में आनेवाले थे। बड़ी चहल-पहल थी। लोग पिले पड़े थे। मैंने फिर टिकट की कोशिश की, पर व्यर्थ। फिर रात को लौट आया। एक दिन कांग्रेस हो गई, अंदर न जा पाया। पर शाम के वक्त पंडाल से निकल कर सब्जेक्ट्स कमेटी जाते हुए लोकमान्य के दर्शन कर लिये। भीड़ ने उन्हें घेर लिया था। भीड़ चीरता हुआ, आँखों में आँसू भरे लोकमान्य के निकट पहुँचा और उनके चरण स्पर्श किए। मैंने अपने को धन्य माना। लोकमान्य ने सिर पर हाथ रखा, आँखों में आँसू देखकर एक-दो बार सिर थपथपा दिया। लोकमान्य को देखने और उनकी पुनीत चरण रज को सिर रखने का जीवन में वह प्रथम अवसर था।

---

1. पं. शिवनारायण मिश्र वैद्य गणेशजी के घनिष्ट सहयोगी थे, 'प्रताप' के चार प्रारंभकर्ताओं में थे, प्रकाशक के रूप में उनका नाम छपता था। रायबरेली केस में उनको कारावास हुआ था। नवयुवकों को क्रांतिकारी साहित्य पहुँचाने में वे विशेष निपुण थे।
2. महाशय काशीनाथ गणेशजी के परम हितैषी व नगर के प्रतिष्ठित सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे लाहौर के डी.ए-वी. कॉलेज में कर्मवीर सुंदरलाल के साथ पढ़े थे और आर्यसमाज

के समर्थक थे। उन्होंने 'गीतांजलि' का मूल बाँग्ला से हिंदी अनुवाद किया था।

मैं प्रेम-भक्ति विह्वल था। इतना खुश हुआ, मानो एक निधि मिल गई हो। डेरे पर लौटा तो गणेशजी ने फिर वही सवाल किया कि टिकट मिला? तुमने क्या कोशिश की?

मैंने सहज स्वभाव कहा, 'मैंने कांग्रेस देख ली। टिकट-विकट तो नहीं मिला, पर आज लोकमान्य के चरण-स्पर्श कर लिए। अब मुझे कांग्रेस देखने को न भी मिले, तो कोई चिंता नहीं', पर गणेशजी कब पिंड छोड़ने वाले थे। बोले, ''जनाब! यह बताइए कि आपने टिकट पाने के लिए क्या किया?'' मैंने कहा कि मैं स्वयंसेवकों के कमांडर से लेकर पंडित जगतनारायण मुल्ला तक से मिल चुका हूँ, पर सबने सर हिला दिया। गणेशजी ने कुछ न कहा और मेरे हाथ पर लाकर एक दस रुपए का टिकट रख दिया और कहा, ''जाइए कल से कांग्रेस देखिए।'' मैं बहुत कृतज्ञ हुआ, पर दस रुपए तो पास में थे नहीं इसलिए संकोच से कहा, 'मेरे पास रुपए तो हैं नहीं।' उन्होंने कहा, ''इसकी चिंता न कीजिए।'' मैंने नतमस्तक होकर टिकट ले लिया और दो दिन तक खूब कांग्रेस देखी।

जब तक कांग्रेस होती रही, तब तक तो किसी को किसी से बातें करने की फुर्सत न मिली। अंतिम दिन जब जलसा खत्म हुआ और जब सब चलने को तैयारी करने लगे, तब उस रात सहसा मेरी और गणेशजी की बात हो गई। मैं अपनी नीचे वाली कुठरिया में एक ही कंबल में लिपटा पड़ा रहता था। शाम को थोड़ी देर को ऊपर चला आता था। उस दिन भी हस्ब मामूल ऊपर आया। कमरे में गणेशजी, महाशय काशीनाथजी, चतुर्वेदीजी और पंडित शिवनारायण मिश्र थे। मैं भी आकर बैठ गया और बात होने लगी। मैं उन दिनों कुछ बहसी तबीयत का था। आर्यसमाजी विचारों के प्रभाव के कारण कुछ हुज्जत करने की आदत पड़ गई थी। सो बातों-बातों में मैं गणेशजी से उलझ पड़ा और कोई दो घंटे तक बातें करता रहा। क्या-क्या बातें कीं, सो भगवान जाने, पर बातें खूब हुईं। गणेशजी पर अनुमानतः मेरी विलक्षण बुद्धि का असर पड़ा। जब मैं नीचे अपनी कुठरिया में जाने लगा, तब उन्होंने पूछा, ''आप मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास कर आगे क्या करेंगे?'' मैंने कहा, 'पढ़ूँगा, बी.ए. पास करूँगा। अभी तो इतना ही जानता हूँ आगे भगवान जाने।' उन्होंने हूँ कहकर चुप्पी साध ली।

दूसरे दिन जब मैं चलने को हुआ, तब विदा लेने गया। मेरे पास वही

अपना एक कंबल, एक लोटा, एक धोती, एक सोंटा था। गणेशजी बोले, ''जा रहे हैं, अच्छा जाइए, सामान कहाँ?'' मैंने अपनी पुटरिया की तरफ इशारा करके कहा, 'यही सामान है।' उस समय गणेशजी चौंके, बोले ''सिर्फ यही एक कंबल! अरे आप तो ठिठुर गए होंगे। राम-राम आपने, यह क्या किया। मुझसे कह देते, मैं दो-तीन कंबल दे देता।'' मैं उनकी इस सहज कृपा से अभिभूत हो गया। उन्होंने बड़ा दु:ख प्रकट किया। कहने लगे, ''कहीं निमोनिया हो जाता तो?'' मैंने अपनी चौड़ी कसरती छाती दिखाकर हँसते हुए कहा, 'नहीं, मेरे फेफड़े घोड़े के फेफड़े हैं, इसका कोई भय नहीं।' और उस वक्त गणेशजी ने देखा कि मेरे पास एक भी ऊनी कपड़ा या रुई की मिर्ज़ई नहीं है। वह बड़े दु:खी हुए। साथ ही कंबल ले जाने पर जोर देने लगे, पर मैंने उन्हें टाल दिया। जब मैं प्रणाम करके चलने लगा तब बोले, ''आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई, इसे आप लोकाचार न समझें। मेरे लायक सेवा लिखते रहें।'' मैं कृतज्ञ हुआ। उज्जैन वापस आ गया।

मैट्रिकुलेशन परीक्षा के बाद नतीजा आया और मैं पास हो गया। अब पढ़ने को जो सूझी, तो गणेशजी का खयाल आया। सोचा, चलो कानपुर चलें और पढ़ें। पिताजी के पास तो कुछ था नहीं, जो कॉलेज का खर्चा दे सकते। इसलिए मैंने स्वावलंबी होकर पढ़ने की ठानी। मैंने अपना बिस्तर बाँधा। ट्रंक में कुछ किताबें भरीं और कानपुर का टिकट कटाकर चल दिया। आज मैं जब पीछे की ओर घूमकर देखता हूँ, तब यह पाता हूँ कि मेरे जीवन में लखनऊ कांग्रेस की मेरी यात्रा और परीक्षा के बाद कानपुर की वह यात्रा बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुई। उन्होंने मेरे जीवन का प्रवाह एकदम बदल दिया। पहली यात्रा में गणेशजी, माखनलालजी आदि गुरुजनों के दर्शन मिले, उनसे परिचय हुआ। दूसरी यात्रा में गणेशजी का आश्रय मिला। दुनिया को देखने का अवसर मिला और राजनीति तथा साहित्य में थोड़ा बहुत प्रवेश करने एवं कार्य करने की प्रेरणा मिली।

गणेशजी मेरे लिए क्या थे, यह मैं क्या बताऊँ। मुझे पंद्रह वर्षों तक उनके चरणों में बैठने का, उनके नेतृत्व में काम करने का, उनकी प्रेरणा से कारागार की ओर अग्रसर होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि उनके सदृश मुझे दूसरा आदमी आज तक देखने को नहीं मिला। मैं इस बात पर गर्व करता हूँ कि मैं एक निगाह में लोगों को तौल लेता हूँ। गणेशजी का सा नरवर मैंने आज तक नहीं देखा। उनकी शहादत के बाद बापू ने उनके

लिए लिखा था, ''हाय! जब तक गणेशजी हमारे बीच सशरीर रहे, तब तक हम उन्हें पहचान न पाए।'' मैं तो उनके इतना नजदीक था कि सामीप्य के कारण आज तक मन भर कर मैं उनकी पुण्य-स्मृति में श्रद्धांजलि भी अर्पित नहीं कर पाया हूँ।

उन दिनों जब कानपुर आया, तब मैं खाता खूब था। चालीस-चालीस रोटियाँ उड़ा जाना बाएँ हाथ का खेल था। छात्रावास में सभी महाराजों के लिए मैं जू-जू था। लोग मुझे अपने मेस (रसोईघर) में लेते हिचकते थे। गणेशजी ने ही मेरा सब प्रबंध किया। लिखने की ओर जो मेरी प्रवृत्ति हुई उसका श्रेय भी पूज्य गणेशजी को ही है। यों तो बहुत पहले से लिखने की ओर रुचि थी, पर प्रेरणा गणेशजी की ही थी। अगर मैं यों कहूँ कि उन्होंने मुझे कलम पकड़ कर लिखना सिखलाया, तो अत्युक्ति न होगी।

सन् 1917 ई. जून मास में मैं कानपुर गया और वहीं क्राइस्ट चर्च कॉलेज में पढ़ने लगा। कानपुर में जिन साहित्य सेवियों से परिचय हुआ उनमें पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, बाबू भगवतीचरण वर्मा, पं. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि महानुभाव मुख्य हैं। 'प्रताप' प्रेस से संबद्ध रहने के कारण ही पूजनीय अग्रज श्री मैथिलीशरणजी गुप्त, बाबू वृंदावनलाल वर्मा, पंडित लक्ष्मीधर बाजपेयी, स्वर्गीय पंडित बद्रीनाथ भट्ट, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी आदि मित्रों तथा बड़ों का साक्षात्कार हुआ। कानपुर के पूजनीय महाशय काशीनाथजी तथा मेरे विद्या गुरु प्रोफेसर आर्मड तथा प्रिंसिपल डगलस का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। महाशयजी तो मेरे अपने हैं। गणेशजी उन्हें बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। महाशय काशीनाथ ने उन दिनों जिस तरह मेरे मस्तिष्क को परिपक्व करने में सहायता दी, वह आजीवन कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने की वस्तु है।



आस्था पर आहुति

डॉ. संपूर्णानंद

पिछले सौ वर्षों में बहुत से नर-रत्नों ने उत्तर प्रदेश को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया है। उनमें अधिकांश का तो इसी भू-भाग में जन्म हुआ था। कुछ सज्जनों का जन्म तो बाहर हुआ था, परंतु उन्होंने अपने सार्वजनिक जीवन के लिए इस प्रदेश के पर्यावरण को ही अनुकूल पाया। सन् 1857 का स्वातंत्र्य-युद्ध हो चुका था और विदेशी शासन की विजय हुई थी। देश ने हथियार डाल दिए थे, परंतु उसका मर्म आहत था। उसका हृदय व्यथित था। उसका रोयाँ-रोयाँ दासता की परिस्थिति से क्षुब्ध था, दुःखी था। प्रत्यक्ष रूप से विदेशी शासन का विरोध करने का योग नहीं देख पड़ता था। साधन नहीं थे, परंतु राष्ट्र की आत्मा जिस अतृप्ति का अनुभव कर रही थी वह अभिव्यंजना चाहती थी। कुछ हद तक तो उस राजनीतिक आंदोलन ने, जिसका जन्म कांग्रेस के उदय के साथ हुआ, इस वेदना को व्यक्त होने का अवसर प्रदान किया। दूसरा अवसर साहित्य ने दिया। सभी भारतीय भाषाओं के कलेवर में प्रौढ़ता आने लगी और हृदय की जलन गद्य और पद्य रचनाओं में फूट पड़ी। वर्तमान हिंदी का इतिहास इस बात का साक्षी है। भारतेंदु और उनके सहयोगियों की लेखनी से जो धारा निसृत हुई उसमें परतंत्रता की बेड़ियों के तोड़ने की उत्कट इच्छा सर्वत्र झलक रही थी। भले ही उन कवियों ने सांस्कृतिक दासता को अपना प्रत्यक्ष लक्ष्य बनाया हो, परंतु यह भी स्पष्ट था कि सांस्कृतिक दासता राजनीतिक शृंखलाओं के बीच में ही खेलती थी।

धार्मिक आंदोलनों ने प्रवाह का तीसरा मार्ग दिखलाया। स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी विवेकानंद राजनीतिक नेता नहीं थे, परंतु उनकी वाणी में

उस गौरव की झलक पदे-पदे मिलती थी जो कभी स्वतंत्र भारत को प्राप्त था और उनके उपदेश पद-दलित, परतंत्र, दुर्बलम्मन्य भारतीय को वे स्फूर्ति और आत्मविश्वास प्रदान करते थे, जो मनुष्य को स्वाधीनता की ओर ले जाते हैं। चौथा क्षेत्र पत्रकारिता में मिलता था। उन दिनों पत्रों का निकालना आज की भाँति सरल नहीं था। लक्ष्मी के कृपाभाजन लाखों रुपया लगाकर पत्र निकालते थे। लोकप्रिय पत्रों का, ऐसे पत्रों का जो निर्भीकता के साथ सरकार और उसके अधिकारियों की आलोचना करें और जनता की कठिनाइयों की चर्चा करें, निकालना जीवट का काम था। हर कदम पर संपत्ति के जब्त किए जाने की आशंका रहती थी। सच्चे पत्रकार के लिए जेल का द्वार बराबर ही खुला रहता था। भारतीय पत्रकारिता का इतिहास इसकी गवाही देता है। न जाने कितने पत्र निकले और विलीन हो गए।

जैसे महापुरुषों का मैंने ऊपर चर्चा किया है उनमें श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। कानपुर उनका कर्म-क्षेत्र था। किसी धार्मिक आंदोलन में तो उन्होंने प्रत्यक्ष और उल्लेखनीय भाग नहीं लिया, परंतु वे सच्चे अर्थों में धर्म से अनुप्राणित व्यक्ति थे। तिलक तथा बंगाल के क्रांतिकारी सेनानियों ने भगवद्गीता को कोरी पाठ करने की पुस्तक के स्थान से उठाकर कर्मयोगियों का प्रधान ग्रंथ बना दिया था। हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्—यह उपदेश प्रत्येक राजनीतिक कार्यकर्ता के हृदय में बैठ गया था। इस हाथ में स्वराज्य, उस हाथ में स्वर्ग और पुनः जन्म लेने पर फिर स्वराज्य के लिए अनवरत प्रयत्न, यह ऐसे लोगों का मंत्र था और विद्यार्थीजी भी इस मंत्र से दीक्षित थे। मेरा उनका वर्षों का साथ रहा है। पहले-पहले 1921 में लखनऊ जेल में भेंट हुई और यह साथ उनके देहांत के समय तक रहा। उनका अंतिम पत्र मेरे पास कराची कांग्रेस के कुछ पहले आया था, जब वह जेल से छूट चुके थे। उसमें उन्होंने लिखा था कि मैं तो कुछ कारणों से कराची न जा सकूँगा, आप जरूर जाएँ। मेरे लिए भी बाधक कारण उपस्थित हो गए और मैं भी न जा सका। कौन जानता था कि यह मेरा उनका अंतिम पत्र-व्यवहार होगा। अस्तु, अपने इस निजी परिचय के आधार पर ही कहता हूँ कि विद्यार्थीजी सच्चे अर्थों में धार्मिक पुरुष थे। धर्म की परिभाषा शास्त्रकारों ने यह की है—यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्म्मः। अभ्युदय, अपना अभ्युदय नहीं, देश और राष्ट्र का अभ्युदय, जिस धर्म से होता है उस धर्म से वह निरंतर अभिसिंचित

होते रहते थे।

राजनीति में उनका जो स्थान था, उसको सभी जानते हैं। प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रह चुके थे। सन् 1927 में जब कांग्रेस ने कॉउंसिलों में भाग लेने का निश्चय किया तो विधान परिषद् के सदस्य भी हुए। 23 सदस्यों की हमारी कांग्रेस पार्टी थी। उसके वे परमादरणीय सदस्य थे। इनका और श्री चुन्नीलाल गर्ग का जो गहरा मुकाबला हुआ था, एक ओर रुपयों की थैली और दूसरी ओर त्याग और लोकसेवा का जो संघर्ष हुआ था, उसको लोग अब भी याद करते हैं।

अधिकांश लोग उनको पत्रकार के रूप में जानते थे। 'प्रताप' के स्तंभों में देश की आत्मा बोलती थी। मुकदमे लड़ने पड़े। कई बार प्राण संकट का सामना करना पड़ा, बड़े-बड़े प्रलोभन मार्ग में आए, परंतु 'प्रताप' अपने आदर्श से बाल बराबर भी न डिगा। 'प्रताप' के लेखों में विद्यार्थीजी का हृदय अवतरित होता था और उनका हृदय करोड़ों भारतीयों के अरमानों से प्रतिस्पंदित था। ब्रिटिश सरकार के अलावा कभी-कभी उनको कुछ राज्यों के शासनों की भी तीव्र आलोचना करनी पड़ती थी। मेरे सामने की बात है। एक राज्य के शासन की बड़ी कड़ी भर्त्सना की गई थी। उसकी ओर से रुपए की थैलियाँ दिखलाई गईं। यह कहा गया कि आप अंग्रेज सरकार से उलझिए। हमारे कामों में क्यों हस्तक्षेप करते हैं, हम आपकी सहायता करने को तैयार हैं। राजा की ओर से बड़े आदर के साथ निमंत्रण भी आया, परंतु विद्यार्थीजी ने अपनी स्वाभाविक नम्रता और दृढ़ता के साथ यह सब अस्वीकार कर दिया। कर्तव्य-पथ पर विचलित होना उन्होंने सीखा ही नहीं था। उस दुबले-पतले शरीर में कितना धैर्य, कितना साहस था, इसका कुछ ज्ञान उन्हीं लोगों को हो सकता था, जिनको उनसे परिचय का सौभाग्य प्राप्त था। पत्रकार के साथ-साथ वे साहित्यकार भी थे। यह खेद की बात है कि उन्होंने विक्टर ह्यूगो के उपन्यास ल' मिजरेबुल (Les Miserable) का जो अनुवाद किया था वह, जहाँ तक मैं जानता हूँ, अब तक कहीं प्रकाशित न हो सका। हिंदी के प्रेमियों को इसके प्रकाशन का प्रबंध करके अपने को कृतघ्नता के दोष से मुक्त होने का यत्न करना चाहिए।

उन दिनों 'प्रताप' का कार्यालय और विद्यार्थीजी का कमरा महत्त्वपूर्ण राजनीतिक केंद्र था, जिसका बहुत सा इतिहास अभी लोगों के सामने नहीं आया है। इस बात को स्यात् कम लोग जानते होंगे कि उसी दफ्तर में बैठकर श्री

श्रीप्रकाश और मैंने स्वाधीनता की घोषणा का अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद किया, जो 26 जनवरी, 1930 को सारे देश में पहली बार पढ़ा गया। न जाने कितने राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गुप्त और प्रकट रूप से विद्यार्थीजी से सहायता मिली है। एक घटना का जिक्र करता हूँ, संभवतः कुछ लोग श्री शौकत उस्मानी के नाम से परिचित होंगे। वे खिलाफत आंदोलन के समय हिजरत करके रूस चले गए थे। वे 1921 के बाद गुप्त रूप से लौटे। कुछ दिन काशी में एक होटल में छिपकर रहे। फिर मैंने उनको पत्र देकर विद्यार्थीजी के पास भेजा। उन्होंने कानपुर में उनका प्रबंध किया। आखिर मई, 1923 में ब्रिटिश सरकार को ऐसे लोगों का पता चल गया और सारे देश में एक साथ ही बहुत सी जगहों में तलाशियाँ हुईं, जिनमें गुप्त रूप से आया हुआ बहुत सा साहित्य पकड़ा गया। तलाशी मेरे मकान की भी हुई, पर वहाँ पुलिस को कुछ मिल न सका, यद्यपि उस समय मेरे यहाँ ऐसा बहुत सा वाङ्मय जमा था। अस्तु, कुछ लोग गिरफ्तार भी हुए, जिनमें श्री शौकत उस्मानी भी थे।

विद्यार्थीजी की मृत्यु किस प्रकार हुई, यह सर्वविदित है। हिंदू-मुसलिम एकता का नाम तो सभी लेते हैं, परंतु उन्होंने अपने विश्वास के प्रमाण में अपनी आहुति दे दी। मुसलमानों की रक्षा करने में एक ना-समझ मुसलमान के हाथों उनकी हत्या हुई। यह सचमुच कानपुर के लोगों के लिए कलंक की बात है कि वह धन-संपन्न नगर आज तक उनके अनुरूप उनका स्मारक न बनवा सका।

मैं उनके जीवन के संबंध में बहुत कुछ लिख सकता हूँ। सैकड़ों बातें याद आती हैं, परंतु किन-किन की चर्चा करूँ। उनके शरीरपात से देश का एक निश्छल, सच्चा लोकसेवी उठ गया। देश के गरीबों और दलितों ने अपना एक वीर हितू खो दिया। भारतीय पत्रकारिता को असह्य आघात पहुँचा। उत्तर प्रदेश को ऐसी क्षति पहुँची, जिसका ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं हो सकता। यह कहना अनावश्यक है कि उनकी मित्रमंडली में, उन लोगों के बीच में जो उनके मित्र होने से अपने को गौरवान्वित पाते थे, एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया जो आज तक भर न सका। उनकी स्मृति आज भी हमको दुःखित करती है और इसके साथ ही उत्साह और स्फूर्ति भी देती है।



मृत्युंजय विद्यार्थीजी

चतुर्भुज शर्मा

गणेशशंकर विद्यार्थी के नाम के साथ मानस-पटल पर एक ऐसे मनीषी की छवि अंकित हो जाती है, जिसमें एक साथ ही संत, साहित्यकार, समाजसेवी तथा समन्वयवादी राजनीतिज्ञ की विशेषताओं का समावेश है। प्रयत्नपूर्वक इधर-उधर देखने और स्मृति को टटोलने के बाद भी उस प्रकार के दूसरे व्यक्ति के दर्शन प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः हमारे संपूर्ण स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में इस कोटि का प्रज्वलंत, गरिमापूर्ण आदर्शों का धनी और सिद्धांतों का स्वामी कोई दूसरा हृदय-सम्राट कठिनता से ही मिले। उनके जीवन-काल में ही उन्हें कानपुर का बेताज बादशाह कहा जाता था—उनका आसन राजसिंहासन और उनका आभूषण राजछत्र नहीं था, अपितु वे आसीन थे जन-जन की श्रद्धा-भूमि पर और उन पर वरदहस्त था माँ भारती का।

साधारण साधनहीन मध्यम वर्ग में जन्म लेकर उन्होंने अपने स्वाध्याय, अनवरत साधना, देश के प्रति अनन्य भक्ति और कर्तव्यनिष्ठा द्वारा कल्पनातीत उन्नति की। जीवन का श्रीगणेश उन्होंने बाबूगिरी से किया, फिर अध्यापन कार्य की ओर मुड़े, तब पत्रकारिता पकड़ी और अंत में स्वतंत्र, निर्भीक और राष्ट्रीय विचारों से ओत-प्रोत पत्रकार के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किया। अपने युग के अनुरूप उन्होंने पत्रकारिता के साथ राजनीति में भी सक्रिय भाग लिया और एकाधिक बार जेल यात्रा भी की। संघर्ष और केवल संघर्ष उनके जीवन की कहानी है और जीवन के प्रत्येक संघर्ष का उन्होंने अदम्य साहस, संकल्प और पुरुषार्थ के साथ सामना किया। पराभव या पराजय उन्होंने कभी नहीं स्वीकार की। उनका मौन ही उनका बल था, उनकी सरलता ही उनकी शक्ति थी और

उनकी कार्यक्षमता ही ऐसी पावन स्रोतस्विनी थी, जो अमृत बनकर आजन्म उनके साथी-सहयोगियों को जीवनदान देती रही।

यह संयोग की ही बात थी कि पत्रकारिता के प्रारंभ में उन्हें पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी के समान वयोवृद्ध संपादक तथा अनेक लेखकों, कवियों और समीक्षकों के पथ-प्रदर्शन का वरदहस्त प्राप्त हुआ। स्वयं गणेशजी के शब्दों में उन्होंने द्विवेदीजी से आरंभिक दीक्षा ली तथा उनके चरणों में बैठकर उसका प्रारंभ किया। 'सरस्वती' में रहकर उन्होंने पत्रकार-कला, मुद्रण और संपादकीय दायित्व का परिज्ञान प्राप्त किया। सरस्वती से गणेशजी 'अभ्युदय' में आए। राजनैतिक अभिरुचि तो उन्हें थी ही और उनका हृदय सदैव से ही राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था, किंतु अभी उनकी पत्रकारिता से राजनीति का समन्वय नहीं हुआ था। उसके लिए 'अभ्युदय' ने पृष्ठभूमि प्रदान की। फलतः गणेशजी ने यहीं से विदेशी शासन को ललकारना प्रारंभ किया और उसके अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाई। 'अभ्युदय' के बाद उन्होंने कानपुर से 'प्रताप' का प्रकाशन प्रारंभ किया।

'प्रताप' को गणेशजी के जीवन की उपलब्धि और सफलता माना जा सकता हैं। कुछ ऐसा रहा कि साधारण पत्र के रूप में प्रारंभ होकर कालांतर में 'प्रताप' एक संस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। नगर की ही नहीं, प्रदेश की राजनीति का सूत्रपात वहीं से होता था। स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी, साहित्य के श्रेष्ठ लेखक तथा विचारक एवं देश के शीर्षस्थ नेता 'प्रताप' के कार्यालय में नियमित रूप से आते और गणेशजी से परामर्श करते थे, साथ ही चोटी के क्रांतिकारी फरारी अवस्था में यहीं शरण लेते थे। एक जिज्ञासा के उत्तर में गणेशजी ने अपने एक मित्र को बताया था कि मेरी उन सब व्यक्तियों के प्रति सहज श्रद्धा है जो देश की स्वतंत्रता के लिए त्याग और बलिदान करने के लिए कृतसंकल्प हैं। इससे मुझे प्रयोजन नहीं कि वे गरम दल के हैं या नरम दल के या क्रांतिकारी हैं अथवा गांधीवादी। उन्होंने यह केवल कहा ही नहीं, किया भी। उनका संपूर्ण जीवन उनकी इस उक्ति का साक्षी है।

गणेशजी के निराले व्यक्तित्व ने कभी अहं को प्रश्रय नहीं दिया; अपनी गुरुता को कभी नहीं स्वीकारा। वे निडर थे, निर्भीक थे और मृत्यु ने उन्हें मृत्युंजय बना दिया था। साथ ही वे विनय और शालीनता की प्रतिमूर्ति थे। अन्यायी के प्रति वे वज्र के समान कठोर, किंतु दीन-दुःखी के सामने आते ही दयार्द्र हो जाते थे। उन्हें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, यानी किसी भी धर्म के प्रति द्वेष नहीं

मृत्युंजय विद्यार्थीजी

था, किंतु अंधविश्वास, कठमुल्लापन और धर्म के नाम पर बर्बरता को अपनाने से घृणा थी। वे गरीब थे, जीवन भर गरीब रहे, पर कोई गरीब उनके द्वार से खाली हाथ वापस नहीं गया। यही गणेशजी की विलक्षणता थी, विशेषता थी और यही उनकी अनन्यता थी।

लेखक और विचारक के रूप में गणेशजी ने अपने लिए एक पृथक् स्थान बना लिया था। वैसे तो एक स्वतंत्र पत्रकार के नाते उन्होंने प्राय: सभी विषयों पर लिखा, किंतु राष्ट्रीय समस्याओं पर उनकी लेखनी मानो आग उगलती थी। अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने के लिए गणेशजी को कई बार अपना जीवन संकट में डालना पड़ा, पर वे अपने इष्ट मार्ग से कभी एक कदम भी पीछे नहीं हटे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। बात को समझने और उसकी गहराई तक पहुँचने की क्षमता उन्हें प्राप्त थी। अपने विचारों में वे स्पष्ट थे और जो सोचते थे उसे सीधे सरल ढंग से बोलचाल की भाषा में व्यक्त भी कर देते थे। दशकों पहले लिखे गए उनके लेख 'चीन : आगामी एशिया की पहेली' तथा 'बोल्शेविक खतरा' इस बात के प्रमाण हैं कि गणेशजी कितनी दूर तक की बात सोच लेते थे।

स्वभाव से गणेशजी आदर्शवादी थे, किंतु व्यावहारिक जीवन में उन्होंने यथार्थ की कभी उपेक्षा नहीं की। कल्पना के चश्मे से वर्तमान दुरूहता को आँकने के वे आदी नहीं थे। भारत के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति उन्हें आस्था थी, किंतु केवल उतने से ही उन्हें संतोष नहीं था। वे प्राय: कहा करते थे कि यदि हमें अपने अतीत पर गौरव है तो हमें अपने भविष्य के प्रति आशावान होना चाहिए।



मृत्युंजय विद्यार्थीजी

उनकी अहिंसा

मो.क. गांधी

हमारी अहिंसा कायर, कमजोर और डरपोक लोगों की अहिंसा नहीं है। हम तो अहिंसा के सिपाही हैं, जो मौका आने पर कट जाएँगे।

हमें तो गणेशशंकर विद्यार्थी बनना चाहिए। गणेशशंकर की तरह आप एक-एक आदमी अपना-अपना शांति-दल बना सकते हैं। गणेशशंकर ने अहिंसा की सेना (शांति-सेना) का एक बहुत ऊँचा आदर्श हमारे सामने रख दिया। उसकी आत्माहुति व्यर्थ नहीं गई है। उसकी आत्मा मेरे दिल पर काम करती रहती है। मुझे जब उसकी याद आती है, तो उससे ईर्ष्या होती है, इस देश में दूसरा गणेशशंकर क्यों नहीं पैदा होता है? हम थोड़ी देर के लिए मान सकते हैं कि उसकी परंपरा समाप्त हो गई, लेकिन वह इतिहास में अमर हो गई।

उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी। उसी की तरह प्रहार सहते हुए भी मैं खुद शांत रहूँ और लोगों को शांत रहने को कहूँ और खुद हँसता हुआ मरूँ, ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि ऐसा मौका मुझे मिले और आपको भी मिले।

गणेशशंकर के जीवन से अहिंसा का पाठ सीखें। मैं जो चाहता हूँ, वह तो गणेशशंकर का मार्ग है और वही सर्वोत्तम सरल साधन अपने दुश्मनों से बचने का है। उसी का आदर्श मैं आप लोगों के सामने रखता हूँ, इसे समझें। हमें हिंदू-मुसलमानों की सच्ची सेवा गणेशशंकर की तरह करनी है। यही रास्ता दोनों को एक दिन मिला सकता है और एक-दूसरे का भाई बनाने में मदद दे सकता है। हिंदू और मुसलमान इस प्रश्न की महत्ता को महसूस करें और ऐसे दंगे के मूल कारण का अंत करने की कोशिश करें।

गणेशशंकर विद्यार्थी का खून दोनों मजहबों को आपस में जोड़ने के लिए सीमेंट का काम करेगा। उन्होंने जिस वीरता का परिचय दिया है, वह अंत में पत्थर से पत्थर हृदय को भी पिघला कर एक में मिला देगी, पर वह जहर इतना अधिक फैल गया है कि संभव है गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे महान् त्यागी वीर पुरुष का रक्त भी आज उसे धो डालने के लिए काफी न हो। अगर भविष्य में ऐसा मौका फिर आए तो इस भव्य बलिदान से हम वैसा ही प्रयत्न करने की प्रेरणा प्राप्त करें।



उनकी अहिंसा

तर्जुमान-ए-इंसानियत

ख्वाजा अब्दुस्सलाम

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ कानपुर के सियासी सोशल, अदबी, याशी और जर्नलिज़्म सभी पहलू नज़र के सामने आ जाते हैं। यह मुनहनी सा इनसान जब कानपुर आया, तो कौन जानता था कि वह कानपुर के हर पहलू को उजागर कर देगा और शहरवालों की ऐसी बेलौस ख़िदमत अंजाम देगा कि जिस पर न सिर्फ कानपुर व सूबा, बल्कि सारा हिंदोस्तान फ़ख़्र करेगा। यह इनसान अपने अज़्म व इरादे का किस कदर पुख़्ता था कि इसको कोई ताक़त अपने रास्ते से बाल भर भी नहीं हटा सकती थी। इसके दिल में हिंदू-मुसलमान व सभी मज़हब-ओ-मिल्लत वालों की मुहब्बत एक सी थी और वह यह चाहता था कि हर आदमी अपनी सलाहियतों की हैसियत से तरक्की पाए और इसका सबसे पहला यही एक मिशन था। उन्होंने सन् 1913 में 'प्रताप' हिंदी अखबार निकाला, जो हिंदी जबान के लिए एक यशलेराह साबित हुआ और जर्नलिज़्म के सही उसूलों की पाबंदी करते हुए कांग्रेस और मुल्क की तर्जुमानी जिस बेखौफी के साथ की, उसने विद्यार्थीजी के नाम को सामने लाकर सफे अव्वल में रख दिया।

उन्होंने 'प्रताप' प्रेस को सही मायने में सारे हिंदोस्तान के सियासी कारकूनों की मदद करने का एक इरादा बना दिया था। कानपुर एक सनअती मुक़ाम होने की वजह से कुदरती तौर पर यहाँ मज़दूर आबादी बहुत काफी है, लेकिन उनकी बेबसी देखकर विद्यार्थीजी का दिल बेकाबू हो गया और उन्होंने उनकी तर्जुमानी के अलावा मज़दूर सभा की बुनियाद डाली, जिससे मज़दूरों को कुछ-न-कुछ राहत ज़रूर मिली।

कानपुर उस ज़माने में सियासी हैसियत से बहुत पीछे था और यहाँ के सियासत का मुन्तहा नज़र सिर्फ हुक्काम-ए-वक़्त के खुशनूदी मिजाज़ था। मौलवी फज़्लुलरहमान, मरहूम बानी हलीम मुसलिम कॉलेज ने ज़रूर मसजिद मछली बाजार (सन् 1913) के संगीन वाक़ये को सियासी रंग देकर कानपुर में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ एक जज़्बा पैदा कर दिया था। शायद सन् 1926-28 में गणेशजी ने अपने 'प्रताप' के दफ्तर में कुछ दोस्तों की एक बैठक बुलाई जिसमें एक मसला यह था कि हम हिंदोस्तानी हैं। पहले हिंदोस्तानी, मज़हब बाद की चीज़ है। इस बैठक के बाद सरकारी पॉलिसी की मुख़ालफत करने के लिए एक जमात बनी—'ऑल इंडिया हिंदोस्तानी बिरादरी'। गणेशजी सदर और ख्वाजा अब्दुस्सलाम खजांची मुन्तखिब हुए।

इस बिरादरी के जलसे हर ईद, दीवाली-होली बगैरा पर होते थे, जिसमें तमाम शहरी शिरकत करते थे। बाद में सरकार इस पर टेढ़ी नज़र रखने लगी। यह जमात गणेशजी की दिली ख्वाहिश से बनी थी। गणेशजी की शहादत के बाद भी हिंदोस्तानी बिरादरी बंद नहीं हुई, बल्कि अपना काम करती रही।



तेजोमय प्रकाश स्तंभ

श्रीनिवास बालाजी हार्डीकर

हुतात्मा गणेशशंकर विद्यार्थी का महान् व्यक्तित्व उस तेजोमय प्रकाश-स्तंभ की तरह था, जो अनेक शताब्दियों तक मानवता का मार्ग-दर्शन करता रहेगा। उनके आदर्शमय जीवन का स्मरण होते ही हृदय में संस्कृत का एक श्लोक गूँजने लगता है—

''शतेषु जायते शूरः सहस्रेसु च पंडिता
वक्ता दश सहस्स्रेषु त्यागी भवति वानवा॥''

सौ व्यक्तियों में एकाध शूरवीर पैदा हो ही जाता है, हजार में एक न एक विद्वान् भी होता है। दस हजार में कोई-न-कोई वक्ता उत्पन्न होता ही है, पर त्यागी पुरुष के उत्पन्न होने के संबंध में कुछ निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है। वह पैदा हो भी सकता है अथवा नहीं हो सकता। इस प्रकार वीरता, विद्वत्ता व कृतित्व और त्याग के गुणों की महिमा का इस श्लोक में तुलनात्मक दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है। इनमें से एक भी गुण किसी भी व्यक्ति को महान् पुरुषों की पंक्ति में स्थापित करने की क्षमता रखता है।

गणेशजी में ये चारों गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे। शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार को ललकारने की उनमें शूरवीरता थी। 'प्रताप' के लेख उनकी गहरी विद्वत्ता के प्रमाण थे। घन गंभीर स्वर में दिए गए उनके भाषणों को सुनने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे वक्तृत्व शक्ति के कायल हुए बिना नहीं रह सकते थे। दुर्लभ त्याग के गुण का तो उनके व्यक्तित्व में इतना बाहुल्य था, अपने आदर्शों के लिए उन्होंने ऐसा बलिदान किया, जिसने महात्मा गांधी जैसी लोकोत्तर विभूति के हृदय में भी 'ईर्ष्या' की भावना उत्पन्न की थी। अनेक उच्चतम गुणों

से परिप्लावित उनका व्यक्तित्व असाधारण था, अलौकिक तथा देदीप्यमान था।

42-43 वर्षों के काल की झंझा हृदय में अंकित उनकी मूर्ति को धूमिल बनाने में असमर्थ रही है। मोटे खद्दर का लंबा कुरता, ऊँची धोती, पुरानी चप्पल, सफेद फ्रेम का चश्मा पहने हुए दुबले-पतले शरीर तथा तेजस्वी आँखों वाले गणेशजी की जीती-जागती प्रतिमा आज भी स्मृतिपटल पर उतनी ही ताजी है जितनी वह पचास वर्ष पूर्व थी। उनका स्मरण होते ही जीवन पुस्तिका की विगत अर्द्धशताब्दी के पन्ने पलटने लगते हैं तथा भूतकाल की अनेक घटनाओं का चलित चित्र स्मृति-पटल पर उभरने लगता है। कानपुर नगर गणेशजी जैसे अमर शहीद की कर्मभूमि होने के लिए युगों-युगों तक अपने को गौरवान्वित अनुभव करता रहेगा।



तेजोमय प्रकाश स्तंभ

पुण्यश्लोक गणेशजी

सिद्धेश्वर अवस्थी

हिंदी भाषा-भाषी जनों को, चाहे वे आज की पीढ़ी के ही क्यों न हों, गणेशशंकर विद्यार्थी के परिचय की आवश्यकता नहीं है। मोटे रूप में उनका परिचय यों दिया जा सकता है कि वे साधारण कुलोत्पन्न असाधारण जन थे। वे उत्तर प्रदेश के स्नेह-प्राप्त, ख्याति-प्राप्त, निर्भीक, त्यागी, तपस्वी, अटल, अचल, ज्वलंत आदर्शवादी, जनप्रिय लोकनायक थे। राजनीति, जनसेवा, हिंदी पत्रकारिता, तत्कालीन देशी राज्य प्रजा का नेतृत्व उनके विशेष कार्य क्षेत्र थे।

अपनी ओजपूर्ण वाणी, अपने आकर्षक व्यक्तित्व, अपनी ज्वलंत देश-भक्ति, अपनी प्रखर लेखनी और अपनी सहज निडरता से लोक मानस का, देश की आकांक्षाओं और आशाओं का प्रतिनिधित्व करना उनका जीवन धर्म था। नवयुवकों को परखना, उन्हें आश्रय देना, उन्हें अनुप्राणित करना, उनका जीवन बनाना गणेशशंकर विद्यार्थी की बान थी। वे अच्युत थे। किसी प्रकार के प्रलोभन उनको डिगा नहीं सकते थे।

यह तो सभी जानते हैं कि कानपुर नगर में 'प्रताप' साप्ताहिक पत्र की स्थापना और उसका 18 वर्षों तक संचालन करके गणेशशंकर ने हिंदी पत्रकार कला में ऐसी क्रांति की जिसकी समानता या समता नहीं हो सकती। गणेशशंकर विद्यार्थी के लेखों ने सहस्रों हिंदी भाषा-भाषी जनों को देशभक्ति का पाठ पढ़ाया और उन्हें देश के स्वातंत्र्य युद्ध में जूझने का साहस प्रदान किया। सन् 1913 से सन् 1930 तक लगातार इस देश में कोई भी ऐसा आंदोलन नहीं हुआ, जिसका प्रचार-प्रसार और आंशिक नेतृत्व विद्यार्थीजी व उनके 'प्रताप' ने न किया हो। चंपारन के किसानों पर निलहे गोरों के अत्याचार की कहानियाँ सर्वप्रथम

गणेशशंकर के 'प्रताप' के द्वारा जनता के सम्मुख आईं। इसके उपरांत कहीं गांधी बाबा का ध्यान उधर गया। देशी राज्यों में होनेवाले अनाचारों की कथाएँ सर्वप्रथम 'प्रताप' ने जनता के सम्मुख रखीं। देशी राजाओं के विरुद्ध 'प्रताप' द्वारा किए गए तीव्र आंदोलन से घबरा कर ही तत्कालीन ब्रिटिश भारतीय शासन ने देशी नरेश संरक्षण विधि (Princes Protection Act) की सृष्टि की थी।

विदेशों में कुली बनाकर भेजे गए भारतीयों के कष्टों का प्रकाशन 'प्रताप' में जिस निर्भीकता और नैरंतर्य से हुआ उस रूप में भारतवर्ष के किसी अन्य पत्र में नहीं हुआ। बहुत वर्षों तक 'प्रताप' ही एक प्रकार से गांधीजी का मुख पत्र रहा। जब बहुत पहले भारत के राजनीतिक नेतृत्व की बागडोर को हाथ में लेने से पूर्व गांधीजी कानपुर पधारे थे, तब 'प्रताप' कार्यालय में गणेशशंकर विद्यार्थी को ही उनका आतिथेय होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गणेशशंकर के जीवन काल में हिंदी पत्रों में 'प्रताप' का वही स्थान था, जो लोकमान्य के जीवन काल में मराठी पत्रों में 'केसरी' का था। होमरूल आंदोलन, कुली प्रथा के विरुद्ध आंदोलन, निलहे गोरों के विरुद्ध आंदोलन, देशी नरेशों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध आंदोलन—ये 'प्रताप' की विशेषताएँ रही हैं। असहयोग आंदोलन में 'प्रताप' के प्रचार का हिंदी जगत में बहुत बड़ा हाथ रहा है।

आज यह सुनकर किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हिंदी पत्रकारिता के विकास में एक समय ऐसा रहा है, जब बिहार और उत्तर प्रदेश की जनता समाचार-पत्र का अर्थ केवल 'प्रताप' ही समझती थी और यह धारणा गणेशशंकर के लोक मानस का प्रतिनिधित्व करने की सामर्थ्य को दरशाती है। असहयोग आंदोलन काल में गणेशशंकर विद्यार्थी की वाणी जिन्होंने सुनी है उसे वे आज भी बड़ी ललक के साथ स्मरण करते हैं।

ऐसे जननायक, ऐसे आदर्शपुंज, ऐसे निश्छल, ऐसे पर:दुखकातर, ऐसे ऊँचे मानव गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक दिन अपने को होम कर दिया। दीनों, निरीहों, भयग्रस्तों की रक्षा करते हुए वे 25 मार्च, सन् 1931 के दिन कानपुर के हिंदू-मुसलिम दंगे में खेत रहे। आज भी आपको अनेक ऐसे जन मिलेंगे और उनकी संख्या सहस्रों में है जिन्होंने गणेशशंकरजी के लेखों से अनुप्राणित होकर देश के स्वतंत्रता युद्ध में भाग लिया, सहस्रों, लक्षों हिंदीभाषी जनों ने उनसे प्रेरणा प्राप्त की। आज हिंदी क्षेत्र में अनेक सिद्धहस्त और रससाधक साहित्य सृष्टा

हैं, जिन्हें गणेशजी ने प्रेरणा प्रदान की है। यही कारण था कि हिंदी जगत् ने कृतज्ञतापूर्वक उनकी इच्छा न रहते हुए भी गणेशजी को हिंदी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन का सभापति बनाया था। वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। नमक सत्याग्रह के काल में उत्तर प्रदेश कांग्रेस के वे सर्वप्रथम प्रादेशिक अधिनायक (डिक्टेटर) थे।

खुली राजनीति में तो गणेशजी नेतृत्व करते ही थे, इसके साथ ही क्रांतिकारी राजनीतिक कार्यकर्ताओं और नेताओं में भी उनका अद्‌भुत सम्मान था। काकोरी षड्‌यंत्र केस के कई अभियुक्त गणेशजी की शिष्य मंडली के युवक थे। स्वर्गीय हुतात्मा चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, श्री राजकुमार सिन्हा आदि गणेशजी के अनुजों और बच्चों के सदृश थे। गणेशशंकर विद्यार्थी इस प्रदेश के द्वारा प्रदत्त भारत के उन नेताओं में हैं जो जन-साधारण के स्तर से ऊपर आए। साधारण शिक्षा, साधारण कोटि का बुद्धि वैभव, पर मानवगुण और आदर्श-आराधना इतनी प्रचुर मात्रा में थी कि गणेशशंकर के जीवनयापन और जीवनदान पर भगवत्-अंश अवतारी पुरुष बापू को भी ईर्ष्या हुई थी। वे अनेक बार कह उठते थे कि मैं गणेशशंकर की सी मृत्यु चाहता हूँ और भगवान ने बापू का मनोरथ पूरा किया, उन्हें गणेशशंकर की सी मृत्यु देकर।



पुण्यश्लोक गणेशजी

विद्यार्थीजी का बहुआयामी व्यक्तित्व

सत्येन्द्र शुक्ल

सन् 1946 में जब मैं बलवंत राजपूत कॉलेज, आगरा से निष्कासित होकर पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के प्रोत्साहन पर कानपुर आया। उस समय तक देश स्वतंत्र नहीं हुआ था, अलबत्ता सन् 1942 के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के संबंध में बंदी सभी राजनेता जेलों से रिहा हो चुके थे। सन् 1945 में विश्व युद्ध समाप्त हो चुका था, अत: राजनैतिक वातावरण में तनाव समाप्त हो गया था। गवर्नर जनरल व वाइसरॉय लार्ड वैवेल की अध्यक्षता में तथा उसके द्वारा ही नामित सदस्यों की अंतरिम सरकार बन चुकी थी। पं. जवाहरलाल नेहरू इस सरकार के 'उपाध्यक्ष' थे, परंतु उनको 'प्रधानमंत्री' कहा जाता था। उनकी सारी शक्तियाँ व अधिकार वाइसरॉय के हाथ में थे। इस कारण कांग्रेस-विरोधी तत्त्व इसे 'अंग्रेजों की कठपुतली' सरकार कहते थे। रूस समर्थक साम्यवादी लोग भी ऐसा ही बताते थे। रूसी समाचार-पत्र 'प्रावदा' और 'इजवेस्तिया' तो नेहरूजी को 'ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पिछलग्गू कुत्ता' कहते थे।

कांग्रेस पार्टी के ही एक ग्रुप कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी.एस.पी.) के नेता भी इस सरकार से संतुष्ट नहीं थे। इनमें डॉ. राममनोहर लोहिया व जयप्रकाश नारायण भी शामिल थे। लोहियाजी से तो मेरा परिचय तभी हो गया था, जब वे आगरा सेंट्रल जेल में बंदी थे, परंतु जयप्रकाशजी से कोई विशेष घनिष्ठता नहीं हो पाई थी, यद्यपि परिचय उनसे भी हो चुका था और वे भी मेरी सेवाओं से प्रसन्न थे। वैसे शायद यह संभव न भी होता, परंतु यह केवल इत्तफाक ही था कि सन् 1945 के जाड़े की एक सुबह जब मैं आगरा कैंट स्टेशन से होकर अपने कॉलेज जा रहा था, मैंने देखा कि वहाँ पुलिस बंदोबस्त कुछ अधिक

ही है। इसी बीच रेल के एक कोच से दो खद्दरधारी नेता भी पुलिस निगरानी में उतरे। मुझे वहाँ खड़े होकर सब गतिविधि गौर से देखते हुए एक दारोगा की नजर पड़ गई और उसने मुझे डाँटकर अपनी राह जाने की सलाह दी। मैं वहाँ से तो खिसक गया, पर कॉलेज नहीं गया और इसकी सूचना कांग्रेसी लोगों को दी। दो दिन बाद पता चल गया था कि वे लोग सर्वश्री जयप्रकाश नारायण व डॉ. राममनोहर लोहिया थे, जो लाहौर जेल (तब पाकिस्तान नहीं बना था) से स्थानांतरित होकर आगरा जेल लाए गए थे।

उस समय ये दोनों नेता भी नवयुवकों के 'हीरो' थे। नेहरूजी तो बड़े-बूढ़ों तथा युवकों के भी 'हृदय सम्राट' कहे जाते थे। ये दोनों नेता नेहरूजी के नेतृत्व में बनी नई सरकार से असंतुष्ट थे—उसके कार्यों से नहीं, वरन् उसके सीमित अधिकारों से। इनको यह विश्वास भी नहीं था कि अंग्रेज सरकार उस सरकार को चलने भी देगी। इसीलिए जगह-जगह ये दोनों तथा सी.एस.पी. के अन्य नेता अपने भाषणों में यही कहते थे कि ''अबकी बार वाइसरॉय जवाहरलाल व गांधी को गिरफ्तार नहीं करेगा, वरन् जवाहरलाल व भारत की जनता वाइसरॉय को गिरफ्तार करेगी।'' सी.एस.पी. नेताओं के एक इसी गलत आकलन से ये लोग आजादी का उतना उपभोग नहीं कर सके जितना गांधी समर्थक कांग्रेसियों ने किया। इन सभी ने चुनावों का बहिष्कार किया था।

मैं जब कानपुर आया था, तो एक संक्रमणकाल था। गुलामी की काली रात पूरी तरह ढली नहीं थी, परंतु कांग्रेस सरकारें (सीमित अधिकारों वाली ही सही) बन जाने से कुछ धुँधलका मात्र हुआ था। स्वाधीनता की उषा-किरण फूटी नहीं थी, परंतु फिर भी मेस्टन रोड के मध्य में बने मंदिर के पास वाले आमने-सामने स्थित 'शर्मा' व 'भारत' रेस्तराँओं के भीतर और बाहर शुभ्र-धवल विशुद्ध खादीधारी वयस्कों और नवयुवकों की आपसी चुहलबाजी, बहस-मुबाहिसे तथा जेलों के किस्से सुनकर यही प्रतीत होता था कि बस आजादी व पूर्ण आजादी आ गई, जो वास्तव में एक साल बाद 15 अगस्त, 1947 को ही आई थी।

प्रदेश में भी कांग्रेसी सरकार बन गई थी और पं. गोविंदवल्लभ पंत यू.पी. (यूनाइटेड प्रॉविंसेज ऑफ आगरा एंड अवध) जिसे हिंदी में 'युक्त प्रांत आगरा और अवध' कहते थे और अब उसका नामकरण उत्तर प्रदेश है, के 'प्रधानमंत्री' कहे जाते थे। तब उत्तरांराखंड भी उत्तर प्रदेश में ही था। राजनैतिक गतिविधियों का केंद्र औपचारिक रूप से तो यद्यपि 'तिलक हाल' था, तथापि सभी कार्यक्रम

विभिन्न विषयों पर बहस-मुबाहिसे शर्मा और भारत रेस्तराँओं के भीतर और बाहर की बातों के आधार पर ही बनते थे। जिस समय की मैं बात कह रहा हूँ, 'प्रताप' तो शायद प्रकाशित हो ही नहीं रहा था, कोशिश हो रही थी। हाँ, श्री बालकृष्ण माहेश्वरी का 'वीर भारत' और पं. रमाशंकर अवस्थी का 'वर्तमान' प्रकाशित होते थे। इनके मुकाबले में लखनऊ के 'नेशनल हेराल्ड', 'नवजीवन' तथा 'पायोनियर' समाचार-पत्रों की अधिक मान्यता थी। 'जागरण' तो तब जन्मा भी नहीं था।

यों तो मेस्टन रोड की गोष्ठियाँ केवल समय काटने का ही साधन होती थीं, परंतु कभी-कभी इनमें भी गंभीर चर्चाएँ हो जाती थीं और इनमें लिया जाता था स्वर्गीय विद्यार्थीजी का नाम—एक टीस के साथ। प्राय: सभी एकमत होकर कहते थे कि यदि आज विद्यार्थीजी जीवित होते तो निश्चित रूप से वे ही संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) के 'प्रधानमंत्री' होते। सर्वसम्मति से कही हुई यह बात ही इंगित करती है कि विद्यार्थीजी का व्यक्तित्व कितना ऊँचा था, यानी पं. पंत, आचार्य नरेंद्रदेव, संपूर्णानंदजी व सी.बी. गुप्ता सभी से ऊँचा था। विद्यार्थीजी की कथनी व करनी में कोई अंतर नहीं था। यदि हिंदू-मुसलिम में धर्म के आधार पर कोई अंतर नहीं मानना है, तो उसके लिए आवश्यकता पड़ने पर बलिदान भी दे देना चाहिए, यह उन्होंने करके दिखा दिया।

उत्तर प्रदेश के लौह पुरुष कहे जानेवाले स्वर्गीय चंद्रभानु गुप्ता, जो पं. नेहरू और इंदिरा गांधी द्वारा विरोध किए जाने के बावजूद, राज्य के चार बार मुख्यमंत्री बने थे, ने अपनी आत्मकथा लिखे जाने के दौरान जिक्र किया था कि विद्यार्थीजी उनके बड़े भाई तुल्य थे और जब भी उनका लखीमपुर जाना होता था, तो वे गुप्ताजी के भाई डॉ. प्यारेलाल के घर ही ठहरा करते थे। विद्यार्थीजी ने काकोरी डकैती के अभियुक्तों को बचाने के प्रयत्नों में गुप्ताजी की जो सहायता की थी, उसका भी वे जिक्र करते थे। मुंशीगंज के ताल्लुकेदार ने निहत्थे किसानों पर जो गोलीबारी की थी, जिसकी जाँच के लिए मोतीलाल नेहरू और जवाहरलाल नेहरू—पिता-पुत्र दोनों ही आए थे, उसमें भी विद्यार्थीजी व गुप्ताजी साथ-साथ ही गए-आए थे।

'प्रताप' के संपादक स्व. सुरेश दा (भट्टाचार्य), जो विद्यार्थीजी के जीवनकाल में उनके संपादकीय विभाग में रहे थे, के साथ-साथ घंटों रहने का मौका मुझे कई बार अवश्य मिला। बातचीत में जितने वे सौम्य एवं मृदुभाषी थे, उससे

तो यह विश्वास ही नहीं होता था कि ये कभी क्रांतिकारी भी रहे होंगे और काकोरी ट्रेन डकैती कांड में शामिल हुए होंगे। एक दिन मैंने उनसे यह बात कह भी दी थी। अवसर था स्वर्गीय जयदेव गुप्त, संवाददाता, 'अमृत बाजार पत्रिका' के घर पर एक बैठक का। सुरेश दा प्रायः ही गुप्ताजी के यहाँ जाते थे और शाम को भोजन करके लौटते थे। कारण, विद्यार्थीजी के समय जयदेवजी सुरेश दा के सहयोगी के रूप में 'प्रताप' के संपादकीय विभाग में काम करते थे और इन्हीं संबंधों के कारण उनकी बहन का विवाह जयदेवजी के साथ हुआ था। उस दिन मुझे भी जयदेवजी ने भोजन पर आमंत्रित कर लिया था। जब काकोरी के मामले पर कोई चर्चा चली, तो मैंने कहा, ''दादा क्या सचमुच आप उस डकैती में शामिल थे? आपसे बातचीत करके तो कोई ऐसा शक भी नहीं करता।'' वे अपनी बँगला प्रभावित हिंदी में बोले एक अट्टहास के साथ, ''अरे भाई यह बात तो तुम्हें उस जज को बतानी थी, जिसने मुझ निरपराध को उस मामले में सजा सुनाई।''

ऐसे ही किसी क्षण में, संभवतः जयदेवजी के यहाँ ही सुरेश दा ने विद्यार्थीजी के विनोदी स्वभाव की चर्चा में भी एक किस्सा सुनाया था। वास्तव में बात तो चल रही थी पत्रकारों और पत्रकारिता की, परंतु जो किस्सा सुनाया वह पत्रकारिता की सामान्यजन में उस काल की धारणा पर व्यंग्य होने के साथ ही विद्यार्थीजी के विनोदी स्वभाव का भी एक उदाहरण बन गया।

सुरेश दा ने सुनाया कि एक दिन विद्यार्थीजी 'प्रताप' कार्यालय में बैठे, सबेरे-सबेरे 'शेव' कर रहे थे कि कार्यालय का एक पुराना चपरासी आकर हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। जब विद्यार्थीजी उसकी ओर मुखातिब हुए और पूछा कि क्या बात है, क्यों खड़े हो, तो रोनी सी सूरत बनाकर अपने लड़के का नाम लेते हुए कहा, ''ऊ घसीटा (कल्पित नाम) अब की बारऊ फेल होइ गवा, का करी, का न करी!'' विद्यार्थीजी ने पूछा, ''किस कक्षा में फेल हो गया?'' चपरासी ने उत्तर दिया, ''साहेब, मिडिल में।''

विद्यार्थीजी - ''तो उसे अगले साल इम्तहान दिलाओ। ठीक से पढ़ाई करने को कहो।''

चपरासी - ''साहेब पारसालऊ ऊ फेल होय गवा था।''

विद्यार्थीजी - ''तो फिर उससे कोई नौकरी कराओ।''

चपरासी - ''साहेब, नौकरी बहुत जगह कराई, करता नहीं, यहीं आकर

अखबार पलटत रहत है।''

विद्यार्थीजी - ''तो?''

चपरासी - ''साहेब अपने साथ ही लगा लो।''

विद्यार्थीजी - ''क्या संपादक बना दूँ?''

चपरासी - ''हाँ-हाँ साहेब यही तौ कहा चाहित, ओऊ को संपादक बना लेउ।''

यह पत्रकारिता के बारे में जन साधारण की धारणा पर तो व्यंग्य है ही, परंतु विद्यार्थीजी द्वारा चपरासी के मिडिल फेल लड़के को संपादक का पद देने की बात कहना उनकी विनोदप्रियता का भी परिचायक है।



कानपुर कांग्रेस और विद्यार्थीजी

डॉ. नीना शुक्ला

गणेशशंकर विद्यार्थी के विशेष प्रयास एवं प्रभाव से बेलगाँव कांग्रेस (1924) में आगामी कांग्रेस अधिवेशन के लिए उनका निमंत्रण स्वीकार किया जाना जहाँ कांग्रेस के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ था, वहीं संयुक्त प्रांत और कानपुर को भी इसका भारी लाभ प्राप्त हुआ था। कानपुर में अनेक विघ्न-बाधाओं तथा विरोधियों के असहयोग के बाद भी अधिवेशन को संपन्न कराने के बाद विद्यार्थीजी में एक विशेष प्रकार का आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास का भाव उत्पन्न हो गया था। इस अधिवेशन से वे राष्ट्रीय नेताओं के और अधिक निकट आ गए थे और उनकी संगठन शक्ति ने स्वराज्य दल के मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गजों के मन में उनकी धाक जमा दी थी। उन्होंने इस अधिवेशन की स्वागत समिति तथा अन्य समितियों में प्रदेश भर में फैले अपने मित्रों तथा सहयोगियों को भी जोड़कर राष्ट्रीय जीवन को और अधिक प्रतिष्ठित बना दिया था।

कानपुर के युवकों की एक बहुत बड़ी शक्ति भी उन्होंने कांग्रेस में स्वयंसेवक के रूप में कार्य करने के बहाने संगठित कर ली थी, जो समय-समय पर उनके आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आंदोलनों में उनके निर्देश पर मर मिटने को कृतसंकल्प रहती थी। इस अधिवेशन के प्रभाव से कानपुर की महिलाओं और युवकों में जो नया उत्साह और आत्मविश्वास पैदा हुआ था, उससे आगामी राष्ट्रीय आंदोलनों के लिए अपेक्षित प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्तर के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी उपलब्ध हो गए थे। विद्यार्थीजी ने जो तीन हजार स्वयंसेवक बनाए थे, उनमें लगभग दो सौ महिलाएँ थीं। इनके द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय हजारों महिलाओं को प्रशिक्षित किया गया था। प्रारंभिक दिनों में कांग्रेस

अधिवेशनों में अधिकतर ऐसे लोग भी शामिल होते थे जिन्हें देश-हित में नहीं, अपने मनोरंजन या भारत-भ्रमण में दिलचस्पी थी। देशभक्तों में भी अधिकतर ऐसे होते थे जिनकी दृष्टि में कांग्रेस के अधिवेशन राष्ट्रीय मेलों से अधिक महत्त्व नहीं रखते थे, किंतु कानपुर कांग्रेस अधिवेशन और उसके बाद के अधिवेशनों में अधिकतर ऐसे लोग शामिल होने लगे थे, जो देशहित के कार्यों के लिए समर्पित हो चुके थे या होना चाहते थे।

कानपुर के कांग्रेस कार्यकर्ताओं की दलबंदी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि अधिवेशन के पहले ही 'मनोरमा' के संपादक महावीर प्रसाद मालवीय ने उस पर चिंता प्रकट की थी। इस दलबंदी का आभास कानपुर के बाहर वालों को उसी समय हो गया था, जब स्वागत समिति का गठन किया गया था। स्वागत समिति का चुनाव मारवाड़ी विद्यालय (नयागंज) में हुआ था। स्वागत समिति में विद्यार्थीजी के विरोधी गुट के किसी को भी नहीं रखा गया था। पूरी स्वागत समिति इस प्रकार थी—डॉ. भगवानदास, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, जवाहरलाल नेहरू सभी उपसभापति थे तथा गणेशशंकर विद्यार्थी प्रधानमंत्री। स्वागत समिति में भिषगरत्न शिवनारायण मिश्र, मंत्री चिकित्सा समिति और संयुक्त मंत्री प्रकाशन समिति, डॉ. जवाहरलाल रोहतगी मंत्री, सफाई और स्वास्थ्य व्यवस्था समिति, रामनारायण गर्ग मंत्री, पंडाल समिति, सालिगराम अग्रवाल, मंत्री, बाजार समिति, सरदार इंदर सिंह, मंत्री, जल समिति, द्वारिकाप्रसाद सिंह, मंत्री, रोशनी समिति, हरनाम सुंदरलाल, मंत्री, प्रचार समिति, बालकृष्ण शर्मा, मंत्री, संगीत समिति, गुरुप्रसाद कपूर, मंत्री, सवारी और रेलवे समिति, नवलकिशोर भरतिया, संयुक्त मंत्री, सवारी और रेलवे समिति, रूपचंद जैन, मंत्री, टिकट कमेटी, रमाशंकर अवस्थी, उपमंत्री, पंडाल समिति, वीरभद्र तिवारी ऑफिस सुपरिंटेंडेंट ललितकला प्रदर्शनी, श्रीमती ताईजी दीक्षित सुपरिंटेंडेंट, लेडी वालंटियर्स, गंगाधर गणेश जोग, मंत्री, स्वयंसेवक विभाग, लल्लूमल दलाल, मंत्री, डेलीगेट कैंप समिति, बाबा राघवदास, संयुक्त मंत्री, प्रचार समिति, राम कुमार नेवटिया, मंत्री, अर्थ समिति, लाला फूलचंद खजांची और भोजन मंत्री, मन्नीलाल अवस्थी मंत्री, व्यायाम और विनोद समिति, रफी अहमद किदवई संयुक्त मंत्री, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल संयुक्त और प्रकाशन मंत्री। स्वागत समिति में नारायणप्रसाद अरोड़ा को भी नहीं रखा गया था। फिर भी उन्होंने सहयोग दिया था। अन्य कई ऐसे लोगों ने भी सहयोग दिया था, जिनकी विद्यार्थीजी ने उपेक्षा की थी। विद्यार्थीजी

के उस समय तक के अनुभवों से यह सिद्ध हो गया था कि उनके विरोधी किसी भी स्थिति में सहयोग नहीं करेंगे, बल्कि अपनी शक्ति भर, काम में रोड़े अटकाएँगे।

नारायणप्रसाद अरोड़ा ने विद्यार्थीजी के वर्चस्व में चल रही कांग्रेस कमेटी की कटु आलोचना करते हुए कहा था कि उस समय कानपुर कांग्रेस कमेटी के तनख्वाह पानेवाले वालंटियरों का इतना विश्वास किया जाता था जितना शहर के किसी प्रतिष्ठित आदमी का भी नहीं किया जाता था। विद्यार्थीजी ने शहर की राजनीति में अपना पूरा प्रभाव जमा लिया था। इसलिए रामप्रसाद मिश्र गुट ने अपनी पकड़ जिले की राजनीति में केंद्रित करने के लिए विशेष प्रयास किए थे। गुटबंदी की दृष्टि से गणेशशंकर विद्यार्थी आरंभ में नितांत अकेले थे। यदि कोई साथ था तो केवल पं. शिवनारायण वैद्य। डॉक्टर बंधु (डॉ. मुरारीलाल और डॉ. जवाहरलाल) भी गुटबंदी के रूप में रामप्रसाद मिश्र के मुकाबले पूर्णरूपेण विद्यार्थीजी के साथ नहीं थे। ये दोनों, दोनों ही पक्षों के साथ कुशलतापूर्वक तालमेल बनाए रहते थे। गुरु रघुवरदयाल ने कानपुर नगर में ग्रामीण क्षेत्र में गणेशशंकर विद्यार्थीजी और उनके 'प्रताप' के प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से 1924 में 'किसान' नामक पत्र भी प्रकाशित किया था। विद्यार्थीजी से प्रतिस्पर्धा के कारण ही वे सितंबर 1925 में मौलवी फज़्लुलहसन 'हसरत' मोहानी के साथ कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी बन गए थे।

स्वागत समिति के चुनाव के समय से ही रामप्रसाद मिश्र को कांग्रेस अधिवेशन से 'विरक्ति' हो गई और उनके बाहर के कुछ मित्रों ने प्रबंध की कुछ बातों को लेकर विरोध शुरू कर दिया था। अजमेर के अर्जुनलाल सेठी, इलाहाबाद के कृष्णकांत मालवीय और राधामोहन गोकुलजी आदि ने अधिवेशन की तारीखों से काफी पहले से आकर यहाँ विरोध प्रकट करने का निश्चय किया था। विद्यार्थीजी के प्रखर व्यक्तित्व के प्रभाव से रामप्रसाद मिश्र गुट के कुछ लोग इतने आतंकित हो गए थे कि उन्हें वे एक निरंकुश स्वेच्छाचारी के समान दिखाई पड़ते थे। उनमें मिलनसारिता, नम्रता, मृदु भाषण आदि अनेक गुण थे। वे सुलेखक और वक्ता थे, किंतु यह सब होते हुए भी वे निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे, इतने अधिक कि कभी-कभी उनकी कार्यावलि उच्छृंखलता की अंतिम सीमा तक पहुँच जाती। उनके जीवन काल में कानपुर के सार्वजनिक क्षेत्र में वस्तुतः एक मिली हुई गोष्ठी का साम्राज्य था। वे उसके आरंभ से ही अधिष्ठाता रहे।

जो व्यक्ति इनकी मंडली से अलग हुआ, वह मिट्टी में मिला दिया गया। इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में उनके कारण एक बड़ी भारी क्षति यह पहुँची कि उदीयमान एकनिष्ठ कार्यकर्ता कली की स्थिति में ही मसल दिए गए।

यहाँ पर यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इतने गहरे मतभेदों और गुटबंदी के बावजूद रामप्रसाद मिश्र गुट ने विद्यार्थी गुट के विरुद्ध गद्दारी नहीं की। देशहित के मामलों में रोड़े नहीं अटकाए। सी.आई.डी. के साथ कभी सहयोग नहीं किया। शत-प्रतिशत खरे राष्ट्रवादी थे वे। मौलाना हसरत मोहानी 1920 ई. के लगभग ही अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण भारत के राष्ट्रीय नेताओं में गिने जाने लगे थे और पं. मदनमोहन मालवीय, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, सी.आर. दास, मोतीलाल नेहरू, गोपालकृष्ण गोखले, सरोजिनी नायडू, मौलाना शौकतअली, मोहम्मदअली तथा डॉ. अंसारी आदि के चित्रों के साथ राष्ट्रीय अलबमों में उनके चित्र भी प्रकाशित किए जाते थे। उनकी इस अखिल भारतीय ख्याति के कारण न चाहते हुए भी विद्यार्थीजी ने मौलाना हसरत तथा उनकी बेगम का चित्र निर्देशिका में प्रकाशित किया था। इसके अतिरिक्त अन्य किसी विरोधी का चित्र तो क्या, नाम भी नहीं था। विद्यार्थीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रभाव के कारण कानपुर के ऐसे अनेक प्रतिष्ठित नागरिक भी उनके साथ देशहित के कार्यों तथा राष्ट्रीय भावधारा से जुड़ गए थे जो न तो कभी खद्दर पहनते थे और न कथित रूप से कांग्रेसी ही थे। ऐसे लोगों में विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सालिगराम अग्रवाल, रामनारायण गर्ग और सरदार इंदर सिंह आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। केवल 'कौशिक'जी को छोड़कर इन सब लोगों को विद्यार्थीजी ने अधिवेशन की स्वागत समिति के महत्त्वपूर्ण पदों पर रखा था।

कानपुर में अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन के लिए कार्यकर्ता बहुत पहले से ही उत्साहित थे। 1923 में तो जिला कांग्रेस कमेटी ने प्रांतीय कांग्रेस कमेटी को इस आशय का एक प्रस्ताव भेजा था कि यदि कांग्रेस को संयुक्त प्रांत से निमंत्रित किया जाए, तो कानपुर में ही आयोजन किया जाए। जिस धर्म भावना से लोग कुंभ में एकत्र होते हैं, उससे भी अधिक उत्साह वे लोग कांग्रेस अधिवेशन के लिए प्रदर्शित करते थे। विद्यार्थीजी भी एक सांसारिक मनुष्य थे, देवता नहीं। व्यक्तिगत स्तर पर वे भी राग-द्वेष से अत्यधिक गुस्सा हो जाते, किंतु सार्वजनिक कार्यों में व्यक्तिगत विरोधों और गुटबंदी को महत्त्व नहीं देते

थे। असहयोग आंदोलन के समय जब उन्हें कहीं सार्वजनिक सभाओं में आमंत्रित नहीं किया जाता था, तो अपने विरोधी गुट के जिला कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना हसरत मोहानी, मंत्री रामप्रसाद मिश्र और असहयोग आंदोलन में वकालत छोड़ने वाले पं. जगजीवन लाल को आमंत्रित करने का परामर्श देते थे। आपसी मतभेदों के बावजूद विद्यार्थीजी नारायणप्रसाद अरोड़ा के सार्वजनिक कार्यों के समाचार प्रमुखता के साथ प्रकाशित करते थे। अरोड़ाजी और डॉ. प्रसादीलाल दोनों सेवा समिति के 18 सदस्यों को लेकर हरिद्वार कुंभ गए थे। कुंभ से वापस आने पर अरोड़ाजी ने हिंदू मित्र सभा कानपुर की रविवासरीय बैठक में अपना जो संस्मरणात्मक भाषण दिया था, उसका समाचार भी विद्यार्थीजी ने 'प्रताप' में प्रकाशित किया था। कहा जाता है कि सन् 1930 में श्री रामप्रसाद मिश्र के दल ने लाहौर कांग्रेस के बाद कानपुर में प्रांतीय स्तर का एक कांग्रेस अधिवेशन कर्मवीर पं. सुंदरलाल की अध्यक्षता में फूलबाग में अद्भुत सफलता के साथ आयोजित किया, जो प्रतिद्वंद्वी गणेशजी के दल के लिए कसक और ईर्ष्या का कारण बना था। यह भी कहा जाता है कि रघुवरदयाल गुट ने कानपुर कांग्रेस अधिवेशन के समय अपने गुट की उपेक्षा का बदला लेने के लिए इस अधिवेशन का विशेष रूप से आयोजन किया था, जबकि विद्यार्थीजी ने इस राजनैतिक सम्मेलन के सभापतित्व के लिए सुंदरलाल के प्रस्तावित नाम पर जोरदार स्वागत करते हुए संक्षेप में उनका जीवनवृत्त भी 'प्रताप' में प्रकाशित किया था। यदि वे इस आयोजन को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए चुनौती समझते, तो इस प्रकार की उदारता क्यों दिखाते?

विद्यार्थीजी ने कानपुर कांग्रेस अधिवेशन की सफलता के लिए पूरे वर्ष तैयारी की थी। वे पूरे प्रबंध की आवश्यकता को समझने के उद्देश्य से ही पहले बेलगाँव कांग्रेस अधिवेशन में गए थे। उन्होंने अधिवेशन की सफलता को अपने नगर तथा प्रदेश की प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था। अपने प्रांत के लोगों के नाम एक अपील में उन्होंने जिले-जिले में तैयारी समितियाँ बनाने, जन सामान्य में कांग्रेस के सिद्धांतों का प्रचार करने और अधिक-से-अधिक धन चंदा करके भेजने को कहा था। इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा था, ''इस समय तो हमें पवित्र प्रांतीयता के प्रेम को अपने कृत्यों में जागृत करना चाहिए। लोग कह देते हैं कि संयुक्त प्रांत कोई प्रांत नहीं है, उसमें प्रांतीयता का लेश भी नहीं है। यह हमारे लिए बड़े गौरव की बात है कि हम प्रांतीयता के संकुचित

प्रभाव से प्रभावित नहीं हुए हैं, किंतु जो लोग यह समझते हैं कि हममें अपने प्रांत का प्रेम नहीं है उनको हमें इस राष्ट्रीय महायज्ञ की वेदी के सम्मुख यह दिखला देना चाहिए कि हमारी प्रांतीयता ऐसी नहीं है जो राष्ट्रीयता के उत्थान में बाधा पहुँचाए, वरन् हमारी प्रांतीयता ऐसी है कि जिसे राष्ट्रीयता पर निछावर होना आता है और जिसका विकास स्वागत के भावों में होता है। गंगा, यमुना और सरयू की बालू हमारे अंगों में लगी हुई है। हमारे प्रांत में अवध और बुंदेलखंड की वीरप्रसू भूमि है। हमारा प्रांत आर्य संस्कृति का क्रीड़ा क्षेत्र रहा है। अपने गौरवपूर्ण अतीत की स्मृति से पवित्र होकर हम कर्मशील बनें और कानपुर में होने वाली 40वीं कांग्रेस का हम उचित स्वागत कर सकें।''

गांधीजी ने अपने संदेश में लिखा था, ''कानपुर की महासभा को अब बहुत दिन नहीं रहे हैं। स्वागत समिति के सामने बहुत सी आकस्मिक बाधाएँ उपस्थित हुई थीं, लेकिन अब जो समय बाकी है उसमें संपूर्ण तैयारी करने के लिए बहुत से स्वयंसेवकों की और धन की आवश्यकता होगी। मुझे आशा है कि स्वागत समिति को यह मदद भी मिल जाएगी और शीघ्रतापूर्वक काम हो जाएगा।'' किंतु वास्तव में यह काम आसान नहीं था। अधिवेशन के लिए स्थान की मंजूरी में ही लोहे के चने चबाने पड़े थे। संयुक्त प्रांत की सरकार कांग्रेस अधिवेशन न होने देने पर तुली हुई थी। वीरभद्र तिवारी सहित अनेक कार्यकर्ता काकोरी केस में गिरफ्तार हो गए थे।

अधिवेशन स्थल की आधारशिला तिलक नगर में पं. मोतीलाल नेहरू ने 25 अक्तूबर, 1925 को रखी थी। अधिवेशन स्थल पर पंडाल बनाने का ठेका डॉ. मुरारीलाल के भाई गिरधारीलाल को दिया गया था। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के अनुसार, गणेशजी के निर्देशन में खादी का जो भव्य पंडाल बनवाया गया था वह अद्वितीय था, क्योंकि कानपुर अधिवेशन में शामियाना लगाने में मितव्ययिता से काम लिया गया था। 15 हजार व्यक्तियों के बैठने के लिए जो पंडाल बनाया गया था वह ठसाठस भरा था।

अधिवेशन के अवसर पर आयोजित स्वदेशी प्रदर्शनी को शिल्प तथा चित्रकला दो भागों में प्रदर्शित किया गया था। शिल्प विभाग में खादी के अतिरिक्त शीशे की कलात्मक वस्तुएँ, बटन, साबुन, फर्नीचर, रवि वर्मा के लीथो चित्र, प्रेम महाविद्यालय के मिट्टी, लकड़ी तथा धातु के बने बरतन, कानपुर और बेलगाँव की बनी चमड़े की वस्तुएँ, चाक मिट्टी की मूर्तियाँ, जड़ाऊ काम, दियासलाइयाँ,

स्याही, निबें, हस्तलिखित पुस्तकें, औषधियाँ, चाकू, कैंची, खेल का सामान तथा हाथी दाँत की बनी वस्तुएँ सजाई गई थीं। प्रदर्शनी में 180 इंच पनहे का खद्दर बिनने तथा 500 नंबर का बारीक सूत कातने का भी प्रदर्शन किया गया था। चरखा दंगल का भी प्रदर्शनी के ललित कला विभाग में आयोजन भारत कला परिषद् (काशी) ने किया था। प्रदर्शनी में 500 नए-पुराने चित्र प्रदर्शित किए गए थे। पुराने चित्रकारों के अतिरिक्त नंदलाल वसु, रामप्रसाद, शारदाचरन वकील, समरेंद्रनाथ गुप्त, शैलेंद्रनाथ डे, अब्दुर्रहमान चगताई और डॉ. कपोल सिंह जैसे तत्कालीन प्रसिद्ध चित्रकारों के चित्र भी प्रदर्शित किए गए थे। कांग्रेस अधिवेशन में सेवा कार्य करनेवाले स्वयंसेवकों के लिए विद्यार्थीजी ने विशेष प्रकार की वर्दियों की व्यवस्था की थी। एक लाल जाँघिया, उसके साथ खादी की सफेद कमीज तथा खादी की गांधी टोपी, मोजे और एक लाठी। अधिकतर स्वयंसेवकों के जूते अपने ही थे।

विद्यार्थीजी ने अधिवेशन की सभापति श्रीमती सरोजिनी नायडू के सम्मान में भव्य जुलूस निकाला था। उन दिनों जुलूसों के आयोजन का मुख्य उद्देश्य भी स्थानीय स्तर पर जनजागृति ही होता था। अखिल भारतीय और प्रांतीय स्तर पर कांग्रेस अधिवेशनों के अवसर पर आयोजित शोभा यात्राएँ और कुछ नहीं, स्थानीय जुलूसों के ही बड़े प्रांतीय और राष्ट्रीय रूप थे। आयोजन के उद्देश्य की दृष्टि से आजकल की बड़ी-बड़ी रैलियों को उस समय के जुलूसों का आधुनिक संस्करण ही कहा जा सकता है। अंतर केवल इतना है कि उन जुलूसों के आयोजन द्वारा किसी संगठन और उसकी शक्ति का प्रदर्शन उनमें जनता की भागीदारी द्वारा किया जाता था और आज किसी व्यक्ति विशेष की शक्ति का प्रदर्शन उसके कथित अनुयायियों द्वारा किया-कराया जाता है। विद्यार्थीजी के निर्देशन में कानपुर कांग्रेस के अवसर पर जो विशाल जुलूस निकाला गया था उसका मूलभूत उद्देश्य कांग्रेस की शक्ति का प्रदर्शन मात्र न होकर देश की राष्ट्रीय शक्ति का प्रदर्शन था।

उन्होंने कानपुर कांग्रेस के अवसर पर 'प्रताप' का कांग्रेस अंक भी प्रकाशित किया था। 60 पृष्ठों के इस विशेषांक का मूल्य केवल छह आने रखा गया था। इमसें 16 महत्त्वपूर्ण लेख तथा राष्ट्रीय कविताएँ थीं। 'हमारी राष्ट्रीय महासभा' शीर्षक लेख में कांग्रेस के तब तक के इतिहास पर प्रकाश डाला गया था। उस समय तक के सभापतियों के चित्र भी लेख के साथ प्रकाशित किए गए थे।

'कानपुर नगर' नामक लेख में नगर का परिचय प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ दिया गया था। सरोजिनी नायडू के परिवार का सचित्र परिचय भी था। गणेशजी के पूर्व सहयोगी पत्रकार श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने पत्र 'सैनिक' का जो 40 पृष्ठीय विशेषांक निकाला था उसमें सभी 10 लेख लड़ाई पर दिए गए थे, जैसे गरीबी-अमीरी की लड़ाई, हिंदू-मुसलमानों की लड़ाई, एशिया-यूरोप की लड़ाई आदि पर प्रकाश डाला गया था। उनके निर्देशन में एक सुंदर सचित्र स्मारिका भी प्रकाशित की गई थी। इसमें कानपुर का प्राचीन एवं आधुनिक इतिहास, समाचार-पत्रों का इतिहास आदि पर गंभीर सामग्री दी गई थी। इसमें व्यय-भार के लिए प्रकाश पुस्तकालय, 'प्रताप', 'जमाना', 'आजाद', 'इत्तहाद' आदि के विज्ञापन भी प्रकाशित किए गए थे। विद्यार्थीजी द्वारा की गई नई व्यवस्था की यह एक ऐतिहासिक विशेषता थी कि किसी भी प्रतिनिधि से भोजन का कोई मूल्य नहीं लिया गया था। इसके पूर्व केवल लखनऊ कांग्रेस (1899) में स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष बाबू वंशीलाल सिंह ने ऐसी निःशुल्क व्यवस्था की थी।

विद्यार्थीजी एक ऐसा झंडागीत लिखाना चाहते थे, जो जन-जन की भाषा में हो और वीरत्वपूर्ण देशभक्ति का संचार कर सके। उन्हीं की प्रेरणा से श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' ने 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' गीत लिखा था। यह झंडागीत विशेष रूप से कांग्रेस अधिवेशन के लिए तैयार किया गया था। भारत में इतना लोकप्रिय गीत आज तक कोई भी नहीं हुआ। कानपुर कांग्रेस अधिवेशन में यह झंडागीत इतना प्रभावकारी हुआ था कि उसके बाद पूरे देश में जन-जागृति के लिए इसी गीत का उपयोग सभाओं, जुलूसों, प्रभातफेरियों आदि में किया जाने लगा।

जिस स्थान पर कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था, उससे लगभग 50-60 गज की दूरी पर ही सत्यभक्त ने इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी के प्रथम अधिवेशन का आयोजन किया था। इस अधिवेशन के लिए सत्यभक्त ने जो कार्यकारिणी कमेटी बनाई थी उसमें नारायणप्रसाद अरोड़ा, राधामोहन गोकुल जी, मौलाना हसरत मोहानी और सुरेशचंद्र भट्टाचार्य से परामर्श किया गया था। 'वर्तमान' के संपादक रमाशंकर अवस्थी, पं. रामप्रसाद मिश्र, मन्नीलाल अवस्थी जैसे 'दस-पाँच उत्साही युवक' भी उनके साथ थे।

कम्युनिस्ट पार्टी के अधिवेशन में आए बहुत से प्रतिनिधियों तथा मौलाना

हसरत मोहानी, अर्जुनलाल सेठी, स्वामी कुमारानंद और किसान नेता बाबा रामचंद्र (इनका पूर्व नाम श्रीधर बलवन्त जोधपुरक था) आदि ने जब दर्शकदीर्घा शुल्क 10 रुपया, प्रतिनिधि शुल्क तीन रुपया दिए बिना पंडाल में घुसने का प्रयास किया था, तो स्वयंसेवकों ने उन्हें रोक दिया था। इसी बात पर कम्युनिस्ट कैंप से आए लोगों और स्वयंसेवकों में मारपीट हो गई थी। इसमें से कुछ लोगों ने पंडाल में आग लगा देने का भी प्रयास किया था। मौलाना हसरत मोहानी और उनकी पत्नी को सभी स्वयंसेवक जानते थे। इसलिए वे बिना टिकट के ही पंडाल में प्रवेश कर गए थे। पंडाल के भीतर पहुँचकर बेगम मोहानी ने स्वयंसेवक दल के इंचार्ज जी.जी. जोग के मुँह पर एक तमाचा भी जड़ दिया था। राधामोहन गोकुलजी भी अधिवेशन में हंगामे की साजिश में हसरत मोहानी और सत्यभक्त आदि के साथ थे। वे स्वराजिस्टों से चिढ़ते थे। इसीलिए अवांछनीय स्वराजिस्टों के कार्यकाल में हिंदू सभा में काम करते थे। ये तीनों भी कानपुर मजदूर सभा में सक्रिय थे और अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने मजदूरों के ऊपर से विद्यार्थीजी के प्रभाव को समाप्त करने और अपने गुट के प्रति मजदूरों में सम्मान भाव भरने के उद्देश्य से ही अधिवेशन स्थल से कुछ दूरी पर हजारों मजदूरों को यह कहकर एकत्रित कर लिया था कि सबको बिना टिकट के ही पंडाल में ले जाकर अधिवेशन की कार्यवाही दिखाई जाएगी। विद्यार्थीजी ने उस समय बहुत ही समझदारी से काम लिया, बल्कि उन्होंने एक भी मजदूर को कांग्रेस के पंडाल में बिना टिकट नहीं घुसने दिया। उत्तेजित श्रमिकों को यह कहते हुए पंडाल के बाहर ही रोक दिया कि नेता लोग स्वयं आपके सामने आएँगे। यही किया गया। कुछ समय के लिए अधिवेशन की कार्यवाही रोक दी गई और मोतीलाल नेहरू, महात्मा गांधी, सरोजिनी नायडू आदि ने पंडाल के बाहर मजदूरों के बीच आकर उन्हें संबोधित किया। इस पर उत्तेजित मजदूर शांत होकर वापस चले गए और विद्यार्थी विरोधी गुट की कांग्रेस अधिवेशन को भंग करने की चाल असफल हो गई।

राजनीति में अवसरवादिता का रोग बहुत पुराना है। इस रोग से प्रभावित होने पर बड़े-बड़े सिद्धांतवादी या आदर्शवादी लोग भी स्वार्थी हो जाते हैं। अर्जुनलाल सेठी, कुमारानंद और बाबा रामचंद्र भी उस समय इसी रोग के शिकार होकर मौलाना हसरत मोहानी जैसे राजनीति के कुशल खिलाड़ी के हाथों खेल गए थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार स्वयं मौलाना साहब सत्यभक्त के हाथों

में खेल रहे थे। अर्जुनलाल सेठी विद्यार्थीजी के 'प्रताप' कार्यालय में तब से जाते थे, जब से वे क्रांतिकारी अभिनव भारत समिति के सदस्य थे। 1921 में ही उनकी खादी की टोपी 1100 रुपए में नीलाम हुई थी। कानपुर कांग्रेस के कुछ समय पूर्व ही पं. नेहरू सेठीजी को अजमेर कांग्रेस की बागडोर भी सँभलवा आए थे। वे जैन धर्मावलंबी थे। वे इतनी विद्रोही प्रकृति के थे कि मृत्यु के पूर्व की उनकी इच्छानुसार मृत्यु के पश्चात् उन्हें जलाया नहीं, दफनाया गया था। विद्यार्थीजी 'प्रताप' तथा 'प्रभा' के द्वारा सदैव सेठीजी को समर्थन देते थे और सेठीजी भी उनका सम्मान करते थे। बिजौलिया आंदोलन में भी इन दोनों का सहयोग निकटतम मैत्री का कारण था। विद्यार्थीजी ने इन्हीं सेठीजी की प्रशंसा में 'प्रभा' में एक संपादकीय लेख लिखा था और बड़ा चित्र भी प्रकाशित किया था।

विद्यार्थीजी और स्वामी कुमारानंद (15 अप्रैल, 1889 - 29 दिसंबर, 1971) में व्यक्तिगत रूप से बड़ी मैत्री थी। कुमारानंद का मूल नाम बिजेंद्र कुमार नाग था। इनके पिता नवकुमार नाग रंगून में कमिश्नर थे। इनका जन्म बर्मा में ही हुआ था। बाद में क्रांतिकारी गतिविधियों में संलिप्त होकर फरार हो गए और राजस्थान में बस गए। कुमारानंद सी.आर.दास के आग्रह पर अन्य बहुत से क्रांतिकारियों के समान सन् 1920 में नागपुर कांग्रेस में शामिल हुए थे। स्वामी कुमारानंद की विद्यार्थीजी ने उस समय सहायता की थी, जब वे अत्यंत कठिन परिस्थिति से गुजर रहे थे। राजस्थान में स्वामीजी को दामोदर राव राठी (ब्यावर) और राव गोपाल सिंह (खरवा) जैसे लोग भी अधिक दिनों नहीं छिपा पाए, कोटा नरेश और करौली नरेश ने अंग्रेजों से भयभीत होकर कुछ समय बाद अपने यहाँ से अन्यत्र जाकर छिपने को कह दिया था। अंततः स्वामीजी को राजस्थान भर में अपनी वीरता, साहस और क्रांतिकारियों की सहायता के लिए प्रसिद्ध गणेशशंकर विद्यार्थी के यहाँ कानपुर आना पड़ा था। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' कार्यालय में ठहरे। यहीं पर स्वामीजी की बटुकेश्वर दत्त, भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद से भेंट हुई। इसी प्रकार बाबा रामचंद्र को अवध के किसान आंदोलन नेता के रूप में प्रतिष्ठित करने में विद्यार्थीजी और उनके 'प्रताप' की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। विद्यार्थीजी के जीवन में सर्वाधिक संघर्ष के लिए जिस रायबरेली किसान आंदोलन को स्मरण किया जाता है, उसमें बाबा रामचंद्र भी शामिल थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि अर्जुनलाल सेठी, कुमारानंद

कानपुर कांग्रेस और विद्यार्थीजी

और बाबा रामचंद्र स्वयं ऐसा कोई कृत्य नहीं कर सकते थे, जो विद्यार्थीजी के द्वारा आयोजित राष्ट्रीय यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करने के समान था। मतभेदों की स्थिति में भी ये तीनों व्यक्ति विद्यार्थीजी के सहयोग तथा सहायता के प्रति कृतघ्न नहीं हो सकते थे। हाँ, स्थानीय गुटबंदी और वर्षों की राजनीतिक ईर्ष्या तथा उस समय कम्युनिस्ट पार्टी में उत्पन्न परिस्थितियों से प्रेरित होकर मौलाना हसरत मोहानी ने ही वह सब रचना की थी।

मौलाना हसरत मोहानी जब सन् 1921 में ऑल इंडिया मुसलिम लीग के अध्यक्ष थे, तब वे मलाबार के उन मोपलाओं के पक्षधर रह चुके थे जिन्होंने हिंदुओं के मंदिर तोड़े थे और उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बनाया था। जिन दिनों अहमदाबाद कांग्रेस में मौलाना ने पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव रखा था, उन्हीं दिनों खिलाफत आंदोलन चल रहा था। भारत के मुसलमान अंग्रेजों की तुर्की के प्रति अपनाई गई नीति से इतने क्षुब्ध थे कि वे भारत छोड़कर अफगानिस्तान के रास्ते रूस की ओर रवाना हो रहे थे। इसी परिप्रेक्ष्य में संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विनाश के लिए पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव मौलाना द्वारा खिलाफत कॉन्फ्रेंस में भी प्रस्तुत किया गया था। मौलाना के 'पूर्ण स्वराज्य प्रेम' और साम्यवाद प्रेम की बुनियाद भी उसी पृष्ठभूमि पर आधारित थी। वस्तुतः हसरत मोहानी के पूर्ण स्वराज्य प्रस्ताव का आधार ईसाइयत के विरुद्ध मुसलिम सांप्रदायिकता थी, न कि भारतीय राष्ट्रवाद।

यद्यपि ऐसा कुछ था नहीं, और सत्यभक्त ने भी अस्वीकार किया था, किंतु सरकार कानपुर कम्युनिस्ट षड्यंत्र और कानपुर में इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना को एम.एन.राय और कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की योजना का ही अंग समझ रही थी। यह भी एक संयोग ही था कि इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी अधिवेशन (1925) की अध्यक्षता मद्रास के सिंगारवेलु ने की थी, जो कानपुर कम्युनिस्ट षड्यंत्र के एक अभियुक्त रह चुके थे। कम्युनिस्ट अधिवेशन में कुल मिलाकर मुश्किल से 500 प्रतिनिधि ही शामिल हुए थे और इनमें 90 प्रतिशत मजदूर तथा किसान वर्गों के थे। कम्युनिस्टों के इस अधिवेशन में बड़ी अफरा-तफरी थी। अधिकांश प्रतिनिधि सत्यभक्त और उनके द्वारा की गई व्यवस्था की खुली आलोचना कर रहे थे। आपस की इस फूट को मारपीट की स्थिति तक पहुँचने से बचाने के लिए ही उस अधिवेशन में एक प्रमुख संयोजक मौलाना हसरत मोहानी ने पूरे असंतोष को कांग्रेस अधिवेशन की ओर मोड़ देने के लिए ही

कांग्रेस पंडाल में अपने साथियों के साथ घुसकर हंगामा किया था।

कर्मवीर पं. सुंदरलाल के अनुसार, सभा स्थल पर गड़बड़ी करनेवाले स्वामी कुमारानंद और अर्जुनलाल सेठी विनायक राव सावरकर के घनिष्ठ मित्र थे। इस घटना पर व्यंग्य करते हुए एक मसखरे ने लिखा था, "अरे राम! राम। सुनते हैं बाबू अर्जुनलाल सेठी अबकी बार कांग्रेस में शरीक नहीं हुए। अरे भाई, कानपुर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं— क्या सेठीजी बोल्शेविक थोड़े ही हैं? वे तो आखिर पुराने देशभक्त हैं। उन्हें भला आप लोगों ने क्यों कांग्रेस में जाने के लिए नहीं अलाऊ किया। आप लोगों की अक्लमंदी धन्य है।" उपर्युक्त घटना के संबंध में प्रत्यक्षदर्शी नारायणप्रसाद अरोड़ा, गुलाबचंद हरडा, मैथिलीशरण गुप्त, सदगुरुशरण अवस्थी और श्रीकृष्णदत्त पालीवाल आदि द्वारा लिखे गए संस्मरणों, हृदयनारायण पांडेय हृदयेश, मथुराप्रसाद बाजपेयी, जयनारायण बुधवार और सूर्यप्रसाद अवस्थी आदि के द्वारा बताए गए विवरणों से ज्ञात होता है कि विद्यार्थीजी इस संभावित स्थिति से निपटने के लिए पहले से तैयार हो गए थे। उन्होंने सेवादल के संगठन को ही इतना सशक्त बना दिया था कि अधिवेशन को असफल बनाने का बड़े से बड़ा प्रयास भी सफल नहीं हो सकता था। इस संगठन में 1300 स्वयंसेवक बावर्दी थे, जिनमें 200 महिलाएँ थीं। सादी वर्दी में भी बहुत बड़ी संख्या में युवकों को विद्यार्थीजी ने अधिवेशन स्थल के आसपास इस प्रकार तैनात किया था कि किसी को गड़बड़ी करने का साहस ही न हो। अधिवेशन में बाबा साहब परांजपे, शांबमूर्ति और जयकर आदि ने गांधीजी के प्रस्तावों पर ऐसा हो-हल्ला मचाया था कि सभा में सरोजिनी नायडू भी उसे नहीं नियंत्रित कर पाई थीं। इसीलिए, गांधीजी के निजी सचिव महादेव हरिभाई देसाई ने अधिवेशन को दीवाने-खास की संज्ञा दी थी। कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात् विरोधी गुट ने एक छोटी सी 'बगुला भगत' नामक चौपतिया छपवाकर बँटवाई थी। इस पुस्तिका के कुछ अंश आल्हा के रूप में गाए जाते थे। एक अंश इस प्रकार है—

अर्जुन सेठी हंस रूप थे बगुलन दीन्हो मार गिराय
अतिथि अनादर कियो द्वार पर ये बगुला हैं बुरी बलाय।
बाबा रामचंद घायल भए जिन दुख देश सहे हर वार
भक्त किसानों के जो भारी तिनको मार्‌यो अपने द्वार।

कानपुर कांग्रेस और विद्यार्थीजी

स्वामी कुमारानंद पिटि गए जिनकी जेल सदा ससुराल
कर्मवीर नि:स्वारथ नेता दीन्हो बगुलन हाय निकार।
जो ये वीर पहुँचते भीतर भारी करते जा प्रस्ताव
किंतु मतलबिन को फिर कैसे पड़तौ पौ बारह को दाँव॥

स्पष्ट है कि इस पुस्तिका का उद्देश्य विद्यार्थीजी के आयोजन को बदनाम करना था। वस्तुत: अर्जुन सेठी, कुमारानंद और बाबा रामचंद्र आदि के साथ विद्यार्थीजी के सुमधुर संबंध बाद तक बने रहे थे। कांग्रेस की ओर से कम्युनिस्टों पर पंडाल में हमला करके आग लगाने का जो आरोप लगाया गया था उसे श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने अपने पत्र 'सैनिक' (आगरा) में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर लिखा था। इसलिए प्रतिक्रिया भी 'बगुला भगत' के रूप में सामने आई थी।

विद्यार्थीजी ने जिस उत्साह, लगन और परिश्रम के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में अपने प्रधानमंत्री पद का निर्वाह किया था, उससे कांग्रेस संगठन में प्रांतीय तथा अखिल भारतीय स्तर पर उनके सम्मान में वृद्धि हो गई थी। इसके बाद ही वे स्थानीय राजनैतिक प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में संगठनात्मक स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे थे। कॉउंसिल के चुनाव में उन्होंने जिन विपरीत परिस्थितियों में स्वराज्य दल के प्रत्याशी के रूप में विजय प्राप्त की थी, उससे भी उनकी लोकप्रियता में वृद्धि हुई थी।



'एक भारतीय आत्मा' की दृष्टि में

डॉ. श्रीनारायण अग्निहोत्री

आज के उत्तराखंड सहित उत्तर प्रदेश और ब्रिटिश शासन के अंतर्गत संयुक्त प्रांत में संपादक चतुष्टय (पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', गणेशशंकर विद्यार्थी तथा बाबूराव विष्णु पराड़कर) पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। ये चारों ही पत्रकारिता की गरिमा के आयामों का अभूतपूर्व विस्तार करनेवाले तो थे ही, साथ-ही-साथ अपने व्यक्तित्व के साथ एक प्रभामंडल से मंडित भी थे। कहा जाता है कि फ्रेंच योद्धा नेपोलियन बोनापार्ट तथा सिक्खों के परम गुरु गोविंद सिंह के चारित्रिक प्रभाव की यह विशेषता थी कि जो भी सामान्यजन उनके संपर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त करता था, वह उन्हीं का सा वीर और बलिदानी बन जाता था। उपर्युक्त चतुष्टय के संबंध में यही उक्ति अक्षरशः सही उतरती है। जिस प्रकार राष्ट्रपिता गांधी ने अनेक गांधी और गांधी-सम चरित्रों की सृष्टि की, उसी प्रकार इस संपादक—चतुष्टय ने अपने से ही अनेक जन-देश तथा साहित्य सेवकों को गढ़ा।

आकस्मिक संयोगवश एक रेलयात्रा माखनलालजी तथा गणेशशंकरजी को एक-दूसरे के संपर्क में लाई और 'लव एट फर्स्ट साइट'—प्रथम दृष्टि विनिमय ने दोनों को सदा के लिए 'सनेह की डोर' में बाँध दिया। कुछ समय के अनंतर सहयोगी क्रांतिकारी के रूप में पराड़करजी इन दोनों के साथ हो गए। पराड़करजी यों मध्य प्रदेश की अनुपम देन थे, किंतु पहले संयुक्त प्रांत के। 'आज' ने उन्हें आजन्म के लिए बनारस का बना दिया।

आरंभ के इन पक्के क्रांतिकारियों ने गांधीजी के आह्वान ('तुम मुझे अपनी पिस्तौलें सौंपो और मैं तुम्हें स्वराज्य दूँगा') पर अपनी पिस्तौलें भले ही सौंप

दीं और अहिंसावादी कांग्रेसी बन गए, पर भीतर-ही-भीतर देश की स्वतंत्रता की वेदी पर रक्त-दान करने वालों के समर्थक बने रहे। 'प्रताप' कार्यालय की भाँति 'आज' और 'कर्मवीर' के कार्यालय भी पूरी तत्परता से क्रांतिकारियों और उनके परिवारों की आर्थिक सहायता करते रहे और समय-समय पर क्रांतिकारियों के छिपने और पुलिस की पकड़ में न आने देने में सहायक भी बनते रहे। हाँ, यह अवश्य है कि इस कार्य-व्यापार के कारण इन्हें अपने नेता के अनुशासन भंग करने के दंडस्वरूप 'प्रायश्चित्त' भी करना पड़ता था।

इन तीनों में आपस में खूब बनती थी, विशेषकर माखनलालजी और गणेशशंकरजी में। गणेशशंकरजी जिस किसी को स्थानीय (कानपुर की) पुलिस की फाँस से बचाना चाहते थे, उसे खंडवा (मध्य प्रदेश) भेज देते थे दादा (माखनलाल)जी के निश्चित रूप से सुरक्षित आश्रय में और जब स्वयं दादा (माखनलाल)जी को अपने को पुलिस के फंदे के बाहर रहने की व्यवस्था करनी होती थी, तो वह एक 'क्रॉनिक पेशेंट' (सदा के रोगी) के रूप में अपनी दवाइयों के बक्से तथा 'मेल नर्स' से लगते साहित्यसेवी युवक के साथ कानपुर में प्रिंसिपल हीरालाल खन्ना के घर पर अथवा बी.एन.एस.डी. कॉलेज के छात्रावास में पंडित सद्गुरुशरण अवस्थी के अति प्रिय तथा आदरणीय अतिथि के रूप में दीर्घकाल तक के लिए अपने मन का स्थान बना लेते थे।

प्रिंसिपल खन्ना का लड़का इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मेरा सहपाठी रहा था। मैं शिक्षा पूरी कर प्रिंसिपल खन्ना के बी.एन.एस.डी. कॉलेज में अंग्रेजी प्रवक्ता बना। तभी खन्नाजी के घर पर और बी.एन.एस.डी. कॉलेज के छात्रावास, दोनों ही स्थानों पर दादा (माखनलाल) जी के निकट संपर्क में आ गया और यह दादाजी की सदाशयता ही थी, जिसने मुझे खंडवा के घर का सदस्य बना लिया। सन् 1951 और 1956 (मेरे स्वामी राम के संपर्क में आने के पहले) तक तो कॉलेज की सभी बड़ी छुट्टियाँ (दशहरा, क्रिसमस तथा ग्रीष्मावकाश का अधिकांश भाग) दादाजी के साथ ही बीतती थीं। माखनलालजी कानपुर को अपना मैका कहते थे। बालकृष्ण शर्मा मध्य प्रदेश से 'प्रताप' में न आए होते, तो गणेशजी की आत्माहुति के बाद माखनलालजी ही 'प्रताप' को सँभालते रहते।

मेरे लिए तो यह समय 'साहित्य देवता' की सतत साधना और आराधना का था। दादाजी के रंग में अपने को रंगने का दुर्लभ अवसर। उन्होंने मुझे व्यक्ति, स्थान तथा घटना का महत्त्व आँकने की दृष्टि प्राप्त करने के पाठ का ककहरा

पढ़ाया। इसी क्रम में मुझे उनसे अन्य सुधी मनीषियों के साथ-साथ हुतात्मा गणेशजी के संबंध में उनके मंतव्य को जानने का अवसर मिला।

25 मार्च, 1931 की निठुराई के संबंध में उनका यह उद्‌गार मेरी स्मृति में अटूट क्रम से कसकने वाले काँटे की भाँति गड़कर रह गया है—

''हिंदी की परम प्रेरक आत्मा श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी के स्वर्गवास को धीरे-धीरे इतने वर्ष बीत गए। काल-गति से सरकता 25 मार्च का यह दिन प्रति वर्ष हमारे सामने आता है और बड़ी निठुराई से उस भयानक हानि की याद दिला जाता है, जिसे गणेशशंकर की बलि के रूप में समस्त हिंदी राष्ट्र उस दिन मंजूर करने को लाचार था। उस दिन न केवल एक परिवार ने अपना सर्वस्व खोया, बल्कि हिंदी-संसार ने अपना जाज्वल्य वर्तमान खोया, भारतीय पत्रकार जगत ने एक आदर्श प्रेरक खोया, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में परिस्थितियों से जूझने वाले कार्यकर्ताओं ने अपना नेता और संरक्षक और हिंदू-मुसलिम मेल में आजाद भारत की झाँकी देखने वाले महात्मा गांधी ने सांप्रदायिक क्रूरता की वेदी पर वह उपहार खोया, जिसकी उज्ज्वल पवित्रता, बेदाग ईमानदारी और निर्मल समर्पण पर कुरबानी स्वयं कुरबान रही। मार्च की वह 25वीं तारीख क्या सन् 1931 के पहले भी कभी इतनी निष्ठुर हुई थी!''

दादाजी की कुशल पारखी दृष्टि में 'गणेशशंकर व्यक्ति नहीं, संस्था थे' यह तो कई बार दोहराया गया, किंतु दादाजी के ही शब्दों में, ''हिंदी-संसार का दुर्भाग्य कि दो-चार छोटे-छोटे संगठनों को छोड़कर अपने गणेशशंकर की याद में किसी संस्था का निर्माण एक युग बीतने पर भी नहीं हो सका। महत्ता को यदि उसके बाद बीतने वाले समय से मापा जाए, तो कहना चाहिए कि गणेशशंकर के जीवन पृष्ठ लगातार इतने वर्षों तक हमारे सामने खुले रहने पर भी हम उनके आदर्शों की ओर कितनी प्रगति कर पाए। इन वर्षों में प्रयाग, काशी, लखनऊ, दिल्ली, आगरा, पटना एवं नागपुर के विश्वविद्यालयों से अनेकों तरुण डिग्रियाँ लेकर निकले, किंतु निर्माण के क्षेत्र में हमने अपने जीवन को इतना ऊसर साबित होने दिया कि गणेश की कुरबानी प्रश्न-संकेत की तरह हमारे सामने खड़ी है और हम उसकी चुनौती के सामने नतमस्तक होने को बाध्य हैं।''

दादाजी की दृष्टि में गणेशशंकर विद्यार्थी एक आदर्श पत्रकार थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है, ''गणेशजी पत्रकार थे। 'प्रताप' उनके विचारों का वाहक था। वही एक ऐसा पत्र था जो 1915 में एवं उसके आस-पास के राष्ट्रीय

प्रकाश-विरल वातावरण में अपने को शपथपूर्वक कांग्रेसी कह सकता था। दरबारी प्रलोभन, शासन के रोष की काली मुसीबतें और राजनीति के मतभेदों का जहरीला वातावरण कोई भी गणेशजी के तिमिरहारी तेज को मंद न कर सका। राष्ट्रीय क्षेत्र में गणेशजी राष्ट्रीयता के समर्थक थे, परंतु उनके जीवन में ऐसी घटनाएँ भी आईं, जबकि उन्होंने राष्ट्रीय मात्र का परिपालन आवश्यक नहीं समझा। वे राजनीति में निर्धारित पथ एवं शैली का निर्वाह मात्र करते चले जानेवाले नेता नहीं थे, प्रत्युत एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व थे जो स्वयं अपनी अंत: प्रेरणा से अनुप्राणित हुआ करता है।''

दादा (माखनलाल चतुर्वेदीजी) ने गणेशजी के 'प्रताप' के महत्त्व को परखा था। उन्हीं के तेवर से मंडित शब्दों में, '''प्रताप' एक दिन उन (गणेशजी) की शक्ति था, दूसरे दिन हिंदी जगत् की श्रद्धा बना और आज वह उनकी शुभ स्मृति है। पत्रकार-कला के हिंदी स्वरूप के 'प्रताप' नामक राष्ट्र-मंच से गणेशजी ने कायरों को, देश-घातकों को, महलों को, मुकुटों को, अत्याचारियों को और स्वार्थियों को लगातार चुनौतियाँ दीं और परिणाम में तलाशियाँ, अपमान, अर्थ-हानि और कारागार सहे। जब वे जेल जाते, तो उनके पदचिह्नों पर चलने वाले उन्हें 'तिलक' करते, किंतु वह इतना महँगा होता कि उतना महँगा तिलक लगाने वाला मस्तक ढूँढ़ने के लिए हिंदी की राष्ट्र-भारती वर्षों से मानो गर्भ लिये 'हुलसी' फिरती है। हम जानते हैं कि 'प्रताप' की कठोर शक्ति से व्याकुल और अपनी प्रखरता की पराजय से लाचार होकर एक प्रधान देशी नरेश ने गणेशजी को अपने राज्य के प्रजाजन के नाते स्नेह से हाथ बढ़ाकर मिलने बुलवाया और भेंट में एक वस्त्र के साथ भारी संपत्ति भेंट की। गणेशजी ने कपड़ा रख कर संपत्ति लौटा दी और कहा, 'कपड़ा लेकर गणेश ने आपका आदर किया है। रुपए लेने को 'प्रताप' आज्ञा नहीं देता।''

दादाजी स्वयं अपने साथ रहने वालों के संकट में पड़ने पर उनके संकटमोचन की व्यवस्था प्रभावी ढंग से करते थे। उन्होंने अपनी अचूक दृष्टि से गणेशजी की इस चारित्रिक विशेषता को आँका था। उन्होंने अपनी जोरदार शैली में गणेशजी के इस सर्वविदित चारित्रिक पक्ष को उद्घाटित करते हुए कहा है, ''गणेशजी ने यह कभी बरदाश्त नहीं किया कि उनके प्रभाव एवं सामर्थ्य के भीतर रहते हुए कोई कार्यकर्ता या मित्र चाहे वह किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो, मुसीबत झेले और वे बैठे रहें। अर्जुन की तरह जहाँ तक उनके 'बाणों' की पहुँच थी, कार्यकर्ता

अपने संकटों में गणेशजी को अपने साथ पाते। वे उन व्यक्तियों में रहे, जो अपने कार्यशील मित्रों में हृदय की तरह सन्निकट हो जाते थे, अत: उनके संकल्पों से बढ़ने वाली दुनिया सन्निकटता में भूलकर उनकी महत्ता का आकलन नहीं कर पाती थी। एक बार दादाभाई नौरोजी के स्वर्गवास पर लिखते हुए कुछ इस आशय का लिखा था, 'हम सब अँधेरे बाजार में मोमबत्तियाँ ढूँढ़ते हैं, उससे पहले सूर्य के प्रकाश में सूर्य की कदर नहीं कर पाते।''

अक्षय कीर्तिधर हुतात्मा गणेशजी के बलिदान का महत्त्व राष्ट्रपिता गांधी से लेकर देश-विदेश के अनेकों निस्पृहजनों ने आँका है, पर इस संबंध में भी दादाजी की पैनी दृष्टि ने इसे अप्रतिम रूप में उजागर किया है। संवेदना की कराह का अंकन करते हुए उन्होंने देश के तरुणों को कभी न भुलाए जानेवाले शब्दों में लिखा है, ''यों गणेशजी ने अपना सिर देकर मानो यह संकेत दिया था कि स्वातंत्र्य के देवता को आस-पास से जमीन पर उतारने के लिए हम सिर देने की वह खेती सहस्र-सहस्र गुनी हरी-भरी रख सकें। अत: सिर देने का यह संकेत हिंदी-जगत् की तरुणाई को याद रहे तो 25 मार्च की स्मृति कभी अपमानित न हो और क्रांति की क्यारियाँ कभी सूखी न दीख पड़ें। गणेशजी को याद करते समय हम एक बार यह सोच लिया करें कि हमारे सिर भी है और हममें रक्त भी है और युग का आमंत्रण न जाने कब से हम पर उधार है।

यदि हम ज़रूरत का रक्त-कर वसूल करने की मानवसुलभ दुर्बल भावना को ठुकरा सकें तो हिंदी-जगत् के नाते, 'प्रताप' और उसकी शक्तियों की रक्षा की जानी चाहिए। यही हमारी सच्ची गणेश-पूजा है।''

यह तो रही दादाजी की बड़ी ऊँची बात, अपने आठवें-नौवें दर्जे के विद्यार्थी के रूप में मैंने भी गणेशजी की कतिपय झाँकियाँ देखी हैं।

छोटे बच्चे की आँखों ने एक सामान्य आर्थिक स्थिति के देशभक्त पत्रकार को प्रांतीय कॉउंसिल के चुनाव में उस समय के लक्षाधीश चुन्नीलाल गर्ग को लाखों खर्च करके भी चार हजार से अधिक मतों से पराजित होते देखा था। गणेशजी जहाँ जाते थे, वहाँ अधिकांश लोग उनकी जय-जयकार करते हुए मिठाई तथा फूल-माला की भेंट देते थे और चुनाव के ऐन दिन गणेशजी का सादगी का खेमा और स्वेच्छा से काम करनेवाले कांग्रेसी स्वयंसेवक थे। गणेशजी के प्रतिस्पर्धी सेठजी के शानदार खेमे में पूरी-मिठाई और हलुवा की सुगंध भरी थी। मतदाता भरपेट खाते तो सेठजी के खेमे में, पर मतदान करते थे गणेशजी

के पक्ष में। एकांत रूप से अजूबा दृश्य था यह।

और नौवें दर्जे के विद्यार्थी की दृष्टि में अपनी उग्रता में भयानक वातावरण के सभी आयामों को लाँघ जाने वाला था 25 मार्च, 1931 का वह दिन। कानपुर नगर के आस-पास के गाँवों के रोष का ज्वालामुखी फूटने वाला था और कैंट में उपलब्ध सारी की सारी गोरी पलटन का सहारा लेना पड़ा था, क्षुब्ध जनता के रोष के सैलाब को रोकने के लिए। नगर के घर-घर में मातम का दृश्य था! आज भी उस दृश्य की स्मृति मात्र से हृदय दहल उठता है।



'एक भारतीय आत्मा' की दृष्टि में

दो शहीद—एक आत्मा

अच्युतानंद मिश्र

दोनों में से किसी पर भी साधिकार लिखने का अधिकार मुझे नहीं है। उनके दिव्य दर्शन या निकट बैठकर कुछ सीखने का सौभाग्य भी मुझे नहीं मिल पाया। केवल कुछ पढ़कर या सुनकर उन्हें जानने का दावा मैं नहीं कर सकता। श्रद्धेय विद्यार्थीजी की कर्मभूमि नरवल (कानपुर) और दादा माखनलालजी की प्रेरणा भूमि खंडवा (मध्य प्रदेश) जाने का अवसर अवश्य मिला है, लेकिन दोनों महापुरुषों के स्पर्श से पावन केंद्रों की दुर्दशा देखकर हिंदी समाज की जातीय कृतघ्नता ही बार-बार कचोटती रही है। विद्यार्थीजी और माखनलालजी के आपसी रिश्ते दो सहोदरों से भी अधिक आत्मीय थे। दोनों की चिंतन परंपरा, जीवन मूल्य, उत्कट देशभक्ति, राजनीति और पत्रकारिता की प्रतिबद्धताएँ समान थीं।

दादा माखनलालजी (4 अप्रैल, 1889) वय में विद्यार्थीजी (26 अक्तूबर, 1890) से बड़े थे, लेकिन उन्होंने हमेशा विद्यार्थीजी को अपना अग्रज माना और उनकी प्रेरणा से ही चलते रहे। सन् 1916 का लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन केवल कांग्रेस और मुसलिम लीग के राजनीतिक मिलाप के लिए ही इतिहास में मशहूर नहीं है, उसी अधिवेशन में हिंदी पत्रकारिता की एक नई त्रिमूर्ति भी उभरी थी। माखनलालजी की कविताएँ 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से 'प्रताप' में छप रही थीं, लेकिन उनकी विद्यार्थीजी से प्रत्यक्ष मुलाकात इसी अधिवेशन में हुई थी। इसी अधिवेशन में युवा कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से भी माखनलालजी की भेंट हुई थी। दद्दा मैथिलीशरण गुप्त का आशीर्वाद विद्यार्थीजी और चतुर्वेदीजी दोनों को प्राप्त था, लेकिन इसी अधिवेशन में दद्दा से चतुर्वेदीजी की प्रत्यक्ष मुलाकात हुई थी, जबकि उनसे बिना मिले ही दादा दद्दा को अपना

गुरु मान चुके थे। इसी अधिवेशन में नवीनजी ने माखनलालजी को अपना काव्य गुरु स्वीकार किया था। यहीं विद्यार्थीजी ने माखनलालजी को महात्मा गांधी से मिलाया था। विद्यार्थीजी, चतुर्वेदीजी और नवीनजी की त्रिमूर्ति ने साहित्य के तीखे तेवरों और आक्रामक पत्रकारिता से न केवल ब्रिटिश सत्ता को हिला दिया था, बल्कि स्वतंत्रता आंदोलन के राष्ट्रीय नेताओं के ढुलमुलपन को भी कभी नहीं बख्शा।

अपनी-अपनी विशिष्टताओं के बावजूद दोनों में अद्‌भुत समानता थी। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक पत्रकारिता में दोनों के प्रेरणा पुरुष थे। अप्रैल 1913 में रामनवमी के दिन चतुर्वेदीजी ने 'प्रभा' का प्रथम अंक निकाला था और प्राय: आठ महीने बाद और उसी वर्ष 9 नवंबर, 1913 को देवोत्थापनी एकादशी को साप्ताहिक 'प्रताप' का जन्म हुआ था। अपने पहले अंक में विद्यार्थीजी ने राष्ट्रीय नवजागरण की जो कल्पना की थी, जो लक्ष्य सामने रखा था वह आज भी उतना ही खरा है जितना उस समय था। उन्होंने लिखा था, ''आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं को धारण करके और उद्‌देश्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर 'प्रताप' कर्म क्षेत्र में आता है। समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्‌देश्य है, और इसकी प्राप्ति का एक बहुत बड़ा और बहुत जरूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं। किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की घुड़की या धमकी हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी। सत्य और न्याय हमारे भीतरी पथ-प्रदर्शक होंगे और सरकारी कानून बाहरी...'प्रताप' का मत और उसका धर्म सत्य होगा।''

उस दौर की पत्रकारिता में भी राजभक्ति और देशभक्ति के समर्थक अपनी पहचान के साथ मौजूद थे। माखनलालजी ने 'प्रभा' के पहले अंक में ऐसे संपादकों को लताड़ा था जो राजभक्ति से प्रेरित थे। उन्होंने लिखा था, ''संपादक देश-जीवन के उत्थान मार्ग को स्पष्टता से दिखलाने वाले हैं। उनके द्वारा समाज बहुत कुछ कर चुका है और बहुत कुछ करेगा। ऐसे संपादकों के अद्‌भुत कार्यों ने हम लोगों को अपना भक्त तथा कृतज्ञता प्रकाशक बना लिया है,...लेकिन कोई-कोई संपादक कहलाने वाले महानुभाव समय-समय पर अपने विद्वेष के फफोले फोड़कर ही अपने कर्तव्य की इति समझते हैं। वे अपने पद को घमंडी बनाकर कलंकित करते हैं। वे अपने हृदय में मनुष्यों के प्रति निश्छल होकर बंधुत्व नहीं रखते। उनके विचारों पर संकीर्णता का साम्राज्य रहता है।''

उन दिनों कानपुर से ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' का संपादन करते थे। विद्यार्थीजी का पहला लेख 'आत्मोत्सर्ग' 1911 में 'सरस्वती' में छपा था। उसके बाद ही द्विवेदीजी ने उन्हें सरस्वती में अपना सहायक बना लिया था। आचार्य द्विवेदीजी ने उनके बारे में लिखा है, "उनकी शालीनता, सृजनता, परिश्रमशीलता और ज्ञानार्जन की सदिच्छा ने मुझे मुग्ध कर लिया। उधर वे मुझे शिक्षक या गुरु मानते थे, इधर स्वयं मैं भी कितनी बातों में उन्हें अपना गुरु समझता था। धीरे-धीरे वह मेरे कुटुंबी हो गए। कभी स्वप्न में भी किसी विषय में आपसी मत विरोध या खटपट नहीं हुई।" 'प्रताप' का ध्येय वाक्य चुनने के लिए विद्यार्थीजी ने पहले दद्दा मैथिलीशरणजी से अनुरोध किया था, लेकिन बाद में द्विवेदीजी द्वारा दी गई पंक्तियाँ 'जिनको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है। वह नर नहीं, नर पशु निरा है, और मृतक समान है।' 'प्रताप' की ध्येय-पंक्ति बन गई। उनकी पत्रकारिता को लेकर इससे बड़ा प्रमाण पत्र और क्या हो सकता है।

इसी तरह मध्य प्रदेश में पत्रकारिता के पितामह माधवराव सप्रे ने माखनलालजी को पहचाना था। उनका एक लेख 'बायकाट' पढ़कर सप्रेजी उनसे मिलने नागपुर से खंडवा पहुँचे थे। इन दोनों की जोड़ी ने महाकोशल, मध्यभारत, विदर्भ, छत्तीसगढ़ और बुंदेलखंड को राष्ट्रीयता के रंग में रँग दिया था। क्योंकि 'प्रभा' की छपाई के योग्य कोई प्रेस खंडवा में उपलब्ध नहीं था, इसलिए 'प्रभा' का प्रकाशन 'प्रताप' प्रेस से ही होने लगा। बाद में जब विद्यार्थीजी ने 1919 में माखनलालजी को भी कानपुर बुला लिया, तो 'प्रभा' कानपुर से ही प्रकाशित होने लगी। 1920 से 1926 तक 'प्रभा' विद्यार्थीजी के संपादकत्व में ही प्रकाशित हुई थी। माखनलालजी का कार्यक्षेत्र कानपुर से बदलकर उस समय जबलपुर हो गया जब 17 जनवरी, 1920 को जबलपुर से 'कर्मवीर' का प्रकाशन शुरू किया गया था।

विद्यार्थीजी और चतुर्वेदीजी दोनों कांग्रेस की राजनीतिक विचारधारा में दीक्षित थे। राजनीति में महात्मा गांधी उनके आदर्श थे, लेकिन दोनों ने उग्र राष्ट्रवादी धारा के राजनेताओं और क्रांतिकारियों को खुला समर्थन दिया था। यह किसी से छिपा नहीं है कि विद्यार्थीजी ने भगतसिंह सहित ज्ञात और अज्ञात सैकड़ों क्रांतिकारियों की 'प्रताप' के द्वारा भरपूर मदद की थी। 1921 से 1931 के बीच विद्यार्थीजी को पाँच बार जेल यात्रा करनी पड़ी थी। उस दौर में अक्तूबर 1923 से मार्च 1924

तक 'प्रताप' का संपादन माखनलालजी चतुर्वेदी ने किया था।

श्रद्धेय विद्यार्थीजी और माखनलालजी का एक बहुत बड़ा योगदान है कि दोनों ने साहित्य और पत्रकारिता की राष्ट्रीय धारा में अपने युग की नई पीढ़ी को दीक्षित किया था। विद्यार्थीजी का सान्निध्य या मार्गदर्शन पाने वालों में माखनलालजी, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, हरिभाऊ उपाध्याय, दशरथप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', मुकुटबिहारी वर्मा, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' जैसे पत्रकारों के नाम शामिल हैं, जिन्हें बाद में राष्ट्रीय ख्याति मिली। माखनलालजी 'नवीन'जी के काव्य गुरु थे। उनके साहित्यिक और पत्रकारीय शिष्यों में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, लक्ष्मण सिंह चौहान, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन', भवानीप्रसाद तिवारी, डॉ. विनयमोहन शर्मा जैसे अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं। श्रद्धेय विद्यार्थीजी का 25 मार्च, 1931 को कानपुर में दिया गया बलिदान पूरे देश में राष्ट्रीय चेतना का एक प्रकाश स्तंभ है। माखनलालजी उनकी शहादत के बाद भी 36 वर्ष तक जीवित रहे और शायद हर साँस में उन्होंने गणेशशंकर विद्यार्थी को याद किया था। देश की स्वतंत्रता विद्यार्थीजी तो नहीं देख पाए, लेकिन माखनलालजी ने दो दशकों तक उसे देखा और भोगा था।

आजादी से उनके मोह भंग का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि अंग्रेजी बनाए रखने और हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान न मिलने पर उन्होंने मृत्यु से पाँच माह पूर्व 1967 में 'पद्मभूषण' का अपना अलंकरण राष्ट्रपति को वापस कर दिया था। बिना देखे, बिना मिले, बिना जाने भी जो लोग खुद को इन दोनों महानायकों की परंपरा से जोड़ना चाहते हैं उन्हें यह अधिकार तो है ही कि इनकी पुण्यकीर्ति का स्मरण करके अपने आपको गौरवान्वित महसूस कर सकें। क्या हम पत्रकारिता के इन आदर्श नायकों को अपनी नवोदित और उदीयमान पीढ़ियों की प्रेरणा बना सकेंगे?



दो शहीद—एक आत्मा

अनेक दृष्टियों से अद्वितीय

डॉ. उपेन्द्र त्रिपाठी

आजादी के लिए छेड़े गए हमारे अहिंसा-युद्ध के एक प्रमुख सेनानी, तेजस्वी पत्रकार और सांप्रदायिकता की दहकती आग को बुझाने के प्रयत्न में अपने प्राण देनेवाले अमर शहीद श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी की गणना विगत शताब्दी के अपने देश के महापुरुषों में की जानी चाहिए। उन्होंने सन् 1913 में 'प्रताप' की स्थापना के साथ ही अनीति और अन्याय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष की सक्रियता प्रखर कर दी थी। राष्ट्रीयता, देश-प्रेम और स्वातंत्र्य कामना की अलख जगाने वालों में अनेक दृष्टियों से वे अद्वितीय थे। ऐसे सरल, संवेदनशील, सत्यनिष्ठ, कर्मठ और निर्भीक जननायक की कर्मभूमि होने का सौभाग्य कानपुर को मिला। काश, मैंने उनके दर्शन किए होते, उनकी ओजस्वी वक्तृताएँ सुनी होतीं, उनके मार्ग-दर्शन में देश-सेवा का व्रत लिया होता। यह कलक किशोरावस्था में मन में कई बार हुई थी। उनकी मृत्यु (25 मार्च, सन् 1931) के तीन साल तीन महीने बाद जन्म लेने वाला व्यक्ति इस तरह की आधारहीन स्वप्निल कल्पनाओं में खो जाने के सिवा और कर भी क्या सकता था?

कालब्रह्म के अंतराल के बावजूद गणेशशंकर विद्यार्थी नाम से मेरा परिचय बचपन से ही रहा है। घर में दो दैनिक समाचार-पत्र नियमित रूप से आते थे। एक अंग्रेजी का 'अमृत बाजार पत्रिका' और दूसरा हिंदी का 'दैनिक प्रताप'। 'प्रताप' के ऊपरी सिरे पर पत्र के मोटे सिरनामे के नीचे 'अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा स्थापित' वाक्यांश छपा रहता था। अक्षर-ज्ञान के आरंभिक दौर में ही, यानी दूसरी-तीसरी कक्षा में जब था, उक्त वाक्यांश पर कितनी ही बार नजर पड़ी होगी। बाद में ज्यों-ज्यों उम्र की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा, गणेशजी के

लोक-विश्रुत चरित्र से अधिकाधिक परिचित होने के अवसर मिलने लगे।

मेरे पिताजी (स्वर्गीय ब्रजभूषण लाल त्रिपाठी 'निश्चल') सन् 1920 से आरंभ होनेवाले दशक में पहले झाँसी, फिर कानपुर में रहे थे। वह राष्ट्रीय चेतना के एक अच्छे कवि थे। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होती थीं। वह स्थानीय (चटाई मोहाल में स्थित और गुरु रघुवरदयाल द्वारा संचालित) राष्ट्रीय विद्यालय में प्रधानाध्यापक थे। पिताजी का श्रद्धेय गणेशजी से निकट का परिचय था। वह विद्यार्थीजी के गुणों, विशेष रूप से उनकी साधुता और शील-संपन्नता की अक्सर चर्चा किया करते थे।

विद्यार्थीजी के निरभिमानी स्वभाव से संबंधित एक खूबी पिताजी से मालूम हुई थी कि रास्ते में कभी सामना हो जाने पर विद्यार्थीजी अपने परिचित व्यक्ति को प्रणाम का प्रथम अवसर नहीं लेने देते थे, दूर से ही उनकी दृष्टि परिचित व्यक्ति को पहचान लेती थी और तुरंत प्रणाम के लिए उनके दोनों हाथ जुड़ जाते। वे यह प्रतीक्षा नहीं करते थे कि जो व्यक्ति सामने आ रहा है, वह (भले ही उनसे छोटा हो) पहले नमस्कार करे तब वह उसके अभिवादन का उत्तर दें। जाहिर है, यह सामान्य शिष्टाचार से संबंधित साधारण सी बात है, पर उनके जैसे बड़े कदवाले नेता की असाधारण लोकप्रियता के मूल में स्थित सद्‌गुणों की चमक चौगुनी करने वाली उनकी विलक्षण विनम्रता की सूचक है। पिताजी से दो-चार बार उनकी भेंट झाँसी में भी हुई थी। झाँसी विद्यार्थीजी अक्सर जाया करते थे और प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू वृंदावनलाल वर्मा के यहाँ ठहरते थे। वर्माजी और राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त उनके घनिष्ठतम मित्रों में थे।

विदेशी शासन की नृशंस क्रूरता के उस दौर में कानपुर का नेतृत्व जिस कुशलता से उन्होंने किया था, उसकी मिसाल फिर कानपुर में तो देखने को नहीं मिली। उन जैसे लोग संघर्ष-काल में ही जन्म लेते हैं। इकबाल का एक शेर है—

निगार बुलंद सुखन दिलनवाज़-जां पुरसोज
यही है रखते सफ़र मीरे कारवां के लिए।

यानी दूर दृष्टि, हृदय को छूने वाली वाणी और करुणा से भरी प्राण-चेतना, बस यही कारवाँ के सरदार (नेता) की नैसर्गिक खूबियाँ होती हैं। गणेशजी में ये तीनों तो थीं ही, इनके साथ थी सरस्वती की उन पर कृपा और

उदात्त जीवन मूल्यों के निर्वहन की अनुपम शक्ति।

सुविज्ञों से सुना और किताबों में पढ़ा है कि जीवन और मृत्यु पर विचार करते समय महत्त्व की दृष्टि से व्यक्ति के जीवन पर ही ध्यान देना चाहिए। यानी मनुष्य कैसे जिया, यही महत्त्वपूर्ण है, वह कैसे मरा, यह नहीं। मृत्यु कब किसे कहाँ कैसे उठा लेती है, यह कोई नहीं जानता। किसी का उस पर वश भी नहीं चलता, पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मृत्यु जीवन की भाँति ही सुंदर, आदर्श और अनुकरणीय हो जाती है। एक शहीद की मृत्यु ऐसी ही होती है। गणेशजी के बलिदान ने सिद्ध कर दिया कि हथियारों से लैस अंधी-बहरी सांप्रदायिकता पर विजय प्राप्त करने के लिए एक सत्याग्रही, सेवाव्रती सैनिक के पास एक मात्र शस्त्र होता है—प्राणार्पण। नेहरूजी ने सही कहा था—''वह शान से जिए और शान से मरे।''



अहिंसा—गांधी बनाम गणेश

वीरेंद्र तिवारी

गणेशजी का व्यक्तित्व संपूर्ण गांधीवादी था। उनका आचरण एवं कृतित्व इसकी पुष्टि करता है। निर्भीक, सत्यवादी और समर्पित शांति सैनिक के रूप में उन्होंने आत्मोत्सर्ग को जिस प्रकार अंगीकार किया, वह अनूठा है। तथापि उनकी और महात्मा गांधी की अहिंसा में एक मौलिक अंतर था। 'गणेश-गति' की कामना करनेवाले महात्मा गांधी के लिए अहिंसा जहाँ विशुद्धत: धर्म थी, वहीं गणेशजी के लिए केवल एक रणनीति—आपद्धर्म मात्र—तभी तो एक ओर जहाँ महात्मा गांधी के प्रति अपनी आस्था-निष्ठा का प्रमाण उन्होंने अपने प्राण न्योछावर कर दिया, वहीं क्रांतिवीरों के सहायक वे आजीवन रहे।

वास्तव में उन्होंने गांधीजी की अहिंसा-शैली और सत्य के लिए आग्रह के इस मर्म को बहुत पहले ही हृदयंगम कर लिया था कि परिस्थिति विशेष में हिंसा अधर्म न रहकर धर्म हो जाती है। गणेशजी को कदाचित् यह भी विश्वास हो गया था कि गांधीजी स्वतंत्रता के मूल उद्देश्य की पूर्ति हेतु हिंसक संघर्ष अथवा आंदोलन के हिंसात्मक स्वरूप को अंततोगत्वा स्वीकार कर लेंगे।

विद्यार्थीजी का यह विश्वास आगे चलकर सत्य सिद्ध हुआ। सन् 1941 और उसके बाद के ऐतिहासिक घटनाक्रम के विवेचन में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। सन् 1942 में जहाँ स्वयं गाधीजी ने 'करो या मरो' का आह्वान किया, वहीं इसके पूर्व 1941 में जयप्रकाश बाबू के सशस्त्र संघर्ष के आह्वान को सर्वथा न्यायोचित ठहराते हुए उसका अनुमोदन भी सार्वजनिक रूप से किया था।

हिंसा-अहिंसा के संबंध में कट्टर गांधीवादी सोच से विद्यार्थीजी की विमति का एक प्रसंग कांग्रेस पार्टी की तात्कालिक गुटबाजी में उनके धुर विरोधी रहे मौलाना

हसरत मोहानी से जुड़ा है, जो विद्यार्थीजी की पत्रकारीय निष्पक्षता का भी परिचायक है। पुलिस जंग-ए-आज़ादी के जुझारू सिपाही, शायर, पत्रकार मौलाना मोहानी को जब भी पकड़ने पहुँचती, तो वह कुछ-न-कुछ प्रतिरोध अवश्य करते, हाथापाई-मारपीट पर उतर आते। मौलाना मोहानी कहते थे कि और तो सब ठीक है, मगर गांधीजी की इस बात को वे नहीं मानते कि दुश्मन के हाथों बिना किसी मुकाबले के यूँ ही पकड़े जाएँ। उनका कहना था कि मैं गोली चलाकर किसी को मारूँगा तो नहीं, मगर अपने जिस्म से कूवत भर मुकाबला जरूर करूँगा। पकड़े जाते वक्त लात-घूँसे चलाऊँगा, काट खाऊँगा।

उस युग के कई गांधी-भक्तों ने जब इन बातों के लिए मौलाना की न केवल बखिया उधेड़ी, बल्कि उनको गांधीजी का अनुयायी मानने से इनकार करते हुए अवसरवादी तक करार दिया, तो इससे बहुत क्षुब्ध होकर गणेशजी ने अपने पत्र 'प्रताप' में 'अवसरवादी कौन' शीर्षक अग्रलेख लिख मौलाना को देश की आजादी की लड़ाई में अगुआ देशभक्त घोषित किया। सन् 1929 में 'प्रताप' के एक अंक में गणेशजी ने अपने उपर्युक्त अग्रलेख में लिखा था, ''सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अवसरवादी होता है। जरा सा भी अवसर मिलने पर अपने प्राणों की रक्षा के लिए अवसर का लाभ उठा लेता है, किंतु मनुष्य एक सर्वाधिक विवेकशील प्राणी है। मनुष्यों में भी वे लोग जो समाज के हित में अपना हित निहित मानते हैं, निःसंदेह वे बड़े दिमाग के हैं और अधिक विवेकशील भी। ऐसे लोग निजी हित के लिए अवसर का लाभ नहीं लेते, अपितु उनके मन में समाज और देश का हित सर्चोच्च होता है। मौलाना देशभक्त हैं और देश की आज़ादी की लड़ाई में अगुआ हैं। उन्हें अवसरवादी कहना सर्वथा अनुचित है।''

स्वयं अपने संबंध में गणेशजी ने सन् 1925 में अपने एक अग्रलेख में स्पष्ट किया था, ''मैं अंग्रेजों का विरोधी हूँ, दुश्मन नहीं। विरोध करने की सीमा हिंसा कैसे हो सकती है। किसी को दुश्मन मानें तो उसके खून के प्यासे हो सकते हैं।'' किंतु स्वयं सत्य-अहिंसा व्रतधारी होते हुए भी उन्हें हिंसा-पथ के पथिक क्रांतिकारियों को अपने गले लगाने और संरक्षण-पोषण देने में कभी कोई हिचक नहीं हुई।

अंग्रेजी राज के विरुद्ध गांधीजी का अहिंसक सत्याग्रह और क्रांतिकारियों का सशस्त्र संघर्ष, एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उस समय ये दो भिन्न

मत थे और दो पथ भी। गणेशजी का कहना था, ''हिंसा-अहिंसा, दोनों पथ के राही एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के आतुर हैं, दोनों का एक ही सपना है, तो फिर हम दोनों ही क्यों न एक-दूसरे के साथ सहयोग करें। देश बड़ा है, उसकी स्वतंत्रता बड़ी है, सिद्धांत नहीं। सिद्धांत तो बनते-बिगड़ते रहते हैं। हम जिस सिद्धांत के हिमायती हैं, दृढ़ता से उसका पालन करें, किसने रोका है। सब मिलकर आगे बढ़ें, क्योंकि ये दोनों ही रास्ते आगे चलकर एक ही मंजिल पर मिल जाते हैं और वह है देशभक्ति। अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने वाला पापी निःसंदेह नहीं हो सकता।'' गांधीजी भी तो यही कहते थे, पाप से घृणा करो, पापी से नहीं, किंतु निरंतर पाप का अभ्यासी यदि मानता ही नहीं है, तो वह मार्ग में किसी प्रकार बाधक न बन सके, ऐसे कदम को भी गांधीजी ने कई बार सराहा है।

कानपुर को भगतसिंह और चंद्रशेखर आजाद सरीखे महान् क्रांतिवीरों का गढ़ बनने का सौभाग्य मुख्यतः गणेशजी की ही बदौलत मिला। देश भर के 'मोस्ट वांटेड' क्रांतिकारी उनकी छत्रछाया में शरण पाते थे और उनके पत्र 'प्रताप' के कार्यालय में बहुधा डेरा डालते रहते। गणेशजी आवश्यकता और सुविधानुसार उनके पड़ाव की व्यवस्था अपने मित्रों-हितैषियों के भी यहाँ करते थे। क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए धन जुटाने के साथ ही अपनी सूझबूझ और ज्ञान से क्रांतिकारियों को निरंतर प्रेरित करते रहना उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था। उनकी सहायता वे अपने प्राणों पर खेलकर भी सहर्ष करते।

गणेशजी के दर्शन करने का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला, किंतु उनके सान्निध्य में रहे क्रांतिकारियों के श्रीमुख से उनके संस्मरण सुनने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त हुआ।

●

यम-याग-संकल्प का विनियोग

डॉ. शिवकुमार दीक्षित

संपादक महोदय ने मुझे प्रपितामही के जीवनानुभवों को संकलित करने का आदेश दिया था। प्रपितामही से संपर्क होने पर ज्ञात हुआ, कि वे अपने प्रपौत्र को, सोने से पूर्व, संस्मरण सुनाती थीं। मुक्तादंत-विरहिणी प्रपितामही ने, विगत रात्रि, अधूरी छूट गई कथा को आज आगे बढ़ाते हुए, प्रपौत्र से कहा—

''पृथ्वी पिंड के एक भाग में कभी सितवर्ण मानव प्रजाति का राज्य था, जिसमें सूर्यास्त नहीं होता था। पुराने लोग कहते थे कि इस प्रजाति के पूज्य महामानव के माथे और छाती पर कीलें ठोंक दी गई थीं, और इसी पूज्य महामानव ने अपने अनुयायियों को पाप और पुण्य की समझ से परिचित कराया था। उचित तो यह था कि उस महामानव के माथे और छाती पर दधि-लेपन होता, किंतु असाधारण व्यक्तियों के प्रति क्रूरता के ऐसे आख्यान सिंहासन की चमक में संसदीय माने जाते रहे हैं। मनुष्य, हर समय मनुष्य बना रहे, इस शर्त के लिए, ईसा शूल-वेध को सहकर मुसकरा रहे थे और सार्थवान देह-त्याग से अत्यंत संतुष्ट थे। उनके लिए स्वामित्व पाप था और आततायी के प्रति क्षमा, पुण्य। ऐसे पुण्यात्मा ईसा के अनुयायी, बाद में, आज तक भयानक युद्धों के जनक और नर-संहार के आयोजक हुए। लोग उस महामानव को कभी ईश्वर, ईशु, क्राइस्ट के नाम से भी पुकारते थे। ईसा जैसा आराध्य पाकर वह सितवर्ण प्रजाति अपने विकसित इतिहास में गिरजे के शिखरचुंबी चिह्न का मौन व्याख्यान सुरक्षित नहीं कर पाई, जिसे सुनकर लॉन की दूब पर ठहरे नीहारकण थरथराकर सूर्याभिमुख हो पाते। उपनिवेश-प्रासादों में निर्वसन सोने की अभ्यस्त वह प्रजाति सुबह पूर्णवसन में शालीन हो जाती थी।''

कक्षाओं में पढ़ाए जानेवाले इतिहास की स्याही पर ऐसी नई रोशनी से प्रपौत्र विस्मित था। प्रपितामही ने आगे बताया—उस प्रजाति द्वारा स्थापित उपनिवेशों में जनसामान्य के शोषण की सुदीर्घ परंपरा में नित नए अन्याय-अत्याचार उसके लिए उत्सव थे। मोमबत्ती की टिमटिमाहट के साक्ष्य में उस प्रजाति का तपत्यागी धर्माधिकारी, अनुयायियों के लिए, स्वर्ग में हेमपीठ के आरक्षण का निश्चय करता था, तब भला, ऐसे राज्य में सूर्य भी अवकाश-सेवन की हिमाकत कैसे कर सकता था।

धुरी पर पृथ्वी पिंड के आवर्त असंख्य होते गए और पतझर में, निरयास एकत्र हो गए सूखे पत्तों की तरह, दुर्भाग्य आर्यावर्त को ढक चुका था। कड़क धूप में सर्षप पादपों की तरह आर्यावर्त भी चिटक गया और त्रिभुजाकृति में, विक्षुब्ध, ऐंठकर हिंदुस्तान हो गया। सांस्कृतिक औदार्य, आदर्शनिष्ठ शिक्षा, देहजननी से विराट जन्मभूमि की संरक्षा जैसी अवधारणाओं का संदर्भ लुप्त हो गया था। यही हिंदुस्तान पहले, मुगलों के हरमों में, नित शिथिल होते नीविबंधों में झूलती लंपटता से मर्दित-अपमानित होता रहा था। अर्द्धवृत्त में सजे मसनदों के सहारे, रातभर अभिसारमग्ना, विपर्यस्त लटोंवाली नर्तकियों की जावक-सज्जित एड़ियों पर नवाबों के कपाल रगड़ खाते थे। मखमली फर्श पर, आदमी के कद से भी ऊँचे हुक्कों की, व्यालिनी की तरह फैली नलिकाओं से छन-छनकर आती गुड़गुड़ाहट इतनी बेसुध थी कि उसे किले के कपाट, एक झटके में, टूट जाने की खबर ही नहीं हुई। तब, उसी सितवर्ण मानव प्रजाति ने, कौतुक से, भारत को उपनिवेश घोषित कर देने में देर नहीं की थी।

आर्यावर्त, अब नहीं! भारतवर्ष भी नहीं!!

हिंदुस्तान से आगे इंडिया में, नेपथ्य में ढकेल दी गई, संस्कृति के प्रति कायरों का दंभ बचा था, जो अरण्य में मर्दल पीटते रहने को व्याकुल था। समझने की यह भूल हमें नहीं करनी चाहिए कि वर्तमान के दुर्भाग्यपूर्ण विलोम के साथ अतीत के वैभव का प्रतिपल स्मरण हमारी कायरता और मूर्खता का प्रख्यापन होता है। इसी कायरता के सुविधापूर्ण रास्तों से, बड़े सधे पाँव, वह सितवर्ण प्रजाति कंपनी का झुंड लेकर आई थी। सैकड़ों रियासतों के विलासमुग्ध मुकुट कंपनी सरकार-सर-साहब जैसे संबोधनों के साथ, उस प्रजाति के सामने प्रणिपात-विह्वल दिखाई दिए। बेपढ़ी, सर्वदात्रस्त, मिट्टी का चीर लपेटे हिंदुस्तान की

जनता ने उस प्रजाति को फिरंगी और गोरे जैसे नामों से पहचाना था।

एक रात फिरंगियों के सैन्य शिविर से कुछ दूर बैठा एक सिपाही जागा। उसने देखा कि रजतछत्र के नीचे सशंक आ रहा एक व्यक्ति, अपने सेवक को बाहर रोककर, शिविर में चला गया। पहरेदार ने उसे चुस्त सैल्यूट ठोंका था। शिविर की नीशार संधियों से उस सिपाही ने झांका, तो दीये के उजाले में वह व्यक्ति राजसी वेष में दिखाई दिया। अपनी कलीयुक्त पगड़ी को उलटकर, उसमें एक पोटली रख, वह व्यक्ति फिरंगी के बूटों पर पगड़ी रखते हुए, अपनी रियासत के लिए रहम की भीख माँग रहा था। फिरंगी ने हरम की दावत में आना कबूलकर अपना मुँह फिरा लिया था। अब वह व्यक्ति सिरकटे धड़ के समान लौट गया था।

सिपाही जोर से चिल्लाया—अरे! अब मैं सोना नहीं चाहता! यह मैंने अब तक क्या किया? पहरे पर रहते हुए मैं वर्षों से सो रहा था।

प्रपौत्र के पूछने पर प्रपितामही ने उस सिपाही का नाम मंगल पांडे बताया था। फिरंगी फूत्कार कर उठे, मानो उनके विवर में मंगल पांडे ने पिघला काँच उड़ेल दिया था। सुविधाशायी मूर्खता निस्पंद और शांत होकर लोकमानस द्वारा अभिनंदनीय हो सकती है, लेकिन जब वह अधिकार संपन्न होकर अर्हता का प्रमाण देने की चेष्टा करती है, तो अपनी रक्षाभित्तियों को ढहाकर दम लेती है। एक ओर, मंगल पांडे के स्फूर्त राष्ट्रबोध की नींद उड़ गई थी, तो दूसरी ओर, फिरंगियों के साथ रजवाड़े कामदग्ध तन्वंगियों के वक्षशिखरों पर जाफरान के घोल से चित्रमालिका रचना चाहते थे। मंगल पांडे जागा, पूज्य धन्य हुआ। रजवाड़े धिक्‌धन्य हुए।

मंगल पांडे की हुंकार सुनकर फिरंगी का पसीना छूट गया था और लक्ष्मीबाई की तलवार ने तो शत्रुमुंडों को कालिका की कटि-कांची में पिरो दिया था। नर्मदा के शिवलिंगों पर गिरती दुग्धधार को महर्षि दयानंद ने अपने गहन चुलूक में सदैव के लिए रोक लिया था और उद्धत स्नातक विवेकानंद का स्थूल हठ दक्षिणकालिका के दामिनी विनिंदक नूपुरों में उलझ कर थक गया था। परमहंस रामकृष्ण ने उस हठ के माथे का पसीना पोंछ दिया था। सघन वन के किसी आनंदमठ में बंकिम 'चतुरजी' ने भारत माता को 'वंदे मातरम्' स्तोत्र सुनाया था, जो न जाने कैसे हुगली के संगीत से लयबद्ध हो गया था।

प्रपितामही ने बताया कि उस समय पूरा देश विपथ पार्थ हो गया, तब

बालगंगाधर तिलक ने स्वराज्य का पांचजन्य फूँककर पार्थ को, फिर से, रथ पर सवार कर दिया था। पार्थ उपदिष्ट हुआ। गीता के रहस्य का कपाट खुला। कोटि-कोटि कंठ बोल उठे—रक्त संबंध भी यदि छल और लोभ का प्रशस्त सूत्र बन गया हो, तो इसे निर्ममता से खंडित कर देना कर्तव्य-कर्म है। सारा व्योम मंडल गरम हो उठा। लपलपाते चक्रावर्त स्फुलिंग की तरह, मोहनदास करमचंद गांधी की कृशकाया में दधीचि का निश्चय वज्र हो गया था। अफ्रीका में अफरातफरी मची थी, शोषण-अत्याचार के विरुद्ध मुट्ठियाँ बँध गईं। विकट धैर्यवाली ऊर्जा के साथ गांधी अंतरराष्ट्रीय फलक पर सितवर्ण प्रजाति के लिए विस्मयकारी मिथक बन गए थे।

गांधी के, हिंदुस्तान में, लौटकर पाँव रखने से पूर्व सप्तजिह्व लेखनी के 'प्रताप' के साथ गणेशशंकर विद्यार्थी ने मातृभूमि में स्वाभिमान का संदर्भ उसी शपथ के साथ उद्‌घाटित कर दिया था जो सैकड़ों वर्ष पूर्व अरण्य में निराहार रहकर पर्णशायी महाराणा प्रताप ने ग्रहण की थी। प्रपितामही ने 'प्रताप' का संकल्प सुनाया—''हम न्याय में राजा और प्रजा, दोनों का साथ देंगे, परंतु अन्याय में दोनों में से किसी का नहीं। जो जाति हर मौके पर और हर काम में संतोषी बनकर पिटना और पीछे रहना प्रारब्ध समझती है वह किसी तरह भी कम अपराधी और कम दोषी नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तव में वह अत्याचार को बढ़ाती और फैलाती है।''

'प्रताप' की मुद्रा का वर्णन करते हुए प्रपितामही ने कहा कि 'प्रताप' की दो आँखे थीं। एक आँख प्रहरी थी जो अहर्निश जागती थी, दूसरी आँख प्रहार थी जो हर अत्याचार के विरुद्ध अपने निक्षेप से राजतन्त्र के कंगूरों को कँपा देती थी। गणेशजी की पत्रकारिता का कोई वर्ण नहीं था—न पीत, न श्याम ही, हाँ! वह उस दुश्चेष्टा का मुख विवर्ण कर देती थी जो भारतीय संवेदना को आहत करने को तत्पर होती थी। 'प्रताप' की पत्रकारिता को तत्कालीन समाज के अग्रदूत की मेधा का वेणुरव मानना चाहिए। वह वेणुरव एक ओर संकल्पित स्वराज्य के युद्धनाट्य में वांछित तालानुगत पद-निक्षेप का संकेत था, दूसरी ओर विषव्यंजक विदेशी कालिय सर्प के शीश पर निर्भीक नृत्य का क्षिप्र अभ्यास कर्म भी। पत्रकारिता गणेशजी के लिए उज्ज्वल चरित्र थी, संपदावाही व्यवसाय नहीं। वे इसके द्वारा वाक्‌चातुर्य के न तो मानक स्थिर करना चाहते थे, और न ही सत्ता-सोपानों पर अपने लिए किसी आसंदी को सुरक्षित कर लेने का

तिकड़म बुनना चाहते थे। उनकी पत्रकारिता स्वाभिमान में नहाई और राष्ट्रबोध की तीव्र सुगंध से महक उठी थी, और यही सुगंध, कालांतर में माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, श्रीराम शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिभाऊ उपाध्याय जैसे स्वाभिमानी पत्रकारों द्वारा स्थिर हो गई थी।

प्रपौत्र के सिर पर हाथ फिराते हुए प्रपितामही ने भावुक होकर कहा, "बेटा! घर के बड़े लोगों ने मुझे बताया था कि गांधी के अभियान ने शायद पहली बार भारतीय जनमानस को एकता और निजत्व का बोध कराया था, जब कि 'प्रताप' में अवतरित हुई गणेशजी की प्रतिभा ने देशवासियों को पाणिबद्ध दीन याचक की भंगिमा से मुक्त कर सर्वस्व त्याग के लिए प्रतिस्पर्धी बना दिया था। 'प्रताप' गंगा-जमुना की लहरों पर पाँव रखता हुआ राजस्थान के मरुस्थलों में आश्वस्ति के कांतारों की कतारें सजा आया था। जर्मनी की दर्प-दाहकता से इंग्लैंड और मित्र राष्ट्रों के शरीर पर फफोले पड़ गए थे, किंतु अमेरिकी प्रेसीडेंट वुडरो विल्सन ने, जब उन पर बर्फ के फाहे रख दिए तब 'प्रताप' ने इंग्लैंड को याद दिलाई थी कि उपनिवेशों की प्रजा के साथ असमान व्यवहार का समाधान कौन खोजेगा?"

आज बड़े पौत्र के वाहन से प्रपितामही गंगा में पर्व-स्नान कर जब लौटीं, प्रपौत्र स्कूल जा चुका था। स्फूर्त चेष्टा के साथ प्रपितामही रात में प्रपौत्र से बोलीं—भस्मसित शिव और चांपेय गौरांग पार्वती के परस्पर लास्य-शैथिल्य पर अपनी फुहारों का चँवर घुमाकार भागीरथी जब कुंभपर्व पर हरिद्वार आई थीं, तब उन्होंने सेवाव्रती कर्मवीर गांधी को गुरुकुल निकटस्थ मायापुर में महीयस् महात्मा होते जाना था। असंख्य स्नानार्थियों का पाप-प्रक्षालन करते-करते भागीरथी प्रतनुकाय हो गई थीं, फिर भी, जब वे ब्रह्मावर्त पहुँचीं तो उन्हें ब्रह्मा की स्थिर पादुका के दर्शन का मोह नहीं था, बल्कि वे तटवर्ती अरण्य में वैदेही के निःशब्द आख्यान का अनुभावन करना चाहती थीं। वे कुछ दूर ही चली थीं कि उन्हें चंद्रशेखर आजाद, भगतसिंह और गणेशशंकर विद्यार्थी की निर्घोष बतकही का स्वर सुनाई दिया। यह मंडली अत्याचार-निपुण कंपनी-सत्ता के मुकुट पर अंगार धर देने को व्याकुल थी। भगतसिंह के बचपन ने पाशविक ओ'डायर की तड़तड़ाती गोलियों से आहत हजारों देश बंधुओं की चीखें सुनी थीं, भगतसिंह फिरंगी कुल को एक बार ऐसी ही चीखों का आरोह सिखा देना चाहते थे।

प्रपौत्र को अब आलस्य ने पूरी तरह से घेर लिया था। प्रपितामही बढ़ते

कथा सूत्र को रोक कर प्रपौत्र के मन में सुबह गुडनाइट के जवाब में क्षीण अवधिवाली अपनी शुभरात्रि में निमग्न हो गईं। दूसरे दिन, प्रपौत्र के मन में सुबह से शाम तक प्रपितामही द्वारा अभिव्यक्त प्रसंगों के लिए कुतूहल का भाव बना रहा। स्कूल का होमवर्क जैसे-तैसे पूरा कर प्रपौत्र जब प्रपितामही के पास आया तो लू से झुलसे अधपके आम की तरह सिकुड़ गया उनका चेहरा पूरी तरह खिलने से रह गया। एक शताब्दी में दस वर्ष कम की प्रपितामही गणेशजी के समय में देशी घी में गुँधी हुई मैदे की लोई की तरह गौरांग सुचिक्कन रही होंगी। आज की रात, उस समय का वृत्तांत सुनाते समय भावित नयनों से वे प्रपौत्र की ओर निहारने लगीं और बोलीं, ''गणेशजी की देह विपुल भार सहन करने में समर्थ नहीं थी, लेकिन उनका उदार मन असहाय जनमानस के त्राण का दायित्व वहन करने के लिए अत्यंत विकल था। साधनों की संकीर्णता में भी वे दूसरों के लिए अपना सबकुछ विकीर्ण कर देने को आतुर थे।''

नवजात शिशु के लिए माता का वक्ष ऐसा चषक है जिसमें जीवनदायी पयस् द्राव के साथ मातृभूमि-मातृभाषा का माधुर्य संस्तरित होता है। गणेशजी सोचते थे कि मातृभाषा की शिविका के व्याकरणजयी ऐसे पदवाक्य आरूढ़ होते हैं, जो अर्थों के अश्वों की वल्गाएँ खींचे, बोध के दुर्गम पथ को सरलता से लाँघ जाते हैं। भारतीय संस्कारों के उन्मूलन जैसी निहित स्वार्थ-सिद्धि के लिए अंग्रेजी का बलात् शिक्षण गणेशजी को स्वीकार नहीं था। उन्होंने काउंट ओकूमा द्वारा सन् 1882 में स्थापित बसीडा विश्वविद्यालय का उदाहरण देते हुए कहा था कि वहाँ जापानी भाषा के माध्यम से ही उच्च शिक्षण की व्यवस्था की गई थी। सदाशयी बने रहने को लालायित गांधी ने तो राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर दो लिपियों का आग्रह बनाए रखा, लेकिन अपने सदाशय से मुसलिम लीग के हृदय-परिवर्तन की बाट जोहते गांधी की आँखें पथरा गई थीं। पूरे विश्व ने गांधी को एक पूर्ण जीवन-शैली माना था, लेकिन हिंदुस्तान में गांधी जिनके लिए मरे वे उनको केवल हिंदू मानते रहे। अंग्रेजों द्वारा छीनी गई बादशाहत गाँठ बनकर लीगी नेताओं को हिंदुस्तान की जमीन का पाक जर्रा बनने से रोक देती थी, और इसीलिए वे अपने से अलहदा, दूसरों को खुदाबंद मानने से कतराते थे। अब इस खयाल की परख जरूरी है कि स्वतंत्रता आंदोलन में मुसलिम लीग और कायदेआजम जिन्ना की शिरकत हिंदुस्तान से मोहब्बत के सबब से नहीं थी, बल्कि सल्तनत से बेआबरू बेदखल किए जाने के दर्द को दबाकर,

हालात से फायदा उठाने का बापर्दा खूबसूरत सलीका भर थी।

हिंदुस्तान की जमीन रियासतों में बँटी थी और आदमी जातियों में। उपवास-विक्रम गांधी चरखे से ऐसा सूत कातना चाहते थे, जिसमें सब बँधे रहें। चंद्रशेखर आजाद की मंडली को गांधी के चरखे से अधिक अपने रिवाल्वर की चरखी पर भरोसा था। बस, तभी भगतसिंह के जयनाद से फिरंगियों का ऐश्वर्य-मंडल काँप उठा। विरोध की ऐसी भयावह दस्तक फिरंगियों ने पहले नहीं सुनी थी। मृत्युपाश भगतसिंह की ग्रीवा में बासंतिक मल्लिका हो गया और इस मल्लिका की तेज सुगंध से अहिंसा के नासारंध्र अपनी छींकें नहीं रोक पा रहे थे। राजनीति विशारद कौटिल्य कहते थे कि शत्रु से मैत्री करो या उसे मार दो, लेकिन हिंदुस्तान के आदमियों के बीच ऐसी दरारे थीं कि वे शत्रु को बाद में, पहले अपनों को मार देना पसंद करते थे। इस नायाब शौक का नाम दंगा था। कानपुर ने इस शौक को अपनाने में बड़ी कीमती चीज खो दी थी।

भगतसिंह का स्मरण कर प्रपितामही रो पड़ीं, आँसू पोछते हुए, रुद्ध कंठ से बोलीं, ''विक्षिप्तता जब उत्तेजित होती है, तो वह अपना मस्तक शिला पर पटकने लगती है, लेकिन उस समय कानपुर की सँकरी गलियों में चार दिन पहले तक जो पड़ोस अदब से समकोण बन जाता था वह उस दंगे में आग से चटकता सीधा बाँस हो गया था। पायलागन और रामजुहार के साथ जो मित्र बगल के दरवाजे पर सुबह की दस्तक देता था रातोंरात उसकी आँखों में अंगार धधकने लगे थे। कितनों की गरदनें चाक हो गईं और कितनों की आँतें सड़क के किनारे बिखरी पड़ी थीं। बेटा! धर्मांधता धर्म का ही वध करती है, विधर्मी का नहीं। यम-याग आयोजित हुआ। ऐसे मृत्युयज्ञ की कल्पना करने वाला मनुष्य ही होगा क्या? इसमें किसी पड़ोसी के शरीर की ही आहुति नहीं होती, बल्कि पारस्परिक विश्वास राख हो जाता है। हमने सुना था कि पशु भूख से विकल होकर हिंस्र होता है, लेकिन अन्न के पाँच ग्रासों पर जीने वाला यह मनुष्य! उफ! मुँह में रखे ग्रास को नीचे उतारने के लिए रक्तपिपासु हो गया था।''

मृत्युदंड के समय भगतसिंह की देह पर लहराया बसंती चोला देश के आँसुओं से भीग गया था, वह अभी सूख भी न पाया था कि कानपुर के चौबेगोला मोहल्ले में यम-याग की वेदिका बन गई। विधर्मियों के पूर्व संकल्प को खंडित कर गणेशजी ने पूर्ण संज्ञान के साथ यम-याग-योग का नूतन संकल्प सुनाया—ठहरो! तुम सब मुझसे नहीं, नई पीढ़ी के अनिष्ट से डरो। रुक जाओ!

यम-याग-संकल्प का विनियोग

भयभीत व्यक्ति की बलि फलदायी नहीं होती है, निर्दोष का वध मत करो। निर्दोष पर उठा विधर्मी के हाथ का कृपाण गणेशजी ने पकड़ लिया, निर्भीक होकर बोले, ''अरे! मेरा शरीर प्रस्तुत है, इसकी आहुति देकर अपना यज्ञ पूरा करो।'' पलक झपकते ही कृपाण गणेशजी के वक्ष में उतर गया। लड़खड़ाकर गिरते ही उन्होंने अपने रक्त की बूँदों से यम-याग के संकल्प का विनियोग पृथ्वी पर छोड़ दिया।

नूतन संकल्प का विनियोग प्रशस्त हुआ। विक्षिप्तता अब शिथिल होकर अवसन्न हो गई। फिर से, समकोण बनने लगे। रामजुहार भी सुनाई पड़ने लगी, लेकिन मोहल्ले में आता-जाता हर कोई अपना कालिखपुता चेहरा एक-दूसरे से छिपा रहा था। प्रपितामही ने प्रपौत्र से कहा, ''तुम्हारे बड़े दादा ने तब तीन दिन तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया था। कई रातों तक वे सोए नहीं थे। कथा सुनाते-सुनाते प्रपितामही का मन बोझिल हो गया था।''

विगत रात्रि हुए अवसादपूर्ण कथा-संवाद के बाद मुझ संकलनकर्ता को यह अनुमान था कि आज की रात प्रपितामही कथासूत्र को उत्कर्ष तक ले जाएँगी, किंतु प्रपौत्र द्वारा बहुत कुरेदने पर उन्होंने अन्यमनस्क होकर कहा कि आगे जो कुछ हुआ वह श्रेयस्कर नहीं था। द्वितीय विश्व युद्ध हुआ। फिरंगी के साम्राज्य पर सूर्य ने ठहरे रहने से इनकार कर दिया। महीयस् महात्मा गांधी गणेशजी के उत्सर्ग के ईर्ष्यालु हो गए। वे एकाकी हो रहे थे और उनकी मानस संततियाँ सार्वजनिक हो रही थीं। गांधीजी योगसिद्ध तो थे नहीं, जो परकाया-प्रवेश कर संततियों का मनोभाव जान पाते। संततियों की राजलिप्सा ने गांधी की, बित्ता भर लँगोटी में, निर्वाह की तापस शैली को अँगूठा दिखा दिया था।

महाभाग गणेशशंकर विद्यार्थी यह सब देखने से पूर्व यम-याग में सदेह पूर्णाहुति दे चुके थे, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के छह महीने तक हतभाग्य गांधी स्वेच्छया आहुति के लिए तरसते रहे।

मेरे द्वारा प्रपितामही के संस्मरणों का संकलन संपादक महोदय को प्रभावित नहीं कर सका। उनकी टिप्पणी थी कि विद्यार्थीजी के विनियोग की फलसिद्धि अब भी शेष है, तब इस संस्मरण-संकलन को पूर्ण कैसे कहा जा सकता है?



मानवाधिकारों का अपराजेय योद्धा

डॉ. गोकुलेश शर्मा

मानवाधिकारों के अप्रतिम-अनन्य अपराजेय योद्धा गणेशशंकर विद्यार्थी का मानवाधिकार-फलक आज की अपेक्षा कहीं अधिक गहन-सघन, विशालतर व विस्तृत था। उनके फलक की तुलना में आज का फलक संकीर्ण और बौना है। विद्यार्थीजी मानवाधिकारों से वंचित दीन-हीन, दुर्बल देशवासियों को उनके अधिकार दिलाने के लिए गोराशाही शासन से आजीवन जूझते रहे।

आज तो मानवाधिकारों के संरक्षण-प्रतिरक्षण के लिए एक विधिविहित तंत्र भी है, परंतु विद्यार्थीजी के युग में तो भारत में शासन ही मानवाधिकार-हंताओं का था, जिन्होंने विभिन्न महाद्वीपों के अनेकानेक देशों के लोगों के स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार का हरण-हनन कर उनको ब्रिटिश ताज का गुलाम बना रखा था। इसीलिए वे सदर्प कहते थे कि उनके ब्रिटिश साम्राज्य में सूरज कभी नहीं डूबता। निपट निर्बल, निर्धन, निस्सहाय की लड़ाई लड़ने में विद्यार्थीजी ने अपना सारा जीवन लगा दिया।

भारत की आजादी के कातिलों के बाजुओं का जोर आजमाने, सरफरोशी की तमन्ना लिए निकले क्रांतिकारियों को प्रश्रय-प्रोत्साहन, 'प्रताप' का संपादन, कांग्रेस की गतिविधियों का संचालन, मजदूरों-किसानों से लेकर, कथित अपराधी जनजाति तक की समस्याओं के समाधान के लिए संघर्ष, बड़ा ही विस्तृत कार्य-क्षेत्र था विद्यार्थीजी का, जिन्होंने कानपुर को अपनी कर्मभूमि बना धन्य कर दिया। देश की आजादी और मानवाधिकारों के लिए लड़ाई में वे कई बार जेल गए।

मानवाधिकारों की पैरवी अपने अखबार 'प्रताप' के माध्यम से उन्होंने जमकर की। जिनकी कोई नहीं सुनता था, उनकी आवाज विद्यार्थीजी बुलंद कर

शासन तक पहुँचाते थे। किसानों से लेकर कुली तक का, सारे जहाँ का दर्द उनके जिगर में था। सन् 1926-29 में संयुक्त प्रांतीय कॉउंसिल परिषद् के सदस्य के नाते उन्होंने सदन में अपनी वक्तृता में संपूर्ण प्रांत में व्याप्त दरिद्रता, असहायता और शोषण के मर्मभेदी शब्द-चित्र सबके सम्मुख प्रस्तुत किए।

महात्मा गांधी के परामर्श के अनुसार जाति और धर्म के बिना भेदभाव किए सभी भारतीयों को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उन्होंने 'हिंदुस्तानी बिरादरी' संस्था की स्थापना की, जो आज भी चल रही है। नर्वल में सेवा आश्रम भी विद्यार्थीजी ने स्थापित किया और कानपुर में होमरूल लीग की शाखा भी खोली-चलाई। अपने अखबार 'प्रताप' के जरिए उन्होंने किसानों से लेकर रेलवे कुलियों तक की समस्याएँ शासन के समक्ष रखी और शासन के निठल्लेपन की निंदा करने में कोई अवसर कभी नहीं चूके। अस्तु, शासन का कोपभाजन भी स्वाभाविक रूप से बारंबार बनते रहे।

राष्ट्रवादी प्रेस और पत्रकारिता का गला घोटने के लिए लागू किए गए काले कानूनों का उन्होंने अपनी निष्पक्ष लेखनी से निर्भीकतापूर्वक उल्लंघन किया। विदेशी शासन ने विद्यार्थीजी को उनकी प्रखर राष्ट्रवादिता के लिए कई बार 'दंडित' भी किया, किंतु मानवता और मानवाधिकारों की रक्षा के अपने सुपथ से वे कभी विचलित नहीं हुए। सदैव अडिग-अविचलित रहे।

तत्कालीन गोराशाही शासन के अंतर्गत राज-काज को ठीकठाक चलाने के लिहाज से पुलिस जो जुल्म ढाती थी उसको विद्यार्थीजी ने अपने पत्र 'प्रताप' के माध्यम से विशेष रूप से उजागर किया। सन् 1926 में उन्होंने शिकोहाबाद में तैनात कोतवाल शिवदयाल सिंह[1] के भ्रष्टाचार के कारनामों का भांडा फोड़ा, जिनमें गरीब जनता को अकारण सताया गया था। उन्होंने 'प्रताप' में 13 विशिष्ट मुकदमों की फेहरिस्त प्रकाशित की, जिनमें उस पुलिस निरीक्षक ने भ्रष्टाचार किया था।

पुलिस निरीक्षक ने उनके विरुद्ध मानहानि का मुकदमा ठोंक दिया। अधीनस्थ

---

1. दारोगा शिवदयाल सिंह को क्षेत्रीय जनता 'चोरों का दारोगा' कहती थी। कुख्यात था कि अपने विरोधियों के यहाँ चोरी कराकर उनका सामान बरामद कर देता था, जिससे उसके अफसर उसका समर्थन करते थे। गणेशजी पर चले, इस केस में मजिस्ट्रेट ने फैसले के बाद पद त्याग दिया था।

मैनपुरी न्यायालय ने (उस समय शिकोहाबाद मैनपुरी जनपद की एक तहसील था) विद्यार्थीजी को छह महीने की कैद और चार सौ रुपए जुर्माने की सजा सुना दी। जुर्माने की चार सौ रुपए की रकम पुलिस निरीक्षक को बतौर मुआवजा देने का हुक्म हुआ था। विद्यार्थीजी ने जुर्माना नहीं दिया। जेल चले गए, लेकिन उनके मित्रों ने मिलकर जुर्माना भरा और जिला जज के समक्ष अपील की, जिसे खारिज करते हुए उनकी सजा और बढ़ाने का आदेश दे दिया गया।

मैनपुरी जिला न्यायालय के फैसले को विद्यार्थीजी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में चुनौती दी, जिस पर अंग्रेज जज वाल्श और भारतीय जज बनर्जी की खंडपीठ ने विचारणोपरांत 28 मार्च, 1927 को अपने निर्णय में विद्यार्थीजी को निर्दोष ठहराते हुए दोषी पुलिस निरीक्षक के विरुद्ध काररवाई का आदेश पारित किया।

काकोरी ट्रेन डकैती कांड के उपरांत नैनी जेल में 22 अप्रैल, 1928 को हुए दंगे की रिपोर्ट 'प्रताप' में छापने पर विद्यार्थीजी को इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अपनी अवमानना की नोटिस दी। यद्यपि रिपोर्ट उन्होंने पूरी जाँच-पड़ताल के बाद ही छापी थी, तथापि नोटिस मिलने पर तथ्यों की नए सिरे से गहराई से छानबीन की, तो पाया कि उनसे कुछ गलती हो गई है। उन्होंने तुरंत न्यायालय पहुँच कर 30 जुलाई, 1928 को उसके समक्ष अपनी भूल स्वीकार की, गलती के लिए बिना शर्त माफी माँगी और कहा कि न्यायालय की भावनाओं को जो ठेस पहुँची है, उसके लिए उन्हें हार्दिक खेद है। न्यायालय ने उनकी भावनाओं को देखते हुए अवमानना का मुकदमा तुरंत रद्द कर दिया।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि विद्यार्थीजी बड़े ही निडर-निर्भीक सत्यवादी थे। जब गलती हुई तो एहसास होते ही फौरन कुबूल कर ली, लेकिन जब गलती पकड़ी तो उसको दंड दिलाने तक नहीं छोड़ा। सन् 1927-28 में संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में कथित अपराधी जनजातियों (क्रिमिनल ट्राइब्ज) के लगभग 50 हजार लोग थे। तब इस बिरादरी के कुल जमा छह लोग फौज में थे और कुल जमा केवल एक ही आदमी सरकारी सेवा में था। गोराशाही शासन ने इस बिरादरी पर अंकुश के लिए अमानवीय कानून-कायदे बनाए थे। बिरादरी के लोगों की बस्ती शहर के बाहर अलग-थलग रखी जाती थी। कानपुर में उनकी बस्ती कल्यानपुर में बनाई गई और नाम रखा गया 'क्रिमिनल ट्राइब्ज सेटलमेंट'। विद्यार्थीजी ने उनको समाज की मुख्यधारा से विलग रखने और उनके

ऊपर अंकुश के लिए लागू काले कानूनों का कड़ा विरोध किया, स्वयंसेवी संस्थाओं, दलित उद्धार सभाओं, आर्यसमाज आदि को ललकार कर उनके सुधार-उद्धार के पुण्य कार्य में अपने साथ जुटाया। इस बिरादरी की उन्होंने जो सेवाएँ कीं, वे सचमुच अनिर्वचनीय और शब्दातीत हैं। मानवाधिकारों की रक्षा के लिए उनका अनवरत संघर्ष सदैव अविस्मरणीय रहेगा। मानवता के इस पुजारी ने मानवता के ही लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए।



'प्रताप' - निर्भीकता की मूर्ति

डॉ. राजीव दुबे

गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक बार कहा था, ''मैं पत्रकार को सत्य का प्रहरी मानता हूँ—सत्य को प्रकाशित करने के लिए वह मोमबत्ती की भाँति जलता है। सत्य के साथ उसका वही नाता रहता है, जो एक पतिव्रता नारी का अपने पति के साथ रहता है। पतिव्रता पति के साथ सती हो जाती है और पत्रकार सत्य के साथ।''

विद्यार्थीजी सत्य के हेतु मोमबत्ती की भाँति आजीवन जलते रहे और शलभ की भाँति सत्य के शिखर पर जुट गए। विद्यार्थीजी का चरित्र, शील, प्रतिभा और निर्भीकता का विचित्र सम्मिश्रण था। आपकी चरित्र की ऊँचाई विराट शैल की सी थी; पराधीनता को नष्ट करने के लिए उनके दृढ़ भावों का गांभीर्य समुद्रवत। उनकी देशभक्ति में गंगाजल की पवित्रता थी और उनके समाजसेवी कार्यों में कच्चे दूध सी धवलता। उनके वक्तव्य में बुद्धि विलास और ज्ञान के बोझ के स्थान पर प्रेरणा व हृदयस्पर्श अधिक था। उनके नेत्रों में मंतव्य का मोहक तंत्र था। उनके रहन-सहन की सरलता उनके जीवन की व्यापकता और उदारता से मिलकर उन्हें सबका प्रिय बनाई थी।

प्रतिभाशाली युवक विद्यार्थी को आचार्य द्विवेदी ने 2 नवंबर, 1911 से पच्चीस रुपए मासिक पर संपादन कार्य में लगा लिया। विद्यार्थीजी में पत्रकार कला की ओर स्वाभाविक अभिरुचि थी ही, साथ ही इतने बड़े अनुभवी और उत्कृष्ट पत्रकार का पथप्रदर्शन भी मिल गया।

स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''गणेश जब तक मेरे पास रहे, तब तक बड़ी मुस्तैदी और बड़े परिश्रम से काम किया। रोज दो मील

दूर शहर से जुही आते और शाम को लौटते। उनकी शालीनता, परिश्रमशीलता और ज्ञानार्जन की सदिच्छा ने मुझे मुग्ध कर लिया। उधर वे मुझे शिक्षक या गुरु मानते थे, इधर मैं स्वयं ही कितनी बातों में उन्हें अपना गुरु समझता था। धीरे-धीरे वे मेरे कुटुंबी से हो गए। कभी स्वप्न में भी किसी भी विषय में आपसी मत विरोध या खटपट नहीं हुई। गणेश मेरे खानगी कामों तक में मेरी मदद करते रहे। हिंदी लिखना उन्होंने खूब सीखा। मैं चाहता था कि वे कुछ संस्कृत भी सीख लें, पर उनका झुकाव राजनीतिक शिक्षा की ओर अधिक था। अतएव मैंने उन पर दबाव नहीं डाला। उन्हें पढ़ने का बहुत शौक था।''

विद्यार्थीजी अपने नाम के आगे 'विद्यार्थी' क्यों लिखते थे? उनका विचार था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन भर विद्यार्थी ही है, साधक है। जिंदगी भर वह कुछ-न-कुछ बराबर सीखता ही रहता है, फिर भी उसके ज्ञान का भंडार पूरा नहीं होता। इसी विचार को ध्यान में रख कर विद्यार्थीजी अपने नाम के साथ आजीवन 'विद्यार्थी' शब्द लिखते रहे।

गणेशजी ने 'प्रताप' के नाम को राणा प्रताप के स्मारक के रूप में ग्रहण किया। साधन-सुविधाओं के अभाव में गणेशजी तथा मिश्रजी ने अपनी आस्था, साहस, नि:स्वार्थ त्यागवृत्ति और अदम्य लगन के साथ हिंदी पत्रकारिता को उज्ज्वल कक्ष प्रदान किया। 'प्रताप' के जन्म पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आशीर्वचनस्वरूप दो पंक्तियाँ गणेशजी को भेजी थीं, वही कालांतार में 'प्रताप' की आमुखवाणी बनीं, पंक्तियाँ थीं—

> ''जिनको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
> वह नर नहीं, नर-पशु निरा है, और मृतक समान है।''

'प्रताप' का सर्वत्र स्वागत किया गया। धीरे-धीरे 'प्रताप' अपना पराक्रम दिखलाने और लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने लगा। विद्यार्थीजी की कलम की करामात अपना असर फैलाने लगी, पत्रकार कला में एक नवीन धारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ने लगी। 'प्रताप' के विचारपूर्ण और गंभीर संपादकीय लेख, उसकी चुभती हुई टिप्पणियाँ, हृदयग्राही कविताएँ, उसका सुरुचिपूर्ण समाचार संग्रह एवं अत्याचार तथा अन्यायों पर खुला वार करने की उसकी नीति आदि के कारण वह लोगों की श्रद्धा और सम्मान का पात्र बन गया। 'प्रताप' अति उग्रवादी एवं स्वतंत्रता देवी का उपासक लोकप्रिय पत्र था। इसका प्रभाव न केवल

उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषा-भाषियों पर था, अपितु यह अपनी क्रांतिकारिता एवं स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा के कारण उत्तर भारत का एक प्रमुख राजनीतिक पत्र बन गया था। राजनीतिक विचारों एवं स्वतंत्रता के प्रति समर्पण की भावना ने 'प्रताप' को अंग्रेजी सरकार का घोर विरोधी बना दिया था। यह इतना लोकप्रिय हो गया था कि 1919 में इसकी प्रसार संख्या 9,000 थी।

शुरू में विद्यार्थीजी ने लोकमान्य तिलक को अपना राजनैतिक गुरु माना और उन्हीं के पद चिह्नों पर चलते थे, बाद में गांधीजी की छाप पड़ी और फिर लोकमान्य के भक्त होने के साथ गांधीजी के भी अनुयायी हो गए। लखनऊ कांग्रेस (1916) के बाद गांधीजी कानपुर आए तो 'प्रताप' की ओर से गांधीजी का अभिनंदन किया गया। तभी महात्माजी ने भविष्यवाणी की थी, ''एक दिन 'प्रताप' भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अग्रदूत होगा।'' उनकी वाणी सत्य हुई। 'प्रताप' समय की कसौटी पर खरा उतरा।

अन्याय और अत्याचार के ऊपर और स्वाभिमान पर आघात पहुँचते समय तो मानो उन्हें स्वभावतः क्रोध हो आता था। सरकारी अधिकारियों, पुलिसवालों अथवा समाज के व्यक्ति विशेषों की ज्यादतियों को देखकर उनका चेहरा लाल हो उठता। बड़े से बड़े अधिकारी और तानाशाह की भी वे कोई परवाह नहीं करते थे और मौके पर करारी फटकार भी सुना देते थे। अधिकारियों के बारे में कहते थे कि, ''वे सार्वजनिक नौकर हैं, सेवक होकर रहें, वे शाह बन कर अपने स्वामियों प्रजा पर ही लाल-पीले क्यों पड़ते हैं?''

स्वतंत्रता आंदोलन में कानपुर के साप्ताहिक 'प्रताप' के संचालकों ने भी कठिनाइयों की कुछ भी परवाह न करके मातृ मंदिर की सेवा में दैनिक पुष्प चढ़ाने का संकल्प किया। इसी संकल्प के अनुसार विद्यार्थीजी के संपादकत्व में 23 नवंबर, 1920 को 'प्रताप' का दैनिक संस्करण निकलने लगा। साप्ताहिक की तरह ही दैनिक 'प्रताप' भी राष्ट्रवादी था और निरंकुश तथा अत्याचारी शासकों का घोर विरोधी। उसकी यह नीति ही उसका सबसे बड़ा अपराध था, जिसका कुपरिणाम उसे भुगतना पड़ा।

सरकार और नौकरशाही के अतिरिक्त देशी रियासतों की भी उस पर 'कृपा' हुई और सात-आठ रियासतों ने अपने यहाँ 'प्रताप' का प्रवेश निषिद्ध कर दिया। सत्य और न्याय के सिद्धांतों पर अडिग रहते हुए स्वाधीनता संग्राम में लगे रहने की प्रेरणा देते हुई 'बलिवेदी की ओर' शीर्षक 'प्रताप' के अग्रलेख के कुछ

अंश द्रष्टव्य हैं—

"हमारे सिरों पर प्रहार होते हों, तो हों। बिजलियाँ गिरती हों, तो गिरें। परंतु हमारे व्यवहार में न नरमी आए और न शिथिलता हो। हम डटे रहें वहीं पर, जहाँ पर हम डटे हुए हैं। हमारी दृष्टि रहे उसी लक्ष्य पर, जिस पर वह लगी हुई है। प्रहारों की मार से इनमें कोई अंतर न पड़े, और अंत में प्रहार करनेवाले हाथों में शिथिलता आएगी और उसके साथ ही निश्चय रूप से आएगी हमारी अंतिम विजय की सूचना।"

सन् 1921 में रायबरेली में किसान आंदोलन को कुचलने के लिए भीषण गोली कांड हुआ, जिसमें अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हई। विद्यार्थीजी ने 'प्रताप' के माध्यम से किसानों की दुर्दशा का स्पष्ट चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करके सरकार, ताल्लुकेदारों तथा जमीदारों का भंडाफोड़ किया। दमन के इस प्रवाह में गणेशजी की लेखनी अग्निवर्षा कर रही थी। रायबरेली के ताल्लुकेदार सरदार वीरपाल सिंह ने 13 तथा 19 जनवरी, 1921 के दैनिक 'प्रताप' के लेखों को अपने लिए अपमानजनक मानकर 'प्रताप' पर मानहानि का मुकदमा चला दिया।

इस मुकदमे ने एक बड़ा राजनैतिक रूप धारण कर लिया था। लोग बड़ी उत्सुकता से इसकी कार्यवाही में रुचि लेते थे। इस मुकदमें में सफाई के पचास गवाह प्रस्तुत हुए, जिनमें पं. मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सी.एस. रंगाअय्यर, श्री कृष्ण मेहता एवं डॉ. अवंतिका प्रसाद जैसे राष्ट्रीय नेता भी थे। इस मुकदमे में 'प्रताप' की पराजय हुई। 'प्रताप' संपादक विद्यार्थीजी और प्रकाशक शिवनारायण मिश्रजी को तीन-तीन माह की कैद तथा पाँच-पाँच सौ रुपए जुर्माना का दंड मिला। यद्यपि इस मुकदमे में 'प्रताप' की पराजय हुई, तथापि वह अपने उद्देश्य में सफल रहा। नौकरशाही ने 27 अप्रैल, 1921 को गणेशजी एवं मिश्रजी को क्रमशः पाँच-पाँच हजार के मुचलके और दस-दस हजार रुपए की दो जमानतें देने का आदेश दिया। इसका कारण बताया गया कि किसानों की अशांति के संबंध में लेख लिख और प्रकाशित कर राजद्रोह का प्रचार किया गया तथा सम्राट की प्रजा में द्वेष फैलाया गया। विद्यार्थीजी को जेल जाना पड़ा।

फतेहपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण के कारण, गणेशजी को 1923 में पुनः कारागृह जाना पड़ा। 'प्रताप' पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आईं, परंतु उसके जन्मदाता अपने पथ पर अडिग रहे। यद्यपि अंग्रेज सरकार के न्यायालय में 'प्रताप' की पराजय हुई, परंतु विश्व की वास्तविक अदालत

में 'प्रताप' सिर-आँखों पर चढ़ गया। उसके सम्मान में कोई अंतर नहीं आया और उसकी ग्राहक संख्या बढ़कर 14 हजार तक हो गई।

गणेशजी का गिरता हुआ स्वास्थ्य देखकर मित्रों ने क्षमा माँगने के लिए दबाव डाला, परंतु उन्होंने क्षमा माँगना सीखा ही नहीं था। उनका जीवन तो 'तलवार की धार धावनो' का साकार रूप था।

उनकी पत्नी ने बधाई देते हुए लिखा था, ''मैं कर्तव्य करते हुए तुम्हारी मृत्यु भी पसंद करूँगी और इस निश्चय के लिए तुम्हें बधाई देती हूँ।''

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने, अपनी-अपनी लीला पुस्तक में उन्हीं को लक्ष्य करके, लिखा था—

''क्षमा चाहने वाला काम
कभी नहीं करता है राम।''

गणेशजी के लिखने की अपनी एक खास शैली थी। गणेशजी के लेखों में वजन होता था। गूढ़ तत्वों को सीधे-सादे ढंग से व्यक्त करने में वे बहुत कुशल थे। उनकी भाषा में प्रवाह होता था, उपयुक्त शब्दों को रखने का एक निराला ढंग था। उनकी लेखों की एक-एक पंक्ति से ओजस्विता और राष्ट्रीयता टपकती थी। लेखों के लेखन के संबंध में वे कहा करते थे, ''लेखक पहले यह समझ ले कि वह पाठकों के सामने क्या बात पेश करना चाहता है, फिर वह उन बातों को इस ढंग से प्रकट करे कि, जैसे उस लेख को पढ़ने वाला इस विषय में पहले से कुछ जानता ही नहीं।''

देहात की अनपढ़ जनता इसीलिए 'प्रताप' पर फिदा रहती थी। 'प्रताप' की भाषा को गणेशजी टकसाली भाषा कहा करते थे। उनकी भाषा के संबंध में पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है, ''गणेशशंकर की भाषा में नए-नए शब्द, ऐसे चुभते हुए मुहावरे इस्तेमाल होते, ऐसी लोचभरी शैली होती, वर्णन का ढंग इतना आकर्षक होता, और होता उनमें ऐसा ओज कि उनकी लिखी हुई लकीरें पाठकों के हृदय में बिजली की सी रेखा करती चली जाती थीं।''

बहुत कम लोगों को शायद पता होगा कि प्रेमचंद को हिंदी में खींच लाने का बड़ा श्रेय विद्यार्थीजी को था। उर्दू 'जमाना' के संपादक मुंशी दयानारायण निगम ने उर्दू में 'प्रेम-पचीसी' के नाम से एक कहानी संग्रह निकाला था। विद्यार्थीजी ने उसे पढ़ा और प्रेमचंद की प्रतिभा के कायल हो गए। महावीर

प्रसाद पोद्दार ने 'नर्मदा' (अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी स्मृति अंक) के अपने संस्मरण में लिखा है कि विद्यार्थीजी ने मुझे लिखा, ''बस्ती से गोरखपुर के नॉर्मल स्कूल में श्री धनपतराय नाम के एक अध्यापक गए हैं। उर्दू के वे जबर्दस्त लेखक हैं। तुम उन्हें हिंदी में लाने की कोशिश करो…''

राजनीति, साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में भी वे क्रांतिकारी तथा सहृदय थे। 'आज' के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर एक विधवा से विवाह करना चाहते थे। इस कार्य में विद्यार्थीजी ने पराड़करजी को पूर्ण उत्साहित किया, सहयोग दिया, व्यवस्था की और कानपुर में विवाह संपन्न कराया।

सन् 1913 से 1930 तक देश में कोई भी ऐसा आंदोलन नहीं हुआ जिसका प्रसार-प्रचार और आंशिक नेतृत्व विद्यार्थीजी और उनके 'प्रताप' ने न किया हो। 24 मार्च, 1931 को कानपुर में सांप्रदायिक दंगा आरंभ हुआ, बड़ी जल्दी उसने प्रलयंकारी रूप धारण कर लिया। पाँव में जूता नहीं, हाथ में छड़ी नहीं, सिर्फ एक कुरता पहने विद्यार्थीजी इधर-उधर दौड़कर लोगों को समझाकर आवेश-उत्तेजना को रोककर लोगों की रक्षा कर रहे थे। परंतु भीड़ में किसी ने विद्यार्थीजी पर हमला किया, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। इस पर पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा था, ''पत्रकार कला विधवा हो गई।'' अपनी मृत्यु के कुछ दिवस पूर्व ही 'प्रताप' में 'अंत का आरंभ' शीर्षक संपादकीय टिप्पणी लिखकर, गणेशजी ने अपने अंत की परोक्ष सूचना दे दी थी।

'प्रताप' ने हिंदू-मुसलिम ऐक्य की स्थापना का जो व्रत क्रियान्वित किया था, उसे उसके अमर संस्थापक ने अपने ही जीवन में यथार्थ बनाकर, निराकार को साकार कर दिया। इस महाबलिदान के संबंध में महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'यंग इंडिया' में लिखा था, ''उनका खून अंत में दोनों मजहबों को आपस में जोड़ने के लिए सीमेंट का काम करेगा।''



पत्रकार प्रवर गणेशशंकर विद्यार्थी

कैलाशनाथ त्रिपाठी

अन्याय भले ही कितना भी प्रभावशाली द्वारा क्यों न हो, उसका यथार्थपरक विश्लेषण कर जन साधारण को उसके प्रतिकार के लिए सन्नद्ध करना पत्रकार का धर्म होता है। गणेशशंकर विद्यार्थी अपने इस पावन धर्म से कभी च्युत नहीं हुए।

सन् 1924 में महात्मा गांधी ने हिंदू-मुसलिम वैमनस्य पर 'यंग इंडिया' के एक अंक में आर्य समाज, उसके प्रवर्तक स्वामी दयानंद और सत्यार्थ प्रकाश की धार्मिक कट्टरता, संकीर्णता और कलह-प्रियता के लिए टिप्पणी प्रकाशित की। सन् 1924 में गणेशजी महात्मा गांधी के सिद्धांत और उनकी नीतियों के अनुगामी हो चुके थे, लेकिन उन्होंने जहाँ किसी की अस्मिता पर आघात होते देखा, उसका विरोध निर्भयता और निष्पक्षता से किया। गणेशजी ने 'प्रताप' के माध्यम से गांधीजी से प्रश्न किया, "आर्य समाज से जिस संकीर्णता की शिकायत है क्या वह मुसलमानों में नहीं है। इस्लाम जिसकी महात्माजी ने बड़ी तारीफ की है, अपने इतिहास में इतने खूनी पन्ने रखता है जिसका गिनना मुश्किल है। धार्मिक समुदायों के संबंध में महात्माजी निष्पक्ष होकर सभी प्रकार की कट्टरता पर समान प्रहार करें।"

सन् 1929 में हसन शहीद सुहरावर्दी की सलाह पर तत्कालीन बंगाल के अंग्रेज शासकों ने कलकत्ता और पटुआखाली (बारीसाल) में न केवल नमाज के समय, वरन् हर समय मसजिदों के सामने हिंदुओं के बाजा बजाने पर प्रतिबंध लगा दिया। हिंदुओं की नागरिकता के अधिकार पर भेदभावपूर्ण फरमान के विरुद्ध गणेशजी ने, जो हिंदू-मुसलिम एकता के इतने प्रबल पक्षधर थे कि इसी एकता

की बलिवेदी पर उन्होंने अपने प्राण न्योछावर कर दिए थे, अन्याय के प्रतिकार के लिए हिंदू सभा को सत्याग्रह छेड़ने का सुझाव देने में कोई संकोच नहीं किया। उनका यह सुझाव किसी संप्रदाय विशेष के प्रति अनुराग अथवा द्वेष से प्रेरित नहीं था, यह था एक अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध। अन्याय के समक्ष समर्पण करना अथवा उसे बरदाश्त करना विद्यार्थीजी के स्वभाव के विपरीत था।

गणेशजी शोषित वर्ग, किसान-मजदूर, दलित के कल्याण के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा समर्पित थे। हिंदी पत्रों में प्रथम बार 'प्रताप' ने ही रियासतों की प्रजा के दु:ख-दर्द, उन पर हो रहे अत्याचार की भयावह स्थिति के विरुद्ध राजा- महाराजाओं की, कड़ी-से-कड़ी आलोचना की, लेकिन उनके आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए किए गए प्रयास पर उन्हें अयाचित समर्थन भी प्रदान किया।

ज्ञातव्य है, दिल्ली दरबार में वाइसरॉय को सिर झुकाकर सलाम बजाकर उलटे पैरों बिना पीठ दिखाए अपने स्थान पर लौटना पड़ता था। बड़ौदा नरेश संभाजी राव गायकवाड़ को यह परिपाटी आत्म-सम्मान के विरुद्ध प्रतीत हुई। उन्होंने वाइसरॉय को मात्र सामान्य शिष्ट सलामी दी। उसके लिए वे अंग्रेज सरकार के कोपभाजन के साथ देशी नरेशों की आलोचना के भी पात्र बने। गणेशजी ने बड़ौदा नरेश के साहस का जोरदार शब्दों में समर्थन कर देशी राज्यों के नरेशों को उनके आत्म-सम्मान के प्रति ललकारा। विद्यार्थीजी ने पूर्ण रूप से पत्रकार के दायित्व का निर्वाह किया। वे सभी प्रकार के भय, लोभ-लालच से मुक्त रहे। उनके 'प्रताप' के मूल्यों में कभी क्षरण नहीं हुआ। वे जन-जागृति के सजग प्रहरी बने।

गणेशजी लोकमान्य तिलक को अपना राजनैतिक गुरु मानते थे और उनके उग्र और जोशीले विचारों के पोषक थे। गांधीजी का सत्य एवं अहिंसा का मंत्र लोकमान्य तिलक की क्रांतिकारी नीतिज्ञता से मेल नहीं खाता था। दूसरी ओर गांधीजी का प्रभाव भारत में शनै:-शनै: फैल रहा था। देश की जनता उनकी योजनाओं, कार्यक्रमों तथा विचारों की ओर आकर्षित होने लगी थी। गणेशजी लोकमान्य के प्रति निष्ठा रखने के साथ-साथ गांधीजी के प्रति भी अनुरक्त हो गए। उस समय गणेशजी ने गांधीजी की अहिंसा को नीति रूप में स्वीकार किया। उनका यह वाक्य स्मरणीय है—

''मैं नॉन वायलेंस (अहिंसा) को शुरू से ही अपनी पॉलिसी मानता रहा

हूँ, धर्म नहीं मानता रहा। निःसंदेह मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ और टाल्स्टाय एवं महात्मा गांधी पूर्ण अहिंसा को जिस अर्थ में धार्मिक सिद्धांत मानते हैं उस अर्थ में मैं उस पर विश्वास नहीं करता हूँ।'' विश्व की बदलती हुई तत्कालीन परिस्थितियों, संहारमूलक नए-नए वैज्ञानिक अनुसंधानों ने उनके अहिंसा संबंधी विचारों में परिवर्तन उपस्थित कर दिया। 1 दिसंबर, 1929 के 'प्रताप' में उनके लिखे वाक्य द्रष्टव्य हैं—''विज्ञान ने वर्तमान रणशैली को बहुत भयंकर बना दिया है। उसमें वीरता नहीं रही। उसमें पशुता और हत्या का राज है। उसके मुकाबले हमारे जैसे शताब्दियों से निःशस्त्र लोगों का खड़ा भी रह पाना असंभव है। हमारे लिए तो अहिंसा ही परम अस्त्र है।''

अपने जीवन के उत्तरकाल में उनको यह विश्वास हो गया था कि एकमात्र अहिंसा से ही पाशविक शक्तियों से मुकाबला किया जा सकता है एवं आत्म-बलिदान द्वारा बर्बर और हिंसात्मक शक्तियों को चुनौती दी जा सकती है तथा उनके मानस को परिवर्तित किया जा सकता है। गणेशजी का महान् बलिदान उनकी इस मान्यता को सिद्ध करता है! जिस निरासक्त भाव से उन्होंने 25 मार्च, 1931 को कानपुर में सांप्रदायिक विद्वेष की होली में अपनी आहुति दी उससे प्रकट होता है कि गांधी की अहिंसा को उन्होंने अपने जीवन में ही सिद्ध कर लिया था और वे एक जीवनमुक्त की भाँति अपने कर्तव्यों के पालन में तल्लीन थे।

अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से विद्यार्थीजी ने कहा था, ''हिंदी राष्ट्र भाषा बने, इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हिंदू होने के नाते हिंदी सीखें। मेरे लिए हिंदी एक संस्कृति का प्रतीक है और केवल हिंदी के द्वारा ही बिखरे भारत में एकत्व की भावना भरी जा सकती है और सबको एक सूत्र में आबद्ध कराने का हिंदी एकमेव साधन है।'' गंगा-जमुनी संस्कृति के नाम पर राजनीतिक स्वार्थ की आड़ में हिंदी पर दूसरी भाषा थोपने वालों को गणेशजी के उपरोक्त कथन से सबक लेना चाहिए।

'सरस्वती', 'अभ्युदय', 'प्रताप' और 'प्रभा' के माध्यम से गणेशजी ने साहित्य सृजन किया। उनके लेख स्थायी महत्त्व के निबंध हैं, जिनमें भाषा-शैली की प्रौढ़ता और मौलिक चिंतन के दर्शन होते हैं। उनके लेखों में पराधीनता, दलितों की दीनावस्था और देश के करोड़ों किसान/मजदूरों की दर्दनाक स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत है। गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को सीधे-सादे रूप में व्यक्त

कर देना उनकी अपनी शैली थी। भाषा प्रवाह और शब्दों का चयन उनकी विशेषता थी। गणेशजी जानते थे कि असली भारत गाँवों में बसता है, इसलिए वे लोक भाषा के देशज शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से करते थे। सर्वसाधारण की भाषा में मुहावरों का प्रयोग—चूँ चपड़ करना, बिलैया दंडवत, छुरी फेर देना, अंधे की लकड़ी, कान न देना, दबसट, टर्र छोड़ना, दान की बछिया, फटाफट ऐसे प्रचलित मुहावरों के प्रयोग में उन्हें महारत हासिल थी। अपने लेखों में उन्होंने अंग्रेजी और उर्दू का प्रयोग भी बड़ी खूबी से किया है। वे जितने महान् पत्रकार थे, उतने ही महान् साहित्यकार भी थे। हिंदी के पाठ्यक्रम में उनके महान् अवदान का अभाव जितना विचारणीय है, उतना ही शोचनीय भी।

क्रांतिकारियों के तो गणेशजी पालक-पोषक थे ही, वे अद्‌भुत उदार दान दाता भी थे। जेलों में बंद न जाने कितने देशसेवकों, क्रांतिकारियों, सत्याग्रहियों के पालन एवं योग-क्षेम की जिम्मेदारी गणेशजी पर ही रहती थी। अपने लिए उदासीन, किंतु दूसरों के लिए कर्ण के समान उदार एवं सहायता में सदैव तत्पर उनके जैसा व्यक्ति दुर्लभ है। भारत में ब्रिटिश सत्ता के संहार के लिए वे आजीवन लड़ते रहे, उन्होंने कभी क्षण भर का विश्राम नहीं किया।

ऐसा लगता है कि आत्मबलि की भावना को उन्होंने अपने जीवन में आत्मसात कर लिया था। वे सच्चे सिपाही एवं जन्मजात सत्याग्रही की भाँति दानवी शक्तियों से जीवन भर जूझते रहे। भारतीय जनमानस की यह भावना, यह आत्मप्रेरित अनुशासन, गांधी युग की ऐसी शक्ति थी जिसने अंतत: 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का अमोघ मंत्र दिया। स्वतंत्र भारत गणेशजी जैसे हुतात्माओं के बलिदान से ही उत्पन्न हुआ है।



घर में शहीद हो गए

मनोज कपूर

हरदोई जेल से मार्च 1931 में गणेशजी ने अपनी पुत्री को लिखा था—"हम लोग धर्म का काम कर रहे हैं, हम सबको संतोष होना चाहिए कि हमें जो कष्ट झेलना पड़ रहा है, वह किसी पाप कर्म के लिए नहीं है।" (गणेशशंकर विद्यार्थी संचयन, पृष्ठ 205)

सन् 1911 से 'आत्मोत्सर्ग' के समर्थक गणेशजी समय-समय पर इस भाव का स्मरण करते और आत्मा को जगाते रहते थे, जैसा कि गणेशजी ने 'प्रताप' के प्रवेशांक में 9 सितंबर 1913 के संपादकीय में महाराणा प्रताप की बलिदान-निष्ठा को अपना आदर्श माना था। साथ ही अपने मार्ग की प्रस्तावना भी कर दी थी—"लेकिन जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाए कि अपने आदर्श से डिग जाएँ...वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा।"

यदि गणेशजी की शहादत की अंतर्कथा का विश्लेषण करें तो गणेशजी का विशिष्ट व्यक्तित्व दिखाई पड़ेगा। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक स्थितियों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि 'गणेशजी मारे गए' न कहकर कहना चाहिए—"तत्कालीन शहर प्रशासन ने अपने जाल में फँसा कर मरवा दिया।" यही निष्कर्ष कांग्रेस कमेटी द्वारा नियुक्त जाँच कमेटी का भी ज्ञात होता है, जिसके चेयरमैन डॉ. भगवानदास थे। वास्तविकता यह है कि सरकार ने स्वयं अपनी जाँच में भी पाया कि प्रशासन ने शांति स्थापनार्थ जानेवाले लोगों की सुरक्षा की कोई व्यवस्था नहीं की थी तथा शहर को गुंडों के हाथ में जाने से रोकने के लिए अपर्याप्त पुलिस बल होने का चलताऊ बहाना ओढ़ा।

सन् 1923-25 का दौर प्राय: सांप्रदायिक विचारों के जड़ जमाने का दिखाई

देता है। इधर कानपुर से 'मित्र' नामक पत्र भी शुद्धि आंदोलन के प्रचारार्थ 1925 में प्रकाशित हुआ, उधर लखनऊ से 1924 में 'शैतान' नामक पत्र निकला था। सरकारी रिपोर्टों से प्रकट है कि शुद्धि और संगठन का यह अभियान समाज की समरसता को भंग करने में सफल रहा। इसी कालखंड में 23 दिसंबर, 1926 को स्वामी श्रद्धानंद की हत्या हो गई। इस घटना से राजनीतिक गतिविधियों पर गहरा प्रभाव पड़ा, वे सांप्रदायिक समस्या से जुड़ गईं।

सन् 1927 से 1929 के मध्य गणेशजी ने कॉउंसिल का चुनाव जीतकर कॉउंसिल में अपने वक्तव्यों और प्रश्नों के द्वारा सरकार की दुरंगी तथा जनविरोधी नीतियों का सरकारी मंच पर विरोध किया। परिणामस्वरूप अन्य प्रांतीय नेताओं में उनका कद ऊँचा उठा और जनता उनको अपना सच्चा संरक्षक समझने लगी। इससे कांग्रेस के कार्यक्रमों में जनता की भीड़ बढ़ने लगी और पुलिस परेशान रहने लगी।

किंतु कानपुर तो बारूद के ढेर पर था। कानपुर में फौजी कारणों और रईसी की शान की रक्षा हेतु तवायफों का बहुत बड़ा समूह शहर के बीचो-बीच पनप रहा था। इनके कारण छोटे-मोटे झगड़े बहुधा होते ही रहते थे। भगाई गई लड़कियों के धर्म और जाति को लेकर भी तनाव हो जाता था। इससे शहर के प्रमुख लोगों में दलबंदी हो जाती थी। शहर में पचीसों अखाड़े थे, जिनके नवयुवक 'पट्ठे' नाग पंचमी आदि अवसरों पर कुश्तियों में अपनी कला और ताकत आजमाते थे, परंतु जय-पराजय को खेल भावना से न लेकर 'धर्म' की पराजय का घिनौना रूप दे देते थे। नए पट्ठों में यह उग्रता प्रबल थी। ये ही लड़के लाठी और कांता-बल्लम के खेल दिखाने के नाम पर छोटे-छोटे उपद्रव भी करते थे। दशहरा, होली, मुहर्रम, ईद-बकरीद पर इनके आश्चर्यजनक करतब देख लोग आशंकित होते थे। जुलूस या रथयात्रा के अवसर पर प्रति वर्ष विशेष कमेटियाँ बनाकर 'आपसी भाईचारा' बनाए रखने का प्रयास जारी रहता था। 'गो-वध' का मुद्दा भी अकसर उबाल ला देता था। इन कारणों का खुलासा करने और पुलिस की आलोचना से इसी काल में साप्ताहिक 'प्रताप' की लोकप्रियता बढ़ती गई, जिससे चिढ़कर सरकार ने कई बार 'प्रताप' को बंद कराने हेतु चेतावनीपूर्ण कार्यवाहियाँ की। गणेशजी इस कारण पुलिस की आँख का काँटा बन गए थे।

गणेशजी की कई बार की जेल यात्रा के बाद भी 'प्रताप' की शक्ति और

बढ़ती गई। उनके लेखों में धार और पैनापन बढ़ गया। 24 मार्च, 1930 को उन्हें सरकार ने 'पाबंद' कर मुकदमें में फँसा दिया। मार्च 1931 में वे जेल से छूट कर आए थे। तब तक 'प्रताप' के लेखों ने सरकार का इकबाल और भय काफी ध्वस्त कर दिया था। 'किसानों को पीसने की तैयारी' (जून 1926) आदि लेखों से सरकार उनसे रुष्ट हो गई थी। गणेशजी ने कांग्रेस की नीतियों से जनता को जोड़ा तथा कई-कई मोरचों पर आगे बढ़े, जैसे 'जनता को सांस्कृतिक मोरचों से जोड़ा, सामंतवाद के खिलाफ, पूँजीपति वर्ग के खिलाफ, धार्मिक कट्टरता के खिलाफ, औपनिवेशिक शिक्षा और संस्कृति के खिलाफ', (गणेशशंकर विद्यार्थी संचयन, पृ. 3) और इस लड़ाई में आम आदमी गणेशजी के साथ तथा प्रतिगामी तत्त्व सरकार के पक्ष में कार्यरत थे। इतिहास के पन्ने गवाह हैं कि उपर्युक्त सामाजिक-सांस्कृतिक अतिवादी माहौल में गणेशजी सांप्रदायिकता के विरुद्ध, धार्मिक कट्टरतावाद के विरुद्ध सन् 1914 में ही डट गए थे। सांप्रदायिकता पर गणेशजी के लगभग सौ लेख मिलते हैं। इनमें से कुछ शीर्षक हैं—'बज-बज का दंगा' (01.02.1915), 'एक राहुग्रस्त राष्ट्र' (03.02.1915), 'मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन' (10.04.1915), 'स्वराज्य के अब्राह्मण विरोधी' (07.05.1915), 'खिलाफत की आत्मा' (10.03.1924), 'हिंदू महासभा से' (15.05.1924), 'हिंदू-मुसलिम विद्वेष और भारत सरकार' (25.07.1926) आदि। रामप्रसाद बिस्मिल की डायरी और फोटो गणेशजी जेल से लाए, फाँसी पाए वीरों पर 'ये दीवाने' लेख लिखा तथा भगतसिंह आदि की सहायता के कार्य तो चलते ही थे। गणेशजी के इन लेखों का तीखापन धर्मांधों की आँख में कंकरी तो थी ही, उनकी सरपरस्त सरकार की भी बड़ी किरकिरी इनसे होती थी।

मार्च, 1931 के उत्तरार्द्ध में कानपुर के प्रमुख कांग्रेसी कराची गए थे। शहर कोतवाल गुलाम हुसैन ने गणेशजी को कानपुर न छोड़ने का निर्देश दिया था, अत: वे नगर में ही थे। कराची में सरदार पटेल की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन निर्धारित था। उसी दिन भगतसिंह को फाँसी लगनी थी। इसलिए शहर कानपुर में तनाव व सरगरमी थी। कानपुर में 24 मार्च, 1931 की शाम तीन बजे कांग्रेस का जुलूस उठाने की घोषणा की गई। कोतवाल ने गणेशजी को इसके लिए मना किया, जिसे गणेशजी ने अस्वीकार कर दिया।

पहले उल्लेख किया जा चुका है, सरदार भगतसिंह व अन्य को फाँसी 24 मार्च, 1931 को निर्धारित थी। भगतसिंह जो गणेशजी के साथ 'प्रताप' में

काम कर चुके थे, जेल से लगातार बयान देकर और भूख हड़तालों से सरकार के साथ-साथ कांग्रेसियों के लिए भी सरदर्द हो रहे थे। उनको दी गई सजाएँ आजीवन कारावास में बदली जाएँ, जनता यही चाहती थी। नारे लगते थे, "गर भगतसिंह फाँसी चढ़ाए जाएँगे, तो ये गोरे बम से उड़ाए जाएँगे।" 11 फरवरी, 1931 को इन फाँसियों के आदेश के विरुद्ध कानपुर नगर में अत्यधिक सफल आम हड़ताल रही। हस्ताक्षर कराए जा रहे थे कि इन्हें छोड़ा जाए। कांग्रेसी भी इस अभियान में सम्मिलित थे। पुलिस और कलेक्टर इससे चिढ़ रहे थे।

तभी 23 मार्च, 1931 की रात में भारत सरकार ने स्वयं अपने बनाए कानून का उल्लंघन कर लाहौर जेल में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी दे दी। इतना ही नहीं उनके शवों के साथ भी अपमानजनक व्यवहार किया गया, इससे अधिक दर्दनाक क्या हो सकता था?

भगतसिंह आदि को अन्यायपूर्ण तरीके से फाँसी देकर शवों के अपमान करने का समाचार 24 मार्च को कानपुर में फैल गया। सारा शहर एक विचित्र आक्रोश और बेबसी में फँस गया। बिना किसी एलान के दुकानें बंद, बाजारों में सन्नाटा, स्कूल-कॉलेज खुले नहीं, मिलों के मजदूरों ने काम ठप कर दिया। बात की बात में हजारों नाराज नगरवासी कलक्टरगंज स्थित कोतवाली (वर्तमान में जहाँ थाना है) के सामने एकत्र हो गए। ईंट-पत्थर बरसने लगे। ट्राम की पटरी, सड़क ईंट-पत्थर से पट गई। अंग्रेज अधिकारी, अंग्रेजों के हितचिंतक भारतीय अपने बँगलों-घरों में दुबक गए। थाने की पुलिस फाटक बंद करके जनता के घातक हमले की प्रतीक्षा करने लगी।

दूसरी ओर, खुफिया पुलिस ने अपनी योजना पहले ही बना रखी थी। पुलिस के पालतू गुंडे दो-दो, चार-चार करके चिल्लाते हुए भागते नजर आए। 'हाय मार डाला', 'हिंदुओं ने हमला कर दिया', 'मुसलमानों से खून का बदला लेंगे' आदि की आवाजों के साथ लाल रंग से नहाए इन शैतानों ने शहर में दंगे की आग भड़का दी। कोतवाल ने सारी पुलिस को समेटकर अंग्रेजों की दुकानों-मकानों की रक्षा में लगा दिया। शहर इस तरह गुंडों-दंगाइयों की गिरफ्त में आ गया। श्री विक्रमाजीत सिंह ने कई बार पुलिस को फोन किए—कोई सुरक्षा नहीं थी।

गणेशजी जेल से आकर बुखार में पड़े थे। वे बुखार की हालत में ही 24 मार्च को दिन भर बचाव करते हुए इधर-उधर लोगों को शांत करते घूम

रहे थे। बादशाहीनाका, मूलगंज, इटावा बाजार, अनवरगंज, चौबेगोला, परेड, मछली बाजार में नरसंहार हुआ और भी लोगों ने जनता को समझाने व बचाने का प्रयास किया। अंत में गणेशजी जब शहर कोतवाल से मिले, तो उसका उत्तर था, 'अपने गांधी को बुलाइए'। गणेशजी ने कहा, ''इसके लिए गांधीजी को तकलीफ देने की क्या जरूरत है? मैं ही काफी हूँ।''

और कोतवाल के उत्तर से हताश-निराश कांग्रेसी मित्रों को लेकर गणेशजी पूरे दिन बचाव कार्य करते रहे। पुलिस के बिछाए जाल से अभी वे बाहर थे। 25 मार्च को वे नंगे पाँव, नंगे सिर सुबह से राहत कार्य में व्यस्त हो गए और शाम चार बजे जब वे चौबेगोला में थे, स्त्रियों की चीखें सुनकर नई सड़क की ओर मुड़े। तभी भीड़ ने उन्हें घेर लिया और अमृतलाल नागर ने लिखा, ''वे (गणेशजी) अपने घर यानी शहर में शहीद हो गए।'' क्या आत्मोत्सर्ग का यही आशय था?



घर में शहीद हो गए

भाषा की आज़ादी के समर्थक

कुमार दिनेश प्रियमन

भाषा और शिक्षा के सवालों पर स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान ही जिन जननायकों, विचारकों व शिक्षाशास्त्रियों ने चिंतन किया था उनमें अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम हमेशा स्मरणीय रहेगा। कानपुर में सांप्रदायिक एकता के लिए बलिदान हुए विद्यार्थीजी ने हमें तब चेताया था, ''मुझे देश की आजादी और भाषा की आजादी में से किसी एक को चुनना पड़े तो मैं निःसंकोच भाषा की आजादी चुनूँगा, क्योंकि मैं फायदे में रहूँगा। देश की आजादी के बावजूद भाषा की गुलामी रह सकती है, लेकिन अगर भाषा की आजादी हुई तो देश गुलाम नहीं रह सकता।''

भारत एक विशाल देश है। यहाँ 114 भाषाएँ, 216 उपभाषाएँ व हजारों बोलियाँ हैं। भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में आज देश की 22 प्रमुख भाषाएँ हैं। इन सभी की अपनी-अपनी उपभाषाएँ व बोलियाँ हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार 48 से अधिक बोलियों और भाषाओं को हिंदी के अंतर्गत माना गया है। भारत की कुल जनसंख्या के 39.85 प्रतिशत से अधिक लोगों की मातृभाषा हिंदी है। हिंदी की इस व्यापकता के कारण ही आजादी के संघर्ष के समय से हमारे अधिकांश जननायकों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की जोरदार सिफारिश की थी।

भाषा और शिक्षा, भारतीय समाज की इन दो बड़ी कमजोरियों ने हमें इस हद तक खोखला कर रखा है कि हम आज तक न वास्तविक प्रगति की प्राथमिकता तय कर पाए न अपना राष्ट्रीय चरित्र बना पाए। सच्चाई तो यह है कि इधर पिछले दो दशकों से बाजारवादी ताकतों ने वैश्वीकरण के नाम पर

आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में जो नई मुसीबतें पैदा की हैं, उनसे हमारी परेशानियाँ कई गुना बढ़ गई हैं। खासकर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय आदर्शों-मूल्यों का तिरोधान भयावह है। क्या यह वही गति है जिसकी योजना ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बहुत पहले बनाई थी?

ब्रिटिश पार्लियामेंट में 2 फरवरी, 1835 को लॉर्ड मैकाले द्वारा दिया गया भाषण याद कीजिए, ''मैं पूरे भारत में घूमा हूँ और मैंने एक भी भिखारी या चोर नहीं देखा। मैंने इस देश में ऐसी संपत्ति और ऐसे ऊँचे नैतिक मूल्य देखे हैं; ऐसे उच्चकोटि के लोग जिनके ऊपर मैं नहीं मानता हूँ कि इस देश पर हम कभी कब्जा कर सके, सिवाय इसके कि हम इस राष्ट्र की कमर तोड़े जो उनकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत है और इसलिए मैं सुझाव देता हूँ कि उनकी पौराणिक शिक्षा पद्धति और उनकी संस्कृति को बदलें। इसलिए ऐसा करें कि भारतीयों को ऐसा लगे कि जो परदेशी और अंग्रेजी है वह अपनी भारतीय संस्कृति से ऊँची और ज्यादा अच्छी है। जिनसे बाद में वे लोग अपना आत्म गौरव गवाएँगे और हम चाहते हैं तब भारत हमारे नियंत्रण का राष्ट्र बनेगा।'' क्या मैकाले के इस कथन से कुछ सीखने के लिए आज भी हम तैयार हैं? यह कितना दु:खद है कि हम आज भी अपनी भाषा और शिक्षा पद्धति के सवालों को हल करने के बजाय उसे उलझाए रखने में ही लगे हुए हैं। पतनशील राजनीतिक नेतृत्व से तो अब कोई अपेक्षा भी व्यर्थ और हास्यास्पद लगती है।

गणेशजी मानते थे कि भाषा अगर स्वतंत्र रहेगी (अंग्रेजों के दबाव से बाहर होगी) तो स्वतंत्रता अपने-आप आएगी; इतिहास इसका साक्षी है। फ्रांस, ऑस्ट्रिया इसके उदाहरण हैं। स्वराज्य और भाषा का अंतस्संबंध गणेशजी के मन में साफ तौर पर था और विद्यार्थीजी यह भी मानते थे कि हिंदी के नवीन साहित्य में राष्ट्रीयता का स्वर प्रमुख होना चाहिए। 'प्रताप' के सभी विशेषांक इसके उदाहरण हैं। यह भी सत्य है कि 'प्रताप' ने प्रारंभ से ही देश के गरीब व ग्रामीण लोगों में हिंदी और अखबार पढ़ने का शौक पैदा किया। 'प्रताप' के पुराने अंक जैसे 1914 का राष्ट्रीय अंक या सन् 1921 जनवरी के अंक में छपी सूचनाओं और विषय सूची से 'प्रताप' व गणेशजी की भाषा-साहित्य नीति का पता चलता है।

मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', हरिभाऊ उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, दशरथप्रसाद द्विवेदी आदि उनके राष्ट्रभाषा संबंधी विचारों के ध्वजवाहक

थे। राष्ट्रभाषा के रूप में 'हिंदी' ही हो सकती है या होनी चाहिए, इस विषय में गणेशजी के मन में कोई दुविधा न थी। वे इससे भी आगे बढ़कर यह भी चाहते थे कि देवनागरी लिपि ही देश की सभी भाषाओं की साझी लिपि बने।

लखनऊ में कांग्रेस अधिवेशन के समय ऐसा एक प्रस्ताव ऑल इंडिया कॉमन स्क्रिप्ट एंड कॉमन लैंग्वेज कॉन्फ्रेंस 1916 ई. में पास कराया गया था। इसके संयोजक गणेशशंकर विद्यार्थी थे। इसी में निर्णय लिया गया था, दक्षिण भारत में हिंदी प्रचारक भेजे जाएँ।

गणेशजी ने इस कार्य को 'प्रताप' के द्वारा पूरा करने में सहायता की तथा कांग्रेस की पूरी कार्यवाही कानपुर महाधिवेशन में 1925 में हिंदी में कराई, जबकि इस कांग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती सरोजनी नायडू थीं, जिनकी अंग्रेजी कविता की धूम विदेशों तक में थी। गणेशजी का यह प्रभाव था। भाषा और शिक्षा के सवाल गणेशजी ने इसीलिए उठाए थे।



खंड-2

उनके संस्मरण

उनके संस्मरण

गणेशजी के संस्मरणों का यह खंड देश के निर्माताओं, श्रेष्ठ पुरुषों और 'प्रताप' की निरंतर उन्नति व संकट के साक्षी व्यक्तियों के अनुभवों से संकलित है।

न्याय के पथ पर एक बार पैर धरने के बाद वे पीछे नहीं हटे, हालाँकि मनुष्य के रूप में वे आवश्यक चतुरता और विरोधियों को परास्त तक करने में पीछे न थे, परंतु समस्त संस्मरणकर्ताओं ने जिनमें देश के निर्माता, क्रांतिकारी नेता, पत्रकार, सहकर्मी, शव-यात्री व प्रशंसक हैं, माना है कि गणेशजी नररत्न थे और क्रांतिकारियों के मसीहा थे, उनके साथ बीते दिन यादगार थे। उनके संस्मरण हमारे चित्त में सत्यनिष्ठा, परदुःखकातरता, देशप्रेम और निर्भीकता का संचार करते हैं।



आचार्य रामकृष्ण तैलंग

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

उनके संस्मरण

बेशुमार यादें
मन्नीलाल नेवटिया

कुछ संस्मृतियाँ
जगमोहन विकसित

वे फतेहपुर के भी थे
रामलाल अवस्थी

सांकेतिक शब्द
बटुकदेव शर्मा

दूसरा जलियाँवाला
विवेक मिश्र

मेरे गुरुदेव
प्रतापनारायण श्रीवास्तव

सबके आश्रय दाता
शंभूनाथ

'प्रताप' की प्रतापी परंपराएँ
विमला विद्यार्थी

नेताओं का 'दंगल'
गंगासहाय चौबे

ताऊ फिर नहीं लौटे
रविशंकर मेहरोत्रा

सच्चे समाजवादी
सद्‌गुरुशरण अवस्थी

कन्यादानी गणेश
संकलित

धर्म की राजनीति के दुष्परिणाम
चंद्रदत्त तिवारी

शालीनता की मूर्ति
ज्वालादत्त शर्मा

चार अविस्मरणीय प्रसंग
डॉ. गंगानारायण त्रिपाठी

संस्कृति-सचेत मानस की रचना
डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र

क्रांतिकारियों का मसीहा

शिव वर्मा

दुबले-पतले शरीर में कैद एक बहुत बड़ी हस्ती, पद की लालसा से मुक्त, पैसे के प्रलोभन से परे और प्रतिष्ठा की प्यास से कहीं ऊपर—लेखक, पत्रकार, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, वक्ता, संगठनकर्ता, एक छटपटाती आत्मा, न्याय के लिए संघर्ष में सुख अनुभव करने वाला एक समर्पित जीवन, जो आदर्श के लिए जिया और आदर्श की वेदी पर कुरबान हो गया।

गणेशशंकर विद्यार्थी एक बहुमुखी व्यक्तित्व, जिसका काम था—देशवासियों को जगाना, शिक्षित करना, लामबंद करना, आजादी की लड़ाई में उन्हें आगे बढ़ाना, प्रोत्साहित करना और ललकारना। संघर्ष उसका पेशा था और जनसाधारण उसका हथियार।

अपने आदर्श की प्राप्ति में उन्होंने कभी कठमुल्लापन नहीं बरता। उनका दरवाजा अहिंसावादियों और क्रांतिकारियों दोनों के लिए समान रूप से अंत तक खुला रहा। गुलामी, अन्याय, असमानता, शोषण, छुआछूत, सामंती अत्याचार आदि के खिलाफ संघर्ष में ईमानदारी के साथ जूझने वाला हर सिपाही उनका अपना था, भले ही उसके द्वारा अपनाए गए संघर्ष के तौर-तरीके उनसे मेल न खाते हों।

क्रांतिकारियों के प्रति विद्यार्थीजी का बड़ा स्नेह था। वे इन्हें सबसे अधिक त्यागशील तथा तपस्वी राजनैतिक कार्यकर्ता समझते थे। 'प्रताप' में प्राय: क्रांतिकारियों की प्रशंसा में निर्भीक लेख निकला करते थे। देश तथा विदेश स्थित भारतीय क्रांतिकारियों से गणेशजी का अपनत्व का संबंध था और उनसे यथाशक्ति सहायता प्राप्त होती रहती थी। वे पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने काकोरी केस के अभियुक्तों

की सफाई तथा वकालत का प्रबंध किया था। चार को प्राणदंड की सजा सुनाए जाने पर उनको फाँसी से बचाने के लिए सरकार से अनुरोध किया था। इस अनुरोध में उन्होंने सभी राजनैतिक विचारधाराओं के नेताओं की सहमति में हस्ताक्षर प्राप्त किए थे। जब काकोरी केस के साधारण बंदियों ने राजनैतिक बंदी के अधिकार प्राप्त करने के लिए जेलों में अनशन प्रारंभ किया, विद्यार्थीजी जैसे पागल हो उठे थे और जिन-जिन जेलों में वे बंद थे उनमें बराबर मिलने जाया करते थे।

जब जतीनदास ने लाहौर जेल में भूख हड़ताल की, विद्यार्थीजी वहाँ भी गए। उस वीर की दृढ़ता, दृढ़ संकल्प, दुर्बल शरीर को देखकर विद्यार्थीजी को इतना भावावेश हुआ कि एक शब्द भी न कह सके। सरदार भगतसिंह जापान भागना चाहते थे। प्रसिद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बोस भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन में सहायता प्राप्त करने के लिए पंजाब से निकल कर कानपुर पहुँचे और 'प्रताप' प्रेस में काफी दिनों तक ठहरे। विद्यार्थीजी के स्नेह तथा सद्भावना से वे बड़े प्रभावित हुए थे। गणेशजी ने भगतसिंह को 'प्रताप' में क्रांतिकारी विषयों पर जी खोलकर लिखने की अनुमति दे दी थी। उन्हीं दिनों बब्बर अकालियों के खून से अंग्रेजों ने अपने हाथ लाल किए थे। होली के पर्व के दिन थे। 'प्रताप' में 'खून की होली' शीर्षक लेख उस समय सरदार भगतसिंह का लिखा हुआ निकला।

दादा रासबिहारी बोस के दाएँ हाथ शचींद्रनाथ सान्याल को सन् 1915 में बनारस षड्यंत्र केस में आजीवन कालापानी की सजा हुई थी। प्रथम महायुद्ध के बाद जब वे छूटकर निकले, तो उत्तर भारत में क्रांतिकारी दल का संगठन करने लगे। वे जब कभी कानपुर आते, विद्यार्थीजी से जरूर मिलते। उनसे परामर्श करते। षड्यंत्र केस के चलते उस समय चंद्रशेखर आजाद पर क्रांतिकारी दल की बड़ी भारी जिम्मेदारी आ पड़ी थी। वे बराबर कानपुर आते थे और विद्यार्थीजी से परामर्श करते थे।

भगतसिंह के प्रति गणेशजी के मन में बड़ा आदर था, स्नेह था। भगतसिंह ने अपनी आहुति दी, ताकि देश में क्रांतिकारी भावना का सृजन हो। उस आहुति से उत्तेजित कानपुर के नागरिकों ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध प्रदर्शन किया। ब्रिटिश शासकों ने उस आहुति को दूषित करने के लिए कानपुर में सांप्रदायिक उपद्रव करा दिया और उपद्रव की गंदी प्रतिक्रिया को रोकने तथा भगतसिंह के संदेश को सजीव रखने के लिए विद्यार्थीजी ने अपना बलिदान चढ़ा दिया। ऐसी महान् आत्माएँ ही देश का वास्तविक मार्ग प्रदर्शन कर सकती हैं।

●

क्रांतिकारियों का मसीहा

शहीदों में सबसे ऊपर
कर्मवीर पं. सुंदरलाल

पचास बरस पुरानी घटनाएँ बहुत कम ठीक-ठीक याद रह सकती हैं। एक धुँधलापन आ ही जाता है। कभी-कभी दिमाग के अंदर कहीं की चीज कहीं जुड़ जाती है। तिथियों में आगे-पीछे या गलती होना तो मामूली बात है। फिर भी स्वर्गीय भाई गणेशशंकर विद्यार्थी के बारे में जो बातें मुझे याद आ रही हैं उनमें से कुछ यहाँ दे रहा हूँ।

शायद सन् 1909 की बात है। मेरा अखबार 'कर्मयोगी' निकल रहा था। 'कर्मयोगी' की प्रेरणा एक दर्जे तक श्री अरविंद घोष के 'कर्मयोगिन्' से मिली थी। उसी पर उसका नामकरण हुआ था। 'कर्मयोगी' उन दिनों हिंदी का सबसे अधिक गरम और क्रांतिकारी अखबार समझा जाता था। केवल 'कर्मयोगी' पढ़ने के जुर्म में न जाने कितने विद्यार्थी स्कूलों तथा कॉलेजों से निकाल दिए गए और कितने लोग अपनी जीविका से हाथ धो बैठे। एक दिन मेरे इलाहाबाद के मकान पर, जहाँ से 'कर्मयोगी' निकलता था, एक युवक मुझसे मिलने आया। उम्र में मुझसे वह पाँच-सात बरस छोटा रहा होगा। युवक मैट्रीकुलेशन पास था, शायद किसी बैंक में नौकर था और 'कर्मयोगी' पढ़ने के अपराध में उन्हीं दिनों नौकरी से बरखास्त कर दिया गया था। यह नौजवान गणेशशंकर विद्यार्थी था।

गणेशजी की वह सूरत मुझे आज तक याद है। हद दर्जे की सादगी, भोलापन, जबरदस्त जोश, सच्चाई और चेहरे पर एक दृढ़ संकल्प। युवक गणेशशंकर को अपने निकाले जाने का जरा भी दुःख नहीं था। उलटे खुशी थी, जोश था और मन में यह पक्का इरादा था कि बाकी जिंदगी देश की आजादी की कोशिशों में ही खर्च की जाए। और यह उस हालत में जबकि, जहाँ तक मुझे याद

पड़ता है उनकी शादी हो चुकी थी। आज देश में उस तरह की लगन, उस तरह का जोश, उस तरह की निर्भीकता और उस तरह की निःस्वार्थता कहीं ढूँढ़े से भी नहीं मिलती। मौलाना अबुल कलाम आजाद अकसर कहा करते थे, "मेरे भाई वे साँचे ही टूट गए (जिनमें उस तरह के आदमी ढलते थे)।" देश को अगर आगे बढ़ना है, और स्थिर कोई चीज रह नहीं सकती, चाहे आगे बढ़िए और चाहे पीछे हटिए, तो देश को उस तरह के साँचे फिर से तैयार करने ही होंगे।

खूब बातें हुईं, कई दिन होती रहीं। सवाल यह था कि अब करना क्या चाहिए? जवाब भी सीधा सा था। यही उस वक्त सूझ सकता था और सूझा भी, और वह यह था कि अखबार निकालकर देशवासियों के विचारों को बदलना और देश को जगाना चाहिए।

जहाँ तक मुझे याद है, गणेशजी ने उन दिनों से ही हिंदी 'कर्मयोगी' के लिए और उर्दू में इलाहाबाद से निकलने वाले 'स्वराज' के लिए—दोनों के लिए लिखना शुरू कर दिया। 'कर्मयोगी' के लिए उनके कई 'लेख', 'नोट' और 'समाचार-संग्रह' समय-समय पर मेरी कलम के नीचे से निकले। उनकी जबरदस्त योग्यता और प्रभावशाली लेखन-शक्ति का परिचय उसी समय मिलना शुरू हो गया था। यह मुझे खूब याद है कि गणेशजी की कलम से सबसे पहले पंक्तियाँ 'कर्मयोगी' के लिए ही लिखी गई थीं और 'कर्मयोगी' के लिए ही उन दिनों उन्होंने अधिकतर लिखा।

गणेशजी उन दिनों कभी इलाहाबाद में अपने एक गरीब रिश्तेदार के घर में रहते थे और कभी कानपुर अपने बड़े भाई के साथ। कानपुर का वह घर भी मुझे अब तक याद है। मुहल्ले का नाम खूब याद था उन दिनों, उस पते पर कई खत भी लिखे, पर इस समय भूल रहा हूँ। कानपुर में अकसर हम लोग महाशय काशीनाथजी के यहाँ भी मिला करते थे। काशीनाथ सन् 1903-1904 में मेरे साथ दयानंद ऐंग्लो-वैदिक कॉलेज, लाहौर में पढ़ा करते थे। मैं बी.ए. में था और वे शायद उपदेशक क्लास में या वैदिक क्लास में थे। कानपुर में वे एक स्वच्छ आदमी की तरह अपने बड़े भाई लाला देवीप्रसादजी खत्री के साथ रहा करते थे। काशीनाथजी आजीवन अविवाहित रहे। दोनों भाइयों में बड़ा प्रेम था। कानपुर में उनके मकान पर उन दिनों अकसर कई जगह के क्रांतिकारी देशभक्त युवक आते और मिलते रहते थे। देवीप्रसादजी और काशीनाथजी

दोनों का अब स्वर्गवास हो चुका। पर कानपुर में अभी काफी लोग हैं, जिनके दिलों में दोनों की याद बाकी है। गणेशजी, काशीनाथजी और मैं तीनों अंत समय तक एक-दूसरे को सगे भाइयों से अधिक मानते रहे।

हालात उन दिनों तेजी के साथ बदलते रहते थे। ग्राहक संख्या उन दिनों चोटी पर होती हुई भी 'कर्मयोगी' नौ महीने से अधिक न चल सका। 'स्वराज' भी एक साल से कुछ कम निकला और इस थोड़े से समय के अंदर एक-दूसरे के बाद उसके आठ एडिटर जेल गए, जिनमें किसी की कम-से-कम सजा तीन साल की कड़ी कैद और अधिक-से-अधिक आजीवन कालापानी थी। उन आठ में से तीन अभी जिंदा हैं।

भाई गणेशशंकर विद्यार्थी ने इसी कंटकाकीर्ण पथ को ग्रहण करने का निश्चय किया। जब उन्होंने कानपुर से 'प्रताप' निकालने का फैसला किया, उस समय तक मैं 'सुंदरलाल' से 'सोमेश्वरानंद' होकर शिमला पहाड़ियों के ऊपर सोलन में अज्ञातवास कर रहा था। मुझे खूब याद है, जब मुझे गणेशजी के 'प्रताप' निकालने के इरादे का पता चला, तो मैंने उन्हें एक लंबा खत लिखा, जिसमें अपने और अपने दूसरे साथियों के कई अनुभवों के आधार पर मैंने गणेशजी से यह प्रार्थना की कि वे 'प्रताप' के संपादन में धीमे और सँभलकर चलें, जहाँ तक हो सके शत्रु को उसे बंद करने का मौका न दें। मुझे याद है, गणेशजी ने जवाब में मुझे लिखा था कि वे मेरी सलाह पर अमल करने की पूरी कोशिश करेंगे। इसके साथ ही उन्होंने यह भी लिखा था, "मैं 'प्रताप' को ऐसी मक्खन की गोली भी नहीं बनाना चाहता, जिसे जो चाहे मुँह में रख ले।" जिस योग्यता, निर्भीकता, निष्पक्षता और सच्चाई के साथ गणेशजी ने जिंदगी भर 'प्रताप' का संपादन किया उसे देश पूरी तरह जानता है। हिंदी के शायद ही किसी दूसरे अखबार ने देश की इतनी अच्छी और इतनी कीमती सेवा की हो।

उन दिनों भारतीय देशभक्तों पर सन् 1904-1905 के रूस-जापान युद्ध का बहुत गहरा असर पड़ा था। पहाड़ों पर बैठे-बैठे मुझे भी जापान का शुरू से आखिर तक का इतिहास पढ़ डालने की सूझी। खूब पढ़ा। जापान के अंदर जो भारतीय क्रांतिकारी पनाह लिये पड़े थे उनसे पत्र-व्यवहार था ही। भाई बरकतउल्ला ने टोक्यो से मुझे बहुत सी अच्छी-अच्छी किताबें जापान के इतिहास और जापान की उस जमाने की उन्नति पर भेजीं। हिंदी में एक लेख 'जापान का इतिहास'

लिख डाला। एक हजार से ऊपर पन्ने की किताब थी। उसे छापने और प्रकाशित करने के लिए केवल एक आदमी तैयार हुआ, गणेशशंकर विद्यार्थी। उनके लिखने पर मैंने पुस्तक का शुरू का अंश उन्हें छापने के लिए भेज दिया। पुस्तक छपनी शुरू हो गई। लगभग दो सौ पन्ने छप भी गए। छपे फार्म की एक-एक कापी मेरे पास सोलन पहुँचती रही। पर वह गड़बड़ी के दिन थे। किताब का मेरा बाकी का मसविदा कुछ मित्र लोग ले गए, बाकी पुलिस उठा ले गई, कानपुर के छपे फॉर्म भी सब गल-सड़कर खत्म हो चुके। आज पुस्तक का कोई निशान भी बाकी नहीं है। पर गणेशजी के और मेरे संबंध की वह भी एक छोटी सी कड़ी थी। उन दिनों के जापान के उत्थान की अनेक बातें गणेशजी ने अपने लेखों में भी लिखीं और अपने व्याख्यानों में भी कहा करते थे।

आते-जाते मैं उन दिनों पचासों ही बार कानपुर ठहरा हूँ। ठहरने की जगह दो ही थीं, कभी काशीनाथजी का घर और कभी 'प्रताप' कार्यालय। कानपुर के रहनेवालों ने गणेशजी का बहुत अच्छा साथ दिया। वे और उनका पत्र एक जबरदस्त संस्था बन गए। थोड़े ही दिनों में सारा कानपुर, सारा प्रांत और फिर सारा देश उन्हें आदर और प्रेम की निगाह से देखने लगा। कानपुर एक व्यापारी शहर है। कानपुर के व्यापारियों और पूँजीपतियों तक ने जिस प्रेम और श्रद्धा के साथ गणेशजी का साथ दिया, वह देखने की चीज थी। अब तो शायद वे सब पूँजीपति भी चल बसे। अब उनके बेटे और पोते रह गए हैं, उदाहरण के लिए श्री पद्मपत सिंघानिया के पिता श्री कमलापत गणेशजी से बड़ा प्रेम करते थे।

कानपुर के अंदर गणेशजी और वहाँ के पूँजीपति व्यापारियों का परस्पर संबंध और खुद मेरा कानपुर का अनुभव इस बात के प्रमाण हैं कि कोई रिवाज या संस्था बुरी हो सकती है, पर मनुष्य के बुरे नहीं होते, हमें संस्था से घृणा हो सकती है, आदमी से घृणा नहीं होनी चाहिए। समय और परिस्थिति के अनुसार हर श्रेणी और तरह के आदमी देश और हर मानवजाति के भले के लिए मिलकर काम कर सकते हैं। अपने जीवन भर बहुत दर्जे तक गणेशजी कानपुर के अनन्य नेता रहे। प्रांत और देश के वे रत्नों में से थे। गणेशजी के विचार शुरू से ही बहुत ऊँचे और उदार थे। किसी तरह की संकीर्णता उन्हें छू तक नहीं गई थी। जात-पाँत, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, हिंदू-मुसलमान आदि भेदों से वे बल्लियों ऊपर थे। वे सच्चे हिंदुस्तानी, सच्चे देशभक्त और मानव

एकता के सच्चे मानने वाले थे।

हिंदू-मुसलिम मामले में उनके जीवन की एक छोटी सी घटना यहाँ देने के काबिल है। ठीक सन् मुझे याद नहीं रहा, पर सन् 1931 से दो-चार साल पहले की बात है। कानपुर शहर के अंदर हिंदू-मुसलमानों के बीच कुछ तनातनी चल पड़ी थी। गरमी के दिन थे। शहर के बाजार में, जहाँ तक याद है शायद जनरलगंज की बात है, एक गेहूँ बेचनेवाले हिंदू बनिए की दुकान और एक मुसलमान दरजी की दुकान, दोनों एक-दूसरे के पास-पास थीं। भरी दोपहरी का वक्त था, हिंदू बनिए को उसी दिन कचहरी में कुछ काम था। कचहरी जाते वक्त उसने अपने बारह-चौदह बरस के बेटे से कहा, ''बेटा देखना, कोई गेहूँ खरीदने आवे तो इस कोने में ये बाँट पड़े हैं, इनसे तौलकर दे देना और अगर कोई गाँव का आदमी गेहूँ बेचने आवे तो उधर उस कोने में से वे बाट पड़े हुए हैं, भाव तय करके उन बाटों से तौलकर ले लेना।'' लड़के ने बात सुन ली और समझ ली। बनिया कहकर कचहरी चला गया। इत्तफाक से पास की दरजी की दुकान पर भी दरजी का एक लड़का ही था। दरजी भी कहीं गया हुआ था। दरजी के लड़के ने बनिए को यह बात कहते हुए सुन लिया। दोनों लड़के करीब-करीब एक ही उम्र के थे।

थोड़ी देर बाद गाँव का कोई खेतिहर गाड़ी से गेहूँ लादकर उसी दुकान पर बेचने आया। बनिए के लड़के ने भाव तय कर लिया। उसने बाप के बताए हुए बाँटों से तौलकर लेना शुरू किया। दरजी का लड़का देख रहा था। लड़कपन का स्वभाव, दरजी का लड़का लपककर आया और बनिए के लड़के से कहने लगा, ''उन बाटों से तौल, इनसे क्यों तौलता है?'' बात ही—बात में किसान पर भी सब भेद खुल गया। दोनों लड़कों में कुछ कहासुनी और फिर हाथापाई होने लगी। कहा जाता है कि हाथापाई कुछ इस दुकान में हुई और कुछ उस दुकान में। इतने में ही भगवान जाने कैसे हिंदू लड़के के सिर पर से चुटिया उड़ गई।

हिंदू लड़के ने चिल्ला-चिल्लाकर कहना शुरू कर दिया कि इस दरजी के लड़के ने मेरी चुटिया काट दी। बात की बात में राह चलते दस-बीस हिंदू और दस-बीस मुसलमान जमा हो गए। हिंदू लड़के ने रो-रोकर सबसे वही बात कहनी शुरू की कि इस लड़के ने मेरी चुटिया काट दी। दरजी का लड़का रो-रोकर और कसम खाकर यह कह रहा था कि, ''मैंने इसकी चुटिया नहीं

काटी, इसने खुद मेरी दुकान में घुसकर कैंची उठाकर अपनी चुटिया अपने हाथ से काटते हुए मुझसे यह कहा कि तुझे तेरे बाप से पिटवाऊँगा।'' भगवान जानें दोनों लड़कों में कौन सच्चा था, पर वहीं खड़े अधिकतर हिंदू, हिंदू लड़के का पक्ष लेने लगे और मुसलमान, मुसलमान लड़के का। बात बढ़ चली। डर था कि आग शहर में न फैल जाए।

इतने में उसी बाजार का कोई आदमी दौड़कर 'प्रताप' कार्यालय में गणेशजी के पास पहुँचा। गणेशजी सो रहे थे। उसने गणेशजी को जगाकर कहा, ''महाराज! आप यहाँ सो रहे हैं, शहर में आग लग जाने का डर है।'' हाल सुनकर गणेशजी फौरन उठ खड़े हुए और मौके पर पहुँचे। इतने में बनिया भी कचहरी से आ गया था। शायद दरजी भी आ गया होगा। जब गणेशजी दुकान पर पहुँचे, तो वह बनिया चिल्ला-चिल्लाकर लोगों से कह रहा था, ''इस मुसलमान लड़के ने मेरे बेटे का धर्म ले लिया, उसकी चुटिया काट दी।''

गणेशजी ने पहुँचते ही बनिए की यह बात सुनकर और बाटों वाली सारी बात मालूम करके सबके सामने उस बनिए से कहा, ''क्यों भाई! इस लड़के का धर्म इस लड़के ने चुटिया काटकर ले लिया या तुमने खुद उस वक्त इसका धर्म लिया था जब तुमने इसे यह हिदायत की थी कि गेहूँ खरीदने के बाट ये हैं और बेचने के बाट ये हैं? अपने बेटे की आत्मा का खून तुमने किया या इस दरजी के लड़के ने किया?'' गरज यह है कि गणेशजी ने सच्चाई और निर्भीकता के साथ धर्म के असली तत्त्व और चुटिया जैसी चीजों की गौणता पर प्रकाश डालते हुए, दोनों तरफ के लोगों को समझा-बुझाकर कम-से-कम उस समय के लिए उस झगड़े को शांत कर दिया और कानपुर शहर को हिंदू-मुसलिम दंगे से बचा लिया।

कानपुर के 1931 के मशहूर हिंदू-मुसलिम दंगे में हिंदू-मुसलिम एकता के महान् कार्य के लिए भाई गणेशशंकर विद्यार्थी ने अपने प्राणों की आहुति दे दी। जिन तारीखों (24 से 26 मार्च, 1931) में कानपुर में दंगा हो रहा था, ठीक उन्हीं तारीखों में कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। कानपुर के दंगे की खबर हमें कराची में ही मिली। कांग्रेस ने कानपुर के दंगे की तहकीकात के लिए और आगे से इस तरह के दंगों का इलाज सुझाने के लिए ही एक कमेटी तुरंत नियुक्त की। कमेटी के सदस्य ये थे—1. डॉक्टर भगवानदास, चेयरमैन, 2. मौलाना ज़फरउलमुल्क अलवी, 3. बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, 4.

श्री मंज़रअली सोखता, 5. श्री अब्दुललतीफ बिजनौरी और सुंदरलाल, मंत्री। कांग्रेस के बाद ही कानपुर पहुँचकर हम लोगों ने दंगे के कारणों इत्यादि के बारे में तहकीकात शुरू की। लगभग पाँच महीने रहकर कई सौ गवाहियाँ लीं। मुहल्ले-मुहल्ले में जाकर मौकों को देखा। चार महीने बनारस में रह कर हमने अपनी रिपोर्ट तैयार की। मालूम हुआ कि शुरू में झगड़ा, साफ उस समय की पुलिस का कराया हुआ था। कानपुर के अंग्रेज डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट का भी उसमें साफ हाथ था।

यहाँ मैं इस दंगे की तफसील में जाना नहीं चाहता। एक सप्ताह से कुछ कम के दंगे में लगभग दो सौ हिंदुओं और दो सौ मुसलमानों की जानें गईं। इनके अलावा लगभग चार सौ हिंदू और चार सौ मुसलमान ज़ख्मी हुए। कई करोड़ की संपत्ति नष्ट हुई। शहर के व्यापार को जो नुकसान पहुँचा, वह अलग। कांग्रेस की तहकीकाती कमेटी के पहुँचने के बाद शहर के वे बाजार जो उस समय के हाकिमों के कहने से किसी तरह भी नहीं खुल रहे थे, कांग्रेस नेताओं के शहर में घूमकर लोगों से कहने पर फिर से खुल गए। तहकीकाती कमेटी के रहते हुए मुहल्ले-मुहल्ले में हिंदू-मुसलिम एकता के जलसे हुए। लोगों ने, हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ने, एक बड़े दर्जे तक समझा कि किस तरह से दोनों विदेशी शासकों और उनके एजेंटों के हाथों में खेल गए। फटे हुए दिल फिर थोड़े-बहुत एक-दूसरे के नजदीक आए।

तहकीकाती कमेटी ने बड़े साइज़ के छह सौ पन्ने की एक मोटी रिपोर्ट छाप कर तैयार की। रिपोर्ट के छपकर तैयार होते ही अंग्रेज सरकार ने उसे ज़ब्त कर लिया।

कानपुर के उस दर्दनाक दंगे के दिनों में अगर किसी एक आदमी ने कानपुर की, प्रांत की और इस देश की लाज रखी तो वे गणेशशंकर विद्यार्थी थे। दंगा शुरू होते ही वे कभी इस मुहल्ले में तो कभी उस गली में फिरकनी की तरह चक्कर लगाते रहे। वे हिंदुओं को समझाते थे, मुसलमानों को समझाते थे। अड़तालीस घंटे से कुछ ऊपर वे करीब-करीब लगातार उसी तरह गली-गली फिरते रहे। उनके पास केवल एक हथियार था और वह था उनकी आत्मा की शुद्धता और उनकी आत्मा का बल। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अनगिनत हिंदुओं और अनगिनत मुसलमानों की जान बचाई। गणेशशंकर की निगाह में हिंदू और मुसलमान दो थे ही नहीं। तीसरे दिन जब वे बेहद थके हुए किसी

एक मुहल्ले से निकल रहे थे, कुछ हिंदुओं ने उन्हें बुलाकर पानी पीने के लिए कहा। गणेशशंकर उससे चंद मिनट पहले ही वहाँ किसी मासूम बच्चे का कटा हुआ सर एक मकान के ऊपर की संडास से नीचे गिरते हुए देख आए थे। "तुम्हारे पापी हाथों से मैं पानी लेकर नहीं पी सकता।" कहकर उन्होंने पानी पीने से इनकार कर दिया। उसी दिन शाम से पहले गणेशशंकर विद्यार्थी कानपुर के दंगे की उस भयंकर ज्वाला में शहीद हो गए।

मैंने कमेटी के दूसरे मेंबरों के साथ उस दंगे की तहकीकात की थी। ज़ाहिर है, कानपुर का कोई हिंदू गणेशजी को नहीं मार सकता था। तीन दिनों के अंदर उन्होंने काफी हिंदुओं की जानें बचाई थी। कानपुर के मुसलमान भी इस बात को अच्छी तरह देख रहे थे कि उन्हीं तीन दिन के अंदर गणेशजी ने अनगिनत मुसलमानों की जानें बचाई थी। इस बात के काफी सबूत हैं कि शहर के मुसलमान उस समय उनके कदमों पर गिर रहे थे। फिर गणेशजी को खत्म किसने किया? इस तरह की दर्दअंगेज चीजों पर शायद इतिहास का परदा डाले रखना ही अच्छा है। हमारी तहकीकाती कमेटी जिस नतीजे पर पहुँच सकी, वह हमारी रिपोर्ट के अंदर दर्ज है। जो हो, इसमें कोई भी संदेह नहीं कि हो सकता है कि जिस दिन भी यह देश सांप्रदायिक एकता और विशेषकर हिंदू-मुसलिम एकता का सच्चा नमूना दुनिया के सामने पेश कर सकेगा उस शुभ दिन इस महान् कार्य के बड़े-से-बड़े शहीदों में गणेशशंकर विद्यार्थी का नाम सबसे ऊपर लिखा हुआ दिखाई देगा। इस एकता के लिए महात्मा गांधी की शहादत को न यह देश भूल सकता है और न दुनिया भूल सकती है, पर मुझे विश्वास है कि महात्मा गांधी की आत्मा आज गर बोल सकती तो वे गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान को खुद अपने बलिदान से किसी तरह भी कम स्थान न देती।



ये दो अमर शहीद

रियासतुल्ला खाँ

अशफाक़उल्ला खाँ पर श्री गणेशशंकर विद्यार्थी बहुत मेहरबान थे। अशफाक़उल्ला खाँ जब मकान से भागे, तो नेपाल चले गए थे। वहाँ से कानपुर गणेशशंकरजी के पास पहुँचे। गणेशशंकरजी ने उनको दो रोज़ 'प्रताप' अखबार के दफ्तर में रखा और कुछ रुपए देकर उन्हें बनारस भेज दिया। बनारस से उनके साथियों ने उनको डाल्टेनगंज (बिहार) पहुँचा दिया और इंजीनियर साहब, डाल्टेनगंज के दफ्तर में उनको नौकर रख दिया। करीब आठ महीने वे वहाँ मुलाज़िम रहे। किसी तरह पुलिस को इसकी खबर हो जाने पर वे वहाँ से फिर कानपुर आ गए। कानपुर में फिर दो रोज 'प्रताप' अखबार में इनका क़याम हुआ। गणेशशंकरजी ने फिर इन्हें दो सौ रुपए देकर भोपाल रवाना कर दिया। भोपाल में ये दो महीने अपने भाई मुहम्मद शाहंशाह खान के पास रहे। उनके हज़ार रोकने पर भी ये भोपाल न रुके और उनसे कह दिया कि यहाँ रहकर मैं क्या करूँगा, क्योंकि मुझे तो मुल्क की खिदमत करनी है।

ये वहाँ से दिल्ली अपने दोस्त सैय्यद हबीब अहमद साहब के पास, जो कि सदर बाजार दिल्ली में एक बालाखाने पर रहते थे, गए। सैय्यद हबीब अहमद साहब शाहजहाँपुर के रहने वाले थे और अशफाक़उल्ला खाँ के मकान के करीब इनका मकान था। ये अशफाक़उल्ला खाँ के क्लासफैलो (हममकतव) और बहुत बड़े दोस्त थे। ये तहरीक हिज़रत के जमाने में मय अपने चंद साथियों के साथ मास्को (रूस) चले गए थे और मास्को में प्रोपोगंडा कॉलेज में दाखिल हो गए। मास्को (रूसी) हुकूमत के हुक्म से ये मय अपने चंद साथियों के साथ हिंदुस्तान वापस आए। दर्रे ख़ैबर पर इन लोगों को ब्रिटिश

सरकार के हुक्म से गिरफ्तार कर लिया गया और मुकदमा चलाया गया तथा मुख़्तलिफ सजाएँ इन लोगों को दी गईं। सैय्यद हबीब अहमद के वालिद मुश्ताक़ अहमद वाइसराय दफ्तर में बड़े ओहदे पर तैनात थे। उनको हबीब अहमद साहब के जरिए मालूम हो गया कि अशफाक़उल्ला खाँ देहली में मौजूद हैं। उन्होंने अपने बेटे सैय्यद हबीब अहमद पर जोर डाला कि अशफाकउल्ला खाँ को गिरफ्तार करा दे। इनके गिरफ्तार हो जाने पर फायदे होंगे, एक तो यह कि तुम्हारी हिस्टरीशीट बंद हो जाएगी और तुमको इनाम भी इनकी गिरफ्तारी का मिलेगा और सरकारी बड़ा ओहदा भी मिल जाएगा। लेकिन सैय्यद हबीब इस बात पर राजी न होते थे। सुना जाता है कि बाप के मजबूर करने पर उन्होंने अशफाक़उल्ला खाँ को एक दिन गिरफ्तार करा दिया।

मुकदमा चलाए जाने के बाद अशफाक़ को लखनऊ अदालत से पाँच सजाएँ दी गईं। दो मुकदमों में फाँसियाँ दी गईं, तीन मुकदमों में तीन कालेपानी की सज़ाएँ इन्हें दी गईं। इनके गिरोह में सबसे ज्यादा सजाएँ इन्हें दी गईं। इन सजाओं को सुनकर अशफाक़उल्ला खाँ ने जज साहब का शुक्रिया अदा किया और अदालत से कहा कि इससे कम सज़ा देना मेरे लिए बायस-ए-तौहीन (अपमानजनक) था। इसके बाद इनकी अपील चीफ कोर्ट में पेश हुई। वहाँ से सज़ाएँ बहाल रखी गईं। उसके बाद इनकी अपील यू.पी. के गर्वनर के यहाँ हुई, जिसे गवर्नर साहब ने खारिज कर दिया।

उसके बाद वायसराय साहब बहादुर के यहाँ मरसी की अर्जी (दया की प्रार्थना) दी गई, जो दिल्ली असेंबली के 85 मेंबरों ने भी दी और मैंने कोशिश करके पाँच आदमियों का डेपूटेशन वायसराय साहब बहादुर के यहाँ भेजवाया, जिनके नाम ये हैं—लाला लाजपतराय (पंजाब), पं. मदनमोहन मालवीय (इलाहाबाद), सर नवाब जुल्फिकार अली खाँ (पंजाब), मिस्टर दास (बंगाल) और सर याकूब साहब (मुरादाबाद)। वायसराय साहब ने अपना मत प्रकट किया कि आइंदा इसकी मिसाल न दी जाए। ये लोग खुशी-खुशी वापस आए और मुझे मुबारकबाद दी तथा कहा कि क़ैद की सज़ा रखी जाएगी और फाँसी न होगी। सज़ा हम तीन-चार साल में माफ करा देंगे और मुझसे कहा कि आप मकान जाइए, सज़ा-ए-मौत न दी जाएगी। मैं मकान वापस चला आया।

15 रोज़ के बाद मेरे एक दोस्त ने, जो वायसराय दफ्तर में नौकर थे, मुझे ख़त लिखा कि दया की प्रार्थना खारिज हो गई और सज़ा-ए-मौत बहाल

रही, क्योंकि गवर्नर साहब, यू.पी. ने वायसराय साहब बहादुर से अपना यह विरोध प्रकट किया था कि अगर ये लोग छोड़ दिए जाएँगे, तो हम यू.पी. में बग़ावत के जिम्मेदार न होंगे। अपील खारिज होने पर 16 अक्तूबर, 1927 ई. को सज़ा-ए-मौत मुकर्रर हुई।

मैं अशफाक़उल्ला खाँ से मिला। उन्होंने मुझसे कहा कि श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से मिलिए। मैं वहाँ गया, तो मालूम हुआ कि विद्यार्थीजी सख्त बीमार हैं और किसी से मिलते नहीं। मैं ज़नाने दरवाजे से घर गया, इत्तला कराई। मैं अंदर बुला लिया गया। वहाँ एक लंबा कमरा था, जिसमें विद्यार्थीजी एक पलंग पर लेटे थे। सात लंघन कर चुके थे। मैं जब बालाखाने के दरवाज़े पर गया, तो देखा कि दो औरतें बैठी हैं। मैं झिझका तो बहुत कमज़ोर आवाज़ में विद्यार्थीजी ने फरमाया, ''अंदर आ जाइए, एक आपकी भावज है और एक आपकी भतीजी।'' मैं अंदर गया। विद्यार्थीजी के आँसू जारी थे। मुझसे कहा, ''आप मि. कृपाशंकर हजेला, एडवोकेट से तार दिलवा दीजिए कि हम प्रिवी कॉउंसिल में अपील करेंगे, सज़ा-ए-मौत अभी टाल दी जाए। आप घर जाइए, हम रुपया आपको भेज देंगे।''

मैं वहाँ से घर आया और तार दिलवा दिया। दूसरे रोज़ मैं शाहजहाँपुर से लखनऊ फिर आया और मैंने पचास पौंड मि. कृपाशंकर हजेला, एडवोकेट को दिए। उन्होंने तार गवर्नमेंट को भेज दिया। मैं रुपया जमा कर चुका था कि श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का एक आदमी लिफाफा सील मोहर लगा हुआ लेकर आया। मैंने खोलकर देखा तो 1200 रुपए के नोट थे। चूँकि मैं रुपया जमाकर चुका था और अब रुपयों की ज़रूरत नहीं थी, मैंने एक लिफाफा कृपाशंकरजी से लेकर परचे पर गणेशशंकरजी को शुक्रिया अदा करते हुए लिखा, ''चूँकि मैं रुपया जमा कर चुका हूँ, इसलिए इन रुपयों की ज़रूरत नहीं है, जो वापस किए जाते हैं। लिफाफे में बंद करके हजेला साहब की मोहर लगाकर रुपए मैंने वापस कर दिए। खत में लिख दिया कि आपका हज़ार-हज़ार शुक्रिया।''

श्री कृपाशंकर हजेला साहब ने कुल मुकदमे के कागजात और श्री सी.बी. गुप्ता एडवोकेट को विलायत रवाना कर दिया। विलायत में अपील पेश होने पर खारिज हो गई और 19 दिसंबर, 1927 को सज़ा-ए-मौत मुकर्रर की गई। मैं अशफाक़ से मिला। अशफाक़उल्ला खाँ निहायत खुश थे और मुझसे कहा, ''एक दिन मौत का मुक़र्रर था, वह आ गया। रंज करने की कोई बात नहीं।

एक दिन सभी के लिए मुक़र्रर है।'' एक दिन पश्चात् यानी 18 दिसंबर, 1927 को अशफाक़उल्ला खाँ ने एक तार कंडैम्ड सेल से विद्यार्थीजी के नाम मुझको दिया। उसमें लिखा था, ''19 दिसंबर को दो बजे दिन में लखनऊ स्टेशन पर मुझसे मिलना। उम्मीद है कि आप मुझसे आखिरी मुलाकात ज़रूर करेंगे।'' और एक खत गणेशशंकरजी के नाम मुझको यह दिया कि, ''मेरे भाई तबाह व बरबाद हो चुके हैं। मेरी क़ब्र पुख्ता बनाने का इंतजाम आप करें और मेरे भाइयों का खयाल रखें, वक्त ज़रूरत उनकी मदद करें तथा उनको निराश न करें।'' तार मैंने भेज दिया।

दूसरे रोज़ इनकी लाश नहलाकर और कफनाकर एक पलंग पर एक डिब्बे में रखी गई और फैजाबाद से लखनऊ हम लोग दो बजे पहुँचे। स्टेशन पर श्री गणेशशंकरजी नौ साथियों के साथ मौजूद थे। मेरे पास तशरीफ लाए और फरमाया कि किस डिब्बे में अशफाक़उल्ला खाँ हैं? मैंने आखिरी डिब्बा उनको दिखलाया। वे डिब्बे के अंदर आ गए और अशफाक़उल्ला खाँ का कफन मुँह से हटाकर परसी शाह फोटोग्राफर से उनका फोटो लिवाया और मुझसे कहा कि इनकी क़ब्र कच्ची बनवा देना। हम पुख्ता करा देंगे और इनका मक़बरा हम वैसा बनवाएँगे कि जिसकी नज़ीर यू.पी. में न होगी। किंतु अफसोस कि मक़बरा बनवाने से पेश्तर वे खुद ही शहीद हो गए, किंतु श्री मोहनलाल सक्सेना के जरिए उन्होंने मुझको 200 रुपए भेजे थे, जिससे कि मैंने कब्र पुख्ता करा दी। मक़बरा उनका अब तक न बन सका।

एक महीने के बाद उनका खत मेरे पास आया कि आप राजा मोतीचंद, बनारस के पास चले जाइए। वे सौ रुपए माहवार व खाना देंगे तथा उनकी हिफाज़त जान की करते रहें और कोई काम न होगा, लेकिन अशफाक़ को शहीद हुए कुछ ही दिन गुजरे थे। मेरी माता ने मुझको जाने न दिया। मैंने गणेशशंकरजी को लिखा कि अभी ताज़ा जख़्म है, वालिदा रोकती हैं। विद्यार्थीजी ने मुझको जवाब दिया, ''अच्छा, हम दूसरा इंतजाम करेंगे और आप कतई परेशान न हों, हम आपके खानदान की मदद करेंगे और ख्याल रखेंगे।''

गणेशशंकरजी खुद शहीद हो गए। अपने इन दो शहीद भाइयों की याद में आँसू बहाने के लिए मैं अब भी जिंदा हूँ। उनमें एक मेरा छोटा भाई था और दूसरे मेरे ही नहीं, भारत के दीन-दुखियों के संरक्षक थे।



ये दो अमर शहीद

एक पैर जेल में

मन्मथनाथ गुप्त

क्रांतिकारी सुरेशचंद्र भट्टाचार्य[1] गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में सहकारी संपादक थे। विद्यार्थीजी ने उन्हें 'एक गुर' बताते हुए कहा था, ''मनुष्य को अपना नाम बहुत प्रिय है।'' मतलब यह था कि किसी संवाददाता या लेखक द्वारा भेजी गई 30 पंक्तियों को भले ही तीन में छापो तो उतना नाराज न होगा जितना तब होगा, जब उसका नाम ही नदारद कर दो। छापे के अक्षरों में अपना नाम देखने में अजीबो-गरीब आकर्षण होता है। रेडियो पर पहले पढ़ी जानेवाली खबरों में इतना ही आता था कि खबर किसने पढ़ी और अब टी.वी. पर तकनीकी व्यक्ति, इंजीनियर आदि का भी नाम आने लगा है। इसके पीछे गणेशजी द्वारा सुरेश दादा से कही बात अंतरतम को खोलकर रख देती है। फिरदौसी ने प्रशस्ति के लिए हजारों शेर लिखे, दीनारें पाईं। उसने नाम पाने और अमर हो जाने के लालच में, स्वार्थ के लिए हजारों-लाखों को महमूद से गाजर-मूली की तरह कटवा दिया। उर्दू में कितने शायरों ने प्रशस्ति में शायरी लिखी और अमरता पाने का धंधा आज का ही नहीं, बहुत पुराना है।

विद्यार्थीजी द्वारा सुरेश दादा से कही हुई बात ''मनुष्य को अपना नाम बहुत प्रिय है'' का पीछा करते हुए हम देखते हैं कि दवात में कलम का आगमन हुआ, कवि पैदा हुए, पीली पत्रकारिता का जन्म हुआ। 'दीनार दो और तारीफ

---

1. सुरेशचंद्र भट्टाचार्य उत्तर भारत में बंगाल की अनुशीलन समिति के प्रमुख संगठक थे। बनारस षड्यंत्र केस (1920) में वे आम माफी पाकर छूटे, तो गांधीजी के असहयोग में न जाकर शचींद्र बाबू के साथ क्रांतिकारी कार्य में जुट गए।

का एक शेर ले लो', दीनार नहीं देते तो भरे बाजार तुम्हारा भंडाफोड़ करते हैं या पगड़ी उछालते हैं। राजा-रईस को पता चला कि अखबार में उसके विरुद्ध कुछ छपने जा रहा है, तो दूत भेजकर दीनारों की थैली अखबार के मुँह में ठूँस दी। कुछ संपादकों ने इसका अच्छा रोजगार किया, पूँजीपतियों ने जनहित के नाम पर अखबार निकाले कि जनता के नाम पर अपनी बात कही जाए।

सुरेश दादा से मुझे पता चला कि अकसर इस तरह दीनारों से भरी थैलियाँ विद्यार्थीजी के पत्र 'प्रताप' के मुँह में ठूँसने के लिए आती थीं और विद्यार्थीजी उन थैलियों को, उनके प्रेषकों को घृणा के साथ लौटा देते थे। उसी से आकर्षित होकर सुरेशचंद्र भट्टाचार्य,[1] भगत सिंह, रामदुलारे त्रिवेदी जैसे क्रांतिकारी 'प्रताप' में आए। कहते हैं कि भगवद्गीता के चार श्लोक पढ़ने, गंगाजल की दो बूँदें पीने से आदमी तर जाता है। शास्त्रकार का यह वादा झूठा है या सच, यह तो राम जाने, किंतु भगत सिंह, सुरेश दादा और रामदुलारे त्रिवेदी जैसे क्रांतिकारी 'प्रताप' के साथ संबंध जोड़कर कृत-कृत्य या सरफराज होने आए थे।

सन् 1923-24 में मैं भी सुरेश दादा की पूँछ पकड़कर तो नहीं कहूँगा, पीछे-पीछे प्रेस में गया था, महज दर्शन करने कि कैसा है वह स्थान जहाँ से इतना अच्छा पत्र निकलता है। मैंने अब तक एक ही प्रेस देखा था, बाबू शिवप्रसाद का 'आज' प्रेस। काशी का 'आज' भी 'प्रताप' की श्रेणी का पत्र था, किंतु उसमें कोई विद्यार्थी नहीं था और न उसके पीछे खड़े सुरेश भट्टाचार्य। कविवर बालकृष्ण शर्मा विद्यार्थीजी के दाएँ हाथ रहे। सुरेश भट्टाचार्य काकोरी कांड में लंबी सजा काटकर फिर 'प्रताप' में गए और अंत तक रहे। गणेशजी की शागिर्दी करके श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, देवव्रत शास्त्री और न जाने कितने 'प्रताप' से सीखकर अपने क्षेत्र में 'सैनिक' आदि पत्र चलाने लगे। उस जमाने में हिंदी पत्र चलाना मानों भूखों मरना था।

सच्ची बात यह है कि गणेशजी का 'प्रताप' प्रेस क्रांति का गढ़ था। नतीजा

---

1. 9 अगस्त, 1925 को घटित काकोरी कांड में सुरेशचंद्र भट्टाचार्य को सात वर्ष कैद की सजा हुई थी। सरकार की अपील पर यह बढ़ाकर दस वर्ष हो गई थी। कांग्रेस व गणेशजी ने दबाव बनाया तो कैदी छूट गए, किंतु बिस्मिल, अशफाक आदि फाँसी से नहीं बचाए जा सके। 'प्रताप' ने लिखा था, 'ओ आदर्श! तुम बहुत क्रूर और आतंककारी हो।'

यह रहा कि गणेशजी का एक पैर हमेशा जेल में रहता था। कई बार प्रेस में ताले पड़े, जमानत जब्त हुई, पर इस रक्त-बीज को ब्रिटिश साम्राज्य की पूतनाएँ मार न सकीं। इसी प्रेस से 'रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा', 'काकोरी के शहीद' पुस्तकें छपीं, जो छपते ही सरकार का कोपभाजन बनीं। दूसरा संस्करण छप ही रहा था कि 'काकोरी के शहीद' जब्त हो गई, फिर भी चोरी-चोरी छपती रही। जब्त होने के बाद यह पुस्तक देशभक्ति की मूल बन गई, जिसे पढ़े बिना देशभक्ति अधकचरी थी। गांधी बाबा का युग था, जिनका नारा था 'अहिंसा परमो धर्मः'। गांधीजी ने उसे साम्राज्यवाद के विरुद्ध तेज धार बनाया और चरखे के रूप में हर भारतवासी के हाथ में थमा दिया। गांधीजी वह भगीरथ निकले जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को स्वर्ग से उतारकर धरती पर जन-जन को सुलभ कराया।

जब गांधी बाबा की आँधी 1919 में भारत में एक तूफान की तरह उठी, तो उसमें छोटे-बड़े सब बह गए। गणेशशंकर विद्यार्थी, चंद्रशेखर आजाद आदि-आदि। चंद्रशेखर ने हर बेंत की मार से लहू-लुहान होकर 'महात्मा गांधी' की जय बोली। रामदुलारे त्रिवेदी ने बेंत खाए, यतींद्रनाथ दास जेल गए और जब जेल से छूटे, तो उन्हें घर का दरवाजा बंद मिला और भगत सिंह के मुकदमे में साथियों के साथ अनशन करते हुए 63वें दिन शहीद हुए। जब उनकी लाश कलकत्ता पहुँची, तो छह लाख की भीड़ थी। लाहौर जेल से कलकत्ता ले जाते समय उनकी लाश को कानपुर उतारा गया और स्टेशन पर गणेशजी ने श्रद्धांजलि दी।

विद्यार्थीजी सच्चे गांधीवादी सैनिक थे, पर इतना नहीं कि वे लोकमान्य तिलक, चापेकर बंधु, सावरकर, खुदीराम आदि को भूल जाएँ। भगत सिंह के पिता किशन सिंह, भगत सिंह की शादी करना चाहते थे। भगत सिंह घर से भागे, तो गणेशजी ने उन्हें कानपुर में अपने यहाँ आश्रय दिया। उन दिनों सारा भारत विद्यार्थीजी की तरह गांधीवादी हो गया था, लेकिन विनोबा आदि दो-चार को छोड़कर सभी क्रांतिकारी बन गए थे। जेल उनका घर था। विद्यार्थीजी जेल में बैठकर 'प्रताप' का संपादन करते, गरम-गरम लेख लिखते थे।

फरवरी 1922 में, गोरखपुर में चौरी-चौरा नामक स्थान पर पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर धुआँधार गोलियाँ चलाईं और गोलियाँ खत्म होते ही जब पुलिस थाने के अंदर थी, उग्र भीड़ ने थाने में आग लगा दी। पचासों पुलिसकर्मी जलकर भस्म हो गए। क्रांति की यह पहली चिनगारी थी। इस पर गांधीजी

ने अपना असहयोग आंदोलन बिना किसी से परामर्श किए वापस ले लिया। जेल में बैठे मोतीलाल, जवाहरलाल, सी.आर. दास के साथ गणेशजी ने भी गांधीजी द्वारा आंदोलन वापस लेने की निंदा की। चौरी-चौरा कांड के बाद शचींद्रनाथ सान्याल, सेठ दामोदरदास, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे दर्जनों क्रांतिकारी, क्रांतिकारी दल के संगठन में लग गए। उत्तर भारत में 'हिंदुस्तान प्रजातांत्रिक संघ' बना, जिसका प्रमुख उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना था जिसमें मनुष्य, मनुष्य का शोषण न कर सके।

क्रांतिकारियों ने रामप्रसाद बिस्मिल और अशफाकउल्ला के नेतृत्व में काकोरी नामक स्थान पर 9 अगस्त, 1925 को ट्रेन रोककर सरकारी खजाना लूटा। इनमें जो लोग गिरफ्तार हुए उनकी रिपोर्ट 'प्रताप' में इस रूप में छपी—'देश के नवरत्न गिरफ्तार'। इसमें सुरेश दादा और रामदुलारे त्रिवेदी भी गिरफ्तार हुए थे। गणेशशंकर विद्यार्थी ने मुकदमे की पैरवी अपने हाथों में ले ली। एक बचाव समिति बनी, जिसमें मोतीलाल नेहरू भी थे। मोतीलालजी जगतनारायण मुल्ला से पैरवी कराना चाहते थे, किंतु मुल्ला को ब्रिटिश सरकार ने पहले ही ले लिया था। मुकदमा डेढ़ साल चला। चार क्रांतिकारियों—रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला, रोशनसिंह, राजेंद्रनाथ लाहिड़ी को फाँसी और शचींद्र दादा, मुकुंदीलाल, सुरेश दादा, विष्णुशरण दुबलिस आदि को लंबी सजाएँ हुईं। मुझे भी 14 साल की सजा मिली।

विद्यार्थीजी ने विरोध किया। जुलूस निकाले, 'प्रताप' द्वारा समाज की राय जाहिर की, लेख-कविताएँ लिखीं कि फाँसी न हो, लेकिन दिसंबर 1927 को चारों को फाँसी हो गई। गणेशजी ने 'काकोरी के शहीद' पुस्तक[1] छापकर पूर्णाहुति दी। 6 अप्रैल, 1927 को सजा सुनाई गई थी। कैदियों ने ऐलान कर दिया कि वे राजनैतिक कैदी के रूप में विशेष व्यवहार के लिए अनशन करेंगे। अनशन हुआ। सजा सुनाई गई कैदियों को अलग-अलग जेलों में भेज दिया गया। हवालात में हमने 16 दिन अनशन किया और विशेष व्यवहार प्राप्त कर लिया। सजा होनेवाले दिन ही विष्णुशरण दुबलिस और मैं नैनी जेल भेज दिए गए। कितने ही लोग अनशन तुड़वाने आए और अंत में आए विद्यार्थीजी। मेरा वजन घटकर हड्डियाँ रह गई थीं। उस समय विद्यार्थीजी एम.एल.सी. थे और

1. इस पुस्तक की कलकत्ते की यात्रा का विवरण संस्मरण खंड में देखिए—शंभूनाथ 'काकोरी के शहीद' पुस्तक।

सब जिलों में अनशन तुड़वाकर आए थे। उनकी आज्ञा से हमने अनशन तोड़ा। यतींद्रनाथ दास के शहीद होने के बाद राजकुमार सिन्हा, शचींद्रनाथ बख्शी, मुकुंदीलाल और मैं सबसे पहले 'बी' श्रेणी के कैदी बने।

अपने समय में विद्यार्थीजी सभी क्रांतिकारियों के संरक्षक थे। कानपुर के सुरेश दादा और रामदुलारे त्रिवेदी के अलावा शहीद शालिग्राम, वीरेंद्र पांडेय, सुरेंद्र पांडेय, राजकुमार और विजयकुमार, रमेशचंद्र गुप्त, बटुकेश्वर दत्त को भी विद्यार्थीजी का सान्निध्य और संरक्षण मिला था। राजकुमार को काकोरी कांड में दस वर्ष की सजा हुई थी, विजय कुमार को लाहौर कांड में आजन्म कारावास देकर अंडमान भेज दिया गया था, जहाँ उन्होंने अंग्रेजी में अपनी आत्मकथा लिखी, जो क्रांतिकारी साहित्य का प्रमुख ग्रंथ है। रमेशचंद्र दो बार जेल गए और फतेहगढ़ जेल में रणधीर और यशपाल ने मेरे साथ अनशन किया। सुरेंद्र पांडेय लाहौर कांड में छूट गए थे। फणींद्रनाथ बनर्जी 20 जून, 1934 को शहीद हुए। उन्होंने पुलिस अधीक्षक जितेंद्र मुकर्जी पर हमला करके 10 वर्ष की सजा भोगी थी। रमेशचंद्र को भी 10 वर्ष की सजा हुई। इन दिनों कानपुर में सनेहीजी ('त्रिशूल' नाम से) तथा छैलबिहारी दीक्षित 'कंटक' देशभक्ति की कविताएँ लिखते थे।

27 फरवरी, 1931 को अल्फ्रेड पार्क (अब जनता या मोतीलाल पार्क) में चंद्रशेखर आजाद शहीद हुए। उसी के एक महीने बाद 23 मार्च को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को लाहौर जेल में फाँसी दी गई। इन शहादतों से सारे भारत में क्रांति का वातावरण बन गया था। साम्राज्यवाद ने कहा, अभी या कभी नहीं। इसी घृणित उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए कानपुर में हिंदू-मुसलिम दंगा कराया गया। एक व्यक्ति ताँगे पर भागते हुए सारे शहर में चिल्ला रहा था, "मुसलमान मारे ज़ा रहे हैं।" अंग्रेजों की चाल सफल हुई। विद्यार्थीजी को कराची कांग्रेस में जाना था। वे रुक गए।

हिंदू इलाके में फँसे मुसलमानों को निकाला। वह एक मुसलिम कांग्रेसी स्वयंसेवक के साथ मुसलमान इलाके में फँसे हिंदुओं को निकालने के लिए गए। मुसलिमों का एक रेला आया। वह गणेशजी को मारने के लिए झपटा, किंतु स्वयंसेवक ने कहा, "कल इन्होंने दो सौ मुसलमानों को बचाया है।" रेला आगे बढ़ गया। मुसलमानों का दूसरा रेला आया। उसने स्वयंसेवक की बात न सुनी और स्वयंसेवक को पीटने लगा। यहीं विद्यार्थीजी शहीद हो गए। दो दिन बाद

लाशों के ढेर में उनके हाथ पर खुदे नाम को देख कर फूली लाश को पहचाना गया। महात्मा गांधी ने कराची में कहा, ''मैं ऐसी ही मौत चाहता हूँ।''

अजीब बात है, किसी ने जड़ तक जाकर रोग का इलाज न सोचा। भगत सिंह ने फाँसी घर में बैठ कर इलाज सोचा और तीन लेख लिखे। कम्युनिस्टों के पास इसका नुस्खा था, पर वे वोट-राक्षसी के गेसू में फँसकर नपुंसक हो गए। गांधीजी की कामना पूर्ण हुई। इससे कुछ नहीं जाता कि गांधी का हत्यारा हिंदू था, विद्यार्थीजी का मुसलमान। यदि नित घटित होनेवाले दंगों और गुप्त हत्याओं में राजनैतिक चिंतन कम से कम वहाँ पहुँचता जिसे कबीर ने कई सौ वर्ष पहले कहा था, तब भी ठीक था। विद्यार्थीजी जैसे ऐतिहासिक व्यक्तित्व को वह स्वीकृति नहीं मिली जो उनको प्राप्य थी, इसका कारण नेताओं की स्वार्थपरता और लेखकों की बेईमानी है। युग-युग तक पूज्य एक आदर्श पत्रकार, संपादक भले ही उनका 'प्रताप' आज के हिंदी-अंग्रेजी पत्रों की चकाचौंध के सामने फीका लगे, अपने आदर्श पर मर मिटने वाला व्यक्ति स्वल्प ज्ञात रह गया, इसमें हम समसामयिक नेताओं का हीनता-बोध पाते हैं। नेहरूजी ने गणेशजी की शहादत के बाद अपनी विश्व प्रसिद्ध आत्म-कथा लिखी, पर उसमें इस युग पुरुष पर क्या और कितना लिखा? आगे और नहीं लिखूँगा क्योंकि फिर लेखनी पर मेरी लगाम टूट जाएगी।



हमारा परिवार

विमला विद्यार्थी

मनुष्य अपने कितने व्यक्तित्वों में जीता है, सत्य के ठोस आधार पर यह जानकर ही उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। मेरे बाबूजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। अपने कर्मठ पुरुषार्थ के द्वारा उन्होंने शहर-प्रांत-देश में अपना विशिष्ट स्थान बनाया था। उन्होंने मात्र विद्या और श्रम की पूँजी को लेकर अध्यवसाय द्वारा अपने को गौरवशाली बनाया तथा यह साबित करके दिखाया कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। वह अपने को जो कुछ चाहे बना सकता है।

मेरे बाबूजी बड़े ही धर्मपरायण व्यक्ति थे। ईश्वर की अगाध कृपा का संबल उनको सदैव रहता था, किंतु एक विशेष बात उनमें थी कि ऊपर से जो उन्हें देखता था, धोखा खा जाता था। वे धार्मिकता के उस परिवेश से अपने को सदैव दूर रखते थे, जिसमें सर्वसाधारण को धार्मिक समझा जाता है। धर्म के नाम पर फैले आडंबर को वे अच्छा नहीं मानते थे। इसलिए उनके संपर्क में आनेवाले बहुत से लोगों को यह भ्रांति थी कि वे नास्तिक थे। वे कभी मंदिर नहीं जाते थे, न ही कभी चंदन-टीका लगाते थे, किंतु वे ईश्वर को हर पल, हर क्षण याद रखते थे और उसका दर्शन दीन-दुखियों की सेवा को मानते थे। अपने को संकट में डालकर भी दूसरों को सहारा देना वे अपना परम धर्म मानते थे। इस धर्म का पालन जीवन के अंतिम क्षण तक उन्होंने किया।

मेरे बाबूजी ने कारावास से समय-समय पर मेरे ताऊजी (शिवव्रत नारायणजी), मेरी माँ, भाई व बहन को जो पत्र लिखे थे उनमें ईश्वर में अटल विश्वास और सत्यनिष्ठा होने की ज्वलंत भावना प्रकट होती रहती थी। वास्तविक ईश्वर-

भक्ति और हृदय की सच्चाई के सहारे सत्य का पुजारी बनने का इससे सुंदर और सटीक उदाहरण दूसरा नहीं है।

सन् 1923 में जब वे नैनी जेल में थे, तो उनके कमरे की छत से और दीवारों से अकसर साँप-बिच्छू निकला करते थे, किंतु उनमें से किसी ने कभी भी उन पर कोई चोट नहीं की। जेल में वार्डर रामप्रसाद ने रामायण पढ़ने को दी। छह बार तो जेल-प्रवास में ही उन्होंने संपूर्ण रामायण का पाठ किया और जेल से मुक्त होने पर जाजमऊ स्थित सिद्धनाथ मंदिर के बगीचे में बैठकर सातवाँ पाठ पूरा करने के पश्चात् घर आए।

एक दूसरी घटना—सन् 1930 में हरदोई जेल में कृष्ण अष्टमी के अवसर पर दही-पेड़ा खाने की प्रबल इच्छा हुई। ए-श्रेणी के कैदी के नाते वे अपनी इच्छा बड़ी सरलता से पूरी कर सकते थे। अपने निजी पैसे से दही-पेड़ा मँगा सकते थे, किंतु उन्होंने वैसा नहीं किया। अचानक क्या हुआ कि रात्रि के 10 या 11 बजे जेल का वार्डर दरवाजा खुलवाकर उन्हें पत्तों के दोनों में दही-पेड़ा दे गया। पूछने पर वार्डर ने कहा कि जेल के फाटक पर न जाने कौन साहब आपके लिए दे गए हैं। वे बड़े आश्चर्य में पड़े कि आखिर मामला क्या है!

उनकी सच्चाई एवं मानवता-प्रेम ने उनकी आस्तिकता को और भी गहरा बना दिया था। वे सबकुछ ईश्वर की देन मानते थे। अपना शरीर, अपने बच्चे और अपनी रूखी रोटी को ईश्वर प्रदत्त मानते थे। गांधीजी ने लिखा है कि देह हमारी नहीं है। ऐसा समझकर मिली हुई थाती को धरोहर के रूप में उसका जो उपयोग कर सको, करते जाओ। मेरे बाबूजी सदैव इसी सिद्धांत के अनुकूल आचरण करते रहे। उन्होंने देह का उपयोग सदैव ईश्वर के अधीन रहकर अन्याय के विरोध में, मानवता की पूजा में किया। जीवन को आहुति बना डाला और कभी यह नहीं समझा कि अमुक काम मेरे द्वारा हुआ।

उनका पारिवारिक जीवन बहुत संतुलित था। परिवार के सभी लोगों से उनका प्रेम अपनी चरम सीमा पर था। मेरी पितृमही (दादी) पुराने विचारों की थीं, बेटे के साथ भोजन एक थाली में कभी नहीं करती थीं और इसलिए दुःखी रहती थीं। मानती थीं कि मेरा बेटा हर जाति के आदमी के यहाँ खानपान में विचार नहीं करता। इसलिए अपनी माँ की इस भावना को और उनकी संस्कारगत कमजोरी का पूरा-पूरा खयाल रखते थे। उनके सामने बैठकर खाते थे और हँसते-

हँसते कहते थे, ''अम्मा, समझ लो तुम्हारा गणेश तुम्हारे साथ ही भोजन कर रहा है।''

मेरे बाबूजी कभी अपनी मान्यताएँ बलात् दूसरों पर नहीं थोपते थे, किंतु सामाजिक बुराइयों को दूर करने का सदा यत्न करते रहते थे। वे अपनी पुत्रियों की शिक्षा-दीक्षा और सुविधाओं का भी उतना ही खयाल रखते थे, जितना पुत्रों का। हम बहनों को उन्होंने कभी भी यह अनुभव नहीं होने दिया कि हम लड़कियाँ हैं और हमें भाइयों की बराबरी नहीं मिल सकती। मेरी स्वभावगत तेजी के कारण वे मुझे सदैव झाँसी की रानी कहकर संबोधित करते थे।

ऐसा नहीं था कि मेरे बाबूजी अपने ही बच्चों से प्यार करते थे। उनकी दृष्टि में सभी बच्चों के लिए अपार स्नेह था। सभी बच्चों को वे समान प्यार बाँटते थे। हम सब लोग स्कूल जाने के लिए खाने बैठते, तो हर बच्चे के लिए छोटी-छोटी फूल की थाली, कटोरी, ग्लास सब अलग-अलग लगाए जाते। घर में खाना बनाने वाली कैलाश मिसरानी की लड़की फूलदुलारी भी हमारे साथ ही खाने बैठती। अगर उसके लिए भी बरतन उसी तरह नहीं लगाए जाते, तो बाबूजी भीखा कहार को फौरन टोकते। ऐसे उदारमना थे मेरे बाबूजी! फूलदुलारी भी हम लोगों के साथ खाना खाकर स्कूल पढ़ने जाती थी। उसकी फीस और कपड़ों की व्यवस्था भी मेरी माँ करती थीं।

मेरी माँ प्राय: अस्वस्थ रहती थीं। उनको रह-रहकर भयंकर शिरशूल उठता था। दो-तीन दिन तक तो वे चारपाई से उठ भी नहीं पाती थीं और वेदना से मछली की तरह तड़पती रहती थीं। कै बहुत होती थी, तब जाकर दर्द कम होता था। बाबूजी सार्वजनिक जीवन में बहुत व्यस्त होते हुए भी उनकी सेवा करने में तनिक भी असुविधा नहीं महसूस करते थे। प्रेस का काम व बाहरी दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी वे रात भर माँ की, हम भाई-बहनों की देखभाल करते थे। प्राय: रोगी को कै करते देख सभी को घिन महसूस होती है, किंतु वे माँ का हर छोटा-बड़ा काम करने को तत्पर रहते थे।

मेरे पितामह बहुत बड़े ज्योतिषी थे। एक बार बाबूजी की जन्मपत्री का वर्षफल निकाल कर अनिष्ट की आशंका से पितामह को उन्माद का दौरा पड़ गया। बाबूजी उन दिनों एम.एल.सी. थे। लखनऊ नित्य जाना पड़ता था। जब तक वे लौट कर नहीं आते, बाबा गायत्री मंत्र जपते रहते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पीते। वे पानी केवल बाबूजी के हाथ से पीते थे। छह महीने वे

उन्माद से पीड़ित रहे। बाबूजी ने अत्यंत व्यस्त जीवन के बावजूद अपने बड़े भाई के साथ मिलकर रात-दिन उनकी सेवा की।

अपने बड़े भाई शिवव्रत नारायणजी के साथ उनका संबंध भाई-भाई का न होकर पिता-पुत्र का सा था। ऐसा भाई का प्रेम आज केवल कल्पना की वस्तु है। बाबूजी उन्हें 'भइया' कहते थे। 'भइया' ने भी अपनी युवा पत्नी एवं एकमात्र पुत्र के निधन के बाद दूसरा विवाह नहीं किया। अपना समस्त जीवन छोटे भाई की गृहस्थी को पार लगाने में लगा दिया। हम सब भाई-बहनों को अपने बच्चों से अधिक प्यार दिया।

मेरे बाबूजी सभी बच्चों के साथ इतना घुल-मिलकर बातें करते थे कि देखने वालों को आश्चर्य होता था कि इतना बड़ा नेता बच्चों में बच्चों की तरह हँसी-मजाक भी कर लेता है। समय मिलने पर बाबूजी बच्चों के साथ कबड्डी तक खेलने से न चूकते। खेल-खेल में बच्चे उनकी पीठ पर सवारी भी गाँठ देते। वैसे वे प्रायः रात में देर से आते थे। हम लोग तब तक सो चुके होते अथवा पढ़ने में लग जाते थे। हाँ, कभी कोई मीटिंग-वीटिंग न होती और हम लोगों की छुट्टियाँ होतीं, तो रात देर तक वे खूब कहानियाँ सुनाते, जो मनोरंजक के साथ शिक्षाप्रद भी होतीं। उनकी 'हेमला सत्ता' कहानी मुझे अभी तक याद है।

ओंकार (छोटा पुत्र) चंचल था, किसी बात की जिद कर रहा था। उसको क्रोध में आकर बाबूजी ने एक-दो तमाचे लगा दिए, लेकिन क्रोध शांत होने पर उन्हें इतना पश्चात्ताप हुआ कि सारे दिन भोजन नहीं किया, तब हृदय शांत हुआ।

उनका सदैव आदेश रहता था कि मैं तो तमाम तरह के झंझटों से घिरा इंसान हूँ, समय पर आ सकूँ, न आ सकूँ, इसलिए घर के लोग खाने पर मेरी प्रतीक्षा न किया करें, मेरा खाना ढककर रख दिया करें। दोपहर में तो वे प्रायः देर से ही घर आते। सुबह दूध और च्यवनप्राश खाकर निकल जाते थे। तली-भुनी चीजें कभी नहीं खाते थे। जिगर के मरीज थे। फल बेशक उन्हें बहुत प्रिय थे। शाम को भोजन कर लेने के बाद वे फिर बाहर निकलते थे। मजदूर सभा में प्रायः जाना होता था। कांग्रेस ऑफिस भी जाते थे। 'प्रताप' प्रेस में रात आठ-नौ बजे तक या 10-11 बजे तक जैसी जरूरतें होतीं, रहते थे। सर्दियों में प्रायः रात्रि नौ-दस बजे तक घर अवश्य आ जाते थे और फिर अक्सर परिवार के साथ बैठकर हर तरह की बातें करते। यही उनके अवकाश के क्षण

होते थे, जो वे हम सब भाई-बहनों के साथ व्यतीत करते थे।

उनका सहज-सरल रूप पूरी तरह से बच्चों के सामने उजागर होता था। थोड़ी देर के लिए अपने दु:ख-चिंताओं से मुक्त हो जाते और परिवार के साथ बैठकर उन्मुक्त हास-परिहास में समय व्यतीत करते थे, किंतु ऐसा समय कम ही आता था।

मेरी माँ घरेलू किस्म की महिला थीं। अधिक पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं। बौद्धिक स्तर पर अम्माँ और बाबू के बीच एक बड़ा अंतर था, लेकिन बाबूजी इस बात का एहसास रंचमात्र भी नहीं होने देते। देश में घटित हो रही घटनाएँ, सरकार की दमन नीति, स्वदेशी आंदोलन, कांग्रेस व गांधीजी की गतिविधियों, क्रांतिकारियों की योजनाएँ यह सबकुछ बहुत आहिस्ते - आहिस्ते माँ को समझाते। हम लोगों की उम्र हालाँकि बहुत कम थी, लेकिन माँ को बताई गई वे बातें हम बच्चे भी समझ लेते थे। उन्हीं बातों के सहारे उस अबोध उम्र में भी हम यह समझ सके कि देश और देशवासी किन स्थितियों से गुजर रहे हैं। इसीलिए हमारे मन को विदेशी चीजें कभी मोहित नहीं कर सकीं। वे संस्कार आज भी वैसे के वैसे बने हुए हैं।

माँ और दादी, दोनों का हम सबके लिए यह आदेश रहता था कि जब बाबूजी घर आएँ तो शोरगुल बिलकुल नहीं होना चाहिए। पता नहीं, कब किन विपरीत परिस्थितियों का सामना उन्हें बाहर करना पड़ा हो। सभी जानते थे कि बाबूजी कभी किसी तरह का अन्याय बर्दाश्त नहीं कर पाते। जब उन्हें क्रोध आता था, तो कहते कुछ नहीं थे, बस उनकी मोटी भौहों में बल पड़ जाते और आग्नेय दृष्टि से वे घूरते रहते। सामने वाले की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती। इसीलिए जीने पर उनके पैरों की आहट मिलते ही हम सभी अपने-अपने कमरे में चले जाते। हर आदमी अपने-अपने काम में व्यस्त हो जाता। इस तरह का सन्नाटा देखकर बाबूजी माँ से ही प्रश्न करते कि इस तरह चुप्पी क्यों छाई है? बच्चे कहाँ हैं? और फिर एक-एक की पुकार होती और हम सब खुशी से खिलते हुए उनके सामने पहुँचते। आज भी वह दृश्य रह-रहकर आँखों के आगे मूर्तिमान हो उठता है। लगता ही नहीं कि बचपन कब का पीछे छूट गया और पुकारने वाला, सर्वव्यापी, इतिहास पुरुष हो चुका है।



हमारा परिवार

सबक उनसे सीखें

जवाहरलाल नेहरू

लखनऊ का स्टेशन था। मार्च 1930 का महीना। देहली का समझौता होने पर सत्याग्रही क़ैदी जेलों से छूट रहे थे और गणेशजी भी छूट कर आ रहे थे। हम लोग अपने प्रांत के सेनापति का स्वागत करने स्टेशन पर गए और उनका हँसमुख चेहरा साल भर बाद देख कर खुश हुए। बहुत कुछ बातें करनी थीं, बहुत कुछ मनसूबे गाँठने थे, लेकिन समय कम था। कुछ बातें हुईं, फिर कहा कि बाद में होंगी। वह 'बाद' फिर नहीं आया।

कराची कांग्रेस में वर्किंग कमेटी की बैठक हो रही थी। एक तार आया और उसको देखते ही दिल बैठ गया तथा आँखों में अँधेरा छा गया। यकीन नहीं आता था कि गणेशजी गुजर गए। कांग्रेस की भीड़ में भी सन्नाटा सा मालूम होता था।

गणेशशंकर विद्यार्थी हम सब लोगों के अत्यंत प्यारे साथी और दोस्त थे। जवाँमर्द और निडर, दूरदर्शी एवं निहायत अक़्लमंद सलाहकार भी, हिम्मत न हारने वाले, चुपचाप काम करनेवाले, नाम, पद और प्रसिद्धि से दूर भागने वाले। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए, जो उन्हें इतनी प्यारी थी, अपना सिर हथेली पर लेकर खुशी-खुशी आगे बढ़े थे कि कुछ मज़हबी दीवानों ने उन्हें ज़मीन पर मार गिराया और कानपुर को तथा हम सब को अत्यंत उज्ज्वल रत्न से वंचित कर दिया।

गणेशजी जैसे जिए, वैसे ही मरे और अगर हममें से कोई आरजू करे और अपने दिल की सबसे प्यारी इच्छा पूरी करना चाहे, तो वह इससे अधिक क्या माँग सकता है कि उसमें इतनी हिम्मत हो कि मौत का सामना अपने भाइयों

की और देश की सेवा में कर सके और इतना खुशकिस्मत हो कि गणेशजी की तरह मरे। शान से वह जिए और शान से वह मरे और मर कर जो उन्होंने सबक सिखाया वह हम बरसों ज़िंदा रह कर क्या सिखाएँगे? हम सब उनके जीवन का हाल पढ़ें और उससे सीखें कि इंसान को कैसे जिंदा रहना चाहिए और उनके मरने का हाल पढ़ें और सीखें कि हमको कैसे मरना चाहिए। हमारे देश का एक चमकता हुआ सितारा चला गया, लेकिन उसकी चमक तो बाकी है और मुल्क को रोशन करती है तथा उसकी गरमी मुरझाए हुए दिलों को ज़िंदा करती है।



एक अमूल्य नररत्न

श्रीप्रकाश

जहाँ तक याद आता है, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से प्रथम बार साक्षात्कार का अवसर मुझे सन् 1923 में ही मिला। वे कुछ दिन पहले जेल से निकले थे और हम बनारस के कांग्रेसजनों ने अपने वार्षिक जिला सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए उन्हें निमंत्रित किया था। यह सम्मेलन चंदौली में हुआ था। सब मित्रगण उन्हें गणेशजी के नाम से जानते थे। सम्मेलन में जब वे आए, तो मेरे ही घर ठहरे थे। लंबी जेल यात्रा के बाद वे कृशित हो रहे थे, तथापि उनका उत्साह कुछ कम नहीं हुआ था और सम्मेलन में उनके भाषणों में तीव्रता थी। किस राजनैतिक अपराध के लिए वे उस समय जेल गए थे, इस क्षण यह मुझे याद नहीं आ रहा है। संभवत: यह गिरफ्तारी ब्रिटिश युवराज के सन् 1921 वाले बहिष्कार के संबंध की नहीं थी। उसके पहले ही गणेशजी जेल-यात्री हो चुके थे। संभव है यह सजा मानहानि के संबंध की रही हो, क्योंकि मुझे याद पड़ रहा है कि ताल्लुकेदार साहब गणेशजी के प्रसिद्ध पत्र 'प्रताप' की कुछ लिखाई पर उनके ऊपर मानहानि का मुकदमा लाए थे, सजा भी लंबी थी। उस समय मुझे इनसे बहुत सी बातें करने का अवसर मिला था। जेल के भीतर की उस समय की हालत का कुछ-कुछ पता इनकी बातों से पहलेपहल मुझे लगा। मैं स्वयं जेल प्रथम बार सन् 1930 में गया। उसके बहुत पहले से गणेशजी जेल जाने लगे थे। अब तो जेलों का कायापलट हो गया है। साधारण कैदियों को भी बहुत सी सुविधाएँ दी जाती हैं। जेलों को शिक्षालय का रूप दिया जा रहा है। पर उन दिनों तो जेलों में दंड देना ही शासन का एकमात्र लक्ष्य था।

राजनैतिक कैदियों की भी वही हालत थी, जो साधारण कैदियों की।

गणेशजी को साधारण 'सी' क्लास का ही बंदी माना गया था। उन्होंने मुझे बतलाया कि एक दिन चोरी से मँगाया हुआ अखबार वे पढ़ रहे थे। अखबारों की मनाही थी। एकाएक सुपरिंटेंडेंट उनके बैरक में आ गए थे, गणेशजी केवल लँगोटी पहने हुए थे। उन दिनों 'सी' क्लास कैदियों को साधारण तौर से केवल एक जाँघिया, एक कुरता, एक लँगोटी, एक चादर और एक कंबल पहनने-ओढ़ने को मिलता था। यदि जाँघिया-कुरता को धोकर सूखने को डाल दिया जाए, तो लँगोटी ही पहने रहना पड़ता था। जब सुपिरिंटेंडेंट को इन्होंने देखा, तो झट पीठ पर लंगोटी में अखबार खोंसा और कंबल ओढ़कर वे खड़े हो गए। ऐसे ही रूप में उन्होंने सुपरिंटेंडेंट से बातें कीं और जब वे चले गए, तो जान में जान आई। खैरियत थी कि उनकी तलाशी उस समय नहीं ली गई। अखबार आदि ऐसी वस्तुओं को जेल में मँगाना, जिनकी मनाही थी, 'तिकड़म' के नाम से प्रसिद्ध है। पीछे जेल जाने पर मुझे भी इसका पर्याप्त कटु अनुभव हुआ, यद्यपि तब तक राजनीतिक लोगों के लिए 'ए' और 'बी' की श्रेणी भी निर्धारित हो गई थी और मुझे प्रायः 'ए' में ही रखा गया था। गणेशजी के सरल स्वाभाविक गुणों से मोहित होकर मैं इनकी तरफ पहली भेंट से ही बहुत आकर्षित हुआ। तब से ही इनसे मेरा बराबर स्नेह रहा और मैं कानपुर में इनके यहाँ कई बार ठहरा भी।

इनके जिस विशेष गुण ने मुझे इनकी तरफ खींचा, वह यह था कि ये दूसरों को अच्छे काम को करने में बहुत उत्साहित करते थे और नवयुवकों की सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। इनके 'प्रताप' पत्र के द्वारा कितनों ने ही पत्रकारिता की कला सीखी, और उनसे निकट संपर्क प्राप्त कर कितनों के ही हृदयों में देशभक्ति की भावना जाग्रत् हुई। यह खेद की बात है कि हमारे देश में लोग दूसरों की सहायता बहुत कम करते हैं। यदि कोई कुछ कार्य करना चाहता है, तो उसे लोग निरुत्साहित ही करते हैं। 'पहले तैरना सीखो तब पानी में उतरो' का पाठ पढ़ाते हैं। 'बड़े लिखने चले हैं, पहले लिखना जानो, तब लिखो', ऐसा लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को कहते हुए मैंने सुना है। कार्य करने के अवसर का इच्छुक खुद मुझसे कहा गया है, 'जाओ, नाम कमाओ। जब नाम कमा लोगे, तो मैं भी तुम्हारी प्रशंसा करूँगा।' हमारी उन्नति न कर सकने का मेरी समझ में यही प्रधान कारण है। जीविकोपार्जन संबंधी भी कार्य जब कोई नवयुवक उठाता है, तो उस उद्योग विशेष के सफल व्यक्ति सहायता

और प्रेरणा देने के बदले उसे निरुत्साहित ही करते हैं। कितनों का ही दिल टूट जाता है और जो कार्य साहस करके काम में पड़ा रहता है, उसे कुछ स्वत: ही सीखना पड़ता है। हमारी कलाओं और विद्याओं का भी ह्रास इसी कारण हुआ है। सब लोग अपनी-अपनी कला लेकर मर जाते हैं, और दूसरी पीढ़ी को उन सब बातों का फिर से अनुसंधान करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में उन्नति और उत्कर्ष असंभवप्राय हो गया है।

यह दोष केवल पेशों के ही संबंध में नहीं है, सार्वजनिक जीवन में भी है। गणेशजी उन थोड़े व्यक्तियों में थे, जो होनहार युवकों को स्वयं आमंत्रित करते थे, उन्हें काम सिखलाते थे, उनका उत्साह बढ़ाते थे, और उन्हें योग्य कार्यकर्ता बनाते थे। काशी विद्यापीठ के कई होनहार नवयुवकों को मैंने उनके पास बीच-बीच में भेजा और उन्होंने सहर्ष अपने यहाँ काम देकर उन्हें कार्यकुशल पत्रकार बनाया। विशिष्ट व्यक्तियों की प्रशंसा और आराधना करने की प्रथा हमारे देश में है। हम इतना कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं, पर यदि हम किन्हीं बड़े लोगों को याद करते हैं, तो उनकी प्रशंसा करने मात्र से हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। उनके जीवन से हमें अपने लिए कुछ शिक्षा भी लेनी चाहिए। गणेशजी से हम सभी चाहे छोटे हों, चाहे बड़े हों, यह शिक्षा ले सकते हैं कि जो कुछ हम जानते हैं उसे दूसरों को भी सिखलाएँ, अपनी विद्या और कला को चुराकर न रखें, इससे दूसरों को अपने पैरों पर खड़े होने के लिए सहायता मिलेगी, और साथ ही हमारे काम की परंपरा भी बनी रहेगी। उसी से हमारी दोनों की ही उन्नति होती रहेगी।

गणेशजी बड़े साहसी पुरुष थे और जो कुछ वे ठीक समझते थे, उसे वे कर ही डालते थे। पत्रकारिता के भीतर का हाल जो नहीं जानते, उन्हें शायद समझना संभव न हो, पर वास्तव में यह बड़ा कठिन और जटिल व्यवसाय है। यह बड़े उत्तरदायित्व का भी काम है। इसमें खतरा भी बराबर उठाना पड़ता है। यदि मासिक पत्रिका हो या साप्ताहिक भी हो, तो संभव है कि संपादक स्वयं उन सब लेखों को देख ले जो उसमें छपते हैं, और बिना उसकी अनुमति के कुछ न छप सके, परंतु दैनिक पत्र में ऐसा संभव नहीं हो सकता। सहायकों पर संपादक को आश्रित रहना पड़ता है। कार्यालय में दिन-रात काम होता है। गणेशजी ऐसे प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बाहर के भी बहुत से काम लगे रहते थे। उनके लिए यह संभव नहीं हो सकता था कि जो कुछ दैनिक

'प्रताप' में छपे, उसकी एक-एक पंक्ति को स्वयं ही पहले से देख लें। सहायकों के अविवेक के कारण कितने ही संपादकों को कष्ट उठाना पड़ा है। गणेशजी को भी बार-बार ऐसा करना पड़ा। संपादक के बिना जाने ही कभी कोई सहायक ऐसा समाचार प्रकाशित कर देते हैं जिससे किसी का अपमान हो जाता है, कोई ऐसा लेख या टिप्पणी भी छाप देते हैं जिससे कानून का उल्लंघन हो जाता है। संपादक फँसता है। लोग समझते हैं संपादक ने जान-बूझकर ऐसा किया। वास्तव में वह निर्दोष रहता है, पर कानून तो उसे नहीं ही छोड़ता।

साधारणत: दैनिक पत्रों में संपादक के नाम को प्रकाशित करने का नियम पहले नहीं था। इंग्लैंड में अब भी संपादकों का नाम नहीं प्रकाशित होता। बहुत से लोग तो जानते ही नहीं कि अमुक पत्र का कौन संपादक है। इसी प्रकार अपने देश में भी था, पर ब्रिटिश शासन के समय पीछे यह कानून बनाया गया, जिससे कि मुद्रक और प्रकाशक के साथ-साथ संपादक का नाम भी छापना आवश्यक हुआ। सन् 1927 या 28 की बात होगी। किसी मुकदमे के दौरान 'प्रताप' में कुछ टिप्पणी छप गई थी। अदालत की मानहानि का मुकदमा गणेशजी के ऊपर लाया गया। पंडित कपिलदेव मालवीय ने इनकी पैरवी की। पंडित मोतीलाल नेहरू से भी राय ली गई। सबका कहना था कि यह तो एक सांकेतिक त्रुटि की ही बात है, इसके लिए खेद प्रकट करने में कोई दोष नहीं है। मुकदमा इलाहाबाद के हाईकोर्ट में था। मैं भी उस समय वहाँ गया था। सबने ही गणेशजी पर बहुत जोर दिया कि वे औपचारिक रूप से खेद प्रकट कर दें। वे नहीं ही मानने को तैयार हो रहे थे। उन्होंने कहा कि थोड़े दिन जेल और हो आएँ, कोई हर्ज. नहीं। कई बार हो आए, एक बार और सही। वास्तव में जेल जाने को तैयार होकर वे कानपुर से इलाहाबाद आए हुए थे। संपादक की तो जिम्मेदारी होती ही है, पर वे यदि चाहें तो उस लेखक या उप संपादक का नाम दे सकते हैं जिसके कारण दोष आ पड़ा, पर कोई भी सम्मानित संपादक ऐसा नहीं करता। गणेशजी कैसे कर सकते थे। उनके कार्यालय में त्रुटि चाहे किसी से भी क्यों न हुई हो, जिम्मेदारी वे स्वयं ही लेते थे। इस मामले में भी ऐसा ही हुआ।

तीन जजों का इजलास बैठा। हम लोगों के कहने से उनकी तरफ से खेद प्रकाशन की दरख्वास्त पंडित कपिलदेव मालवीय ने पेश कर दी। मुकदमा खत्म हुआ। गणेशजी को संतोष नहीं हुआ। उनको दु:ख ही रह गया कि हम लोगों ने उन पर क्यों अनुचति दबाव डाला। उसकी चोट उनके मन पर बहुत दिनों

तक बनी रही। जब चार-पाँच वर्ष पीछे उन्होंने भयंकर हिंदू-मुसलिम दंगे के समय अपने प्राणों की आहुति दी, तब हम सबको ही दु:ख रह गया कि उन्हें उससे रोकने में कोई समर्थ न हुआ। देश ने उस समय उनके असीम साहस के कारण एक अमूल्य नररत्न खो दिया। यह सन् 1931 की बात है, जब सांप्रदायिकता ने कानपुर में घोर रूप धारण किया था और भयंकर दृश्यों की वह रंगभूमि बन रहा था।

सन् 1925 में कानपुर में कांग्रेस हुई थी। उसके संबंध में सभी कार्यों का भार गणेशजी के ही ऊपर पड़ा। जिन सब लोगों को ऐसे कामों को करने-कराने का अनुभव है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि प्राय: सारे काम का भार एक-दो व्यक्तियों के ही ऊपर पड़ जाता है। बाकी लोग तो प्रदर्शन या टीका-टिप्पणी करने के लिए ही रहते हैं। वही दशा उन दिनों गणेशजी की थी। उन्हें दौड़ते-घूमते, परेशान देखकर मुझे दया आती थी। उस अधिवेशन की सभानेत्री श्रीमती सरोजिनी नायडू थीं। कांग्रेस में काफी मतभेद था। कुछ दिन पहले स्वराज्य दल की स्थापना हो चुकी थी। पंडित मोतीलाल के नेतृत्व में केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा में कांग्रेसजन मौजूद थे। पुराने खयाल के कांग्रेस वाले व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार ही चाहते थे। इस मामले पर कांग्रेस के रंगमंच से उस अधिवेशन में काफी गरम-गरम बहसें भी हुईं। एक-दूसरे की खूब चुटकी भी ली गई।

गणेशशंकर विद्यार्थी का रुझान स्वराज्य पार्टी की ही तरफ रहा और दूसरे वर्ष सन् 1926 में वे कानपुर से प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के लिए खड़े भी हुए। वहाँ के बहुत बड़े पूँजीपति ने उनका विरोध किया था, पर वह जीत नहीं सका। गणेशजी की ही विजय हुई। कांग्रेस के समय इन्हीं पूँजीपति की गणेशजी से काफी मैत्री थी और उन्होंने सब कांग्रेस के प्रतिनिधियों को भोज भी दिया था। गणेशजी का अपने नगर में बहुत मान था। सभी दल के लोग इनका आदर करते थे। कानपुर सदा से ही मिल मालिकों और पूँजीपतियों का घर रहा है। ये सभी इनका बहुत सत्कार करते थे। सन् 1926 के निर्वाचन संघर्ष का उनको भी दु:ख रहा, पर राजनीति में ऐसे संघर्षों में जाना ही पड़ता है, और गणेशजी ने बिना किसी कटुता के ऐसा किया। उसके बाद भी सबसे उनकी मैत्री बनी ही रही और सबके प्रेम और विश्वास के पात्र वे स्वयं सदा रहे।

यहाँ पर यह कह देना भी असंगत न होगा कि गणेशजी जैसे साधु जीव

को भी अपने बहुत से साथियों से दु:ख पहुँचता ही था। उन्होंने मुझसे कई बार कई का नाम लेकर कहा कि ये तो बड़े कृतघ्न निकले। इनके लिए इतना किया गया, पर सबकी बुराई ही करते फिरते हैं, इत्यादि। ऐसा तो संसार में सभी का अनुभव रहता है। यह कोई नई बात नहीं थी, किंतु गणेशजी के कोमल हृदय को इससे चोट पहुँचती थी। तथापि वे दूसरों की सहायता करने में कभी कोई संकोच नहीं करते थे। पाठकों को जानकर शायद कुतूहल हो कि चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह आदि ऐसे क्रांतिकारी भी इनके शिष्य रह चुके थे। राजनीतिक पीड़ितों से इन्हें विशेष प्रेम था और इन्होंने ऐसी संस्था भी कायम की थी[1] कि इनकी सहायता के लिए लोग अपनी आय में से एक प्रतिशत या एक रुपया दें। इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली, पर उनका शुद्ध आशय इससे स्पष्ट प्रतीत होता है। मैं भी एक ही बार चंदा भेज सका। संस्था शीघ्र ही बंद हो गई। उनसे स्वयं जो कुछ हो सकता था, वे ऐसे दुखियों की सहायता करते ही थे। जिनको अपनी मैत्री एक बार देते थे उनसे वास्तव में बड़ा स्नेह बनाए रखते थे। चाहे ये उन्हें छोड़ दें, वे उन्हें नहीं ही छोड़ते थे। मेरे ऊपर तो वे बड़ी ही कृपा रखते थे। जब-जब कानपुर के स्टेशन से गुजरता था और उन्हें खबर दे देता था, तो वे मुझसे मिलने स्टेशन पर अवश्य आते थे।

1929 में संयुक्त प्रांत का (आज के उत्तर प्रदेश का) प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन फर्रुखाबाद में हुआ था, उसके ये अध्यक्ष थे। उत्तर प्रदेश में हालाँकि यह अच्छा नियम था कि कोई व्यक्ति प्रांतीय समिति का अध्यक्ष एक वर्ष से अधिक नहीं हो सकता था, जिसके कारण हममें से बहुतों को अध्यक्ष होने का सुअवसर मिला। प्रांतीय सम्मेलन का अध्यक्ष समिति का भी अध्यक्ष होता था। इस कारण अध्यक्षता के लिए हम अपने में से ही लोगों को चुनते थे। दूर-दूर बाहर नहीं जाते थे। अन्य प्रांतों में बीसों वर्षों तक एक ही अध्यक्ष बने रहते थे और दूसरों को न काम करने, न काम सीखने का मौका मिलता था। सम्मेलन के अध्यक्ष होने के कारण उस वर्ष प्रांतीय समिति के भी ये अध्यक्ष

---

1. 'युक्त प्रांतीय राजनैतिक कार्यकर्ता परिवार सहायता संघ' नामक संस्था गठित हुई थी। गणेशजी मंत्री थे। इसमें 1929 से मई 1930 तक मात्र 552 रु. एकत्र हुआ था। मई 1930 में गणेशजी के जेल चले जाने से कार्य ठप हो गया। संदर्भ : मोतीलाल भार्गव-ग.शं.वि. पृ. 195

हुए। मैं पहले से ही उसका मंत्री था। इसके बाद इनके साथ कांग्रेस का सक्रिय कार्य करने का मुझे सुअवसर मिला। काशी विद्यापीठ की निरीक्षक सभा में तो इनका साथ पहले से ही था। फर्रुखाबाद से हम सब साथ ही कानपुर आए। जवाहरलालजी भी साथ थे। सब लोग इन्हीं के यहाँ गए।

मुझे याद है कि जब गणेशजी हम सब लोगों के भोजनादि के प्रबंध के लिए भीतर गए, तो जवाहरलालजी ने इनके टेबुल की अस्त-व्यस्त दशा देखकर सब पुस्तकों, पत्रों, कलम-दवात आदि को सुव्यवस्थित रूप से रख दिया। जब गणेशजी आए तो यह सब देखकर अवश्य ही उन्हें असमंजस हुआ, पर जवाहरलालजी ने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें अच्छी शिक्षा दी। जवाहरलालजी स्वयं बड़े ही सुव्यवस्थित पुरुष हैं और उनकी सब वस्तुएँ यथास्थान ही रहती हैं। मैं नहीं कह सकता कि इसका गणेशजी पर कोई स्थायी प्रभाव पड़ा, पर शीघ्र ही उनके टेबुल की पहले की तरह दुर्दशा हो गई। उस दिन की एक और घटना मुझे याद आती है, जो संभवत: उल्लेखनीय है। कोई यूरोपीय वायुयान चालक अपना जहाज कानपुर में लाए थे और दस-दस रुपए पर यात्रियों को पाँच-पाँच मिनट के लिए आकाश की सैर कराते थे। गणेशजी और मैंने भी उड़ने का प्रथम बार अनुभव उसी समय किया। ये चालक पीछे काशी भी आए, जहाँ मेरे कुटुंबीजनों और अन्य कितने ही नागरिकों ने हवा में उड़ने का रसास्वादन किया।

गणेशजी बड़े ही सद्‌गृहस्थ थे। सार्वजनिक कार्यों के साथ-साथ वे यथासंभव अपनी स्त्री, बच्चों की भी फिक्र रखते थे। मेरी स्त्री का देहांत सन् 1926 में हुआ। उसके कुछ ही दिनों बाद किसी अवसर पर वे मेरे यहाँ काशी में ठहरे हुए थे। मित्रों के बीच जैसी आपबीती और जगबीती बातें होती हैं, वैसे ही हो रही थीं। उन्होंने मेरी स्थिति को देखकर और छोटे-छोटे बच्चों की फिक्र करते हुए मुझे पाकर सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए अपनी एक कथा भी सुनाई। उन्होंने कहा कि एक अवसर पर 'प्रताप' कार्यालय में संपादकीय कार्य करते हुए बहुत विलंब हो गया। बहुत रात्रि कर वे घर लौटे। उनका मकान उनके यंत्रालय के पास ही था। जब वे आए तो देखा कि उनकी स्त्री रो रही है।

चिंतित होकर उन्होंने पूछा कि क्या बात है, क्यों रो रही हो? जाड़े की रात थी। उनकी स्त्री ने कहा कि हमारे पड़ोसी साहब ने अभी हाल में दूसरी शादी की है। पहली स्त्री से गणेशजी की स्त्री की मित्रता थी। उस रात को पति की प्रतीक्षा में बैठे हुए उन्होंने बगल के मकान से बच्चों के रोने की आवाज

सुनी। अपने घर के बरामदे से वे उस मकान के बरामदे में सरलता से डाँककर जा सकती थीं, सो चली गईं, देखा बच्चे जाड़े में ठिठुर रहे हैं और उनको देखने वाला कोई नहीं है। उनके पिता और उनकी नई स्त्री दरवाजा बंद करके भीतर की कोठरी में सो रहे थे। गणेशजी की स्त्री ने कहा कि मैंने उन बच्चों का ठोंकठाक कर सुलाया और कंबल आदि उन्हें ओढ़ाकर अपने मकान में आकर मैं रोने लगी।

जब गणेशजी ने फिर पूछा कि इसमें रोने की क्या बात है तो उन्होंने कहा कि मैंने सोचा कि जब मैं मर जाऊँगी, तो तुम भी दूसरी शादी कर लोगे। उस समय मेरे बच्चों की भी यही हालत होगी। ऐसा विचार कर मैं रो रही हूँ। गणेशजी हँस पड़े और अपनी स्त्री से उन्होंने कहा कि तुम मेरा विश्वास रखो, यदि तुम मर भी गईं, तो मैं कभी दूसरी शादी नहीं करूँगा। दिल्लगी करते हुए उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि यदि मन नहीं मानेगा तो मैं इधर-उधर हो आऊँगा, पर किसी स्त्री को घर में नहीं लाऊँगा। गणेशजी की दुःखद मृत्यु सन् 1931 में हुई। उनकी स्त्री उनके बाद बहुत वर्षों तक जीवित रहीं, पर यह कहानी मेरे मन में बैठी रह गई। इस घटना से गणेशजी के कुटुंब-प्रेम और साधु भावनाओं का भी अच्छा परिचय मिलता है। उन्हें भोजन आदि के संबंध में कोई व्यर्थ का विचार नहीं था। मैं यह नहीं खाता, वह नहीं खाता का आडंबर वे नहीं रचते थे, जैसा उन दिनों बहुत से लोग करने लगे थे। ऐसी अवस्था में उनके यहाँ अतिथि होने में और उन्हें अपने यहाँ अतिथि बनाने में सुख-ही-सुख था।

गणेशजी की मैत्री बड़ी जबरदस्त होती थी। जब किसी को वे अपने साथ ले लेते थे, तो उसके योग-क्षेम की चिंता स्वयं उनकी ही हो जाती थी। मुझे दुःख है कि अपने देश में लोग मैत्री बहुत कम निबाहते हैं। जब तक किसी से अपना मतलब होता है, तब तक उससे हम प्रेम करते हैं, उसे छोड़ देने में हमें कोई संकोच नहीं होता। यह गणेशजी का नियम नहीं था। जिसको वे एक बार अपना लेते थे, उसको छोड़ना नहीं जानते थे। ऐसा बहुतों का अनुभव होगा। मेरा भी यही था। सन् 1930 के नमक सत्याग्रह के आंदोलन के समय वे संयुक्त प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। मैं उस समय प्रांतीय कांग्रेस कमेटी और सर्व भारतीय कांग्रेस कमेटी दोनों का ही मंत्री था। नमक सत्याग्रह के सिलसिले में अन्य स्थानों की तरह काशी में भी रोज लोग जेलखाने जा

रहे थे। एक दिन काफी बड़ा जुलूस निकला, जिसमें सभी स्थानीय विशिष्ट कार्यकर्ता मौजूद थे। मैं भी उसमें था। उस दिन कोई पकड़ा नहीं गया। मैं स्वयं कुछ दिन पीछे पकड़ा गया। गणेशजी ने जब जुलूस का समाचार सुना, तो वे बहुत अप्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि सभी लोगों को एक साथ नहीं निकलना चाहिए था। यदि सब पकड़ लिए गए होते, तो शहर का सारा काम ही बंद हो जाता। यह घटना इस बात को दिखलाती है कि वे सभी कार्यकर्ताओं की तरफ नजर रखते थे और समुचित रूप से ही सब काम करने-कराने की व्यवस्था के संबंध में तत्पर और दत्तचित्त रहते थे। सबके हितों का भी वे ध्यान रखते थे। वास्तव में गणेशजी बड़े कार्यकुशल व्यक्ति भी थे। उनको कोई कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सकता था। उनका मूल स्थान ग्वालियर था, इसके कारण कानपुर की निर्वाचन सूची में इनके नाम को चढ़ाने में दिक्कत भी हुई थी। पहले से ही इनकी कारवाइयों से वहाँ के महाराज और शासकगण असंतुष्ट थे। एक प्रकार से उन्होंने इन्हें निर्वासित कर रखा था, पर जब उनका नाम हुआ तो अवश्य ही वहाँ के महाराज की भी इच्छा हुई कि इन्हें अपना मानें और इनकी कीर्ति में स्वयं भी कुछ हिस्सा लें। उन्होंने गणेशजी को निमंत्रित किया। बहुत संकोच कर शिष्टाचार निबाहने के लिए वे गए। महाराज ने इन्हें शॉल उपहारवत दिया। इसे लेने में उन्हें असमंजस हुआ, पर 'नहीं' भी कैसे करते, इस कारण ले लिया। मुझसे कहते थे कि उस शॉल का मैंने एक दिन भी प्रयोग नहीं किया। कहीं बक्से में पड़ा होगा। कीड़े खा रहे होंगे। संभवत: महाराज इनसे कुछ अपना काम भी निकालना चाहते थे, पर ये अपने अलग ही स्वतंत्र रह गए और इनका कार्य क्षेत्र कानपुर ही बना रहा। वे बड़े स्वाभिमानी पुरुष थे। मुझसे एक बार किसी अदालत की कारवाई का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि अजब संसार है, मैं आयकर नहीं देता तो मेरी बात की कोई मान्यता ही नहीं। जो कोई आयकर देता है, उसका पद बड़ा ऊँचा माना जाता है। उसकी गवाही की बड़ी कदर होती है। यह स्थिति उन्हें बहुत ही असह्य प्रतीत होती थी। बात भी ठीक है।

सन् 1931 के मार्च महीने में कराची में कांग्रेस हुई। सरदार वल्लभभाई पटेल उसके अध्यक्ष थे। मैं उसका प्रधानमंत्री था। सन् 1930 के नमक सत्याग्रह का आंदोलन समाप्त हो चुका था। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री रामसे मैकडानल ने गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया, जिससे भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान

हो। स्थिति पर परस्पर विचार-विनिमय करने के लिए कांग्रेस की कार्य समिति के सब सदस्य जेल से छोड़ दिए गए और उनकी बैठक प्रयाग में हुई। थोड़े ही दिन पहले पंडित मोतीलाल नेहरू की मृत्यु हो चुकी थी। पीछे गांधीजी और उस समय के वाइसराय लार्ड इरविन में शांति की बातचीत दिल्ली में हुई, जिससे कि यह संभव हो सके कि कांग्रेस के प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन में लंदन जाएँ। इस बातचीत के बाद ही कराची में कांग्रेस हुई। दिसंबर, सन् 1929 में लाहौर में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उसी के बाद नमक सत्याग्रह का आंदोलन हुआ। सन् 1931 में कराची में कांग्रेस ने अपनी आंशिक सफलता मनाई।

कांग्रेस हो रही थी कि सूचना मिली कि कानपुर में भयंकर हिंदू-मुस्लिम दंगा हो गया और गणेशजी ने, जिनकी हम सब लोग कराची में प्रतीक्षा कर रहे थे, दंगा करनेवालों के बीच में अपने को डाल दिया और उनके बर्छों से वे मारे गए। सारा कांग्रेस का माहौल इस समाचार से सन्न हो गया। कानपुर के मित्रगण फौरन वापस रवाना हो गए। उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधिगण तो अवाक् रह गए। पृथक् से सभा कर उन्होंने इस भीषण दुर्घटना पर दुःख प्रकट किया। उनके स्मारक बनाने के भी प्रस्ताव हुए। कांग्रेस ने मेरे पिताजी डॉक्टर भगवानदास की अध्यक्षता में समिति नियुक्त की, जिसे कानपुर के दंगे के कारणों का अन्वेषण करने और दंगों के निवारण के उपाय बतलाने का काम सुपुर्द किया गया। समिति बहुत दिनों तक काम करती रही और इसने जो विवरण उपस्थित किया, उसे उस समय के शासन ने जब्त कर लिया। गणेशजी की यह विशेषता थी कि यद्यपि सार्वजनिक नेता होने की सब योग्यता वे रखते थे, पर अपने प्रदेश में ही काम करने से वे संतुष्ट थे। उन्होंने ख्याति की खोज कभी नहीं की। यदि यह स्वयं उनके पास दौड़ी आई तो ठीक, नहीं तो उन्हें स्वयं इसकी चिंता नहीं थी। खेद है, हम सब उनका समुचित स्मारक न बना सके। 'प्रताप' पत्र उनकी कीर्ति यथासंभव स्थापित किए हुए है। हाल में कुछ मित्रों के उद्योग से कानपुर में उनकी मूर्ति की स्थापना भी हुई है, पर उनके वास्तविक स्मारक का रूप तो कुछ दूसरा ही हो सकता है। हममें से बहुत से लोग भाषण आदि में तो बड़ा साहस दिखलाते हैं। रंगमंच पर बड़े वीर भी हो जाते हैं, पर जब शारीरिक कष्ट सहन और प्राण के संकट की बात आती है, तो आगे नहीं बढ़ पाते। गणेशजी ने अपने असीम बलिदान से यह सिद्ध किया कि उनमें नैतिक साहस के साथ-साथ शारीरिक साहस भी अत्यधिक मात्रा में था। सांप्रदायिक

विद्वेष को दूर करने के लिए ये ही देश में एकमात्र ऐसे व्यक्ति निकले, जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति अपने आदर्श को निबाहने के लिए स्वेच्छा से दी।

गणेशजी अपने जीवन से हमें कई बातें सिखलाते हैं। सब लोग उनके जैसे वीर नहीं हो सकते, पर अपने-अपने सीमित क्षेत्र में उनका कुछ तो अनुसरण कर ही सकते हैं। हम भी उनकी तरह मैत्री निबाह सकते हैं, निर्बलों की सहायता कर सकते हैं, छोटों को उत्साहित कर उन्हें कार्य सिखला सकते हैं, साहस के साथ अपने आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न कर सकते हैं, बिना स्वार्थ के सार्वजनिक कार्य कर सकते हैं, अपने आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए दूसरों के भावों का आदर कर सकते हैं, और विस्तृत सार्वभौमिक क्षेत्र में यश कमाने की चिंता में न पड़ अपने ही अड़ोस-पड़ोस की देखभाल कर सकते हैं तथा पास के लोगों की ही सेवा कर अपने को संतुष्ट रख सकते हैं।

वास्तव में गणेशजी की असामयिक मृत्यु से हमारे प्रांत का ही नहीं, सारे देश का एक बड़ा सुंदर पुरुष शिरोमणि उठ गया। यदि वे जीवित रहते तो स्वराज्य को पुष्ट करने में बहुत बड़ा योग देते। मेरे जैसे लोग जो उनके निकटस्थ साथी और मित्र थे, उन्हें बराबर स्मरण करते हैं और दुःख करते हैं कि वे आज हमारे बीच में नहीं हैं। उनके पथ-प्रदर्शन, उनके सहयोग से हम वंचित हैं। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति और सद्‌गति प्रदान करे और हमें बुद्धि तथा शक्ति दे कि हम भी उनके जीवन से कुछ शिक्षा ग्रहण कर उनके साथी व देशवासी कहलाने के योग्य अपने को सिद्ध कर सकें।



एक अमूल्य नररत्न

गणेशजी की निर्भीकता

डॉ. वृंदावनलाल वर्मा

बात सन् 1913 की है।

महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिल चुका था। समाचार मिला कि वे आगरा कॉलेज के विद्यार्थियों को दर्शन देने के लिए बुलाए गए हैं। मैं उन दिनों आगरा कॉलेज में कानून का पहले साल का विद्यार्थी था। जब महाकवि आए, कॉलेज के सामने वाले बड़े मैदान में विद्यार्थियों और नागरिकों की बड़ी भीड़ थी। मैं बड़ी उत्सुकता के साथ उनका व्याख्यान सुनने के लिए गया। मैं और पं. बदरीनाथ भट्ट—विख्यात लेखक—पास-पास बैठे हुए थे। रवींद्र बाबू ने गाकर गीतांजलि के एक गीत का पाठ किया। कंठ बहुत सुरीला और रूप बहुत सुंदर, भव्य। गीत पाठ के बाद महाकवि ने जो कुछ कहा था उसका सार यह है कि जब तक मुझे नोबेल पुरस्कार नहीं प्राप्त हुआ था, मैं नगण्य सा था, विदेश में सम्मान हुआ तो मेरे देशवासी मुझे मान्यता देने लगे। अपने देश का यह हाल देखकर ग्लानि होती है। उनकी यह बात सुनकर हमारे आगे बैठे हुए एक दुबले-पतले से व्यक्ति के मुँह से निकला, 'ओफ!' मैंने भट्टजी से इशारे में पूछा, 'यह कौन है?' उन्होंने धीरे से बतलाया, ''गणेशशंकर विद्यार्थी, 'सरस्वती' के सहकारी संपादक, जो कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' निकाल रहे हैं। परिचय कराता हूँ।'' परिचय हुआ। यह परिचय धीरे-धीरे गहरी मित्रता में पलट गया और अंत में हम दोनों के संबंध सगे भाइयों जैसे हो गए।

कानपुर जाने से पहले विद्यार्थीजी ने आग्रह किया, ''प्रताप के संवाददाता बन जाओ।'' मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया।

मैं बराबर समाचार भेजा करता था। कुछ समय उपरांत उन्होंने कहा कि

कभी-कभी लेख भी भेजा करो। हम लोगों ने 'गोलमालकारिणी सभा' बनाई। भट्टजी गोलमालानंद के नाम से लिखते थे, स्वर्गीय मन्नन द्विवेदीजी गजपुरी गड़बड़ानंद के नाम से और मैं गिटपिटानंद के नाम से। ये नाम विद्यार्थीजी से सलाह करके ही रचे गए थे।

व्यंग्य के माध्यम से हम तीनों किसी-न-किसी समस्या पर चोट किया करते थे और विद्यार्थीजी बिना किसी हिचक के प्रकाशित कर दिया करते थे।

निर्भीकता तो मानो विद्यार्थीजी के कण-कण में निहित थी। 'प्रताप' की पुरानी मिसिलों और उन नोटिसों से यह बात प्रमाणित हो जाएगी जो संभवत: अब भी 'प्रताप' कार्यालय में होंगी।

मैने वकालत आरंभ कर दी थी। विद्यार्थीजी एक दिन झाँसी आए। हमारे घर में उनसे परदा नहीं होता था। मुझसे हँसकर बोले, ''जी चाहता है कि तुम्हारा गाउन (वकील चोगा) फाड़कर फेंक दूँ। इससे कचहरियों को कोई हानि नहीं पहुँचेगी, साहित्य को लाभ होगा।'' मेरे कुटुंब के लोग दंग रह गए, परंतु जब समझ में बात आई तब उनके मन में विद्यार्थीजी के प्रति बहुत आदर उत्पन्न हुआ।

'प्रताप' में एक बार एक लेख ग्वालियर के उच्च शासन के विरुद्ध छपा। उस समय ग्वालियर राज्य के अधीश महाराज माधवराव थे। विद्यार्थीजी के पास बुलावा पहुँचा। विद्यार्थीजी ग्वालियर गए। मैं साथ था। महाराज उनसे अपने महल में मिले। उस समय वहाँ उनके कई सचिव बैठे हुए थे।

जैसे ही विद्यार्थीजी पहुँचे, महाराज खड़े हो गए।

बोले, ''आइए, आप कीजिए राज्य।''

उनका स्वर कड़ा होना और यह वाक्य सब व्यंग्य के रूप थे। गणेशजी की अदम्यता को महाराज नहीं जानते थे।

गणेशजी ने शांत स्वर में चुनौती का उत्तर दिया, ''तो क्या इसी के लिए बुलाया गया हूँ?''

सारा व्यंग्य चित हो गया! महाराज को विद्यार्थीजी का आदर करना पड़ा। उन्होंने शासन संबंधी अपनी कठिनाइयाँ बतलाईं और कहा कि 'प्रताप' में लेख गलत आधार पर छपा है। महाराज ने अनुरोध किया कि, ''आप इस लेख के संबंध में प्रकाशित कर दीजिए कि गलत था।''

निर्भीक, बेलौस संपादक का उत्तर मिला, 'आप खंडन भिजवा दीजिए,

मैं उसे भी प्रकाशित कर दूँगा।'

महाराज को यह अच्छा नहीं लगा। उन्हें इस प्रकार की बातें सुनने का अभ्यास नहीं था, वैसे वे थे बहुत योग्य और कुशल शासक।

कुछ इधर-उधर की बात करके महाराज ने उस लेख के लिखने वाले का नाम जानना चाहा, क्योंकि उन्हें संदेह था कि ग्वालियर राज्य के ही किसी व्यक्ति का लेख है। गणेशजी ने तुरंत इनकार कर दिया, ''यह संपादक-धर्म के बिलकुल विरुद्ध है, महाराज! हाँ, आप खंडन भेजें तो जरूर प्रकाशित कर दूँगा।''

जब विद्यार्थीजी चलने लगे, महाराज के निजी सचिव ने हम लोगों के आने-जाने का यात्रा-व्यय देना चाहा, परंतु विद्यार्थीजी ने उसे छुआ तक नहीं।

''परमात्मा की दया से 'प्रताप' की ऐसी स्थिति है कि उसे आपका पैसा नहीं चाहिए।''

हम लोग लौट आए।

सन् 1920 में जब चिंतामणिजी झाँसी जिले से खड़े हुए, हम दोनों में राजनीतिक मतभेद हो गया, पर स्थिति से मैं विवश था और वे भी, परंतु यह सब होते हुए भी हम दोनों के परस्पर सौहार्द में लेशमात्र का भी अंतर नहीं आया। जब कभी झाँसी आए, मेरे घर ही ठहरते थे। कितने उदार थे वे!

सन् 1927 में जब मैंने 'गढ़ कुंडार'[1] उपन्यास लिखा, उसकी पांडुलिपि गणेशजी के पास भेज दी। उन्हें उपन्यास इतना रुचा कि पांडुलिपि लेकर चर्चा करने के लिए झाँसी आए। मैं कहीं बाहर गया था। एक लंबी चिट्ठी पांडुलिपि में रखकर कानपुर लौट गए।

निर्भीक, त्यागी, उदार, कुशाग्र-बुद्धि, प्रतिभा-संपन्न इत्यादि तो थे ही, हँसते भी कितना थे।

जब उन पर और श्री शिवनारायणजी (प्रताप के प्रकाशक) पर रायबरेली में मानहानि का मुकदमा चला, मैं काफी समय तक वहाँ साथ रहा। जिनके संवादपत्र के कारण मुकदमा चला था वे भी हम लोगों के साथ ठहरे हुए थे।

---

1. 'गढ़ कुंडार' उपन्यास का नायक 'खंगार' है। देशप्रेम, बलिदान तथा साहस के अपार गुणों के कारण यह पात्र गणेशजी को बहुत कुछ आत्ममुग्ध करता था। इसकी समीक्षा में उन्होंने सराहना की थी।

उषाकाल में वे 'स्वराज्य गीता' नाम की किसी पुस्तक से इतने ऊँचे स्वर में पाठ किया करते थे कि हम लोग तो क्या, सारा मुहल्ला बेहाल हो जाता होगा और बेसुरे भी विकट थे। उनके उस विकट गायन पर गणेशजी उस मुकदमे की चिंताओं के बीच भी हँसी के मारे लोट-पोट हो जाते थे।

सन् 1913 की प्रथम भेंट से लेकर अठारह साल पर्यंत कभी कोई ऐसा मौका नहीं आया जब हम दोनों ने एक-दूसरे को जरा भी अलग पाया हो।

मेरा उनका इतना घनिष्ठ संपर्क रहा कि जब समाचार-पत्र में पढ़ा कि गणेशजी नहीं रहे, तब बिलकुल विश्वास नहीं हुआ। जिनको बचाने गए उन्होंने मार दिया। निर्भीक तपस्वी जो दूसरों पर कम, पर अपने ऊपर अधिक हँसता था, वह जो दूसरों की भलाई में अपने रोम-रोम तक की आहुति देने के लिए तैयार रहता था—वह नहीं मरा, वह कभी नहीं मरेगा। अमर है वह तो!



गणेशजी की निर्भीकता

गणेशजी की माता

शिवव्रत नारायण

दयालु प्रकृति गणेशजी ने अपनी माता से प्राप्त की थी। उनकी माता का हृदय बड़ा कोमल था। वे किसी को कष्ट या बीमारी में देखकर द्रवीभूत हो जाती थीं तथा यथाशक्ति उसकी सेवा करती थीं। संवत् 1956 के अकाल में प्राय: अपने गरीब पड़ोसियों को भूखा देख कर उनकी सहायता अन्न से कर देती थीं। एक बार एक पास की औरत आई और बोली, ''माताजी मेरी लड़की को माता (चेचक) निकली हैं। आप उसको खाने को गेहूँ की रोटी दिया करें।'' जब तक वह लड़की अच्छी न हुई, वे उसको बराबर रोटी देती रहीं।

स्वभाव से बड़ी निर्भीक थीं वे। एक बार विद्यार्थीजी के पिता गर्मियों में सो रहे थे। एक साँप आकर उनके सर पर (सिरहाने) बैठ गया। विद्यार्थीजी की माता ने उसको हिम्मत करके कपड़े से पकड़ा और कमरे के बाहर फेंक दिया।

छोटे बच्चों को अगर कोई डाँटता-डपटता, तो वे कहा करतीं कि इसको डाँटो मत, इसका दिल छोटा हो जाएगा। यदि बच्चे किसी बात का हठ करते, तो घर से या बाजार से चीज मँगा देती थीं। उनका कहना था कि बच्चे के हठ को पूर्ण न करना उसके दिल को कमजोर करना है।

दृढ़ता उनमें इतनी थी कि विद्यार्थीजी के मरने पर वे हरि बाबू (गणेशजी के ज्येष्ठ पुत्र) की माता और बच्चों को बराबर ढाढ़स देती रहीं, आप बहुत कम रोईं, लेकिन क्वार सुदी 13 को जिस दिन गणेशजी का जन्म दिवस था, शाम से रोना शुरू किया और चार घंटे तक बराबर रोती रहीं। समझाने-बुझाने पर भी उनका चित्त न माना। इस रोने से उनके दिल पर गहरा सदमा पहुँचा

और उसके बाद उनकी साँस फूलने लगी। दूसरे दिन पं. शिवनारायण मिश्र वैद्य ने जब उनको देखा तो कहा कि रोने की वजह से इनके दिल को गहरा सदमा पहुँचा है, जिसकी वजह से इनके दिल से साँस फूलने लगी है, न कि फेफड़े से जो कि इनके जीवन के लिए हानिकारक है। अंत में इस रोग से 15 दिन बाद वे यह लोक छोड़ परलोक सिधारीं।

विद्यार्थीजी में निर्भीकता और दयालुता का जो भाव था, उसको उन्होंने अपनी माँ से ही उत्तराधिकार में पाया था। वे धार्मिक विचार की थीं। जिस समय गणेशजी गर्भ में थे, वे स्नान कर रामायण का नित्यप्रति पाठ किया करती थीं। पाक-शास्त्र में बड़ी निपुण थीं। सन् 1921 में जब गणेशजी जेल में थे, माताजी ने उनके लिए गुझिया बना कर भेजीं। अन्य लोगों के घरों से भी गुझिया आई थीं, परंतु गणेशजी की गुझिया सब लोगों ने मिलकर एक-दो दिन में खा डालीं। दूसरों की गुझिया रखी ही रहीं, क्योंकि वे उतनी स्वादिष्ट नहीं थीं।



गणेशजी की माता

गणेशजी

मैथिलीशरण गुप्त

'प्रताप' के प्रवर्तक गणेशजी उस पत्र पर एक आदर्श वाक्य रखना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने अंग्रेजी का एक पद्य चुना था, परंतु वे उसका हिंदी रूप देना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि यह काम मैं कर दूँ। फिर भी, मुझसे परिचय न होने के कारण अथवा अपने स्वाभाविक आत्म-सम्मान के कारण उन्हें स्वयं मुझे लिखते हुए संकोच हुआ। अपने एक मित्र से, जो मेरे भी मित्र थे, उन्होंने मुझे लिखवाया। यही हम दोनों के परिचय का सूत्रपात है।

जैसा बना, मैंने पद्य बना दिया और उसे उन्होंने पसंद भी किया, परंतु चार पंक्तियाँ बहुत होती हैं। आदर्श वाक्य जितने छोटे रूप में होते हैं, उतने ही अच्छे लगते हैं। इसलिए पूज्य द्विवेदीजी महाराज ने स्वयं ही दो मौलिक पंक्तियाँ उन्हें लिखी थीं—

''जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर-पशु निरा है और मृतक समान है।''

कहने की आवश्यकता नहीं कि गणेशजी ने कभी अपने गौरव को खर्च नहीं होने दिया और न अपने देश का अभिमान कभी छोड़ा।

'प्रताप' निकला और एक नई आन-बान के साथ। तुरंत उसकी धूम मच गई। गणेशजी के लिखने का ढंग स्वयं उनका अपना था। उनकी लेखनी में एक अपूर्व आभा थी, जिसका तेज प्रतिपक्षी के लिए आतंक रूप था, और अपनों को स्फूर्तिदायक। परंतु यह भी सत्य है कि 'प्रताप' के द्वारा गणेशजी ने जहाँ लोगों को शिक्षा दी, वहाँ स्वयं भी उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। सिखाने के लिए

सीखना भी पड़ता है। 'प्रताप' के द्वारा ये दोनों काम साथ-ही-साथ उन्होंने किए।

उन्हीं दिनों मैं एक बार अयोध्याजी जा रहा था। कानपुर स्टेशन पर मेरे उक्त मित्र मुझसे मिलने आए। उनके साथ एक नवयुवक सज्जन और थे। वे नंगे सिर, धोती-कमीज पहने थे, दुबले-पतले, परंतु सतेज और सुदर्शन, आँखों में उज्ज्वलता और मुख में मंद-मंद मुसकान। मित्र ने मुझे उनका परिचय दिया, ''यही प्रताप के संपादक श्री गणेशशंकरजी विद्यार्थी हैं।'' मुझे आनंद और कुछ कौतूहल भी हुआ। साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने लौटते समय कानपुर उतरने के लिए मुझसे आग्रह किया। मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। थोड़ी ही देर हम लोगों में बातचीत हुई, परंतु मुझे ऐसा जान पड़ा कि हम लोग चिरपरिचित हैं। मैंने उनकी लेखनी पर उन्हें बधाई दी। हँसकर नम्रतापूर्वक तनिक सिर झुकाकर उन्होंने उसे ग्रहण किया। उनकी यह मूर्ति आज भी मेरी आँखों में झूल रही है। परंतु स्वयं वे कहाँ हैं?

गाड़ी छूट गई। मैं बड़ी देर तक उनके विषय में सोचता रहा, तब भी उनके शरीर में हड्डियाँ-ही-हड्डियाँ थीं। मुझे जान पड़ा, मानो हमारी वेदना की दाह से वे धक-धक करके जल रही हैं और उनकी प्रज्वलित लेखनी उन्हीं का एक अंग है, जिसे उन्होंने अपने पार्श्व-पंजर से उखाड़कर उल्का की भाँति अँधेरे में हम लोगों को मार्ग दिखाने के लिए अपने हाथ में ले लिया है। ऐसे पुरुष-श्रेष्ठ से परिचय प्राप्त करके मैंने अपना अहोभाग्य समझा।

लौटकर मैं कानपुर उतरा। आरंभ से ही 'प्रताप' प्रेस अतिथियों के लिए अपना घर सा रहा है। वहाँ मौखिक शिष्टाचार के आडंबर का अभाव था, परंतु अपनों की कमी न थी। खान-पान के संबंध में आज भी मैं 'पुराणपंथी' हूँ। उस समय तो था ही। गणेशजी छुआछूत और कच्ची-पक्की का भेद नहीं रखते थे। परंतु भेद रखने वालों को 'भ्रष्ट' भी नहीं करना चाहते थे। भ्रष्ट शब्द उन्हीं का है। अब तो कभी-कभी विनोद में वे मुझसे कहा करते थे, ''एक दिन तुम्हें भी हम 'भ्रष्ट' करके अपनी पंक्ति में ले लेंगे।'' परंतु इसके लिए उन्होंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। फिर भी मुझे यह मानना पड़ेगा कि विचारतः उन्होंने मुझ पर विजय पाई है और थोड़ी बहुत कार्यतः भी।

बहुत थोड़ी पूँजी से 'प्रताप' का प्रकाशन आरंभ किया गया था। शिवनारायणजी ने मुझे बताया, ''गणेशजी केवल संपादक ही नहीं, 'प्रताप' के क्लर्क भी हैं।

कभी-कभी प्रेस पर फ्लाई ब्वाय का काम भी उन्हें करना पड़ता है।'' मैंने हँसकर पूछा, ''उस समय आप क्या करते हैं?'' बोले, ''मैं रूला लेकर फॉर्म पर स्याही देता हूँ।'' मुझे अमृत बाजार पत्रिका के प्रवर्तकों की प्रारंभिक कठिनाई याद आ गई।

परंतु यह मैंने उसी समय देख लिया कि गणेशजी के साथ बहुतों की सहानुभूति है और लोग उनका हाथ बँटाने के लिए तैयार हैं। शिवजी (शिवव्रत नारायण) के अतिरिक्त उस समय एक और सज्जन से मेरा स्मरणीय परिचय हुआ। वे महाशय काशीनाथजी थे। उनकी गंभीर विचारशीलता का गणेशजी बड़ा सम्मान करते थे। मुझे उनके प्रति प्रेम के बदले श्रद्धा ही उत्पन्न हुई और यही उचित भी था। बाद में तो अनेक मित्रों से 'प्रताप' प्रेस में ही प्रथम परिचय हुआ था। वेणीजी (डॉक्टर वेणीप्रसाद) उन दिनों पढ़ते थे, और प्रेस में आया करते थे। 'प्रताप' के लिए लेख आदि भी लिखा करते थे। गणेशजी ने उनकी बुद्धि की मुझसे बहुत बड़ाई की थी। प्रत्येक बार वहाँ दो-एक नए सज्जनों से भेंट होती थी। 'प्रताप' का द्वार हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए एक साथ खुला रहता था और अतिथियों का क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गणेशजी हृदय खोलकर सबका स्वागत करते थे। आगे चलकर उन्हें आतिथ्य के साथ-साथ अपने अतिथियों के लिए कोई काम भी खोजना पड़ता था। इन अतिथियों में मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं, जो अनेक देश घूमे हुए थे और वहाँ शिक्षा पाए हुए थे। गणेशजी से जो कुछ हो सकता, उसे करने में वे कभी निरुत्साह नहीं हुए।

हाथ बँटाने वालों की भी उन्हें कभी कमी नहीं रही। कानपुर कांग्रेस में इसका मुझे विलक्षण परिचय मिला। वहाँ कुछ झगड़ा हुआ और एक पार्टी उपद्रव करने पर उतारू हो गई। उसका एक आदमी, जो महाराष्ट्र का था हम लोगों को मिला। उग्र मूर्ति, लाल आँखें। बातों-बातों में उसने कहा, ''आज हम लोग पंडाल को बम से उड़ा देते, परंतु कुछ सोचकर रह गए।''[1] हम लोगों ने जब गणेशजी से यह बात कही, तब हँसे और बोले, ''मुझे मालूम है, परंतु उसे मालूम नहीं कि ऐसे आदमियों में से प्रत्येक के पीछे-पीछे हमारा भी एक आदमी

---

1. घटनाक्रम से संकेत मिलता है कि कानपुर कांग्रेस में 1925 ई. में एक दल जिसमें पं. रामप्रसाद मिश्र, श्रीरत्न शुक्ल, मौलाना हसरत मोहानी, सत्यभक्त व राधामोहन गोकुलजी आदि थे, प्रतिनिधि चुनाव के आंतरिक कारणों से उग्र कार्यवाही के कथित

समर्थक बताए गए थे।

लगा था, और जिस समय किसी उपद्रवी का हाथ ऐसे अनर्थ के लिए उठता, उस समय उसकी कलाई हमारे आदमी के हाथ में होती।" यह तो सभी जानते हैं कि कानपुर कांग्रेस के प्रत्येक विभाग के लिए ऐसे पुरुषों का चुनाव किया गया था कि सब काम आदर्श रूप में संपन्न हुए।

हम लोगों का परिचय कब बंधुता को पहुँचा, मैं नहीं कह सकता, परंतु 'प्रताप' पत्र के ट्रस्टी में अपना नाम देखकर जब मैंने उनसे कहा, "यह हंसों में बगुले का मेल कैसा?" तब उन्होंने लापरवाही से उत्तर दिया, "दोनों एक ही तालाब में रहते हैं।" 1915 में बंबई से लौटते हुए गणेशजी पहले-पहल चिरगाँव गए थे। उस बार हम लोग बड़े धर्म-संकट में पड़े। उन्होंने दाल-रोटी खाने की इच्छा प्रगट की। हम साग-पूरी खिलाने जा रहे थे। हमारे काकाजी ने कहा, "अच्छी बात है, ब्राह्मण से कच्ची रसोई बनवा दो।" गणेशजी ने कहा, "ब्राह्मण से क्यों? भीतर चौके में क्या रसोई नहीं बनी?" "बनी क्यों नहीं। परंतु कायस्थ होकर आप वैश्यों की कच्ची रसोई कैसे खाएँगे?" "काकाजी हम लोग तो भ्रष्ट हो गए हैं। क्षमा कीजिए, परंतु मेरे लिए भीतर से ही भोजन मँगा दीजिए।" यहाँ देहातों में तब तक ऐसी बातें अनहोनी मानी जाती थीं, और कदाचित् अब भी मानी जाती हैं। भीतर स्त्रियों ने भी आपत्ति की—क्यों किसी की जाति लेना चाहते हो, परंतु गणेशजी का कहना था—इस प्रकार हमारी जाति नहीं घटती। वह तो अब उलटी और बड़ी हो गई है। इस बात की चर्चा एक-दो बार मेरे सामने भी गणेशजी ने मित्रों के बीच की थी। "जब मैंने दाल-रोटी के लिए कहा, तब इन लोगों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। एक भाई इधर एक भाई से कानाफूसी कर रहा है, दूसरा भाई उधर तीसरे से कुछ कह रहा है, मानो आज कोई बड़ा अनर्थ हो रहा है।"

चिरंजीव हरिशंकर का कहना था कि चिरगाँव बाबूजी का हिल स्टेशन है। बुंदेलखंड की गरमी तो प्रसिद्ध ही है, परंतु गणेशजी का हम लोगों पर जो स्नेह था, वही उन्हें यहाँ ले आता था और जब वे काम से थक जाते थे, तब कभी-कभी दो तीन दिन के लिए यहाँ हो जाते थे। यहाँ कभी मुंशी अजमेरी की बातें और उनका गायन सुनते थे, कभी बेतवा के किनारे जाकर टहलते थे और कभी देश-विदेश की बातें सुनाया करते थे। बातचीत करने में वे जी खोलकर हँसते थे और दो-चार हँसी-विनोद के चुटकुले भी सुनाया करते थे। एक दिन रात को अपने

प्रारंभिक जीवन की बातें, करेंसी की नौकरी और इस्तीफे की कथा बड़ी देर तक वे कहते रहे और हम लोग रात के दो बजे तक जागते रहे।

यद्यपि यहाँ वे काम से बचकर ही आया करते थे, परंतु फिर भी एक-आध झंझट उनके पीछे लगी रहती थी। एक बार शाम को देखता हूँ कि गणेशजी आ रहे हैं, उनके पीछे-पीछे एक देहाती युवक और एक स्त्री गठरी-पोटली लिये हैं। मैंने पूछा, "इन्हें कहाँ से पकड़ लाए?" बोले, "ये लोग घर से रूठकर बंबई भागे जा रहे थे। घर में मजे से हैं, पर आपस में कुछ कहासुनी हुई और स्त्री को लेकर चल दिए। सारे गाँव शहर की ओर भाग रहे हैं और हम शहर वाले ग्राम जीवन के लिए तरस रहे हैं। हमने सोचा, वहाँ कष्ट भोगेंगे। इसलिए ट्रेन से उतार लिया। अब इनके टिकटों के बाकी दाम वापस लेने हैं और इन्हें घर पहुँचा देना है।" मैंने कहा, "तुमने उस चमार की बात सुनी है जो एक बार कुएँ में गिर पड़ा था। वहाँ उससे एक मेढक ने पूछा—तू कौन है? उसने अपनी जाति बतलाई तो मेढक महाशय ने अपना एक पैर पसार कर कहा—जरा मेरे जूते का नाप तो ले लेना। सो तुम कहीं जाओ, तुम्हारे पीछे एक न एक बेगार लगी ही रहेगी।" सुनकर मुसकराए, और बोले, "फर्स्ट या सेकेंड क्लास में ही यात्रा किया करें, तो इन बेगारों से बच सकते हैं।"

उनकी इच्छा थी कि एक कुटुंब के रूप में एक गाँव बसाया जाए और अपनी साधारण आवश्यकताएँ वहीं पूरी करने का उद्योग किया जाए। परंतु बीच में ही उनके निधन से यह विचार कार्य में परिणत न हो सका।

सरकार की आँखों में तो 'प्रताप' खटकता ही था, देश के राजा-रईस भी उसे अपना शत्रु समझते थे। जब-जब मैं कानपुर आता था, एक न एक धमकी के पत्र अथवा नोटिस की बात सुनता था—माफी माँगो, नहीं तो यह किया जाएगा, वह किया जाएगा, परंतु गणेशजी ऐसी धमकियों की कभी परवाह न करते थे। उचित उत्तर अवश्य देते थे। वे मूक जनता के स्वयंसेवक थे। उसकी भलाई के लिए निःस्वार्थ भाव से जो कर सकते थे, बराबर करते रहते थे, परंतु वे पराधीनों के प्रतिनिधि थे, इसलिए मानो उनका एक पैर 'प्रताप' ऑफिस में और दूसरा जेल की कोठरी में सदैव रहता था। चौबीस घड़ी नंगी तलवार सिर पर झूलती थी, पर उनका सिर अन्याय के आगे झुकना जानता ही न था।

मैंने एक दिन हँसी में कहा, "एक तुम हो कि सर्वदा झंझटों में फँसे रहते और श्रीमान को अपना शत्रु बनाए रहते हो। एक वे हैं, जो उनसे दान-

सम्मान पाकर मौज-मजे करते हैं।'' हँसकर बोले, ''तो फिर क्या है, तुम तो ट्रस्टी हो, एक प्रस्ताव रख दो और 'प्रताप' की नीति निश्चित कर दो। हम भी हाय-हाय से छुट्टी पाएँ।''

धमकियों के साथ-साथ उन्हें प्रलोभन भी दिए जाते थे, परंतु लोभ और भय के सामने वे कभी नहीं लचे। महाराज ग्वालियर से उनका जो मतभेद हुआ था, उसकी चर्चा श्री वृंदावनलाल वर्मा कर चुके हैं। गणेशजी यहीं चिरगाँव होकर वहाँ गए थे और यहीं होकर लौटे थे। जाते समय उन्होंने मुझसे कहा था, ''देखो जी मैं महाराजाओं का अतिथि होने जा रहा हूँ।'' किंतु लौटकर कहने लगे, ''भैया हाथ जोड़े राजातिथ्य को, वहाँ की वह भारी-भरकम अतिथिशाला और वहाँ के राजभोज का क्या कहना है? परंतु मुझे तो अतिथिशाला में कहीं छिपने का स्थान भी नहीं मिला। परिचारकों का सामना हुआ नहीं कि उन्होंने तीन-तीन बार झुक-झुककर सलाम किया। आते-जाते दो बार होती, तब भी एक बात थी। वहाँ तो जब भी सामना हुआ, तभी यह ढोंग चलता था। मैंने एक-आध बार रोका भी, परंतु वह तो वहाँ का नियम था। मनुष्य ही मनुष्य को अपने लिए कितना पतित और तुच्छ बना डालता है, इसका मुझे विलक्षण अनुभव वहाँ हुआ। वहाँ के नौकरों से मैं अपने आपको बचाता फिरा।''

देशी राज्यों का प्रश्न संभवत: 'प्रताप' ने ही पहले-पहल विशेष रूप से अपने हाथ में लिया, परंतु न तो वह लोभ-मूलक था और न द्वेष- मूलक। मुमताज या कमला बाई के विषय में जब इंदौर के महाराज गद्दी छोड़ने को विवश हुए, तब उनके विरुद्ध बहुतों ने लिखा था, किंतु गणेशजी का कहना था कि आए दिन रियासतों में ऐसी बातें हुआ करती हैं और किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती, किंतु महाराज तुकोजीराव कुछ स्वतंत्र विचार भी रखते हैं, इस कारण सरकार की आँखों में खटकते हैं। इसी विचार से उस नीति के विरोध में उन्होंने उनका पक्ष लिया था। 'प्रताप' में उनका लिखना था कि हिंदी के पत्रों का भाव बदल गया और उन्होंने उनका साथ दिया। मुझे यह भी मालूम है कि इस घटना के सिलसिले में साधारण लोगों ने भी इंदौर से अच्छी प्राप्ति कर ली, परंतु 'प्रताप' का व्रत ही दूसरा था। रियासतों से 'प्रवेश-निषेध' का ही पुरस्कार उसे मिलता रहा। इंदौर में भी उसका जाना मना था। उनके एक पत्र लिख देने से ही इस समय वह रोक उठ सकती थी और इसके लिए उन्हें संकेत भी मिला था, परंतु इस विषय में कुछ लिखना गणेशजी ने अपने आत्मसम्मान

के विरुद्ध समझा। न तो वे सरकार पर अनुचित आक्रमण करना चाहते थे और न अपनों का अनुचित पक्षपात। प्रमाद मनुष्य मात्र में होते हैं, पर गणेशजी की नीयत के विषय में कौन उँगली उठा सकता है!

एक बार ऑफिस में एक सज्जन आए। मैं भी उन्हें जानता था। देशी राज्यों के विषय में वे भी कुछ लिखते रहते थे। 'प्रताप' के तत्कालीन मैनेजर श्री हरप्रसाद गोयल से बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद मैं उधर गया तो वे चले गए थे। मैंने पूछा, ''ये कैसे आए थे?'' बोले, ''कोई खास बात न थी। वाइसराय का पूरा पता नहीं जानते थे। एक कवर पर लिखा ले गए हैं।'' मालूम हुआ, वह कवर भी ऑफिस का ही था। मुझे कुछ संदेह हुआ, मैंने जाकर गणेशजी से कहा, ''मुझे यह ठीक नहीं जान पड़ता।'' गणेशजी को भी संदेह हुआ, परंतु उन्होंने कहा, ''हमारे लिफाफे पर पता लिखा गया है, तो वह हमारे ही पोस्ट ऑफिस में छोड़ा भी गया होगा।'' उनका सोचना ठीक था, और उनकी सूझ-बूझ का परिचायक भी। गणेशजी ने पोस्ट ऑफिस से वह पत्र निकलवा लिया। खोलकर पढ़ा, तो बंदे-खुदा ने कुछ राज्यों के संबंध में गंदी-गंदी बातें लिखी थी और उनकी जाँच के लिए वाइसराय से आग्रह किया था।

कभी-कभी इस घटना की चर्चा करके गणेशजी हँसा करते थे। उक्त सज्जन भी यथापूर्व गणेशजी से मिलते रहे। एक बार गणेशजी ने मुझसे कहा, ''इतने दिन पीछे शायद बेचारों का उद्योग सफल हो गया। एक रियासत में प्राइवेट सेक्रेटरी होकर जा रहे हैं।'' मैंने कहा, ''तब क्या है, 'प्रताप' निहाल हो जाएगा।'' बोले, ''यह तो पीछे की बात है। अभी तो 'प्रताप' ने ही उनके सूट-बूट का भार अपने सिर पर लिया है। दीन 'प्रताप' इससे अधिक व्यय कर भी न सकता था।'' फिर हँसकर बोले, ''हमारे यही रुपए मिल जाएँ तो हम समझेंगे कि भर पाया।'' मैंने कहा, ''इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में शायद मिल जाएँ।'' बोले, ''यह तो मैं भी जानता हूँ।'' ''फिर भी शील नहीं तोड़ सकते।'' मैंने कहा। गणेशजी हँसने लगे।

आवश्यकता होने पर 'प्रताप' को समर्थ मित्रों से सहायता मिल ही जाती थी। इनमें वही व्यवसायी लोग होते थे, जो उसके उद्‌देश्य से सहानुभूति रखते थे। ऐसे ही एक सहायक मित्र एक बार बहुत घाटे में आ गए। इसी बीच में संपत्ति विषयक एक अभियोग में विफल होने पर वे और भी निःस्व हो गए। गणेशजी ने उनके विषय में कहा, ''यदि उनकी दशा अच्छी होती और उस

दशा में उनका रुपया न लौटाया जाता तो कोई बात न थी, परंतु ऐसी स्थिति में हमारा कर्तव्य है कि जो कुछ कर सकें, करें। सब रुपया एक साथ तो नहीं दिया जा सकता, परंतु सौ रुपया मासिक रूप में उन्हें दिया जाना चाहिए।'' मैंने मन-ही-मन उनके विशाल हृदय की संवेदना का अनुभव किया।

गणेशजी राजनीतिक क्षेत्र में वज्रादपि कठोर होते हुए भी निजी जीवन में कुसुमादपि मृदु थे। उन्हें अपने बड़प्पन का तनिक भी गर्व न था। साधारण से साधारण लोगों से भी वे इस प्रकार का व्यवहार करते थे, मानो वे भी वही हैं। मुझे ऐसे-ऐसे देशोद्धारकों के दर्शन हुए हैं जो साधारणजनों को अपने पास बिठाने में भी अपनी मान-हानि समझते हैं, परंतु गणेशजी उनमें से न थे। वे जानते थे कि जनता में अनेक अवगुण हैं, परंतु यदि हम उन्हें उठाना चाहते हैं तो हमें उनके बीच जाकर बैठना ही पड़ेगा। हम घृणा प्रकट करके नहीं, प्रेम प्रकट करके ही उन्हें विश्वास दिला सकते हैं और उनके अनुकरणीय हो सकते हैं। यदि हमारे निकट वे पतित हैं, तो हम भी उनके निकट किरंटे हैं। मेरे परिचारक 'जगना' से भी वे जगन माते कहकर दो-चार आपसदारी की बातें किया करते थे। एक बार उसने अपनी पंचायत से एक आदमी का हुक्का-पानी बंद कर दिया, इस बात पर कि वह कुछ मुसलमानों के संसर्ग में रहा था और उनका पानी-वानी भरता था। गणेशजी ने इस पर जगना को बहुत देर तक समझाया था और कहा था कि तुम कहो तो हम उसके हाथ का खा सकते हैं। तुम लोग क्यों जबरदस्ती उसे मुसलमान बनाए डालते हो?

एक संचयशीलता को छोड़कर वे पूरे गृहस्थ थे और गृहस्थ की भाँति अच्छी सलाह दे सकते थे। बच्चों से उन्हें बड़ा प्रेम था और उनके साथ हँसने व खेलने में बहुत आनंद मिलता था। एक दिन ऑफिस में आकर हँसते-हँसते मुझसे बोले, ''सुनते हो ओंकार की बात।'' (चिरंजीव ओंकारशंकर उनका कनिष्ठ पुत्र है। उन दिनों वह छह-सात वर्ष का रहा होगा।) बोले, ''आप छत पर दिगंबर रूप में खड़े-खड़े हवा में अपनी धोती उड़ा रहे थे। मैंने कहा ओंकार, भला इसमें तुम्हें क्या आनंद आता है? छूटते ही बोला, बाबूजी, करके देखो।''

अपनी पत्नी के विषय में उन्होंने मुझसे कहा था, ''वे बहुत पढ़ी-लिखी तो नहीं हैं, परंतु हमारी गृहस्थी का सब काम चला लेती हैं। और हमारे बच्चों की माँ हैं।''

गणेशजी

चिरंजीव ओंकार का कहना है, ''जिस समय बाबूजी मारे गए, उसी समय अचानक अपने-आप हमारी माँ के पैर से बिछुआ निकल गया और हम लोगों के मन व्याकुल हो उठे।''

हिंदू-मुसलिम विरोध उनमें कभी न था। अपने लड़कपन की एक बात मुझसे कहते थे कि हमारा एक मुसलमान मित्र हमारे यहाँ आया। मैं उसे पत्तल में न खिला सका। घर में विरोध होते हुए भी मैंने अपने बरतनों में ही उसे खिलाया।

एक बार सियारामशरण ने उनसे कविता लिखने के लिए कोई विषय बताने को कहा, तो उन्होंने अलाउद्दीन की उस जैसलमेर की चढ़ाई पर लिखने के लिए कहा, जिसका सेनापति महबूब खाँ था। वह दिन को शत्रु की भाँति राजा से लड़ता था और रात को मित्र की भाँति उसके साथ रहता था। अंत में लड़ाई में राजा मारा गया और वहाँ 'जौहर' भी हुआ, परंतु राजा अपने दो पुत्र महबूब खाँ को ही सौंप गया अथवा उनका भार उसे दे गया था।

सरकारी मामलों में वे अपने मित्रों को कभी किसी संकट अथवा संकोच में नहीं डालना चाहते थे। एक बार आधी रात की गाड़ी से वे चिरगाँव आए। मेरे बड़े भाई साहब बाहर की बैठक में सो रहे थे। सियारामशरण अंदर थे, और मैं कहीं बाहर गया था। जब उन्हें मेरी अनुपस्थिति की बात मालूम हुई, तब यह कहकर झाँसी चले गए कि ''मुझे आवश्यक काम से अभी जाना है। भैया से मिलने आया था, पर वे बाहर गए हैं, इसलिए मैं अभी चला जाऊँगा।'' भाई साहब ने बहुत कहा, पर वे न ठहरे। सबेरे जब सियारामशरण को मालूम हुआ तब वे तुरंत झाँसी जाकर उनसे मिले। गणेशजी ने कहा, ''मेरे नाम गिरफ्तारी का वारंट है, जेल जाने से पहले मैं भैया से मिलना चाहता था। वे थे नहीं। यद्यपि मैं कलक्टर को पत्र लिख आया हूँ कि मैं अमुक दिन तक उपस्थित हो जाऊँगा, परंतु मैंने सोचा कहीं सरकारी आसामी से बड़े भाई साहब को संकोच न हो, इसलिए यहाँ के मित्रों से मिलने चला आया।'' सियारामशरण दो-तीन दिन उनके साथ रहे और ओरछा आदि घुमाकर उन्हें घर पकड़ लाए। उसी दिन कानपुर से डॉक्टर जवाहरलाल उन्हें खोजते हुए चिरगाँव आए और रात को उनके साथ कानपुर लौट गए। उस बार शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कई झंझटों के कारण वे जेल से बाहर ही रहना चाहते थे। मिनिस्टर श्री सी. वाई. चिंतामणि को बीच में करके इसके लिए प्रयत्न भी किया गया, परंतु बात

माफी पर आकर अटक गई। गणेशजी ने जेल जाना ही उचित समझा।

क्षमा चाहने वाला काम
कभी नहीं करता है राम।

यह वाक्य मेरी 'लीला' नामक पुस्तक में है। क्या ठीक, जो गणेशजी को ही लक्ष्य करके लिखा गया हो। अपने निश्चय के विरुद्ध वे अपनों का पक्षपात भी नहीं करते थे। हम लोगों ने उस बार झाँसी से मिस्टर चिंतामणि को कॉउंसिल के लिए खड़ा करके उनका समर्थन करने का वचन दिया था। उसी समय कॉउंसिलों के बहिष्कार की चर्चा उठी। मैं वचनबद्ध था और मिस्टर चिंतामणि कॉउंसिल के लिए उपयुक्त थे। इसे गणेशजी भी मानते थे। मैं एक समर्थन पत्र निकालने जा रहा था। गणेशजी से मैंने मिस्टर चिंतामणि के विषय में तीन प्रश्न किए, और उनका उत्तर चाहा। उनके उत्तर हमारे अनुकूल थे, परंतु उन्हीं के साथ वे कॉउंसिल बहिष्कार की बात भी कह रहे थे। मेरे साथ उस दिन पंडित देवीप्रसादजी शुक्ल भी थे। हम लोग कहते थे कि 'यह बात हमारे प्रश्न के बाहर की है।' परंतु वे हँस-हँसकर यही कहते रहे कि "हमारे उत्तर के भीतर की है।"

एक बार बातों-बातों में गणेशजी ने कहा, "हम ऐसी-ऐसी बातें जानते हैं कि चाहें तो किसी भी पत्र को ग्राहकों की कमी न रहे, परंतु कर नहीं सकते। सनसनीदार अखबारों से ही बहुत लोग अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। इन अदालती खबरों का मूलोद्देश्य भी आजकल प्रायः यही है। तुम देखोगे कि इन खबरों में अधिकतर गंदे मुकदमों की बातें ही रहती हैं।"

'चाँद' के मारवाड़ी अंक पर बहुतों ने उसे बधाई दी थी। गणेशजी ने पहले-पहले उसकी खरी आलोचना छापी थी। इस संबंध में मुझसे भी अपना क्षोभ उन्होंने प्रकट किया था।

एक बार एक सज्जन ने उन्हें लिखा था, "मैं कानपुर में कुछ ऐसे साधुओं को ला रहा हूँ जो पाँच सौ वर्ष से प्राचीन हैं, एकाध तो महाभारत के भी समय के हैं। उनके स्वागत का प्रबंध कीजिए।" गणेशजी ने वह पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिया। एक दिन वे सज्जन आए और गणेशजी से शिकायत करने लगे, "आपने कुछ भी प्रबंध नहीं किया।"

गणेशजी ने कहा, "वे पाँच सौ वर्ष के हों या पाँच हजार वर्ष के, इससे

हमें क्या? यदि वे इतने दिन जिए तो अपने लिए। हमारे लिए एक दिन भी मरे-जिए हों, तो आप बताइए।''

उक्त सज्जन एक 'रहस्यवादी' कवि थे और शायद इसीलिए गणेशजी ने इस विषय को कवि-कल्पना ही समझा।

इधर कुछ दिनों से उनकी साहित्यिक रुचि निरंतर बढ़ती जा रही थी और जब वे आते थे, एक-आध विदेशी लेखक की चर्चा किया करते थे। उससे उनकी सहृदयता और सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता था। किसी अंग्रेज विद्वान् ने मैथुन विज्ञान पर एक बहुत बड़ी पुस्तक लिखी है। गणेशजी बहुधा उसकी चर्चा करके लेखक के अध्यवसाय की साश्चर्य प्रशंसा करते थे।

जब साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लिए उनका चुनाव हुआ, तब मुझसे कहने लगे, ''भला मैं वहाँ क्या कहूँगा?'' मैंने कहा, ''संपादक तो सर्वज्ञ होते हैं, परंतु तुम अपनी बातें कह देना। ऊहापोह बहुत हो चुका तुम्हें उसकी जरूरत नहीं है, परंतु दस-पंद्रह दिन के अध्ययन में ही उन्होंने इतनी जानकारी कर ली कि देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।''

एक बार कानपुर में उन्होंने कहा, ''कुछ सुनाओ।'' 'वन वैभव' की पांडुलिपि मेरे पास थी। मैं उसे पढ़ने लगा—

शकुनि की सुन यों गूढ़ गिरा।
हंसा दुर्योधन मूढ़ निरा।।

रोककर बोले, ''तुम हमारे कहने की क्यों कहते हो? मूढ़ शब्द पर मुझे आपत्ति है, परंतु शायद तुम्हारे गूढ़ की तुक मिलती है। मैंने कहा, ''मूढ़ शब्द स्वयं मुझे भी खटका था। मैंने बदल भी दिया था। परंतु पूर्वाभ्यासवश वही मेरे मुँह से निकल गया।'' यह कहकर मैंने कॉपी उनके हाथ में दे दी। उसमें मूढ़ काटकर हठी कर दिया गया था। देखकर बहुत संतुष्ट हुए।

पूज्य द्विवेदी महाराज की सेवा में रहकर उन्होंने अपने गद्य का विकास किया था और उनकी ही कृपा से मैंने पद्य रचना सीखी थी। जब तक वे जुही में थे, गणेशजी बीच-बीच में उनकी सेवा में उपस्थित और उनसे उपदिष्ट होते रहते थे। जब मैं कानपुर जाता, तब तो अवश्य ही जुही जाना होता था। हम लोग चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया करते थे। एक बार जब गणेशजी उनके चरण छूने लगे, तो उनके सिर पर हाथ रखते हुए पंडितजी ने कहा, ''रहो-

गणेशजी

रहो, अब तो यह पुरानी बातें हो गई हैं।'' शिवनारायणजी अपनी घरेलू बोली में कुछ कहकर हँसे, साथ ही हम सब भी हँस पड़े।

एक बार गणेशजी ने मुझसे कहा, ''तुम्हीं मजे में हो, मैं भी अब कविता लिखना आरंभ करता हूँ। गद्य लिखते-लिखते तो कलम घिस जाती है और मैं पिस जाता हूँ। तुमने दस-पाँच पंक्तियाँ लिखीं, और छुट्टी पाई।'' परंतु यदि मेरे पद्य से वे अपने गद्य का बदला करते तो निःसंदेह टोटे में वही रहते।

अब कभी वह मूर्ति देखने में न आएगी। इसका स्मरण आते ही हृदय में एक हूक सी उठती है और इस पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। भाई राय कृष्णदास के शब्दों में, जान पड़ता है—मानो किसी औपन्यासिक पात्र की भाँति गणेशजी अचानक घटनावश अदृश्य हो गए हैं और समय पर आश्चर्यपूर्वक प्रकट हो जाएँगे। व्यर्थ आशा? उनके निधन से हमारे देश की जो हानि हुई उसकी पूर्ति तो भगवान ही के हाथ है, परंतु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरे कुटुंब का ही एक समर्थ जन चल बसा। जीवन में ऐसा बंधु अब काहे को मिलेगा?

□

तेहिनो दिवसः गतः

भूदेव विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक होने के बाद दो वर्षों की अवैतनिक सेवा मैं स्वामी श्रद्धानंदजी को दे चुका था। उन्हीं के आदेश से एक वर्ष के लिए शांति निकेतन में संस्कृत और हिंदी पढ़ाने चला गया था। यह तीसरा वर्ष था। उस समय वहाँ सर्वश्री पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, विधुशेखर भट्टाचार्य, दीनबंधु एंड्रयूज़, नंदलाल बोस तथा असित कुमार हलधर आदि विद्यमान थे। एक वर्ष के बाद स्वामीजी के प्रवास में कुछ समय उनके साथ रहा। वहाँ से लौट कर कानपुर आ गया और स्वतंत्र आजीविका की चिंता में रहने लगा।

उस समय मैं अपने चाचा पं. कालिकाप्रसादजी वैद्य के साथ कूपरगंज के एक गोदाम में ऊपर रहता था। गणेशजी भी समीप ही तेलवाले हाते में रहते थे। अत: गणेशजी से अच्छा परिचय हो गया। नगर कांग्रेस में उस समय गणेशजी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', डॉ. मुरारीलाल तथा डॉ. जवाहरलाल, नारायणप्रसाद अरोड़ा, जी.जी. जोग, पं. रघुवरदयाल भट्ट, लाला प्यारेलालजी आदि प्रमुख व्यक्ति थे। मैं मंत्रिमंडल में था।

शंकराचार्यजी का व्याख्यान श्रद्धानंद पार्क में संस्कृत मिश्रित अंग्रेजी में हो रहा था। उसका हिंदी अनुवाद मैं कर रहा था। गणेशजी के समीप उनके मित्र लाला फूलचंदजी जैन बैठे हुए थे। लालाजी की फर्म लक्ष्मणदास बाबूराम लोहे के कारोबार के लिए प्रसिद्ध थी। लालाजी उस समय अपनी उदारता तथा दानवीरता के लिए प्रसिद्ध थे। गणेशजी और 'नवीन' जी ने मेरे अनुवाद की कुछ प्रशंसा कर दी। उस पर लालाजी ने उनसे मेरा परिचय पूछा। गणेशजी ने परिचय देते हुए यह भी कह दिया कि मैं आजीविका की चिंता में हूँ और

उनका मित्र भी हूँ। लालाजी ने कहा कि वे लोहे का व्यापार करते हैं, वह करना चाहें तो वे सहायता कर सकते हैं और उसके बाद लालाजी की प्रेरणा-प्रोत्साहन से दुकान खोली, जो चल रही है। मैं दोनों का ही आभारी हूँ।

एक दिन गणेशजी से मिलने मैं 'प्रताप' प्रेस गया हुआ था। गणेशजी ने 'श्याम सुधा' नामक एक पुस्तक मुझे देकर कहा कि मैं उसकी आलोचना 'प्रभा' या 'प्रताप' के लिए लिखकर दूँ। चार-पाँच दिनों के बाद मैंने वह लिखकर दे दी। दो-तीन दिनों के बाद भेंट होने पर बोले, ''तुमने यह क्या लिख दिया! श्री कामताप्रसादजी गुरु तथा पं. दशरथप्रसाद द्विवेदीजी जैसे हिंदी विद्वानों ने जिस पुस्तक की इतनी प्रशंसा लिखी है और बी.ए. के पाठ्यक्रम में रखने की अनुशंसा की है, तुमने तो उसकी मिट्टी ही पलीद कर दी है। लाओ पुस्तक और मैं देखूँगा।'' दूसरे दिन मैंने उन्हें पुस्तक लौटा दी। चार-पाँच दिन बाद गणेशजी बोले, ''तुमने आलोचना सही लिखी है, हिंदी में अंधेर मचा हुआ है। जाने कैसे उन लोगों ने इसकी अनुशंसा व प्रशंसा की है। तुम्हारी आलोचना अविकल छपेगी।'' और छपी। कुछ समय के बाद गया में वियोगीजी के साथ श्री कामताप्रसादजी गुरु से प्रथम बार जब भेंट हुई, तब उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने पुस्तक की अनुशंसा बिना पुस्तक के पढ़े ही लिख दी थी और भविष्य में उन्होंने वैसा न करने का दृढ़ निश्चय अभिव्यक्त किया था।

कलकत्ता से निकलने वाले 'लोकमान्य' के संस्थापक व संपादक पं. रामशंकर त्रिपाठी उस समय विद्यार्थी थे और कानपुर में ही रहते थे। एक दिन 'केशव कौमुदी' पढ़ने मेरे पास मकान पर आए। 'केशव कौमुदी' कवि केशव की 'रामचंद्रिका' पर लाला भगवानदीनजी 'दीन' द्वारा लिखित टीका का नाम है। उसे पढ़ाते हुए मुझे अनुभव हुआ कि अनेक स्थानों पर उसमें अर्थ का अनर्थ हुआ है। मैंने उसकी आलोचना इसलिए लिखी, क्योंकि 'दीन' जी हिंदी के प्राध्यापक थे और उस समय उनकी हिंदी के क्षेत्र में बड़ी धाक थी। उनसे ऐसे अनर्थों की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

आलोचना लेकर एक दिन मैं गणेशजी के पास पहुँचा। 'नवीन' जी भी वहाँ विद्यमान थे। आलोचना के कुछ स्थल सुनकर दोनों की सम्मति से उसे पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी को भी दिखला लेने की बात तय हुई। वे उस समय मनीराम बगिया में रहते थे। एक दिन गणेशजी किसी काम से द्विवेदीजी के पास पहुँचे। मैं भी वहाँ जा पहुँचा। आलोचना सुनकर द्विवेदीजी ने कहा कि

तेहिनो दिवसः गतः

'दीन' जी के व्यंग्य बाण यदि सह सको तो छपवा सकते हो। गणेशजी बोले, "क्यों, है हिम्मत?" मैंने कहा कि आप लोग यदि आलोचना को सही समझते हों तो किसी के व्यंग्य बाणों का मुझे भय नहीं है। वह आलोचना गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और उनके मित्र स्वामी नारायणानंदजी ने भी देखी। लखनऊ से प्रकाशित होने वाली 'माधुरी' पत्रिका में वह प्रकाशित हुई। इसके उत्तर-प्रत्युत्तर कई मास तक निरंतर छपते रहे। लाला भगवानदीनजी के उत्तर उन्हीं के शिष्यों के नाम से छपते थे। अंत में मैंने लिखा कि लिखापढ़ी पर्याप्त हो चुकी है, क्यों न इसका निर्णय सर्वश्री पं. पद्म सिंहजी शर्मा, पं. जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, जगन्नाथप्रसादजी भानु, पं. शालिगरामजी शास्त्री साहित्याचार्य की पंचायत में दे दिया जाए। इसके बाद विवाद बंद हो गया और 'केशव कौमुदी' में आवश्यक संशोधन कर दिए गए।

गणेशजी की ही प्रेरणा और प्रोत्साहन से रूसी क्रांतिकारियों का एक जीवन चरित्र 'स्वतंत्रता के पुजारी' तथा 'सनयातसेन' के नाम से मैंने लिखी थी। स्मृतियाँ तो बहुत हैं, किंतु 'तेहिनो दिवसः गतः' उनका आज क्या उपयोग होगा या हो सकता है? वे दिन अब लौटकर आनेवाले नहीं हैं। मित्रों को निःस्वार्थ सहयोग और प्रोत्साहन देने का कार्य गणेशजी जैसे व्यक्ति ही कर सकते हैं। □

तेहिनो दिवसः गतः

मानव मूल्यों के प्रतीक

शिवनारायण टंडन

स्वाधीनता संग्राम के महारथी, प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सेनापति और कानपुर के युग-प्रवर्तक प्यारे नेता स्वर्गीय गणेशजी के नाम और काम की चर्चा करना सचमुच परम सौभाग्य की बात है। हिंदुस्तान अपनी आजादी के लिए पीढ़ियों से जो लड़ाई लड़ता आया है, उसके इतिहास में गणेशशंकर का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। गणेशजी ने स्वतंत्रता युद्ध के सिलसिले को आगे बढ़ाते रहने में बड़े कष्ट उठाए। कभी कामयाबी मिली, कभी जीत हुई, तो कभी हार हुई। युद्ध के मैदान में वह कभी आगे बढ़ते दिखाई दिए, तो कभी चतुर सेनानी की तरह पीछे हटकर तैयारियाँ करते रहे। जब जिस रास्ते से वह चले, सभी उनके पीछे-पीछे हो लिये। उनकी पदधूलि पड़ने से रास्ते के काँटे फूल बनकर रह गए। जहाँ बैठ जाते, वही जगह सिंहासन बनकर रह जाती। जिस खूबी से वह हमें रास्ता दिखलाते उसमें दु:ख, दु:ख नहीं रह जाता था। उन्होंने अपने जीवन में जनबल को जैसा संगठित और व्यवस्थित रूप देने की कोशिश की, वैसा ही उन्होंने मरकर जनता के सर्व-साधारण हृदय को शुद्ध और पवित्र करने का आग्रह किया। उनके जैसा अद्वितीय बलिदानी इस शताब्दी में दूसरा नहीं हुआ। उनकी मृत्यु ने दुगने उत्साह से काम की प्रेरणा दी और वह हमारी पुरानी हार-जीत को नवीन भूमिका में बदलती चली गई। आज हम उन्हें कैसे भूल सकते हैं, जबकि उन्हीं के बोए हुए बीज के वृक्ष की छाया में बैठे स्वाधीनता का सुख उपभोग कर रहे हैं।

गणेशजी को जिन्होंने नहीं देखा है, उन्होंने अपने मन में एक पतले-दुबले ब्राह्मण ऋषि का चित्र खींचा, जिसकी नसें दिखलाई देती हैं, जिसके पास कहे

जा सकने वाले बहुत ही कम सांसारिक पदार्थ हैं, जो सदाचारी है, संयमी है और कमलपत्र पर बूँद की तरह भोगों में अलिप्त रहता है। जो गंभीर प्रज्ञा वाला है, मेधावी है और लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है, जो स्वार्थ रहित है, आसक्ति रहित है।

जिस और जैसे मनुष्य के आधार पर गांधीवाद खड़ा है और उसकी प्रगति हुई है, उसमें स्वर्गीय गणेशजी का उदाहरण अद्‌भुत और ग्रहणीय है। वह सुदामा की तरह कृश और दरिद्र थे, पर कृष्ण की तरह लोक के रक्षक और दरिद्र नारायण थे। उनकी अपनी आवश्यकताएँ नहीं के समान थीं। उनके परिवार के लोग सदैव दयनीय दरिद्रता में गुजर करते रहे। उन्होंने अपने बच्चों को बड़ी कठिनाई से शिक्षा दे पाई। वे सुबह की रखी हुई रोटी शाम को खाने के आदी थे। अपनी धर्मपत्नी के लिए खादी की एक धोती या साड़ी खरीद सकना बहुधा असंभव हो जाया करता था, जबकि मजदूर सभा से आए हुए गरीब मजदूरों, कल-कारखानों से निकाले हुए श्रमजीवियों के लिए उनका अक्षय भंडार सदा खुला रहता था।

एक रोज का जिक्र है कि 'प्रताप' प्रेस में तीन दुःखी श्रमिक वर्ग के लोग पधारे। उसी दिन गणेशजी ने प्रेस से अपना मासिक नियत पुरस्कार डेढ़ सौ रुपया लिया था। उनमें से बीस रुपए निकाल कर उन्होंने ऐसे खुशी-खुशी दे दिए, जैसे वह अपने चिरंजीव हरिशंकरजी या ओंकारशंकरजी को कॉलेज की पुस्तकें खरीदने के लिए दाम दे रहे हों। हर महीने दस-बीस, पचास रुपए वे अपनी जेब से खर्च कर देते और स्वयं गरीबी में गुरबा-परवरी में बड़े आराम से दिन काटते। जाड़े के दिनों में किसी ठिठुरते हुए विद्यार्थी को अपना कोट या चादरा दे डालना उनके लिए कुछ भी बड़ी बात नहीं थी। विलायती कीमती अखबार खरीद सकने की 'प्रताप' में दम नहीं थी, अतएव संपादक गणेशशंकर स्टेशन पर व्हीलर के बुक स्टाल पर घंटों जाकर बैठते और देश-विदेश के आंदोलनों व समस्याओं का अध्ययन कर, सिंहावलोकन कर 'प्रताप' के पाठकों को शिक्षा-दीक्षा दिया करते।

उन दिनों गणेशजी के साप्ताहिक 'प्रताप' का स्थान वही था, जो कभी गांधीजी के 'नवजीवन' या तिलक महाराज के 'केसरी' का था। 'प्रताप' आग की लपटें और क्रांति की ज्वाला फैलाते हुए प्रति सप्ताह निकला करता और पाठक उत्सुकतापूर्वक आगामी अंक की बाट जोहा करते। देशी राज्यों की प्रजा

का उन दिनों 'प्रताप' और गणेशशंकर का नाम ही सबसे बड़ा रक्षक था। गणेशजी चाहते तो बड़े-बड़े राजाओं और महाराजाओं से लाखों रुपया झटक कर खुद अमीर बन जाते व अपने परिवार को सांसारिक रीति से सुखी व संपन्न बना देते, पर उन्होंने वह नहीं किया और वह हमेशा फकीर बने रहे।

उनके लेखों की गूँज तो बड़े-बड़े विद्वानों और संपादकों तक पहुँच चुकी है। पूज्य आचार्य पं. महावीरप्रसादजी द्विवेदी कहा करते थे कि गणेशशंकर के 'प्रताप'! तुम कुछ करके रहोगे। वह लिखते क्या थे, मानो गुनगुना-गुनगुनाकर अपने जीवन के तार में विचारों और कार्यक्रम की मणिमालाएँ गूँथते जाते थे।

गाँव की ओर

यह बात सन् 1927 की है। तब से गणेशजी के मन में रट थी कि गाँव में चलकर रहना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने नरवल को अपना कार्यक्षेत्र चुना था। नरवल कानपुर से 20 कि.मी. पर एक छोटा सा कस्बा है, जो गणेशजी के संपर्क में आने के कारण प्रांत में सुप्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यह स्थान सरसौल स्टेशन से कोई छह मील दूर है। गणेशजी प्रति सप्ताह रेल से सरसौल उतरा करते और वहाँ के किसी टूटे-फूटे इक्के पर चढ़कर, टिकटिक करते नरवल पहुँचा करते। उन दिनों सरसौल से नरवल जानेवाली सड़क, माशाअल्लाह, अपने खाँचों और खाइयों जैसे गड्ढों के लिए जिले भर में प्रख्यात थी। उनके साथ में बहुधा एक युवक होता। यह युवक कानपुर के खादी भंडार का सर्वस्व श्री रामनाथ टंडन था।

गणेशजी खादी और चरखा के अनन्य समर्थक और भक्त थे। वे गाँवों में, घर-घर में, चरखे की घर्र-घर्र सुनने के लिए मतवाले रहते थे। सत्य के बाद यदि किसी वस्तु विशेष पर उनकी आस्था थी, तो वह एकमात्र चरखे पर। चरखे को वह गाँवों का अंधकार दूर करने का एकमात्र सूर्य मानते थे। रामनाथ टंडन खादी प्रेमी, खादी विशेषज्ञ और खादी भंडार के संचालक होने के नाते उनके 'एडवाइजर-इन-चीफ' थे। नरवल में झंडागीत के प्रणेता, देशभक्त श्री श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' रहा करते थे। वह आज भी वहीं रह रहे हैं और अपने कृतित्व एवं काम से जागरण का कार्य करे ही जाते हैं। वहीं ये त्रिमूर्ति—गणेशजी, रामनाथ एवं पार्षदजी मिल-जुलकर, आश्रम-निर्माण की योजना और कल्पना बनाते, अपने प्यारे साथी, सखा और नेता की हाँ में हाँ मिलाते-जुलाते

प्रणवीर 'प्रताप' को एक दिन नरवल से ही प्रकाशित करने का सुख स्वप्न देखते। किसी दिन शहर का दूषित वातावरण छोड़ नरवल में ही रहें। आस-पास के गाँवों में चरखे और खादी का काम करें, यहीं से अखबार का प्रकाशन भी होगा, जो किसानों की तकलीफों को दूर करते हुए, उन्हें राष्ट्रीय संग्राम का सैनिक बनाने की तैयारियाँ करेगा।

हम आजादी पा चुके हैं, लेकिन इसके मीठे फलों को चखने के लिए हमें दुगना परिश्रम करना बाकी है। हममें से एक-एक को अपनी जिम्मेदारियाँ पूरी करनी होंगी। हमें जवाहरलालजी के इन शब्दों को कभी भूलना नहीं चाहिए, ''जनता की सेवा करना और अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना ही हमारा सबसे बड़ा सौभाग्य है। जो लोग इन जिम्मेदारियों को भूलकर पावर पॉलिटिक्स की धुन में हैं, वे मुल्क का बुरा चेत रहे हैं।'' ठीक यही बात गणेशशंकरजी सिखा गए हैं।



उनसे परिचय

सियारामशरण गुप्त

सन् 1916-17 की बात है। काशी में श्रद्धेय राय कृष्णदास को मेरे विषय में संदेह हुआ कि कहीं क्षय रोग न हो गया हो। पूज्य दद्दा (श्री मैथिलीशरणजी) उन दिनों वहीं थे और उनसे मेरी अस्वस्थता के लक्षण सुनकर यही आशंका उन्हें हुई थी। फलतः अविलंब वहाँ पहुँचने का उनका आदेश मुझे मिला। वे वहाँ सुयोग्य चिकित्सक से मेरी चिकित्सा कराना चाहते थे, पर बड़ों के सामने समस्या यह थी कि यात्रा अनुभव न होने के कारण मैं वहाँ पहुँचूँगा कैसे?

स्वर्गीय मुंशी अजमेरी ने पूरा ब्योरा देकर विद्यार्थीजी को लिखा कि सियारामशरण आपके पास पहुँचेंगे। आप स्वयं साथ जाकर दिन-ही-दिन में बनारस पहुँचने वाली किसी गाड़ी में उन्हें बिठा दीजिएगा।

सायंकाल का समय था, कदाचित् बिजली की बत्तियाँ जल उठी थीं, जब मैं 'प्रताप' कार्यालय में उस दिन पहुँचा। यह देखकर संतोष हुआ कि श्रद्धेय विद्यार्थीजी उस समय वहीं थे और मुझे दूसरों से अपना बखान आप करने से छुट्टी मिली। उनका वह प्रसन्न वदन जैसे आज भी आँखों के सामने है। उनकी आभासित वह दृष्टि भुलाई नहीं जा सकती। मेरे रोग के संबंध में विद्यार्थीजी ने उस दिन चर्चा नहीं की। एक प्रश्न उन्होंने किया था, जो मुझे याद है। पूछा था, ताँगे या इक्केवाले को कितना दिया। कुछ पैसे उसने अधिक ले लिये थे, यह मैंने उन्हीं से जाना। आज सोचता हूँ कि यह भी करने योग्य कोई प्रश्न था? कानपुर की उन लंबी-लंबी सड़कों और गलियों में कहीं भी अंतर्चालन न करके उसने मुझे वांछित स्थान पर पहुँचा दिया था। इसके लिए उन जैसे उदारदर्शी से भी उस बेचारे को धन्यवाद न मिला। हो सकता है, वे जानना

चाहते हों कि कुलगत वैश्य धर्म कहाँ तक मैंने ग्रहण किया है। परीक्षा में मैं उत्तीर्ण नहीं हुआ, पर इसके लिए उन्हें कुछ खेद हुआ हो, यह नहीं जान पड़ा।

उन दिनों भी दशरथप्रसादजी द्विवेदी 'प्रताप' के सहकारी संपादक के रूप में वहाँ पत्रकारिता का ज्ञान अर्जन कर रहे थे। मेरे खान-पान और सुख-सुविधा की व्यवस्था उन्हें सौंपी गई। उन्होंने जिस स्नेह से रखा, उसके लिए मैं आज भी उपकृत हूँ। वे एक खपरैल में अपना भोजन स्वयं बनाते थे। यह तो याद नहीं कि वे पाक विद्या विशारद अथवा रत्न थे पर मुझ जैसे प्रत्येक प्राणी को मुँह चलाना जन्म के साथ आता है और उसमें ऐसी कोई त्रुटि भी नहीं होती, वैसी ही द्विवेदीजी की यह विद्या भी जन्मजात थी। हृदय की मिठास से अपनी खिचड़ी वे कैसे महका देते थे, यह पूछने के लिए ही मैं किसी दिन उनकी सेवा में पहुँचना चाहता हूँ।

प्रात:काल गंगा स्नान के लिए सरसैय्या घाट जाता था और दिन भर यह देखता था कि 'प्रताप' कैसे तैयार होता है, जो छोटे-से-छोटे गाँव में पहुँचकर दूर-दूर तक जागरण का शंख फूँक रहा है और जिसकी प्रत्येक पंक्ति न केवल जनता द्वारा ही पढ़ी जाती है, बल्कि शासन के अधिकारी भी जिसके शब्द-शब्द की इसलिए खाना-तलाशी लेते हैं कि कहीं किसी के भीतर कोई सूक्ष्म विस्फोटक तो छिपाकर नहीं रख दिया है। विद्यार्थीजी से भेंट होती और उन्हें अवकाश होता तो इधर-उधर की कितनी ही बातें होतीं। उनसे अपने बनारस जाने के संबंध में पूछता, तो उत्तर मिलता, चले जाना। जल्दी क्या है।

एक दिन संध्या समय लौटकर आए, तब उन्होंने पूछा, "तुम दिन भर पढ़ते रहे, बताओ, आज तुमने क्या-क्या सीखा?"

मैं क्या उत्तर देता। कभी सोचा भी न था कि प्रतिदिन कुछ-न-कुछ नया सीखना आवश्यक है। उस दिन सीखने योग्य उनकी वही बात मिली थी, जिसे गाँठ बाँधकर भी मैंने किसी ढेर में खो जाने दिया।

एक दिन दशरथप्रसादजी के साथ जुही जाकर आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के भी दर्शन कर आया। 'प्रताप' प्रेस में भी अनेक मान्य पुरुषों से भेंट होती थी। एक दिन पुलिस के एक अधिकारी भी आ गए और उन्होंने विद्यार्थीजी के बदले मुझी से बात करके मुझे गौरवान्वित करना चाहा। मैंने उनका भ्रम उसी समय दूर कर दिया था। विद्यार्थीजी की जिह्वा उस दशन पंक्ति के भीतर भी निरंतर निर्भीक है, यह मैंने देखा और अनुभव भी किया।

उनसे परिचय

पर मुझे अकुलाहट थी। पता नहीं था, मुझे किस दिन बनारस के लिए प्रस्थित होना है। दद्दा वहाँ मेरे लिए चिंतित हो सकते हैं, यह कल्पना मुझे थी। उस दिन ठीक समय पर मुझे पता चला कि कल्याणीय हरिशंकर के किसी जन्मतिथि समारोह में सारे 'प्रताप' परिवार के साथ सांध्य भोजन के लिए उनके घर मुझे पहुँचना है। और इस प्रकार उनके स्वजन बनने का वह नया लाभ भी मैंने पा लिया।

बनारस की ओर जानेवाली वह गाड़ी प्रातःकाल छह-सात के आस-पास छूटती थी। स्टेशन पर मेरे लिए टिकट वही ले आए थे। रेल के डिब्बे में मुझे अनुज की ममता के साथ बिठाते हुए जो शब्द उन्होंने मुझसे कहे थे अब वही मुझे यहाँ लिखने हैं। उन्होंने कहा था, "अच्छा हो तुम्हारा यह बिस्तरा और दूसरा सामान रास्ते में कहीं खो जाए। पक्के बनने का यही उपाय है।"

गाड़ी चल पड़ी और मैं सोचता-सोचता खोया सा अपने स्थान पर बैठा रह गया। यह उपाय जो उन्होंने बताया पक्के बनने का, मनुष्य बनने का, क्या इतना ही सरल और सीधा है? बिस्तरा और दूसरा सामान, घर-परिवार, संगी साथी ही नहीं, शरीर तक टूटी चट्टी की तरह उतार कर फेंक सके, वह क्या सब कहीं सहज मिल सकता है?

युगों में कभी कहीं प्रकट हो पड़नेवाले उस विरल हुतात्मा पुरुष को नमस्कार!



एक दृश्य चित्र

पं. हरिशंकर शर्मा

श्रद्धेय गणेशजी की प्रभावशाली लेखनी से तो मैं पहले से ही परिचित था। उनके पत्र भी पूज्य पिताजी (पं. नाथूराम 'शंकर' शर्मा) के पास आते रहते थे। सन् 1916 की बात है। मैं किसी काम से आगरा गया था। अध्यापक रामरत्नजी से मिलने गया। वे लोहामंडी की एक गली में रहते थे। उनके रहने की उस कोठरी का किराया चौदह आना मासिक था। गणेशजी वहीं ठहरे हुए थे। मेरे आते ही अध्यापकजी बड़े प्रसन्न हुए। वे और गणेशजी गुड़ और उबली हुई शकरकंद खा रहे थे। वही एक पत्ते पर मेरे सामने धर दी। मैं भी बड़ी रुचि से खाने लगा। इसी बीच में अध्यापकजी ने गणेशजी से मेरा परिचय कराया मेरे पिताजी का हवाला देकर। मैं गणेशजी, श्रद्धेय गणेशजी के चिरवांछित दर्शन कर कृत-कृत्य हो गया। वे भी पिताजी के संबंध में मुझसे पूछताछ करने लगे। मुझे वे उस समय तक न जानते थे। यह मेरी उनसे पहली मुलाकात थी। फिर तो वे बड़ी कृपा करने लगे। आगरा में उक्त अध्यापकजी के यहाँ या पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल के यहाँ ठहरते थे। दो बार मेरे स्थान पर भी ठहरने की कृपा की। आते-जाते तो अनेक बार रहे।

जब कभी वे आगरा आते, तो मैं उनसे मिलने अवश्य जाता। एक बार अस्वस्थतावश मैं वहाँ नहीं पहुँच पाया, तो वे स्वयं मिलने आए। फिर तो कई बार मेरे स्थान पर पधारे। एक बार गणेशजी पालीवालजी के यहाँ बाग मुजफ्फर खाँ के एक मकान में ठहरे हुए थे। रात को मेरे स्थान पर पधारे। जाड़े का मौसम था। मेरे यहाँ आचार्य पद्मसिंह शर्मा ठहरे हुए थे। और भी कई सज्जन बैठे थे। गणेशजी भी उनसे परिचित थे। आचार्यजी पलंग पर लेटे हुए थे। गणेशजी उनकी ओर मुखातिब न हुए। वे भी अपनी पुस्तक पढ़ते रहे। जब सब बातें कर गणेशजी हमारे यहाँ से

चले, तो मैं और भाई यज्ञदत्त राम भी उन्हें पहुँचाने के लिए थोड़ी दूर चले। वे बोले, ''अच्छा, अब आप लोग जाइए, सुबह पालीवालजी के यहाँ आइए।''

मैंने कहा, ''अच्छी बात है। मैं संपादकजी को साथ लेकर आऊँगा।'' ''कौन संपादक जी'', गणेशजी बड़े आश्चर्य से बोले। मैंने कहा, ''पं. पद्म सिंह शर्माजी।'' वे बोले, ''क्या शर्माजी यहीं हैं?'' मैं कहने लगा, ''अरे, आपने उन्हें नहीं पहचाना। वे तो तख्त पर पड़े-पड़े पुस्तक पढ़ रहे थे और आपको देखकर बैठ गए थे।'' इतना सुनते ही गणेशजी लौट पड़े और सीधे मेरे स्थान पर पहुँचे। एकदम संपादकजी के पास पहुँचकर बड़ी विनम्रता से बार-बार क्षमा याचना करने लगे। संपादकजी और गणेशजी दोनों के कंठ भरे थे, आँखें प्रेमाश्रुओं से छलछला रही थीं। वह प्रेम-सम्मिलन दर्शनीय था। फिर क्या था, गणेशजी डेढ़ घंटे और बैठे। चाय का दौर चला और खूब साहित्य चर्चा हुई। प्रातः संपादकजी गणेशजी से मिलने बाग मुजफ्फर खाँ पहुँचे। मैं भी साथ था। गणेशजी ने संपादकजी से फिर क्षमा माँगी और कहा कि जीवन में कल एक भयंकर भूल मुझसे हो गई। मैं बड़ा लज्जित हूँ।

एक बार श्रद्धेय गणेशजी ने कई हजार रुपए की चोट से 'आर्य्यमित्र' को बचाया। कानपुर में एक मशीन (छापने की) साढ़े चार सहस्र में एक आर्य्य नेता ने तय कर दी। वे बेचारे थे तो कानपुर के बड़े प्रसिद्ध पुरुष, पर मशीन आदि का उन्हें अनुभव या ज्ञान न था। मैं 'आर्य्यमित्र' का संपादक था। मशीनों के मामले में मैं भी 'कोरमकोर' था। रुपया साढ़े चार हजार लेकर कानपुर पहुँचा। मशीन को कानपुर से आगरा भिजवाना था। इसकी सहायता के लिए मैं श्रद्धेय गणेशजी से मिला। वे बोले, ''कौन सी मशीन, कितने में ली है?'' मैंने कहा, अमुक प्रेस से अमुक मशीन साढ़े चार सहस्र रुपए में। यह सुनकर गणेशजी ठहाका मारकर हँसे और बोले, ''ग्यारह सौ में उस मशीन को हमने लिया। आप इस ठगाई में कैसे आ गए।'' मैंने सारा हाल बताया। गणेशजी ने अपना फोरमैन बुलाया और पूछा, वह मशीन कितने की है? फोरमैन बोला, ''एक हजार में यह हमें देने को तैयार था, पर अब तो आगरे का कोई उल्लू फँस गया है, जो साढ़े चार हजार देगा।'' इस पर गणेशजी बोले, वह उल्लू यही हैं। अब ये भी नहीं फँसेंगे। मैंने गणेशजी को धन्यवाद दिया और रुपया लेकर आगरा वापस आया और इस प्रकार 'आर्य्यमित्र' को बड़ी चपत न लगने पाई।



बेशुमार यादें

मन्नीलाल नेवटिया

सन्-संवत् ठीक से याद नहीं, परंतु सन् 1915 और 20 के बीच की बात है। आज का श्रद्धानंद पार्क तब खुर्द महल पार्क कहलाता था। एक पब्लिक मीटिंग का प्रबंध विद्यार्थीजी कर रहे थे। पार्क में तख्त बिछाना, उस पर पल्ली बिछाना, एक-दो कुरसी रखना (जिसे अपने कुरते के छोर से पोंछना), यह सब काम उन्होंने स्वयं एक-दो मजदूरों की सहायता से किए और करने के बाद तख्त के कोने के पास नीचे जमीन पर बैठ गए। सभापति डॉ. मुरारीलालजी थे। उनके आने पर गणेशजी ने खड़े होकर कुरसी पर बैठाया और स्वयं उनके आग्रह करने पर भी फिर नीचे बैठ गए। तख्त पर भी नहीं बैठे। जब उनका नाम बोलने के लिए सभापतिजी ने पुकारा, तभी वह मंच पर आए। पल्ली बिछाने के काम में मैंने जरा सा हाथ लगाया था और यही मेरा उनका पहला परिचय था। उनकी इस सादगी और महानता की अमिट छाप मेरे हृदय पर पड़ी। गणेशजी के साथ बेशुमार जुड़ी यादें कभी-कभी मन-मस्तिष्क में आज भी गूँज जाती हैं।

आज जहाँ गुरुनारायण खत्री कॉलेज है, वहाँ थियोसॉफिकल स्कूल उन दिनों था और उसमें श्री नारायण गणेश परांजपे साहब शिक्षक थे। मेरे कुछ समवयस्क मित्र और साथी उस स्कूल में शिक्षा प्राप्त करते थे। उनके साथ कभी-कभी वहाँ जाना हुआ, तो कभी-कभी वहाँ गणेशजी के दर्शन हो जाते थे। परांजपे साहब अपने परिवार के साथ, जिनमें छोटे-छोटे बच्चे भी शामिल होते थे, बड़े ही भावपूर्ण ढंग से सुमधुर स्वर में वंदेमातरम् गायन किया करते थे।

कानपुर के नजदीक ब्रह्मावर्त (बिठूर) बहुत बड़ा तीर्थस्थान है। साल में तीन-चार मेले वहाँ के बड़े प्रसिद्ध थे। मेले में जाने वालों को रेलगाड़ियों में

स्थान न मिलने पर उनको रेलवे की मालगाड़ियों में भूसे या जानवरों की तरह भरकर बिठूर जाना पड़ता था। श्रद्धेय गणेशजी से यह न देखा गया और उन्होंने इसके विरोध में सत्याग्रह की घोषणा कर दी। उस दिन से आज तक फिर मालगाड़ी में मनुष्यों को वहाँ के लिए नहीं बैठना पड़ा।

कानपुर में होली के अंझे आज भी बड़े लंबे होते हैं। अंझों में गंदे स्वाँग, गंदे गीत, गाने इत्यादि उबा देनेवाली हरकतें हुआ करती थीं। आदरणीय गणेशजी ने इन अंझों का उपयोग राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने के लिए किया। उन्होंने भैंसा गाड़ियाँ निकलवाने का श्रीगणेश किया। गाड़ी 'प्रताप' प्रेस से चलती थी। उस पर राष्ट्रीय कविताएँ और गाने होते थे। उन कविताओं के सुनाने वाले श्री दयाशंकरजी 'देहाती' आज भी विद्यमान हैं। उनके कई साथी तो मेरी जानकारी वाले चल बसे, जिनमें श्री भैरवदत्तजी मिश्र 'कवींद्र', श्री सप्तनाथ महाराज, श्री सरयू गुरु इत्यादि थे। आगे चलकर इन गाड़ियों ने चुनावों में भी बड़ा सक्रिय योगदान किया। गाड़ियों के पीछे मुझ जैसे सैकड़ों लोगों की भीड़ श्री गणेशजी के पीछे-पीछे चला करती थी और सुनने वाले धीरे-धीरे राष्ट्रभक्त होते जाते थे।

कानपुर म्यूनिसिपल बोर्ड में एक्जीक्यूटिव ऑफिसर का पद खाली हुआ। राजभक्तों ने कानपुर में पहले रह चुके अतिरिक्त जिलाधीश श्रीक्रिस्टी का नाम इस पद के लिए रखा। राष्ट्रभक्तों ने जाने-माने तपे-तपाए नेता राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन का नाम इस पद के लिए प्रस्तावित किया। लाला छंगामलजी बोर्ड के सदस्य थे। सर से पैर तक भारी खादी की पोशाक धारण करते थे और देशभक्तों के बीच उनकी बैठक और गिनती थी, परंतु उन्होंने इस मामले में टंडनजी को सपोर्ट न करके विदेशी क्रिस्टी को सपोर्ट किया। भैंसा गाड़ी ने अपने गाने वालों से उनके विरुद्ध गवाया, जिसमें स्व. सरयू गुरु की एक लाइन मुझे याद है—
''छंगाम रह जाएगी।''

इस चर्चा के फैलते देर न लगी। गाड़ी चावलमंडी होकर चौक, कोतवालेश्वर मंदिर के पास पहुँची तो वहीं पर एक छज्जे पर लाला छंगामलजी व उनके कुछ समर्थक डटे हुए थे। गाड़ी के साथ हजारों की भीड़ थी। मैं भी अपने मित्रों के साथ था, देखा गणेशजी, सहारा लेते हुए गाड़ी पर पहुँच गए और होने लगा गणेशजी का भाषण और ललकारा, ''फेंको पत्थर'' यह था उनके जीवट का प्रदर्शन। मेरे एक मित्र श्री बिहारीलालजी, जो काफी लंबे थे, उन्हीं के साथ गाड़ी पर चढ़ गए और उनको अपनी आड़ में करने लगे कि उनको

कहीं पत्थर न लग जाए। गणेशजी ने उनको डाँटकर अलग कर दिया।

नरवल में गणेशजी ने सेवाश्रम स्थापित किया था, जो आज भी है। वहाँ कई बार जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक बार विशाल सभा हो रही थी। गणेशजी का भाषण शायद शुरू होने वाला था। भीड़ काफी एकत्र थी। एक पुलिस दरोगा बैठी हुई भीड़ को चीरता हुआ किसी के सर पर पैर रखता हुआ, तो किसी के सिर पर हाथ रखता हुआ तेजी से आगे बढ़ा चला आ रहा था। तभी गणेशजी ने उसको मंच से ललकार कर कहा, ''सब इंस्पेक्टर! जहाँ हो वहीं पर बैठ जाओ, वरना बाहर निकल कर बैठो। तुमको मेरे भाषण की रिपोर्ट लेनी थी, तो तुम्हारी ड्यूटी थी कि सभा के समय से आधा घंटा पहले आकर यहाँ बैठते। तुम इसी काम के लिए नौकर हो। तुम श्रोताओं के सिर पर पैर रखकर नहीं आ सकते। अब जहाँ जगह हो, वहीं बैठकर लिखो।'' यह थी उनकी निडरता और तेजस्विता। मैं उस सभा में इस घटना का प्रत्यक्षदर्शी गवाह था।

मेरे मकान के एक तरफ 'प्रताप' प्रेस और दूसरी तरफ कानपुर के प्रसिद्ध चिकित्सक और सार्वजनिक नेता पंडित रामेश्वरजी वैद्य का दवाखाना था। गणेशजी अक्सर शाम के वक्त उनके यहाँ आते-जाते दिखाई दे जाते थे और जब कभी मेरा उनका आमना-सामना हो जाता, तो वे 10-15 मिनट बैठकर हमें उपदेश दे जाते थे, परंतु गणेशजी द्वारा चालीस-पचास वर्ष पूर्व कही गई बातें आज सार्थक हुई देखता हूँ।

मैं छुआछूत का भूत पूरी तरह अब भी नहीं भगा सका था, परंतु गणेशजी ने उस जमाने में कहा था कि मन्नीलाल एक दिन ऐसा आएगा कि अछूत तरक्की कर लेगा। अपना काम नहीं करेगा, उसका वेतन बढ़ जाएगा। उसकी जगह काम करनेवाले नहीं मिलेंगे। बढ़े हुए वेतन और बेकारी के कारण ब्राह्मण-बनिए उसके काम को करते दिखाई देंगे। आज वही प्रत्यक्ष हो रहा है। पिछले दिनों मेरे एक परिचित ब्राह्मण स्टेशन पर मेहतर का काम करते थे। पूछने पर उन्होंने कहा कि काम ही क्या है, गाड़ियों की सफाई, झाड़न-पोछन। घर जाकर स्नान-पूजन किया। पाक-साफ हो गए। और काम मिला नहीं।

गणेशजी हँसमुख भी थे। 'प्रताप' प्रेस में कर्मवीर सुंदरलालजी और पं. जवाहरलाल नेहरू के साथ उनकी बातचीत तथा उनका हास्य भी देखने का कई बार अवसर मिला। बाबू नारायणप्रसादजी अरोड़ा और उनके बीच बातचीत में कई बार भाग लेने का मौका मिला। एक बार विद्यार्थीजी ने कहा, ''अखबारवालों

को कभी पेशगी मूल्य नहीं देना चाहिए। पता नहीं कब तक निकले, कब बंद हो जाए।'' एक बार तो मौका आने पर उन्होंने 'प्रताप' के बारे में भी सूचना निकाली थी कि शायद 'प्रताप' बंद हो जाए (सरकारी दमन के कारण) तो ग्राहकों को अपने रुपए के लिए संतोष रखना चाहिए। फिर प्रकाशित होगा, तो मूल्य चुकाया जाएगा, अन्यथा चाहें तो अपने मूल्य भर की पुस्तकें 'प्रताप' प्रेस से ले सकते हैं। यह थी उनकी ईमानदारी।

चंदे के मामले में एक बार उन्होंने कहा, ''भाई तुमसे मैं चंदा नहीं लूँगा, न माँगूँगा। जो आदमी काम में सहयोग देता है, वह भी तो उसका मूल्य ही है। कार्यकर्ता को कभी धन के लिए कष्ट नहीं देना चाहिए।'' ऐसी थी उनकी कार्यकर्ताओं के प्रति सहानुभूति। होली मेला पता नहीं कब से अनिश्चित रूप से कानपुर में होता चला आया है और उसे निश्चित तिथि पर कराने का सरकार, व्यापारी और जन-नेताओं का प्रयत्न विफल होता रहा है। इसी प्रकार एक बार लोगों के आग्रह पर विद्यार्थीजी भी मेला कराने के चक्कर में पड़ गए। स्वयं एक ताँगे में बैठकर मेले की घोषणा करने निकले। मेरे घर के नजदीक ताँगा दिखाई देते ही मैंने अपनी हुड़दंगी टोली को इशारा किया और लड़कों ने रूमाल में राखी और गुलाल भरा और ताँगा पास आते ही उन पर धूल की बौछार के साथ भद्दा नारा लगाया, ''विद्यार्थीजी की··· हेइया।'' विद्यार्थीजी नाराज होने के बजाए फौरन ताँगे से उतर पड़े और मेरे पास आकर हँस कर कहा, ''लोग मेला नहीं चाहते? चलो अब आज मेला नहीं होगा।'' यह थी उनकी आत्मीयता और सहनशीलता।

कानपुर में मेरी याद में सन् 1920 के करीब से हिंदू-मुस्लिम दंगों की शुरुआत हुई। विद्यार्थीजी एक शाम मेरे मकान पर खड़े थे। लाला भूषणलाल अग्रवाल ने आकर सूचना दी कि मूलगंज मस्जिद के सामने बाजा रोका गया है। उन्होंने तुरंत अग्रवाल को आज्ञा दी, कांग्रेस बैंड को लेकर तुम मूलगंज चलो, मैं आता हूँ। मुझसे बोले, चलोगे तुम? मैं और मेरे एक-दो मित्र भी साथ हो लिये। मूलगंज पहुँचकर बैंड को एक पटरी पर मस्जिद के सामने खड़े करके बजाने की आज्ञा दी। स्वयं आगे खड़े हो गए। मस्जिद की तरफ ललकार कर बोले, ''बाजा बज रहा है। बंद कराने वाले आएँ। हर एक को अपना काम करने का हक है। इबादत वाले इबादत करें।'' 15-20 मिनट तक बैंड बजवाते रहे और उसके बाद शांतिपूर्ण ढंग से सभी लोग लौट गए।

कानपुर में कॉउंसिल चुनावों (1926-27) में लाला चुन्नीलाल गर्ग के मुकाबले विद्यार्थीजी खड़े हुए थे। वह जमाना फिर देखने को न मिला और न मिलेगा। चुन्नीलालजी के पक्ष में महामना मालवीय व गणेशजी के पक्ष में पं. मोतीलाल नेहरू जैसे दिग्गज नेताओं के भाषण तो हुए ही थे। गणेशजी चुनाव के दिनों में ही जेल से छूट कर आए थे। उनके स्वागत-सत्कार की विशाल सभा खुर्द महल पार्क में हुई और हजारों की तादाद में लोग विद्यार्थीजी को आगे करके मेस्टन रोड होते हुए नहर पार पहुँचे, जहाँ विद्यार्थीजी के समर्थकों को नगर के बलिष्ठ पहलवान बच्चू सिंह, मनोहर सिंह, पं. बाबूलाल इत्यादि बोलने नहीं देते थे। वहीं, शायद हरबंश मुहाल वाली सड़क पर या उसी के अगल-बगल की सड़क पर सभा का आयोजन था। मंच के सामने उपर्युक्त पहलवान लोग डटे हुए थे। सभा के धुरंधर वक्ता थे—पं. श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पं. गंगासहाय चौबे, प्यारेलाल अग्रवाल इत्यादि। मंच पर वक्ता के खड़े होते ही पहलवान लोग हा-हू-हा-हू इत्यादि हल्ला मचाने लगते थे। तब तक कहीं दस-बीस हाथ की दूरी पर किसी छज्जे की लकड़ी को पकड़े एक वक्ता गणेशजी के समर्थन में आता तब तक दूसरी तरफ भाषण शुरू हो जाता था। हजारों की भीड़ गली में वहीं नंगी जमीन पर बैठी भाषण सुनती रही। उस रोज़ प्रायः रात भर नहर पार वाले इलाके में चुनाव की कनवेसिंग विद्यार्थीजी के पक्ष में की गई और नतीजा तो सभी कोई जानते ही हैं।



कुछ संस्मृतियाँ

जगमोहन 'विकसित'

पचास-पचपन वर्ष से भी अधिक समय हो चुका। सन् 1915 की बात है। मैं उन दिनों कानपुर जिले के शिवराजपुर मिडिल स्कूल में शिक्षक था। एक दिन पता चला कि आज जो बरात कानपुर से आ रही है, उसमें 'प्रताप' के संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी भी आ रहे हैं। मेरा हृदय उल्लास और उत्साह से भर गया। इलाहाबाद में मेरे शिक्षकों में एक शिक्षक थे स्वनामधन्य पं. बलदेवप्रसादजी शुक्ल। अपनी सहज उदारता और सहज जनहित-कामना से उनकी दृष्टि मेरी ओर पड़ी। मैं कृत-कृत्य हो गया, मेरी अनेक दिशाएँ जो तमसाच्छन्न थीं, आलोकित हो उठीं। उनका कहना था कि सबसे अच्छा काम किसी पत्र का संपादक होना है। यह बात उन्होंने एक बार नहीं, अनेक बार प्रसंग आने पर कही थी। इसलिए मेरे हृदय में संपादक के लिए बड़ा गौरवपूर्ण स्थान बन गया था। मेरे चाव और ललक ने मुझे श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के सामने उपस्थित कर दिया।

गाँव की गलियों में खेलकूद कर मैं बड़ा हुआ था। नागरिक शिष्टाचार और उपयुक्त बातचीत सीखने के लिए मुझे अवसर ही नहीं मिला था। उनके सामने पहुँचते-पहुँचते मैं सोच रहा था, बात न कर सकूँगा तो न सही, जिसकी चारों ओर इतनी प्रशंसा और बड़ाई हो रही है उसके दर्शन तो कर ही लूँगा। विद्यार्थीजी ने बड़े सौहार्द से बातें करना आरंभ किया, मानो मैं वर्षों से उनसे परिचित था। मुझे स्मरण नहीं कि बीच-बीच में उनकी बातों पर मैं क्या कहता चला गया। कुछ देर बातें करके वे बोले, ''देश को आप जैसे नवयुवकों की बड़ी आवश्यकता है, आप हमारे यहाँ आ जाइए।'' मैंने अपनी अयोग्यता और

अपने सीमित भाषा ज्ञान की चर्चा की। वे मुसकराते हुए बोले, "कोई बात नहीं, सब धीरे-धीरे सीख लेना।"

मैंने डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सर्विस छोड़ दी। त्याग-पत्र देकर मैं जुलाई, 1915 में गाँव गया। समुद्र का सा दृश्य बन गया था, जन्माष्टमी में गाँव जाकर जब लौटा, तो मैंने अपनी इस छोटी सी यात्रा पर लेख लिख डाला और गणेशजी को दे दिया। मैंने सोचा था, वे पढ़ेंगे और बेढंगी शब्द-योजना पर हँसेंगे और फिर कहेंगे, अच्छा और लिखने का प्रयास करो, तब हमें देना, परंतु उन्होंने मेरा लेख 'प्रताप' प्रेस में दे दिया। 'प्रताप' के अगले अंक में वह प्रकाशित हो गया। यह मेरा पहला लेख था। 'प्रताप' में इसे स्थान मिल गया, यह सोचकर मेरा हृदय प्रसन्नता से भर गया। मुझे विश्वास हो गया, कि गणेशजी की शुभकामना अंकुरित होकर पनपेगी, फूलेगी, फलेगी।

गणेशजी ने मुझे अत्यंत निकट का स्थान दे दिया। वे जब पहली बार एक सभा में बोले, तो बोलना समाप्त करके जहाँ मैं खड़ा था वहाँ मेरे पास आए और कहने लगे, "बतलाइए, हम कैसा बोले?"

श्री विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक की बैठक में हम लोग प्रायः एकत्र हो जाते थे। बदरीनाथजी को बन्दूक का लाइसेंस दिलवा दिया गया था। वह प्रायः गणेशजी के साथ रहा करते थे। अब याद नहीं आता कि किस प्रसंग पर मुझमें और बदरीनाथ में गरमा-गरमी हो गई। यह बात न जाने कैसे गणेशजी तक पहुँच गई। ऑफिस में आकर उन्होंने बदरीनाथ को बुलाया और डाँट कर माफी माँगने के लिए मेरे पास मेरे कमरे में भेज दिया। फतेहपुर जेल से छूटकर गणेशजी जब कानपुर आए, तो उनका फोटो लिया गया था। उसकी एक कॉपी उन्होंने स्वयं अपने हाथ से मुझे दी थी।

गणेशजी अपने विचारों में दृढ़ और अडिग थे। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड स्कीम प्रकाशित हुई, कानपुर के कलक्टर को वाइसराय का तार मिला, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार पर कानपुर के 'प्रताप' ने क्या लिखा, तार से खबर दो। उस रात मैं भी 'प्रताप' कार्यालय में था। कलक्टर का एक अर्दली एक पत्र लेकर नौ-दस बजे रात आया। चार बजे तक 'प्रताप' तैयार हो जाता था। उसी समय दूर जानेवाली डाक भेजना आरंभ कर दिया जाता था। गणेशजी ने कलक्टर का पत्र पढ़ा और अर्दली से कहा, "जाओ, साहब से कह देना, जो वह चाहते हैं, चार बजे के बाद मिलेगा।"

अनेक क्रियाशील देशभक्तों को वह आर्थिक सहायता तथा सुख-सुविधा देते रहते थे, जिसे पं. शिवनारायण मिश्र, मैनेजर 'प्रताप' कार्यालय के अतिरिक्त कदाचित् ही कोई और जानता रहा होगा।

एक सिख युवक बलवंत सिंह महीनों 'प्रताप' कार्यालय में ठहरे रहे। मेरे कमरे में मेरी अकेली सीट थी। बलवंत सिंह बहुधा मेरे पास आते और बड़ी देर तक बातें करते रहते थे। एक दिन वे बोले, "आज हम आपसे एक विशेष प्रसंग पर बात करना चाहते हैं।" मैं उन दिनों अपने घरेलू झगड़ों में बेतरह डूबा हुआ था। मैंने कहा, "भाई बलवंत, अभी कुछ ठहरिए। मैंने अपनी विवश परिस्थिति का नग्न चित्र उनके सामने रखा और कहा कि ऐसी दशा में मैं इस समय किसी भी कार्य में सक्रिय सहयोग नहीं दे सकता। यह ठीक है कि आपने सोचने-विचारने में भूल नहीं की, आपकी सभी बातें किसी भी दशा में दूसरे तक न पहुँचेंगी, परंतु मैं सोचता हूँ कि जब मैं आगे बढ़कर वस्तुतः हाथ बँटाने की स्थिति में इस समय नहीं हूँ, तो रहस्यपूर्ण बातें केवल जान लेने से क्या लाभ!"

तदनंतर दो-तीन दिन में एक दिन विष्णुदत्तजी शुक्ल (तत्कालीन सब एडीटर 'प्रताप') मेरे पास आए और बोले, "असेंबली में जो बमकांड हुआ है उसमें सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त पुलिस की हिरासत में ले लिये गए हैं। इन्हें आप जानते हैं न?" मैंने कहा, "बटुकेश्वर दत्त थियोसॉफिकल हाई स्कूल में, जब मैं शिक्षक था, किसी छोटे क्लास में पढ़ते थे। सरदार भगतसिंह को मैं नहीं जानता।" बोले, "फोटो निकले हैं। सरदार भगतसिंह हम लोगों के परिचित हैं, जिन्हें हम बलवंत सिंह के नाम से जानते हैं।"

जुलाई, 1915 से लेकर हरी (श्री हरिशंकर विद्यार्थी) के जीवनकाल में मैं 'प्रताप' के संपर्क में रहा। यद्यपि दो-तीन वर्ष के लिए मैं कलकत्ता चला गया, परंतु 'प्रताप' से मेरा संपर्क नहीं टूटा। मैं कलकत्ता में ही था कि एक दिन प्रातःकालीन समाचार-पत्र यह दुखद संवाद लेकर सामने आए कि कानपुर के हिंदू-मुसलिम दंगे में 'प्रताप' संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी मार डाले गए। मैं तत्काल कलकत्ता से चल पड़ा और भागा हुआ कानपुर आया।

हरी कॉलेज की पढ़ाई से निवृत्त हो चुके थे। उन्होंने 'प्रताप' का संपादन-भार स्वयं सँभाला। एक दिन वह मुझसे बोले, "बाबू (गणेशजी) के लेखों को आप जितना जानते-पहचानते हैं दूसरा और कोई नहीं। आप बाबू के लेखों

का संग्रह कर लीजिए।'' मैंने 'प्रताप' की पहले वर्ष की फाइल लेकर कार्य आरंभ किया। उपयोगी लेखों का संग्रह था। इस प्रकार मैंने 395 स्लिप लिखकर हरी को दे दिए। इस बीच में हरी बीमार पड़े। 'प्रताप' के प्रबंध और व्यवसाय से मुझे कोई लगाव नहीं था। फिर भी 'प्रताप' की बिगड़ती हुई दशा मुझसे छिपी न थी। एक दिन मैंने 'प्रताप' के संबंध में हरी से बातें कीं। वे अंत में बोले कि हमने तो इस समय 'प्रताप' उन्हीं लोगों पर छोड़ दिया है। मैं चुप हो गया। हरी की रुग्णावस्था बढ़ती गई। औषधियाँ चलती रहीं, पर लाभ न हुआ। एक दिन वह कैंसर की लाइलाज बीमारी से ग्रसित होकर सदा के लिए सो गए और फिर न जागे।

●

वे फतेहपुर के भी थे

रामलाल अवस्थी

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी अपने जीवन वृत्त में सचमुच विद्यार्थी रहे। उनकी अभिरुचि तत्त्व-दर्शन की ओर विशेष थी। यह बात इसी बात से सिद्ध होती है कि उन्होंने अपने को प्राचीन भारतीय विषयों की परंपरा के निकट रखते हुए 'ईशोपनिषद्' का अध्ययन किया और अपने जीवन में उसे उतारने का प्रयास किया।

मैं अपनी वयस्क अवस्था में प्रथम बार गणेशजी से उन दिनों में मिला था, जबकि वह साप्ताहिक 'प्रताप' में अग्रसर हो रहे थे और पीड़ित जनों का कष्ट निवारण करने का प्रयास भी कर रहे थे। रायबरेली कांड की बातें मैं साप्ताहिक 'प्रताप' में पढ़ा करता था। राजपूताना एवं अन्य कहीं भी पीड़ितों की पुकार सुनकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था।

पुरानी घटना है, एक बार जबकि फतेहपुर जिले के खजुहा स्थान में जिला कलक्टर का दौरा हुआ और खजुहा के पहले के जनवासी व दुकानदार बेगार प्रथा के शिकार बनाए गए थे, मैंने गणेशजी का ध्यान उधर आकर्षित किया। गणेशजी ने तुरंत इस मामले की जाँच की और उत्तर प्रदेश सरकार को 'बेगार प्रथा' बंद करवाने को विवश कर दिया। लखनऊ कॉउंसिल में 'बेगार प्रथा' बंद करने की माँग स्वीकार कर ली गई।

महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समय फतेहपुर जिले से मैं अपने पुराने मित्र झंडा गान के रचयिता श्री श्यामलाल गुप्त के साथ प्राय: गणेशजी से प्रेरणा लेने को कानपुर आता था। फतेहपुर एवं खजुहा तहसील में वे प्राय: दौरा करने जाते थे। खजुहा का राष्ट्रीय विद्यालय उनकी प्रेरणा का ही फल था

और उनके समकालीन कानपुर के डॉ. मुरारीलाल भी उनके साथ प्रचार कार्य के लिए कार्यकर्ताओं को देश-सेवा की प्रेरणा दिया करते थे।

एक बार जब मैं फतेहपुर में था, कांग्रेस-कार्यकर्ताओं की एक बड़ी सभा हुई। उसमें गणेशजी का भाषण सुनने को दूर-दूर से लोग आए थे। सभा में गणेशजी ने अंग्रेजी हुकूमत हटाने का व्रत लिवाया। उन्होंने दृढ़ता से यह घोषित किया कि हम सब मिलकर गांधीजी के नेतृत्व में देश को आज़ाद करेंगे और इस अंग्रेजी सरकार को समुद्र में डुबो देंगे। गणेशजी के इस भाषण पर फतेहपुर जिले के मजिस्ट्रेट ने राजद्रोह का मामला चलाया और गणेशजी को छह मास जेल की सजा दे दी गई। सजा का हुक्म मेरे सामने दिया गया था। उस समय गणेशजी ने मजिस्ट्रेट से कहा था, ''मैं देश को गुलाम बनाए रखनेवाली इस अंग्रेजी हुकूमत को बाहर निकाल देना चाहता हूँ।'' यह कहकर गणेशजी हँसते हुए जेल चले गए।

उस समय जब साइमन कमीशन कानपुर आया था, गणेशजी अपने साथ श्री जी.जी. जोग को लेकर काले झंडों का जलूस साथ ले माल रोड पर गए थे। सड़क के दोनों ओर हजारों लोग काले झंडे लिये खड़े थे। भीड़ को रोकने के लिए लट्ठबंद पुलिस का बड़ा कड़ा पहरा था, फिर भी जब साइमन कमीशन उच्च अधिकारियों के सहित कार में बैठे हुए उधर से निकला तो, जोरदार नारे लगाए गए, 'साइमन लौट जाओ।' उस भीड़ को हटाने के लिए पुलिस ने कई बार लाठियाँ चलाईं। मेरी कलाई में भी काफी चोट आई और कई अंगुलियाँ बेकार हो गईं। गणेशजी ने मेरी मरहम-पट्टी करवाई थी।

गांधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन के समय एक बार ब्रिटिश प्रधानमंत्री मि. चर्चिल ने बड़े गर्व के साथ कहा कि वह गांधी, लँगोटी वाला फकीर स्वराज्य के लिए इतनी शक्तिशाली ब्रिटिश हुकूमत से मोरचा लेने को तैयार है। भारतीयों में अभी इतनी योग्यता नहीं कि स्वराज्य-संविधान[1] की कोई रूपरेखा एकमत से बना सकें। गांधीजी ने इस चैलेंज को स्वीकार किया और उन्होंने तुरंत पंडित मोतीलाल नेहरू को स्वराज्य का मसौदा तैयार करने को कहा। बस, मसौदा तैयार होते ही लखनऊ में 'सर्वदल सम्मेलन' का आयोजन पंडित मोतीलाल

1. पूर्व स्वराज्य अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य के विवाद (1928-29) की ओर संकेत है। स्वराज्य-संविधान संबंधी यह प्रकरण लेखक के व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है।

वे फतेहपुर के भी थे

नेहरू द्वारा किया गया, जिसमें भारत के सभी दलों के नेताओं ने भाग लिया था। कानपुर से गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ मैंने भी लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन में भाग लिया था। श्री सुभाषचंद्र बोस भी उस सम्मेलन में आए थे। अंत में यही स्वराज्य का मसौदा ब्रिटिश प्रधानमंत्री मि. चर्चिल को भेज दिया गया, जिसे पढ़कर मि. चर्चिल के होश ठिकाने आए थे।

गणेशजी राजनैतिक दलबंदियों से कभी भी प्रभावित नहीं हुए। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, क्रांतिकारी व गांधीवादी ये सभी लोग गणेशजी के पास आते थे और प्रेम के साथ विचार-विमर्श करते थे। फिर भी महात्मा गांधी का मार्ग उनको सर्वप्रिय था और सादा जीवन, उच्च विचार उनका मंत्र था। कानपुर में जब सन् 1931 में सांप्रदायिक दंगा हुआ, उसमें गणेशजी ने अहिंसा व्रत का पालन करते हुए और पीड़ितों को राहत पहुँचाते हुए अपने प्राणों की आहुति दे दी। उसी अवसर पर गांधीजी ने कहा था कि मैं भी गणेशजी की तरह की मृत्यु चाहता हूँ। गणेशजी की मृत्यु पर कानपुर से प्रकाशित दैनिक 'वर्तमान' ने बड़े मोटे शीर्षक से छापा था—कानपुर का सर्वस्व स्वाहा।



सांकेतिक शब्द

बटुकदेव शर्मा

उस वक्त मैं जर्मन मिशन स्कूल, गाजीपुर में अंग्रेजी पढ़ रहा था और गवर्नमेंट स्कॉलरशिप भी पा रहा था। सन् 1910 ई. में गाजीपुर में प्लेग-प्रकोप के कारण अधिकांश व्यक्ति शहर छोड़कर बाहर निकल चुके थे। मैं भी शहर के बाहर ददरी घाट पर रहने लगा था। एक दिन अकस्मात् चार बंगाली युवक ददरी घाट पहुँच गए, जो वस्तुतः क्रांतिकारी थे और अपने दल के संगठन तथा विस्तार एवं प्रचार के लिए गुप्त रूप से भ्रमण कर रहे थे। सूर्योदय होते ही वे लोग वहाँ से इधर-उधर निकल जाते और सूर्यास्त के बाद ददरी घाट पहुँच जाते थे। कई दिनों के वार्त्तालाप का परिणाम यह हुआ कि मैं भी क्रांतिकारी दल का सदस्य हो गया और अन्यान्य प्रतिज्ञाओं के साथ गंगा तट पर मैंने यह प्रतिज्ञा भी की कि जब तक देश आज़ाद न होगा, तब तक मैं अपना विवाह न करूँगा। अपनी सारी शक्ति से भारत की स्वतंत्रता के लिए कार्य करता रहूँगा। फलतः मैं उसी वर्ष अपनी पढ़ाई और गवर्नमेंट स्कॉलरशिप छोड़कर कलकत्ता चला गया और भारत के भिन्न-भिन्न भागों में भ्रमण करता रहा। मैं भिन्न-भिन्न कल्पित नामों से अपने लेख कभी-कभी 'प्रताप' में प्रकाशनार्थ भेज दिया करता था। तभी से विद्यार्थीजी से मेरा परिचय हुआ, जिनसे घनिष्ठता उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती गई।

भागलपुर के बिहार ऐंजल प्रेस से 'श्री कमला' नामक सचित्र मासिक पत्रिका पं. जीवानंदजी शर्मा के संपादकत्व में प्रकाशित हो रही थी। सन् 1916 ई. से मैं प्रत्यक्ष रूप से उसके सहकारी संपादक की हैसियत से संपादन कार्य और परोक्ष रूप से क्रांतिकारी दल का कार्य करने लगा, किंतु कुछ महीने बाद

देशद्रोहियों के विश्वासघात के कारण इसका पता गवर्नमेंट को लग गया। मेरी और मेरे अन्यान्य साथियों की गिरफ्तारी का वारंट निकला, किंतु जिस पुलिस ऑफिसर की मार्फत हम लोग गिरफ्तार किए जानेवाले थे, वह भीतर-ही-भीतर किसी अंश तक देशभक्त भी था। उस पुलिस ऑफिसर ने गुप्त रूप से यह खबर करवा दी कि बहुत जल्द सभी क्रांतिकारी गिरफ्तार किए जानेवाले हैं। इसलिए यथासंभव शीघ्र ही सब लोग आपत्तिजनक सामग्री हटाकर स्वयं भी इधर-उधर टल जाएँ, ताकि देशभक्तों की गिरफ्तारी करने का यह कलुषित कृत्य मुझे न करना पड़े।

इसके बाद बेगूसराय के निकट रामपुर मटिहानी नामक गाँव के निवासी श्रीयुत अंबिकाप्रसाद सिंहजी के आग्रह से मैं उनके यहाँ प्राइवेट ट्यूटर की हैसियत से रहने लगा। वहीं से भाई गणेशशंकरजी विद्यार्थी के पास एक पत्र लिखा कि यदि मेरी सेवाएँ स्वीकार हों, तो निम्नलिखित संकेत आप 'प्रताप' के दो अंकों में छाप देने की कृपा करें। 'प्रताप' का प्रचार मैं काफी कर चुका हूँ। उसमें अपना संकेत पढ़कर मैं कानपुर आ जाऊँगा। संकेत के शब्द निम्नलिखित हैं—

मु.ज. की प्रार्थना स्वीकार है —'प्रताप'

सन् 1917 के जून या जुलाई के 'प्रताप' में ये पंक्तियाँ आज भी देखी जा सकती हैं।

निर्भीक विद्यार्थीजी ने बिना किसी असमंजस के उपर्युक्त संकेत 'प्रताप' के दो अंकों में ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया। इसके बाद तुरंत मैं कानपुर के लिए रवाना हो गया और जिस दिन श्रीमती एनी बेसेंट की गिरफ्तारी के विरुद्ध 'प्रताप' कार्यालय में सभा हो रही थी, ठीक उसी वक्त मैं वहाँ पहुँच गया। 'प्रताप' परिवार और विद्यार्थीजी ने मेरा जो हार्दिक स्वागत किया, उसे कभी भूल नहीं सकता।

किंतु गवर्नमेंट के पालतू देशद्रोहियों ने मेरे सांकेतिक शब्द 'प्रताप' में प्रकाशित करने के संबंध में रिपोर्ट करके खैरख्वाही की। कानपुर के कलक्टर साहब को ऐसा मालूम हुआ कि इस घटना से मानो ब्रिटिश गवर्नमेंट अब भारत में खत्म होने जा रही है। कलक्टर बहादुर ने विद्यार्थीजी को बुलवा कर बड़ी कड़ाई के साथ उनसे जवाब तलब किया कि ऐसे गुप्त संकेत 'प्रताप' में छापकर

आपने घोर अनिष्ट किया है। इस वजह से गवर्नमेंट आप से सख्त नाराज़ है। शेरदिल विद्यार्थीजी कानपुर के कलक्टर की बंदर घुड़कियों से ज़रा भी विचलित न हुए और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उन्हें जवाब दिया कि पहले आपको मनुष्य बनना चाहिए तब अंग्रेज़ या कुछ और। अगर इंग्लैंड पर जर्मनी या फ्रांस का कब्जा होता और आप मेरी ही तरह किसी अखबार के संपादक होते तो अपने देशभक्तों के लिए आप क्या करते?

विद्यार्थीजी के इस उत्तर से कलक्टर साहब खामोश हो गए और विद्यार्थीजी 'प्रताप' कार्यालय लौट आए। उन्होंने सारा किस्सा मुझसे कह सुनाया। मैंने हँसते हुए उनकी तरफ संकेत करके कहा—

'सरक जाए यह ऐसा सर नहीं है।
बदल जाए यह सब हिम्मत नहीं है।'

इस पर वे खिलखिला कर हँस पड़े और कहने लगे, ''शर्माजी कभी-कभी मुझे भी बना दिया करते हैं।''



सांकेतिक शब्द

दूसरा जालियाँवाला

विवेक मिश्र

ब्रिटिश हुकूमत के चाटुकार ताल्लुकेदारों और जमींदारों ने गोराशाही विरोधियों के स्वर दबाने का नया हथकंडा अपनाते हुए सरेआम बाजारों व घरों को लूटकर अपने इस कुकर्म का दोष आंदोलनकारियों के मत्थे मढ़ना शुरू कर दिया था। इसी कुचक्र के अंतर्गत 7 जनवरी, 1921 को निहत्थे किसानों को गोलियों से भून दिया गया था। जनता ने अपने ऊपर लगाए जा रहे मनगढ़ंत आरोपों को मिथ्या साबित करने तथा अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों का भंडाफोड़ करने के उद्देश्य से चंदनिहा में किसान सभा का आयोजन किया था। 6 जनवरी को मार्तंडदत्त वैद्य ने मोतीलाल नेहरू को स्थिति से अवगत कराने के लिए तार भेजकर रायबरेली आने का आग्रह किया।

वह मौजूद नहीं थे, अतः तार जवाहरलाल नेहरू को मिला। उन्होंने गंभीरता भाँपते हुए उत्तर दिया कि 7 जनवरी को पंजाब मेल से मैं पहुँच रहा हूँ। इससे पूर्व 5 जनवरी को जनपद के जनप्रिय नेता बाबा जानकीदास और अमोल शर्मा को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा कायम किया गया और साथ ही आधे घंटे में दोनों लोगों को एक-एक वर्ष कैद की सजा देकर दो घंटे में लखनऊ जेल भेज दिया गया था। इस अप्रत्याशित आश्चर्यजनक कार्रवाई का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि इन दोनों नेताओं को मौत के घाट उतार दिए जाने की अफवाह फैल गई।

आक्रोश बढ़ता देख लखनऊ से फौज, घुड़सवार सशस्त्र सैनिक बुला लिए गए थे। 7 जनवरी को मुंशीगंज बाजार के पश्चिमी फाटक पर हजारों किसान एकत्र होने लगे। भीड़ बलिदान-संकल्प से अनुप्राणित थी, तथापि अहिंसात्मक

आचरण के लिए कटिबद्ध थी तथा अपने नेताओं को देखना चाहती थी। प्रशासन ने सेना बुला ली। हथियारों से लैस घुड़सवारों ने भीड़ को पीछे धकेलना शुरू कर दिया। इसी बीच सूचना मिली कि पं. नेहरू इलाहाबाद से आ रहे हैं। भीड़ का उत्साह बढ़ गया और वह नेताओं की रिहाई के नारे लगाने लगी।

प्रशासन ने बैलगाड़ियों को पंक्तिबद्ध खड़ाकर उनकी बाड़ खड़ी कर दी, जिससे भीड़ आगे न बढ़ सके। दोपहर तक भीड़ बढ़ती जा रही थी। इसी बीच तत्कालीन कलक्टर ए.जी. जोरिफ, आई.सी.एस. पुल पर पहुँचा। कांग्रेसी नेताओं ने उसे नेहरूजी के आने की बात बताई और कहा कि उनके कहने पर भीड़ चली जाएगी, बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जोरिफ को यह सुझाव उचित लगा, वह भी नेहरूजी की प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच ताल्लुकेदार सरदार वीरपाल सिंह मोटर से आ पहुँचा तथा कलक्टर से मंत्रणा कर कहा कि नेहरू के आने पर भीड़ उग्र हो जाएगी, हो सकता है पुल पार कर जेल पर आक्रमण कर दे। उसकी राय पर कलक्टर ने पुलिस इंस्पेक्टर डारसन से अतिरिक्त हथियारबंद पुलिस मँगाने को कहा तथा ऐसी व्यवस्था की कि नेहरू सभास्थल पर न पहुँच सकें। कृषकों को वापस जाने को कहा गया। उधर रेलवे स्टेशन पर नेहरू के स्वागत में मार्तंडदत्त वैद्य, डॉ. अवंतिका प्रसाद आदि भारी संख्या में नागरिकों तथा हिंद स्कूल के छात्रों सहित प्रतीक्षा कर रहे थे। ट्रेन आई, नेहरू उतरे तथा डॉ. शुक्ला के घर जाकर घटनाक्रम जाना।

इस बीच कैपरगंज सराय निवासी बब्बन इक्केवाला आया। उसके आने से वैद्यजी ने राहत की साँस ली, क्योंकि सैय्यद शमशाद अली जिसकी लारियाँ चलती थीं, उसने कहा लारियाँ 12 बजे तक आएँगी। फोर्ड कार स्टार्ट नहीं हो रही है। नेहरू ने बगैर प्रतीक्षा किए सभा स्थल के लिए पैदल ही प्रस्थान कर दिया। इलाहाबाद बैंक पहुँचते-पहुँचते भारी भीड़ उनके साथ हो गई थी। कलक्टरी कचहरी पहुँचते ही गोलियों की आवाजें आने लगीं। भीड़ में किसी ने बदलू बेड़िया को देख अंग्रेजों का समर्थक कहा, तभी रायबरेली के डायर तथा ब्रिटिश शासकों के गुलाम ताल्लुकेदार सरदार वीरपाल सिंह ने पिस्तौल से फायर शुरू कर दिया। सेना ने इसे फायर आदेश मानकर किसानों को लावा की तरह भून डाला। सई नदी का पानी खून से लाल हो गया। धरती लाशों से पट गई।

ब्रिटिश फौजों ने तीनों तरफ से नाकेबंदी कर निहत्थे बेबस किसान-

मज़दूरों को गोलियों से भून दिया था। इसलिए यह पुल आज उन हुतात्माओं की याद दिलाता है। यह ऐतिहासिक पुल बलिदान स्थल में परिवर्तित हो गया। बताते हैं, सई नदी के दोनों किनारों का मैदानी भाग शहीदों की लाशों से पट गया था। नदी के उस पार स्थित चुनौटा कुआँ भी किसानों के शव से ऊपर तक पट गया था। यह कुआँ भी शहीदों के लहू का स्मरण ताजा कर देता है। इस गोलीकांड में एक हजार से अधिक किसान-मजदूरों के वीरगति पाने से पहले मिट्टी के ढेर पर से नेहरूजी ने बोलना शुरू किया। डी.एम. ने उन्हें बुलवाया। उसके साथ डायर वीरपाल भी मोटर में बैठा था। नेहरूजी के जाने पर भ्रम बढ़ गया, लोगों को लगा कि वे गिरफ्तार कर लिये गए हैं। 8 जनवरी को नेहरू ने अपने पिता मोतीलाल को सारा घटनाक्रम बताया। वे आए, अस्पताल में घायलों से मिले। 15 जनवरी को पं. मदनमोहन मालवीय, पं. वैंकटेशनारायण तिवारी आए, घटनास्थल देखा, पुआल में लिपटी लाशें तथा गड्ढे देखे।

इस नृशंस नरसंहार से मर्माहत नेहरूजी ने 'रायबरेली ट्रेजडी' शीर्षक लेख लिखा, जो 23 जनवरी, 1921 को 'दि इंडिपेंडेंट' में प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा कि पं. मार्तंडदत्त को नीबू, सब्जी लूटने के आरोप में गिरफ्तार किया गया, जबकि वे निर्दोष संभ्रांत व्यक्ति थे। यह झूठी शिकायत मुंशीगंज कांड के खलनायक सरदार वीरपाल सिंह ने की थी। पं. मार्तंडदत्त वैद्य सत्ताधारियों की योजनाओं में बाधक थे, उनकी शांति में व्यवधान डालते थे, इसलिए यह आरोप लगाकर पकड़ा गया। वीरपाल ने कहा कि गोली आत्मरक्षार्थ चलाई। फौजी, कलक्टर और एस.आर. मेयर पुलिस कप्तान भी गोली चलाने से मुकरे तो प्रश्न यह उठा था कि बगैर किसी के गोली चलाए इतना बड़ा लोमहर्षक कांड हुआ कैसे? जनता गवाह थी, उसने वीरपाल को जनरल डायर कहा। यह कांड जालियाँवाला बाग से कम नहीं था, अंतर सिर्फ यह था कि वहाँ मशीनगनें थीं, यहाँ बंदूकें। गवर्नर सर हरकोर्ट बटलर इस घटना से प्रसन्न हुआ था, क्योंकि वह गरीबों का हमदर्द नहीं, वरन् ताल्लुकेदार-प्रेमी था। चूँकि भीड़ में खुरहटी ताल्लुकेदारी का निवासी शिवबालक भी था, सरदार ने उसे देखा कि वह अगुआई कर रहा है, तभी उसने इतनी बड़ी घटना को अंजाम दे डाला था।

पं. नेहरू ने स्वीकार किया था कि कांड का खलनायक वीरपाल ही था, जबकि लखनऊ के तत्कालीन कमिश्नर ले. कर्नल फाउंडर्स ने उसे बचाने का

पूरा प्रयास कर डाला था। दस्तावेज़ बताते हैं कि कर्नल घटना के समय वहाँ था। लाशों, घायलों को देख उसने इलाज से भी मना किया था। लाशों को हटवाने का कार्य इंस्पेक्टर डारसन ने कराया था।

लाशें इतनी अधिक थीं कि उनको ढोने के लिए मुंशीगंज से ताँगे वाले बुलवाए गए थे, जिन्हें प्रति लाश एक रुपया ढुलाई दी गई थी। लाशें हटने तक कर्नल फाउंडर्स कैंप लगाकर वहीं जमा रहा था। लाशें हट जाने पर उसने सरकारी रिपोर्ट में इसे एक सामान्य घटना करार दिया था, जबकि शहीद स्थल चुनौटा कुआँ आज भी उस नृशंस नरसंहार का गवाह है। किसानों की बलिदान तिथि 7 जनवरी को आज भी प्रतिवर्ष शहीद दिवस मनाकर सूरमाओं को श्रद्धांजलि दी जाती है।



मेरे गुरुदेव

प्रतापनारायण श्रीवास्तव

बहुत वर्ष बीत गए, सन्-संवत् भी याद नहीं है। मैं लगभग दस-ग्यारह वर्ष का बालक था, जब मैं अपने पिताजी के साथ सेठ बैजनाथ जुग्गीलाल के कोपरगंज वाले मिल के अहाते में रहने वाले बाबू संपतिराय के यहाँ किसी शुभ काम के निमंत्रण पर गया था। बिरादरी के जब सब लोग इकट्ठा हो गए, तब बाबू संपतिराय ने सब आगत भाइयों के समक्ष एक दुबले-पतले चश्मा लगाए व्यक्ति को उपस्थित करते हुए कहा, ''आप लोगों को जानकर प्रसन्नता होगी कि हमारी बिरादरी के एक नवयुवक ने देशसेवा के कंटकाकीर्ण मार्ग को चुना है। इनका नाम श्री गणेशशंकर विद्यार्थी है और इन्होंने नौकरी को छोड़कर अखबारनवीसी का धंधा अपनी मरजी से अपनाया है। यह साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' निकालते हैं। इन्होंने हमारी जाति का मुख उज्ज्वल किया है। अभी तक हमारी जाति पर यह लांछन था कि हम लोग अंग्रेजों के गुलाम हैं, और हमारा कोई स्वतंत्र व्यवसाय नहीं है, केवल नौकरी करके पेट भरना है, परंतु गणेशजी ने इस कलंक को धो डाला है। हमारी जाति इनको पाकर धन्य हो गई है।'' मेरे मन पर इन शब्दों का बहुत प्रभाव पड़ा। मैं उनकी ओर इस प्रकार खिंच गया, जैसे लौह खंड चुंबक पत्थर की ओर खिंच जाते हैं।

मैं खिसकता-खिसकता उनके समीप पहुँच गया और झुककर उनके चरणों को स्पर्श किया। वे चौंके और मुझको चरण-स्पर्श करते देखकर विस्मित होकर पीछे हट गए। मेरे पिता ने समझा कि मेरा पैर फिसल गया है, इसलिए वे मुझे उठाने के लिए झपटे और गोद में उठा लिया। मैं उनके समीप ही था। मेरे पिता से उन्होंने पूछा, ''क्या यह आपका लड़का है?'' स्वीकार करते हुए

उत्तर दिया, ''हाँ, यह बड़ा बेवकूफ है। हर बड़े आदमी को देखकर पैर छूने लगता है।'' गणेशजी ने मेरे कपोलों को प्यार की हलकी चपत लगाते हुए कहा, ''तब यह होनहार बालक है। यह पढ़ता है?'' यथोचित उत्तर पाकर वे चले गए।

इन्हीं दिनों मेरे पिता के एक मित्र बाबू शिवव्रत नारायण उर्फ शिव बाबा प्राय: रोज ही मेरे घर शाम को आया करते थे। वे मुझे बहुत प्यार करते थे और मैं भी उनसे बहुत हिल-मिल गया था। वे मुझे अपने निकट बैठा लेते और दुलराते हुए पीठ पर हाथ फेरा करते। मेरे पिता यदि कभी घुड़कते, तो वे मेरा पक्ष लेकर उन्हें डाँट भी देते थे। उनकी बैठक कई घंटों की होती थी और जब तक वे रहते, मुझे अपने पास से दूर नहीं करते थे। मेरे पिताजी को पढ़ना छोड़कर वहाँ मेरा बैठना सुहाता नहीं था, किंतु शिव बाबा के कारण कुछ कठोरता नहीं बरत पाते। शिव बाबा भी मुझको इतना प्यार करते थे कि मुझे देखने और बातें करने के लिए प्राय: रोज ही आने लगे।

इसका भेद मुझे कई वर्षों बाद उन्हीं की जबान से मालूम हुआ कि उनके एकमात्र पुत्र का नाम भी प्रताप था, जिसको मेरे गुरुदेव बहुत प्यार करते थे, क्योंकि उस समय तक कोई पुत्र-संतान उनके घर में उत्पन्न नहीं हुई थी। मेरे गुरुदेव ने अपने साप्ताहिक पत्र का नाम उसी के नाम को अमर करने के लिए 'प्रताप' रखा था। एक दैविक योग से मेरा नाम भी 'प्रताप' था और आचरण-स्वभाव में मुझसे अधिक मिलता-जुलता था। इसी नाम की एकरूपता के कारण उनका भरपूर स्नेह मुझे जीवन भर प्राप्त रहा। वे हमेशा मुझको बेटा प्रताप कहकर ही पुकारते रहे और पिता सदृश वात्सल्य मुझको प्रदान करते रहे। उनके भतीजे हरिशंकर की मृत्यु के बाद वे सप्ताह में एक बार अर्थात् बृहस्पतिवार को अपना पैर दबाने की सेवा करने का अवसर देते रहे और यह क्रम उनके जीवनांत तक चलता रहा। उस दिन से उनकी पद सेवा करने का अवसर भी प्राप्त होता रहा। आशीर्वाद भी उनका सदा मिलता रहा और मैं उनको पितृवत ही मानता रहा।

मेरे गुरुदेव के साथ संसर्ग कराने में वही अग्रणी थे। एक दिन मेरे पिता मुझे पीट रहे थे, तभी शिव बाबा आ गए और पिताजी से पूछा, बच्चे को क्यों मार रहे हो? ऐसा इसने क्या अपराध किया है, जो इतनी बेदर्दी से मार रहे हो। मेरे पिता ने उत्तर दिया, अभी हजरत नवें दर्जे में पढ़ते हैं और कहानियाँ लिखने में अपना समय बरबाद करते हैं। पढ़ना-लिखना कुछ नहीं, नवाँ दर्जा

है, यदि इस प्रकार समय बरबाद करेंगे तो इम्तिहान कैसे पास होगा।

"क्या लिखा, जरा मैं भी देखूँ।" कहकर शिव बाबा मुझे अपने पास बैठाते हुए पिता की दी हुई कहानी पढ़ने लगे। उसको पढ़ने के बाद कहा, "रत्न नारायण, तुम बड़े भाग्यशाली हो। यह कहानी किसी नवें दर्जे में पढ़ने वाले छात्र की लिखी हुई नहीं हो सकती। "फिर मुझसे पूछा, क्यों बेटा यह क्या तुम्हारी लिखी हुई है? "मैंने सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रकट की। तब उन्होंने कहा, "तुम बड़ी अच्छी कहानी लिख लेते हो। चलो तुम मेरे साथ, तुम्हें गणेशजी से मिला दूँ। उनके पत्र में यह कहानी छपवा दूँगा।"

दूसरे दिन रविवार था। उस दिन सबेरे ही शिव बाबा आ गए और पिताजी से कहा, "मैंने प्रताप के संबंध में गणेशजी से बात की थी। वे उससे मिलना चाहते हैं। उसको मेरे साथ भेज दो, ताकि मैं गणेशजी से उसे मिला दूँ।" शिव बाबा पर पिताजी का विश्वास था। उन्होंने मुझे बुलाकर उनके साथ जाने का आदेश दिया।

वे मेरा कंधा पकड़े हुए तीव्र गति से जा रहे थे। मैं जब 'प्रताप' प्रेस के जीने पर चढ़ रहा था, तो पीछे लौट आने के लिए मन बार-बार कह रहा था, किंतु शिव बाबा के डर से ऐसा करने का साहस नहीं होता था। आखिर ऊपर पहुँच गया और बड़े कमरे को पार कर संपादक के कक्ष में अपने गुरुदेव के समक्ष जाकर खड़ा हो गया। मेरे हाथ-पैर काँप रहे थे। हृदय धौंकनी की भाँति धुक-धुक कर रहा था। मुझे काँपते देखकर गणेशजी ने कहा, "बेटा कुरसी पर बैठ जाओ। तुम पढ़ते हो। मैंने तुमको बाबू संपतिराय की दावत में देखा था। तुम वही हो जो मेरा पैर छूने के लिए आगे आए थे और तुम गिर पड़े थे।"

शिव बाबा ने मेरी लिखी कहानी उनको देते हुए कहा, "यह कहानी इन्हीं की लिखी हुई है। जरा पढ़कर देखें, कितनी सुंदर है। ऐसा मालूम होता है कि यह किसी सिद्धहस्त की लिखी हुई है।" गणेशजी उसे पढ़ने लगे और जब तक वे पढ़ते रहे, मेरा हृदय धौंकनी बना हुआ था। यद्यपि शिव बाबा उसकी तारीफ कर चुके थे, तथापि उनका निर्णय अंतिम होगा और सर्वथा सत्य होगा। कहानी का अंतिम पृष्ठ समाप्त कर वे उठकर मेरे पास आ कर खड़े हो गए और पूछा, "यह कहानी आदि से अंत तक तुम्हारी ही लिखी हुई है?" मैं उठकर खड़ा हो गया और उत्तर दिया, "जी हाँ।" दूसरा प्रश्न हुआ, "कहीं

से नकल तो नहीं की है?'' यह कहकर तीक्ष्ण नेत्रों से वे मुझे देखने लगे। उससे मेरे मन में कोई भय नहीं हुआ। मैंने निर्भीकता से उत्तर दिया, ''मैंने किसी की नकल नहीं की है, सब स्वयं लिखा है।''

उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, ''शाबाश तुमने बड़ी अच्छी कहानी लिखी है। 'प्रताप' में छपने लायक है, किंतु उसमें इतनी बड़ी कहानी के लिए काफी स्थान नहीं है। मैं इसे कौशिकजी को दूँगा। वे अपने मासिक पत्र 'हिंदी मनोरंजन' में सहर्ष छापेंगे।''

कौशिकजी के यहाँ पहुँचे, तो देखा कमरा पुरानी रुचि के अनुसार सजा हुआ था। बैठने का प्रबंध फर्श पर था, जिस पर चाँदनी बिछी हुई थी। वे एक मसनद के सहारे बैठ गए और मैं भी एक ओर सिमटकर बैठ गया। ज्यों ही हम लोग बैठे, त्यों ही कौशिकजी जीने से उतरते हुए आ गए। मेरे गुरुदेव तो नहीं उठे, किंतु मैं उठकर खड़ा हो गया। कौशिकजी ने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा, ''अपना परिचय तो दीजिए।''

मेरे गुरुदेव ने मेरी कहानी आगे बढ़ाते हुए कहा, ''यह नौंवी कक्षा के विद्यार्थी हैं। मेरे रिश्तेदार हैं। शिव बाबा इनके पिता के मित्र हैं। इन्होंने एक कहानी लिखी है, मैंने उसको आज ही पढ़ा है।''

कौशिकजी ने कहानी ले ली और उसके कुछ पृष्ठ आगे-पीछे के पढ़कर कहा, ''हाँ, कहानी तो अच्छी मालूम देती है। मैं पढ़कर देख लूँगा। छपने लायक होगी, तो अवश्य छापूँगा।'' मैं अभी तक खड़ा ही था। उन्होंने बड़े प्रेम के साथ बैठने का आदेश दिया। फिर इधर-उधर की बातें होने लगीं। 'हिंदी मनोरंजन' के संबंध में पूछा। राजनीतिक वातावरण पर बातें छिड़ गईं।

जब मेरी 'बलिदान' नामक कहानी 'हिंदी मनोरंजन' में छपी, तब उसकी एक प्रति शिव बाबा ने लाकर मेरे पिताजी को देकर कहा, ''देखो, अपने पुत्र की करतूत। कितनी अच्छी कहानी इस अवस्था में लिखी है।'' पिताजी उसे पढ़ने लगे। शिव बाबा का शब्द सुनकर मैं बाहर आया। मुझको देखकर उन्होंने कहा, ''बेटा तुम्हारी कहानी पढ़कर गणेशजी बहुत प्रसन्न हुए हैं और तुमको बधाई और पत्र की प्रति देने के लिए तुम्हें लाने के लिए मुझे भेजा है। कपड़े पहनकर मेरे साथ चलो।'' और फिर मेरे पिताजी जो कहानी पढ़ रहे थे, से कहा, ''गणेशजी ने मुझसे कहा है कि 'प्रताप' को तुम कहानी लिखने के लिए मारा-पीटा न करो, बल्कि उत्साहित किया करो। इसके जन्मजात गुणों को

उत्साहित करके उन्नत करो।'' पिताजी ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वे कहानी पढ़ते रहे।

मैं अपनी कहानी को छपी देखने के लिए व्याकुल हो रहा था। शिव बाबा ने फिर कहा, ''जाओ, कपड़े पहन आओ। तुम्हें मेरे साथ चलना है। गणेशजी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।'' मैं अपने पिता की ओर उनकी अनुमति पाने के लिए देखने लगा, शिव बाबा ने फिर कहा, ''कपड़े क्यों नहीं जाकर पहनता। तुझे मेरे साथ चलना है।'' मैंने पिताजी की ओर संकेत किया, जिसे उन्होंने देख लिया।

मैं उत्साह से पुलकित हो रहा था। शीघ्रता के साथ मैंने अंदर जाकर कपड़े पहने और बाहर आकर खड़ा हो गया तथा उनके पुनर्आदेश के लिए उनका मुख जोहने लगा। इसी बीच पिताजी ने कहानी पढ़ना समाप्त कर आदेश दिया।

शिव बाबा मुसकराते हुए उठकर खड़े हो गए और मेरा हाथ पकड़कर ले चले। बाहर आकर कहा, ''हिंदी मनोरंजन, की वह प्रति तो लीजिए।'' उन्होंने उत्तर दिया, ''गणेशजी के पास कई प्रतियाँ कौशिकजी ने भेजी हैं। यह तेरे अब्बा के लिए है, उनको इसे पढ़ने दे। तुमको एक प्रति गणेशजी और कौशिकजी दे देंगे।'' मैंने पूछा, ''क्या कौशिकजी वहाँ आए हैं।'' ''कौशिकजी स्वयं पाँच प्रतियाँ इस अंक की लेकर आए हैं।'' उनमें से एक तुम्हें दे दूँगा। मैं चुप हो गया। कौशिकजी का मंतव्य जानने के लिए मैं उत्सुक हो रहा था। इसलिए पूछा, ''इस कहानी के बारे में कौशिकजी क्या कहते थे?'' उन्होंने मेरी पीठ थपथपाते हुए कहा, ''वे भी बहुत प्रसन्न हैं, उन्हें भी विश्वास नहीं होता था कि वह तुम्हारी लिखी हुई है, फिर मेरे कहने पर उन्हें विश्वास हुआ।'' मैं मन-ही-मन प्रसन्न होने लगा।

मेरे घर से 'प्रताप' प्रेस नजदीक था। थोड़ी देर में हम 'प्रताप' प्रेस पहुँच गए। काँपते हुए दिल से ऊपर सीढ़ियाँ चढ़ आया।

मैंने घुसते हुए उन दोनों को प्रणाम किया। मेरी झिझक देखकर मेरे गुरुदेव ने कहा, ''आओ प्रताप, कौशिकजी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तुम्हारी कहानी छापकर वे बड़े प्रसन्न हुए हैं और पुरस्कार में तुम्हें मिठाई खाने के लिए बुलाया है।'' मुझे कोई उत्तर सूझा नहीं, चुपचाप उनके सामने खड़ा हो गया। एक कुरसी की ओर इंगित करते हुए उन्होंने कहा, ''इस कुरसी पर बैठो और शर्माओ या डरो नहीं।''

फिर कौशिकजी से कहा, ''आप अपने हाथ से मिठाई का दोना दीजिए।'' कौशिकजी ने तौलिए से ढकी हुई मिठाई का दोना निकाल कर मुझे देते हुए कहा, ''तुम्हारी कहानी बड़ी सुंदर थी। सब लोगों ने बहुत प्रशंसा की है और गुजराती में अनूदित करने की अनुमति माँगी गई है। इस कहानी को छपे हुए लगभग पंद्रह दिन बीत गए हैं, लेकिन तुम्हारा पता न मालूम होने से तुम्हें अभी तक भेज नहीं सका था। गणेशजी भी झाँसी किसी काम से गए थे। आज उनके आने का समाचार सुना इसलिए 'हिंदी मनोरंजन' की प्रतियाँ लेकर आया हूँ।''

जलपान समाप्त होने पर कौशिकजी ने कहा, ''अब आपकी कहानी छप गई है। 'हिंदी मनोरंजन' के आगामी अंक के लिए दूसरी कहानी दीजिए।''

इसके बाद विभिन्न बातों का प्रसंग छिड़ गया और 'हिंदी मनोरंजन' की एक प्रति लेकर उमंगों से भरा हुआ मैं अपने घर चला आया।

इसके बाद गुरुदेव का वही स्नेह और कृपा प्राप्त होती रही जो एक पुत्र को प्राप्त होती है। वे अपने पुस्तकालय से पुस्तकें देते और यह जानने के लिए कि मैंने उन्हें पढ़ा या नहीं, उसके विषय में मार्मिक प्रश्न पूछते।

एक बार उन्होंने चार्ल्स डिकेंस लिखित 'A Tale of Two Cities' नामक उपन्यास पढ़ने को दिया। उसकी भाषा मेरे लिए कुछ क्लिष्ट थी। मैं आद्यंत नहीं पढ़ सका। दस दिनों बाद ही उसको वापस करने गया। उन्होंने पूछा, ''क्या तुमने इसको इतनी जल्दी पढ़ डाला?'' मैंने झूठ बोला और कह दिया कि हाँ पढ़ डाला है। उन्होंने पूछा, ''इस उपन्यास में क्या अपूर्व घटना है, बताओ।'' मैं कोई उत्तर नहीं दे सका। अंत तक पुस्तक पढ़ी होती तो जवाब देता। मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने घुड़कते हुए पूछा, ''तुमने इस पुस्तक को पढ़ा है या नहीं, ठीक बताओ।''

अब मेरा साहस न हुआ कि मैं झूठ बोलूँ। मैंने धीमे स्वर में उत्तर दिया, ''कठिन बहुत थी, इसलिए पूरी नहीं पढ़ी है।'' उन्होंने क्रुद्ध स्वर में पूछा, ''फिर क्यों पहले कहा था कि पढ़ लिया है! तुम झूठ बोले।'' मैंने नतमस्तक होकर अपनी भूल स्वीकार की। वे बोले, ''तुमको इस झूठ बोलने के लिए मैं अपने को दंड दूँगा और आज शाम का भोजन नहीं करूँगा।'' वे मौन हो गए और अपने काम में जुट गए।

उन्होंने मेरी ओर देखा भी नहीं। मैं खड़ा-खड़ा रोता रहा। मेरी उसाँसें

सुनकर वे बोले, ''तुम क्यों रो रहे हो, तुम्हारे झूठ बोलने का दंड मैं अपने को दूँगा।'' मैं अपने को नहीं रोक सका। उनके चरणों को पकड़ते हुए कहा, ''अब मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।''

''क्या तुम यह प्रतिज्ञा करते हो?'' उन्होंने चश्मे के भीतर से देखते हुए पूछा। मैंने उत्तर दिया, ''आपके चरणों की सौगंध खाकर कहता हूँ कि अब मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा।'' यह सुनकर वे प्रसन्न हो गए और मुझे मेज पर बैठाते हुए कहा, ''झूठ बोलने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। यदि तुम स्वीकार कर लेते कि मैं इस पुस्तक को नहीं पढ़ सका, क्योंकि यह मेरे लिए बहुत कठिन थी तो मैं इससे अप्रसन्न नहीं होता। अब झूठ नहीं बोलोगे। क्या मैं विश्वास करूँ?'' यह कहकर वे मेरा मुँह देखने लगे।

मैंने अश्रुप्लावित नयनों से कहा, ''आप विश्वास कीजिए, जीवन में कभी झूठ नहीं बोलूँगा। आप विश्वास कीजिए।'' यह सुनकर वे प्रसन्न हो गए। मुझे संतोष है कि उनके सामने की हुई प्रतिज्ञा की मैंने आज तक रक्षा की है और यह घटना कभी विस्मृत नहीं हुई।



सब के आश्रयदाता

शंभूनाथ

बापू के असहयोग आंदोलन की आवाज कान में पड़ते ही नौजवानों का खून उबलने लगा था। पंच बहिष्कार की माँग बापू ने भारतीय जनता के सामने पेश कर दी। मैं कानपुर में सब जजी में उन दिनों नकलनवीस था। वह नौकरी छोड़कर घर बैठ गया। मेरे मौसिया श्री हरपाल सिंह के यहाँ रामरक्षपाल संधी मिले। वे मुझे 'प्रताप' प्रेस में विद्यार्थीजी के पास ले जाकर बोले, ''गणेश, तुमने जो यह गांधी के गधों का अस्तबल खोला है उसमें इन साहबजादे को भी भरती कर लो। इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी है।'' विद्यार्थीजी के मुक्त हास्य से उनका कमरा गूँज उठा। 'प्रताप' प्रेस के मैनेजर श्री हरप्रसाद गोयल को बुलाकर मुझे काम लेने को सौंप दिया। यह वाकया सन् 1920 के आस-पास का है।

'प्रताप' पर सरदार वीरपाल सिंह की मानहानि का मुकदमा चल रहा था। जवाहरलाल नेहरू ने 'इंडिपेंडेंट' में छपे समाचार को बिना जाँच किए छापना स्वीकार कर लिया था, परंतु विद्यार्थीजी ने सरदारजी के नोटिस की अवेहलना की थी। मुकदमे में बसरा और मेसोपोटामिया की गवाहियाँ पेश हो रही थीं। दैनिक 'प्रताप' के बंद होने तथा अंत में उनके जेल जाने की नौबत आ गई। छपाई मशीन के ग्राहक आने लगे। यह मशीन बिक गई, परंतु विद्यार्थीजी की तनी हुई गरदन न झुकी। 'प्रताप' के मुख पृष्ठ पर छपता भी था—'जिसको न निज गौरव तथा निज देश···'

तकिए के नीचे

डेढ़ महीने की नौकरी हुई थी। मियादी बुखार आ गया। एक दिन कार्यालय न जा सका। विद्यार्थीजी को पत्र भेजा कि छुट्टी स्वीकार कर दें। विद्यार्थीजी पत्र पाकर एक इक्के पर पंडित रामेश्वर वैद्य को लेकर आ गए, नाड़ी दिखाई। छोटे भाई को दवा लाने के लिए साथ चलने को कहकर मेरी चारपाई पर बैठ गए, सर पर हाथ फेरा, तकिया को कुछ नीचे खिसकाया, फिर जाते-जाते कहा, ''देखो शंभूनाथ तकिए के नीचे कुछ पैसे हैं, जब खत्म हो जाएँ, फिर मँगा लेना। जब बिलकुल ही ठीक हो जाना, तभी आना।'' मैंने तकिए के नीचे 10-10 के चार नोट पाए, 25/- रु. माह का नौकर था। महीने भर बीमारी चली। डेढ़ सौ रुपए खर्च हो गए। दफ्तर पहुँच कर फिर काम सँभाला। ये रुपए मेरे वेतन से नहीं काटे गए। ऐसे सहृदय और उदार थे विद्यार्थीजी।

ईमानदारी का आदर्श

'काकोरी के शहीद' नामक पुस्तक छपाकर मुझे कलकत्ता कांग्रेस में उसे बेचने के लिए भेजा! पुस्तक की बिक्री की आमदनी शहीद परिवारों को देनी थी। मैं कानपुर से दो बड़े बक्सों में किताबें भरकर सियालदह स्टेशन पर पहुँचा और वहाँ चार रुपए बाबू को देकर बक्से स्टेशन से बाहर निकाल ले गया। फुटकर व्यय में डालकर खर्च दिखा दिया।

लौटकर जब विद्यार्थीजी को हिसाब दिया, तो 4/- पर अंगुली रखकर बोले, ''यह क्या है?'' मैंने बताया तो क्रोधित होकर बोले, ''तुम हिंदुस्तान के पढ़े-लिखे नौजवान होकर रिश्वत देते हो, तो किसान और मजदूर की क्या हालत होगी! निकल जाओ, 'प्रताप' प्रेस में काम करने के लायक नहीं हो।'' मैं रोता-रोता जीने से उतर कर नहर की तरफ निरुद्देश्य जा रहा था। रास्ते में पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' मिल गए और रोने का कारण जानकर मुझे साथ ले आए। विद्यार्थीजी से तेजी से कहा, ''इसकी नीयत न देखी और इतनी सख्ती की। इसने पैसा बचाने के खयाल से बुक न कराया था।''

एक घटना और बताता हूँ—

स्त्री और मिस्त्री

चौबीस-पचीस वर्ष का नौजवान ठाकुर बेपढ़ा-लिखा मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। मैं 'प्रताप' का मैनेजर था। विद्यार्थीजी का अर्दली तथा पेशकार होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त था। ठाकुर से पूछा, क्यों आए? उसने बताया कि उसकी पत्नी को भगाकर मुसलमान ने अपने घर डाल लिया है। मुझे बड़ी झुँझलाहट हुई। मैंने डाँटकर कहा, नपुंसक कहीं के, औरत पर तो काबू न कर सके, चले आए विद्यार्थीजी के पास रोने। विद्यार्थीजी ने अपने कमरे से सुन लिया। मुझे जोर से डाँटकर बोले, "मेरे पास भेजो।" मैं उसे लेकर उनके पास गया। उन्होंने ठाकुर से उसकी दास्तान सुनी। ठाकुर जमींदार का अनपढ़ लड़का था। भागकर कानपुर मिल में नौकरी करने आया था। क्वार्टर लेकर साथ में रखने के लिए पत्नी को ले आया। डिपार्टमेंट का मुसलमान मिस्त्री क्वार्टर में पत्नी को देख गया। ठाकुर की ड्यूटी बदलवा दी और जब वह ड्यूटी पर रहता उसके घर जाने लगा। फिर अंत में स्त्री को ले जाकर गोमांस खिला दिया और कलमा पढ़वा दिया।

विद्यार्थीजी ने उसी समय मुझे और पंडित बद्रीनाथ अग्निहोत्री को स्त्री को मिस्त्री के घर से लाने का हुक्म दिया। हम लोग पुलिस को लेकर गए। स्त्री को ठाकुर से जबरन घसीटवा कर इक्के पर डालकर ले आए। बहुत समझाने पर भी वह मिस्त्री को छोड़ने पर राजी न हुई। मैं मारने पर तुला। छड़ी उठाई। आखिरकार उसने कहा कि यदि मैं रही, तो क्या ठाकुर मेरे हाथ का पानी भी पिएगा।

मैंने आटा और आलू मँगवाकर प्रेस में ही रोटी और सब्जी बनवाई। ठाकुर को खिलाई। खुद भी खाई। ठाकुर को स्त्री सहित 'प्रताप' प्रेस में ही टिकाया, परंतु उसके सौंदर्य के कारण कर्मचारी ताँक-झाँक करते थे। उसे फिर मनीराम बगिया में एक परिवार के साथ टिकाया गया। एक दिन उसने मुझे बुलाकर कहा कि मायके भेज दीजिए। उसे पुलिस के संरक्षण में मायके भेज दिया गया।

तीन महीने के बाद भागकर वह फिर अकेले 'प्रताप' प्रेस आई और विद्यार्थीजी के समक्ष स्वीकार किया कि ठाकुर नपुंसक है, उसे दूसरा मर्द करा दिया जाए। 'प्रताप' में विज्ञापन देकर एक ठाकुर के साथ डॉ. मुरारीलालजी के बँगले में विधिवत विवाह कराके कुछ कपड़े-लत्ते देकर विदा कर दिया गया। बाद में वह अपने पति तथा दो-तीन बच्चों सहित 'प्रताप' प्रेस में विद्यार्थीजी से कृतज्ञता प्रकट करने कई बार आई।

सब के आश्रयदाता

भात की दावत

अंग्रेजी हुकूमत में कुछ जातियाँ जरायमपेशा मानी जाती थीं और उनकी निगरानी होती थी। एक बेड़िया स्कूल मास्टर इससे और इस बात से परेशान होकर कि उसकी सुंदर बालिग कन्या से पड़ोस के जमींदार कसब कराने को बाध्य करते हैं, भागकर विद्यार्थीजी के पास आया। विद्यार्थीजी ने उसके परिवार को 'प्रताप' प्रेस में टिकाया, पुलिस हाजिरी लेने आई। हाजिरी नहीं लिखाई गई। एक थानेदार आया और अड़कर बैठ गया कि एस.पी. का हुक्म है, हाजिरी लिखवानी पड़ेगी। विद्यार्थीजी को इस बात पर गुस्सा आ गया। उन्होंने हुक्म दिया, बदरीनाथ इस बदतमीज थानेदार को जीने के नीचे धकेल दो। बद्री बाबू ने गरदन पकड़कर जीने के नीचे उतार दिया। रिपोर्ट होने पर कलक्टर साहब ने मिलने को बुलाया। विद्यार्थीजी गिरफ्तार होने के लिए तैयार होकर गए थे, परंतु बातचीत के बाद कलक्टर ने उनसे रिप्रेजेंटेशन लेकर गवर्नर को भेजा। निगरानी कट गई। 'प्रताप' में विज्ञापन देकर बालिग कन्या को एक ब्राह्मण कांग्रेस नेता ने विवाहा और बाकायदा वहाँ भात की दावत भी हुई।

ट्रेनिंग

एक दिन एक पंजाबी नौजवान को सामने खड़ा करके विद्यार्थीजी ने कहा, ''इनके पिता अखबार निकालना चाहते हैं। इनको कंपोजिंग, छपाई और दफ्तर का रिकॉर्ड रखना सिखाओ। संपादन विभाग संपादन कार्य सिखाएगा।'' मैंने काम सिखाना शुरू किया। अचानक एक दिन वह नौजवान नहीं आया। मैंने विद्यार्थीजी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनके पिता ने बुलाया था, वह वापस गए। एक दिन चर्चा में पता लगा कि वह तो शहीदे आजम सरदार भगतसिंह थे। मैंने अपने भाग्य को सराहा। ऐसे सान्निध्य कहाँ मिलते हैं!

नौकरी और मिशन

एक रोज रात को 11 बजे 'प्रताप' प्रेस में विज्ञापनों का प्रूफ देख रहा था कि एक बलिष्ठ पहलवान ने मेरी पीठ पर धौल जमाई। मैं दोहरा हो गया। ऊपर निगाह की, आजादजी खड़े थे। हँस दिया, वह भी हँसे। कमरे के अंदर विद्यार्थीजी से कहा, ''आप भी मिल मालिकों की तरह कर्मचारियों को रगड़ते हैं।'' विद्यार्थीजी ने आवाज दी। गया तो बोले, ''सुनो, क्या कहते हैं? पाँच

बजे काम बंद करके घर चले जाया करो।'' मैंने उत्तर दिया, 'प्रताप' का काम मिशन है, नौकरी नहीं। और बाहर चला आया।

फँसाऊँगा नहीं

सन् 1930 में कलक्टर ने छह मास तक 'प्रताप' बंद रखने का नोटिस दिया। विद्यार्थीजी ने बुला कर हुक्म दिया कि जितने फार्म छप चुके हैं बाँधकर रखवा दूँ और कर्मचारियों की सूची पेश करूँ। किसी को आधा, तो किसी को चौथाई वेतन देने को कह दिया। मैंने वही कर दिया। फिर मैंने कहा, 'इस बार मुझे फील्ड में कार्य करने की आज्ञा दीजिए।' उन्होंने गंभीरता से सुना और चले गए। फिर घर से लौट कर एक फाइल और रजिस्टर देकर कहा, ''यह प्रांतीय राजनैतिक कार्यकर्ता परिवार सहायक फंड का काम तुम्हें प्रेस में बैठकर करना है और प्रेस का सामान ठीक रखना है।'' जेल चले गए और श्री नवल किशोर भरतिया को हुक्म दे गए कि मुझे फंड का रुपया देंगे।

मैं नेताओं के घरों से सीधा संपर्क रख कर सहायता का रुपया भेजा करता था। क्रांतिकारी भाइयों की जो पार्टी उनसे संबंधित थी हाथोंहाथ पैसा लेती थी। एक दिन श्री राजेंद्रदत्त निगम मुझसे रुपया लेकर गिरफ्तार हो गए। पंडित गंगासहाय चौबे का मेरे लिए लिखा परचा भी पकड़ा गया। सी.आई.डी. सुपरिंटेंडेंट ने मुझे समझाया कि मैं गांधी मार्ग पर चलूँ, यह राह न पकडूँ। मैंने उनकी बात को झुठलाया, तो उन्होंने चौबेजी का परचा दिखाकर कहा, ''नवाबगंज में और कौन मैनेजर है? तुम पार्टी के सदस्य नहीं हो, सिर्फ विद्यार्थीजी के हुक्म की तामील करते हो, इसलिए तुम्हें इस मामले में नहीं फसाऊँगा।''



सब के आश्रयदाता

'प्रताप' की प्रतापी परंपराएँ

विमला विद्यार्थी

हुतात्मा गणेशशंकरजी उन्हीं मानवों में थे जो जीवन भर कठिनाइयों से लड़ते रहे। निःसंदेह वे लड़ाई के पक्षपाती थे। उन्होंने यह समझ लिया था कि किस तरह की सत्ताएँ मिलकर मनुष्यता को पीस रही हैं; उनके हृदय में आग लग गई और वे तत्पर हो गए सत्ताओं से भिड़ने के लिए।

लोग इस दुबले-पतले और साधनहीन युवक के साहस को देखकर हँसे और कहने लगे, 'पागल है।' लेकिन दिन जाते देर न लगी। हँसने वाले लोग भौंचक्के रह गए। उनका 'प्रताप' चारों ओर फैलने लगा। सत्ताधारी काँपने लगे, उन्होंने अपने प्रहार शुरू किए। चेतावनियाँ दी गईं, जमानतें ली गईं। बुलावे आए, धमकियाँ दी गईं, तलाशियाँ हुईं और जब्ती ने अपना काम किया। रोकथाम हुई, जेल की हवा खिलाई गई, लेकिन वह लड़ाई का पक्षपाती था। उसने इन सब प्रहारों को हँसते हुए सहा, क्योंकि वह लड़ाई का पक्षपाती था। अपनी लड़ाई को अंतिम दिन तक जारी रखा।

यह सतरें अमर शहीद गणेशजी के संबंध में उनके दूसरी बार 1923 में जेल जाने के बाद लिखी गई थीं। कहने वाले इन्हें भावुकता में लिखी गई पंक्तियाँ समझते हैं, किंतु बहुत सोच-समझकर एक जिम्मेदार पत्रकार तथा खरे आलोचक द्वारा लिखी गई थीं। इस बात की पुष्टि होती है, उन्हीं के शब्दों में जो भाषण 1923 में फतेहपुर में राजनैतिक सम्मेलन में उन्होंने सभापति के सिंहासन से दिया था, ''मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ, मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी भी हूँ, फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारी की, धनवानों की हो या ऊँची जातियों की।'' यह तो उनकी मृत्यु के कई वर्ष पहले की

बात है। उनके जीवन के अंतिम समय से कुछ समय पहले की मिसाल लीजिए। 29 जनवरी, 1931 की अपनी जेल डायरी में श्रद्धेय विद्यार्थीजी ने लिखा है, ''जीवन भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।'' इस एक वाक्य में उस बहादुर लड़ाके के उस शानदार पक्षपाती जीवन का खाका खिंच जाता है। झलक मिल जाती है। उसके जीवन का मूलमंत्र यही था—अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना।

विद्यार्थीजी काम से तो नहीं, किंतु नाम से सदा भागते थे। उनमें दिखावट नहीं थी, न वह अपने विषय में किसी से बात करते थे। 'प्रताप' में पहले अपना नाम संपादक के स्थान पर देते थे, बाद में 'प्रताप' की ख्याति बढ़ने पर अपना नाम देना बंद कर दिया, और तब तक बंद रखा, जब तक संपादक का नाम देना कानूनन लाज़मी न कर दिया गया। 1921 ई. में दैनिक 'प्रताप' के भी वे संपादक थे, परंतु उस दैनिक में अपना नाम कभी नहीं दिया। 'प्रताप' उनका अपना पत्र था। युक्त-प्रांत (उस समय) के अलावा अन्य कई प्रांतों में भी उसकी बड़ी धूम थी। उसके द्वारा चाहते, तो विद्यार्थीजी अपना नाम बहुत बढ़ा सकते थे और काफी ख्याति प्राप्त कर सकते थे, परंतु 'प्रताप' को उन्होंने कभी अपने स्वार्थ-साधन का जरिया नहीं बनाया। अपनी एक भी बात नहीं छाप के दी, जो सार्वजनिक हित में न हो।

संयुक्त प्रांतीय राजनैतिक अधिवेशन, फर्रुखाबाद के वे सभापति निर्वाचित हुए थे। ऐसे सम्मेलनों के सभापतियों के चित्र बराबर 'प्रताप' में छपा करते थे, उसी के अनुसार उनका ब्लाक निकलकर 'प्रताप' में छपने जा रहा था कि उन्होंने चित्र छापने से मना कर दिया। इसी तरह अनेक अवसरों पर चित्र छपने से रोका। वे अपने को पीछे रखने में विश्वास रखते थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति बनने पर भी उन्होंने अपना चित्र 'प्रताप' में नहीं छपने दिया। बात बहुत छोटी सी है, किंतु आज के युग में यह बात अहम है, जब हर इनसान यही चाहता है कि उसकी शोहरत अधिक से अधिक हो।

विद्यार्थीजी के सार्वजनिक जीवन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहला स्वरूप पत्रकार का था। दूसरा रूप सार्वजनिक कार्यकर्ता का। वे पहले नेता थे, जिन्होंने किसानों एवं मजदूरों के दुःख को आत्मसात किया और उसके निवारण के लिए सदैव संघर्षरत रहे। उनके द्वारा कानपुर के उपेक्षित मजदूरों में जागृति आई और कानपुर नगर उत्तर भारत का सबसे संवेदनशील केंद्र हो

गया। किसानों में जागृति और उनके हक को समझाने के लिए नरवल आश्रम स्थापित किया। जब तक जीवित रहे, वे आश्रम को समय सदैव देते रहे। इसी तरह मजदूरों एवं किसानों को सदैव प्रेरणा देते रहे। मजदूर सभा स्थापित की। जीवनपर्यंत वे उसके अध्यक्ष रहे। मजदूरों का पक्ष लेकर वे सदैव लड़ते रहे। कानपुर की मजदूर सभा भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली मजदूर संगठनों में गिनी जाने लगी।

उनका तीसरा स्वरूप एक राजनैतिक नेता का था। 1913 से 1931 तक बराबर वह राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय रहे। 1917-18 में श्रीमती एनी बेसेंट ने होमरूल आंदोलन चलाया, तो विद्यार्थीजी ने उसमें सक्रिय भाग लिया। रायबरेली गोलीकांड (मुंशीगंज) का खुला विरोध किया। 'प्रताप' में अग्रलेख लिखकर वहाँ के ताल्लुकेदार वीरपाल सिंह के कोप-भाजन बने। यह मुकदमा बड़ा ही ऐतिहासिक हुआ। विद्यार्थीजी उच्च से उच्चतर शिखर पर आसीन और लोकप्रिय नेता हुए। उनके पक्ष में पं. मोतीलाल नेहरू, पं. जवाहरलाल नेहरू, श्री सी.एस. रंगा अय्यर और 'लीडर' के संपादक श्री कृष्णराम मेहता सहित पचास लोगों ने गवाही दी, किंतु ब्रिटिश सरकार तो विद्यार्थीजी को जेल में बंद करने पर दृढ़-संकल्प थी और उसने वैसा ही किया। 1921 में वे प्रथम बार जेल गए। 1922 में पुनः फतेहपुर के राजनैतिक सम्मेलन में भाषण को आपत्तिजनक मानकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पुनः अपना मेहमान बनाया। इस बार वे नैनी जेल में रखे गए।

सन् 1925 में अखिल भारतीय कांग्रेस का 40वाँ अधिवेशन श्रीमती सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता में कानपुर में हुआ, इसका मुख्य कारण विद्यार्थीजी का प्रभावशाली नेतृत्व था। वे स्वागत कार्यकारिणी के प्रधानमंत्री बनाए गए।

सन् 1926 में उन्हें संयुक्त प्रांत कॉउंसिल की सदस्यता के लिए कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में खड़ा किया गया और उन्होंने एक बड़े उद्योगपति सेठ चुन्नीलाल गर्ग को पराजित किया। सन् 1929 में हाई कमान गांधीजी के आदेश पर सर्वप्रथम उन्होंने कॉउंसिल की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया।

सन् 1930 में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष मनोनीत हुए और गांधीजी ने अपने नमक आंदोलन में उनको संयुक्त प्रांत का प्रथम डिक्टेटर मनोनीत किया।

सन् 1930 में आखिरी बार उन्हें एक वर्ष का कारावास हुआ। कानपुर में नमक आंदोलन करते हुए वे पकड़े गए। उसी रात को उन्हें हरदोई जेल

भेज दिया गया। इस वर्ष उन्हें 'ए' क्लास राजबंदी माना गया था। वहीं पर उन्होंने 'आहुति' नाम से विक्टर ह्यूगो के प्रसिद्ध उपन्यास 'लॉ-मिजरेबल' का अनुवाद किया था, जो कि अब तक स्वार्थवश अप्रकाशित पड़ा हुआ है। वे 10 मार्च को छूटे।

विद्यार्थीजी के जीवन का सबसे जटिल पहलू यह था कि जहाँ वह महात्मा गांधी और उनकी अहिंसा के पक्के समर्थक थे, वहीं वह हथियारबंद क्रांति-पथ के दीवानों के पक्के समर्थक थे। उनके संरक्षक एवं आश्रयदाता थे। शहीदे आजम भगतसिंह जब भागकर लाहौर से कानपुर आए तो विद्यार्थीजी ने उनकी पूरी मदद की। बलवंत सिंह के नाम से 'प्रताप' में वे लेख लिखते थे और करीब नौ महीने तक 'प्रताप' का आतिथ्य स्वीकार किया। काकोरी केस के अभियुक्तों में चंद्रशेखर आजाद, ठाकुर रोशनसिंह, रामप्रसाद 'बिस्मिल' और अशफाकउल्ला खाँ की उन्होंने हर तरह से मदद की।

पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने अनमोल रत्नों को गढ़कर सँवार दिया और उन लोगों ने काफी ख्याति अर्जित की, जैसे श्रीराम शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', दशरथप्रसाद द्विवेदी, सुरेंद्र शर्मा, सुरेशचंद्र भट्टाचार्य, रामदुलारे त्रिवेदी। मुंशी प्रेमचंद को हिंदी में लिखने को प्रेरित किया। कितने ही लेखक और पत्रकार बना डाले। गणेशजी व्यक्ति नहीं, बल्कि स्वयं एक संस्था थे। वे ऐसी पारस मणि थे कि जो भी उनके संसर्ग में आता खरा सोना बन जाता था।

23 मार्च, 1931 को भगतसिंह को उनके दो साथियों राजगुरु और सुखदेव सहित गोरी सरकार ने फाँसी पर चढ़ा दिया। यह खबर बड़ी हृदय विदारक थी। देश शोक-संतप्त हो उठा। कानपुर इन क्रूर हत्याओं को सह नहीं पाया। एक आग भड़क उठी और इस शोक में डूबा कानपुर सांप्रदायिकता की प्रचंड लपटों में घिर गया। यह एक सुनियोजित दंगा था, ब्रिटिश सत्ता का मकसद दो समुदायों में दंगा कराना था और उससे भी अहम चीज विद्यार्थीजी को, जो इस सत्ता का आमूल-चूल परिवर्तन करना चाहते थे, सदैव के लिए अपने रास्ते से हटाना था।

24 मार्च, 1931 को उन्होंने दंगाग्रस्त क्षेत्रों के लोगों को सुरक्षित स्थानों पर भेजा। दोनों ही समुदाय उनके लिए समान थे, कोई भेदभाव नहीं था। वे केवल वाणी से ही नहीं, कर्म से उसे करके दिखा देते थे। उनकी करनी और कथनी में कोई अंतर नहीं था। नौकरशाही आराम से कानपुर को जलता हुआ

देख रही थी। सरकार पंगु बनकर केवल मूक दर्शक बनी बैठी थी। केवल डेढ़ पसली का महामानव सांप्रदायिकता के दावानल को बुझाने का अथक प्रयास कर रहा था। उन्होंने हजारों हिंदू-मुसलमानों को बचाया।

25 मार्च को सुबह हलका सा जलपान लेकर घर से निकल पड़े। पत्नी, बच्चों, अग्रज और माँ के रोकने पर भी नहीं रुके। महादान की परंपरा को दधीचि ने शुरू किया था और उस अनोखे दान की परंपरा बंध्या हो गई थी। विद्यार्थीजी ने अपना बलिदान चढ़ाकर चरम दान की इस दाता परंपरा को पुन: जीवित किया। एक ही आहुति से उन्होंने इतने लंबे फासले को पाट दिया। काल ने कानपुर की रक्षा के मूल्य की माँग की, तो क्षण मात्र में ही विद्यार्थीजी ने प्राणों की अंजलि भर तत्काल मूल्य चुकाया और शाश्वत अमरत्व को प्राप्त हुए।

इस वीर सेनानी की कीर्ति-रक्षा इस समय बहुत ही सामयिक है। एकता के पुजारी की पूजा ही में देश की अखंडता निहित है।



नेताओं का 'दंगल'

पं. गंगासहाय चौबे

स्वर्गीय श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी से मेरा परिचय सन् 1928 के प्रथम चरण में हुआ और वह इस प्रकार कि हम लोग (यानी मैं और एक साथी) आपस में लड़ गए। मुकदमा चला। मेरी गिरफ्तारी भी हुई, किंतु मुझे सत्य अपनी ओर लगा। इसलिए मैंने किसी प्रलोभन व दबाव को न मानकर अंत तक लड़ने का ही निश्चय किया। स्वर्गीय डॉ. हुलासराय दूसरे पक्ष के समर्थक थे और स्वर्गीय रामरतन वर्मा वकील मेरी तरफ से थे। इन दोनों सज्जनों ने मिलकर उस मुकदमे को पंचायत में देना तय किया और उक्त दोनों महानुभाव दोनों पक्ष के पंच तथा विद्यार्थीजी सरपंच सर्वसम्मति से चुने गए। यह जिम्मेदारी उन्हें देने के लिए हम दोनों जाजमऊ (कानपुर का मुहल्ला) में उन्हें राजी करने गए और हमारे निवेदन को उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। यही हमारी पहली मुलाकात थी।

बहस-मुबाहसे के बाद निर्णय मेरे हक में हुआ। तीन हजार रुपए का मेरा पावना साबित हुआ। बात यह थी कि यह सब भार मैंने दूसरे पक्ष के कहे बिना ही उनकी कठिनाई को देखते हुए अपने ऊपर ले रखा था। इसलिए निर्णय भी यही हुआ कि अब मुझे यह धन अपने विपक्षी से माँगना नहीं चाहिए। हाँ, यदि स्वेच्छापूर्वक दे दें, तो ले लेना चाहिए।

विद्यार्थीजी के इस फैसले को मैंने सहर्ष सधन्यवाद स्वीकार कर लिया और इसी स्वीकृति के कारण मैं उनका विश्वासपात्र भी बन गया। उन्होंने मेरा परिचय एवं प्रवेश स्थानीय कांग्रेस स्वयंसेवक व कार्यकर्ता दल में करा दिया और मैं भी स्वयंसेवक की भाँति कार्य करने लगा।

सन् 1925 में कांग्रेस का जलसा कानपुर में हुआ। विद्यार्थीजी स्वागत समिति के प्रधान मंत्री थे। मैं भी एक स्वयंसेवक होने के नाते शिक्षक, इंचार्ज, नायक आदि-आदि विभिन्न पदों पर रहकर काम करता रहा। साथ ही विद्यार्थीजी का विश्वासपात्र, कृपापात्र होने के नाते आज के प्रधानमंत्री और उस समय के कप्तान पं. जवाहरलाल नेहरू तथा डॉ. एन.एस. हार्डीकर से भी मेरा परिचय हो गया।

आगामी सन् 1926 का वर्ष विशेष महत्त्वपूर्ण रहा। इस वर्ष प्रांतीय कॉउंसिल के चुनाव थे। लाला लाजपतराय और महामना मालवीयजी के कांग्रेस से पृथक् हो जाने के कारण कांग्रेस के लिए कानपुर शहर में चुनाव की समस्या गंभीर हो गई। अंत में स्वर्गीय पं. मोतीलाल नेहरू ने विद्यार्थीजी को इस कार्य के लिए छाँटा। उनके विरोधी स्वर्गीय लाला चुन्नीलाल गर्ग थे। यह चुनाव एक ऐतिहासिक चुनाव रहा। इस ब्योरे को लिखकर समय लेना बेकार है, किंतु इस चुनाव में इस क्रांतिकारी नगर ने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं और शांति को जिस प्रकार सजाया उससे हिंदू-मुसलिम संप्रदायवाद वर्षों के लिए समाप्त हो गया था।

दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ

इस वर्ष की दो विशेषताएँ हैं—पहला यह कि कांग्रेस स्वयंसेवक दल में फूट पड़ गई। कुछ लोग अपने दल के पुराने नेताओं से नाराज हो गए। इस दशा में स्वर्गीय विद्यार्थीजी की सिफारिश और पूज्य डॉ. मुरारीलालजी की स्वीकृति और साथी स्वयंसेवकों की अनुमति से मैं कांग्रेस स्वयंसेवक दल का इंचार्ज बना दिया गया और तब से सन् 1950 तक मैं इस पद पर बना रहा।

दूसरी घटना है पूर्वी बंगाल के बारीसाल जिले के पटुवाखाली गाँव में सत्याग्रह की। यह सत्याग्रह वहाँ के क्रांतिकारियों द्वारा इसलिए चलाया जा रहा था कि सरकार ने मसजिद के सामने आम सड़क पर बाजा बजाने पर रोक लगा दी थी। कानपुर शहर कांग्रेस कमेटी के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। मेरा प्रस्ताव था कि आम सड़क पर बाजा बजाना नागरिक स्वतंत्रता है, उसकी रक्षा होनी चाहिए। हमारे विरोधी इसे सांप्रदायिक झगड़ा कहकर उसमें न पड़ने का परामर्श दे रहे थे। इस वर्ग का नेतृत्व कर रहे थे भाई बालकृष्णजी शर्मा। उनके प्रभाव को देखते हुए उनसे जीतना मेरे लिए कठिन था, किंतु स्वर्गीय विद्यार्थीजी ने इसे संप्रदायवाद न मानकर नागरिक स्वत्व ही माना और मेरा

समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि उक्त सत्याग्रह को सहायता देना स्वीकार कर लिया गया और कानपुर ने दिल खोलकर धन व स्वयंसेवकों से पटुवाखाली सत्याग्रह की सहायता की और उसे सफल बनाया। स्वर्गीय मन्नीलाल पांडे, कप्तान रामसिंह, राम दयाल उर्फ बबुआ, महावीर पांडे व कैलासनाथ द्विवेदी ने इसमें सबसे अधिक भाग लिया था।

सन् 1926 के अंतिम चरण में कांग्रेस स्वयंसेवक दल बाकायदा हिंदुस्तानी सेवादल के रूप में परिवर्तित हो गया। मैं उसके स्थानीय बोर्ड का प्रधानमंत्री बनाया गया। बोर्ड ने निश्चय किया कि स्वयंसेवकों की शिक्षा के लिए एक केंद्र की स्थापना हो, जिसके अनुसार तिलक भवन भूमि पर तिलक व्यायामशाला की स्थापना हुई। 6 जून, सन् 1927 को स्वर्गीय विद्यार्थीजी के करकमलों द्वारा इसका उद्‌घाटन संपन्न हुआ। विद्यार्थीजी की विशेषता थी कि वे स्वराज्य को समाज का अंग ही मानते थे और जो कुछ आ पड़ता था उसे स्वयं पूर्ण करते थे। तिलक भवन की भूमि उस समय ऊबड़-खाबड़ पड़ी हुई थी। सेवादल ने निश्चय किया कि दल का प्रत्येक सदस्य रोजाना पाँच टोकरी मिट्टी खुद खोदेगा और उसे उठाकर डालेगा। विद्यार्थीजी ने भी इसे स्वीकार किया और सहर्ष हफ्तों इस कार्य में रत रहे।

तिलक व्यायामशाला

उक्त व्यायामशाला की स्थापना होने के बाद यह मशहूर कर दिया गया कि वह तो क्रांतिकारियों का केंद्र है और वे ही यहाँ जमा होते हैं, इसके परिणामस्वरूप बहुत से लोगों का हमारे यहाँ आना बंद हो गया। कुछ लोगों ने पार्टीबंदी भी खड़ी कर दी और विरोध शुरू हो गया। अब, वहाँ मेरे और श्री विश्वनाथ इंचार्ज के अलावा और कोई नहीं जाता था। एक दिन शाम को विद्यार्थीजी वहाँ पहुँचे और पूछने लगे कि क्या हाल है। मैंने उन्हें सब हाल बताया। वे मुझे साथ लेकर बड़ी देर तक घूमते रहे और अंत में पूछा, "तुम घबड़ाते तो नहीं हो?" मैंने कहा, नहीं। वे फिर बोले, "जब घबराहट होने लगे, तो हमारे पास चले आना।" इस बात का प्रभाव यह है कि हर कठिनाई में उक्त आश्वासन के रूप में विद्यार्थीजी मानो अब भी उपस्थित होकर मुझे प्रोत्साहन दे देते हैं। उन्होंने अपने पत्र 'प्रताप' के द्वारा व्यायामशाला का जोरदार समर्थन किया, जिसके परिणामस्वरूप फिर उसके लगभग 1500 सदस्य बन

गए और वह अपने समय की कानपुर की सर्वप्रथम व्यायामशाला हो गई।

विद्यार्थीजी क्रांतिकारी प्रवृत्ति के थे। अत: शीघ्र ही हमारी व्यायामशाला में कसरत, कुश्ती, मुग्दर आदि के साथ-साथ लाठी, बनेठी, भाला, बरछी, तलवार, मलखंब और धनुषबाण आदि के खेल भी सिखलाए जाने लगे। सच तो यह है कि उच्च और मध्यम वर्ग में पूर्णत: प्रकट और खुला सार्वजनिक रूप से इस नगर में इस प्रकार के व्यायाम का प्रचार करने वाली यही पहली व्यायामशाला थी और इसके प्रचार के लिए उसने दफा 144 के रहते हुए भी रथयात्रा एवं रामलीला के जुलूसों में अनेक अधिकारियों का विरोध होने पर भी स्वेच्छापूर्वक अपना प्रवेश तथा प्रदर्शन किया, जिससे सार्वजनिक उत्साह और भी बढ़ गया। यह विद्यार्थीजी की प्रेरणा से ही संभव हो सका।

सन् 1928 विशेष महत्त्व का वर्ष रहा। इसी साल सर्वदल सम्मेलन (ऑल पार्टी) कन्वेंशन लखनऊ में हुआ और इसी वर्ष हिंदुस्तानी सेवादल का प्रथम शिक्षण शिविर कानपुर में हुआ। इसी साल साइमन कमीशन भी आया और इसी वर्ष पं. मन्नीलाल अवस्थी आदि पर एक षड्यंत्र केस चला। 'काकोरी के शहीद' नाम की क्रांतिकारी पुस्तक भी इसी साल छपी। इन सब घटनाओं में विद्यार्थीजी अग्रणी थे और उन्होंने सब ही में अपना भाग जिस निपुणता के साथ समर्पित किया, उन्हीं के अनुरूप था।

ऑल पार्टी कनवेंशन लखनऊ में हुआ। पं. जवाहरलाल नेहरू उसके प्रधानमंत्री थे, किंतु हिंदुस्तानी सेवादल का पहला प्रादेशिक कैंप कानपुर में हुआ। यद्यपि उसका आयोजनकर्ता मैं था, किंतु उसकी शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था आदि का भार स्वर्गीय विद्यार्थीजी पर ही था। कैंप की समाप्ति के अवसर पर ही साइमन कमीशन का कानपुर में बहिष्कार जिस सफलता के साथ संपन्न हुआ और नागरिकों ने शांतिपूर्वक दृढ़ता तथा संगठन का जो परिचय दिया वह विद्यार्थीजी जैसे कर्मठ, निर्भीक और योग्य नेता के ही कारण हो सका। हम स्वयंसेवक लोगों को समय-समय पर उपयुक्त आदेश और सुझाव देते रहना तथा सतत उत्साहित करते रहना उनका जैसे उस समय दैनिक कार्यक्रम ही था।

'काकोरी के शहीद'

'काकोरी के शहीद' नामक पुस्तक की रचना विद्यार्थीजी की ही अपनी देन थी। यों काकोरी केस के शुरू से ही वे सबसे बड़े पैरोकार थे, किंतु जेल

से गुप्त रूप से लेख प्राप्त करना, उसका योग्यतापूर्वक संपादन और पुस्तक के रूप में शीघ्र ही उसका प्रकाशन करना, वह भी ऐसे समय जब कि गुप्तचर विभाग (सी.आई.डी. पुलिस) उनके पीछे लगा हुआ था और पुस्तक के जब्त हो जाने की हर समय संभावना थी, यही उनकी योग्यता, कार्यकुशलता, संगठन तथा अनुशासन का उदाहरण है। पुस्तक छपते ही हाथोंहाथ बिक गई और अनेकों स्वयंसेवक उसी के परिणामस्वरूप कलकत्ता कांग्रेस भी देख आए। इसी वर्ष कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में विदेशी शासन को एक वर्ष की नोटिस दी गई कि या तो वे इस अवधि में भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दें, अन्यथा कांग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर देगी।

विद्यार्थीजी कांग्रेस के इस संदेश को लेकर लौटे। नरवल आश्रम के अधिवेशन के समय उन्होंने हम लोगों को संबोधित करते हुए सब बातें बताईं। इस अवसर पर झंडारोहण का कार्य मुझे सौंपा गया और इसी अवसर पर झंडा फहराते हुए मैंने कांग्रेस के आंदोलन में पूरा समय देने की शपथ ली।

इसी वर्ष मार्च के अंत में फर्रुखाबाद में कांग्रेस का उत्तर प्रादेशिक राजनीतिक सम्मेलन हुआ। विद्यार्थीजी इसके अध्यक्ष हुए। मेरी और स्वर्गीय चंद्रमौलि मिश्र की ड्यूटी विद्यार्थीजी के अंगरक्षकों की थी। इसी अधिवेशन के समय यह भी निश्चय हो गया था कि अगला प्रादेशिक अधिवेशन सन् 1930 में कानपुर में होगा। मेरे लिए स्वयंसेवक विभाग और तिलक व्यायामशाला विशेष महत्त्व के विषय थे, इसलिए मैंने प्रयत्न किया कि इस अवसर पर कोई विशेष प्रयोग किया जाए।

आपसी बैठक में मेरा प्रस्ताव था कि कानपुर अधिवेशन के समय तिलक व्यायामशाला एक दंगल आयोजित करेगी, जिसमें सभी नेता लंगोट बाँधकर कुश्ती लड़ेंगे। विद्यार्थीजी के समर्थन से इस बार भी मुझे कामयाबी मिली। अब के प्रधानमंत्री और उस समय के कप्तान का जोड़ श्रीकृष्णदत्त पालीवाल के साथ और विद्यार्थीजी का श्री रामस्वरूप गुप्त के साथ वहीं बँट गया। किंतु दूसरे वर्ष अधिवेशन के पहले आंदोलन शुरू हो जाने के कारण हम लोग जेल चले गए, और यह आयोजन कार्यरूप में नहीं परिणत हो सका।

इसी समय की एक घटना और है। होली के अवसर पर कांग्रेस की ओर से गाने की मंडली निकल रही थी। हटिया में होली मनाने वालों का बड़ा जलसा हो रहा था। हमारी मंडली के आने से उक्त जलसा भंग हो गया। नाराज

होकर उन लोगों ने हमारी गाड़ी पर हमला कर दिया, परिणामत: झगड़ा हो गया। निश्चय ही हम लोग उस झगड़े के लिए तैयार नहीं थे। भीड़ तो भाग गई, किंतु मैं तो उन दिनों अखाड़ेबाज था और क्रांतिकारी भी, इसलिए भय से भागना मेरे लिए कायरता थी। लिहाजा खाली हाथ होते हुए भी मैंने कइयों की लाठियाँ छीन लीं और उन्हें मारा भी। खबर मिलते ही पुलिस आई। हम लोग पकड़े भी गए। विद्यार्थीजी भी आए। तब तक हम छोड़ दिए गए थे। अब सवाल उठा कि क्या हो! विद्यार्थीजी ने आदेश दिया कि राष्ट्रीय अदालत बैठेगी और वही उसका फैसला करेगी। श्री ब्रजनारायणजी मेहरोत्रा, एडवोकेट इस अदालत के जज नियुक्त हुए।

इस अदालत में मेरे लिए तो स्पष्ट रूप से सच्चाई के साथ अपने किए हुए को स्वीकार कर लेने के सिवा कोई चारा नहीं था, पर हमारे विरोधी कोई राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं थे। इसलिए उन्होंने सच-सच नहीं कहा। नतीजा यह हुआ कि मुझे एक महीने के लिए सेवादल के सेक्रेटरी के पद से पृथक् होना पड़ा।

इसी वर्ष इलाहाबाद में प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के चुनाव हुए थे। स्वर्गीय विद्यार्थीजी और पं. सुंदरलाल प्रदेश कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए उम्मीदवार थे। मुझे यह काम सौंपा गया कि पहले से इलाहाबाद पहुँचकर उसकी गतिविधि को देखूँ। श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल एक दिन पहले पहुँचे। मैंने उन्हें सारी स्थिति बताई। उसके बाद स्वर्गीय विद्यार्थीजी सर्वसम्मति से प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुन लिये गए। अध्यक्ष होने के नाते सन् 30 में स्वराज्य आंदोलन प्रारंभ होने पर वे ही इस प्रदेश के पहले डिक्टेटर भी बनाए गए।

वर्ष 1929 के अंत की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है दिल्ली बम केस, जो भारत के तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड इरविन की स्पेशल ट्रेन उड़ाने के प्रयत्न के कारण हुआ था। कहा यह जाता है कि इससे भी विद्यार्थीजी संबंधित थे और इस कांड को लेकर उनके ऊपर हिंसक होने का दोष लगाने की भी कोशिश की गई।

यह सच है कि स्वराज्य के लिए प्रयत्न करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति ने, जिसने भी चाहा, विद्यार्थीजी से सहायता पाई। फिर वह चाहे किसी भी विचार अथवा राजनैतिक दल का रहा हो। यह भी सत्य है कि उस समय के क्रांतिकारियों का 'प्रताप कार्यालय' केंद्र था और विद्यार्थीजी उनके आश्रयदाता थे, किंतु सच

तो यह है कि विद्यार्थीजी को जब इस कांड की खबर लगी, तो उन्होंने इसे रोकने का प्रयत्न किया। इस योजना के संचालकों ने भी शक्ति भर उसे रोकने की चेष्टा की, किंतु इसे रोकने का आदेश और प्रयत्न इतनी देर से हुआ कि सूचना ड्यूटी पर के प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त समय पर नहीं पहुँच सकी। इस कारण एक ही बम फूटा, वरना योजना के हिसाब से तो एक मील में अनेकों बम फूट जाते और ट्रेन का पूर्ण विनाश हो जाता।

विद्यार्थीजी की महानता

31 दिसंबर, सन् 1929 को रात के बारह बजे रावी के तट पर लाहौर में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की घोषणा कर दी, परिणामस्वरूप संघर्ष अनिवार्य हो गया। पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा लेने के लिए 26 जनवरी का दिन निश्चित किया गया और उसकी तैयारियाँ होने लगीं। 26 जनवरी, सन् 1930 के ऐतिहासिक दिवस पर कानपुर में भी बड़ा आयोजन हुआ। उस दिन का उत्सव, जुलूस और सभा अभूतपूर्व मानी जाती थी। निश्चय ही उस सब के पीछे विद्यार्थीजी की प्रेरणा, उत्साह और कार्यनिष्ठा छिपी हुई थी।

ऊपर कहा जा चुका है कि सन् 1930 के सत्याग्रह के इस प्रदेश के सर्वप्रथम संचालक अथवा डिक्टेटर विद्यार्थीजी थे। स्थानीय कांग्रेस में उस समय भी दो दल थे। विरोधी दल का नेतृत्व स्वर्गीय गुरु रघुवरदयाल और पं. रामप्रसाद मिश्रा के हाथों में था। विद्यार्थीजी ने प्रयत्न किया कि वे ही कानपुर के प्रथम सत्याग्रही बनें और ऐसा हुआ भी, जिसके परिणाम में सत्याग्रह संचालन के लिए दोनों दल आपस में मिल गए। इस समय विद्यार्थीजी यू.पी. कॉउंसिल के सदस्य भी थे। कांग्रेस के निश्चय के अनुसार उन्होंने उससे त्याग-पत्र भी दे दिया।

सन् 1930 के नमक सत्याग्रह के संबंध में विद्यार्थीजी भी पकड़े गए और उन्हें छह महीने का दंड हुआ। वे हरदोई कारागार में रखे गए। मार्च में गांधी-इर्विन पैक्ट हुआ और उसी के परिणामस्वरूप सभी लोग छोड़ दिए गए। विद्यार्थीजी जिस दिन आए उसी दिन गंगा मेला था। जेल के बाद वह मिलन होली मिलन और गंगा मेला भी अपने किस्म का निराला संयोग था। इसके बाद नरवल में होली मिलन हुआ। वह भी ऐतिहासिक ही था। सरसौल स्टेशन से नरवल तक छह मील लंबी सड़क पर दोनों ओर ग्रामीण नर-नारियों के

विशाल झुंड के झुंड विद्यार्थीजी का दर्शन और स्वागत करने के लिए खड़े थे।

इस वर्ष एक घटना और घटी। कराची कांग्रेस अधिवेशन के लिए जो प्रतिनिधियों का चुनाव हुआ उसमें लगभग सभी स्वयंसेवक और कार्यकर्ता ही चुने गए। इससे नेताओं में क्षोभ होना स्वाभाविक था, किंतु विद्यार्थीजी ने उस सप्ताह के 'प्रताप' में इस चुनाव की टीका करते हुए युवकों का समर्थन किया और रूठे हुए नेताओं को एक मीठी झिड़की भी दी। उनके यही सब गुण युवकों को मोह लेते थे। अंत में 23 मार्च आया और हम लोग कराची के लिए रवाना हो गए। उसी दिन सरदार भगतसिंह और उनके साथी राजगुरु और सुखदेवजी को फाँसी हुई। क्रांतिकारियों का गढ़ होने के नाते उसकी विशेष प्रतिक्रिया कानपुर में हुई। युवकों के दल के दल अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए निकल पड़े, किंतु शासकों ने इस विप्लव को सांप्रदायिक दंगे के रूप में बदल दिया और कराची में 25 मार्च को हमें यह हृदय-विदारक समाचार सुनने को मिला कि विद्यार्थीजी एक स्वयंसेवक के साथ सांप्रदायिकता की बलिवेदी पर भेंट हो गए।



ताऊ फिर नहीं लौटे

रविशंकर मेहरोत्रा

हम रहे होंगे कोई पाँच-सात वर्ष के। ताऊ (श्री गणेशशंकर विद्यार्थी) रहते थे मकान नं. 22/114 फीलखाना में और हमारे घर का नंबर था 22/115। बाबूजी (मेरे पिताजी) ने उनके पैर छूने को कहा था, तो मैं जब भी ताऊ को देखता, उनके पैर छू लेता। मोहल्ले के और लड़के भी छूते थे।

हम बालक लोग उनके बारे में आपस में बड़ी-बड़ी बातें करते थे। अब उन बातों को याद करते हैं, तो हँसी आती है। कोई कहता था, गणेशजी हैं तो इनकी सूँड़ कहाँ है? कान भी हाथी जैसे नहीं हैं। दाँत भी बड़े-बड़े नहीं। दूसरा लड़का बताता, सूँड़ घर में रख आते हैं, ताकि बच्चे लोग पीठ पर न चढ़ें।

कोई कहता, यह लड्डू बहुत खाते हैं। चूहे भी इनके घर में धमा-चौकड़ी मचाए रहते हैं। दूसरा कहता, इनके चूहे भी तो खूब लड्डू खाते होंगे, इसीलिए मुटा रहे हैं।

जब भी हम लोग उनके पैर छूते, वो हमारा सिर सहला देते। आशीर्वाद में क्या कहते थे, यह अब ठीक-ठीक याद नहीं है, पर इतना जरूर याद है, कहते थे, 'खूब पढ़ो।' कभी-कभी जेब से मुट्ठी-मुट्ठी भुने चने भी देते थे और जाड़ों में जब-तब थोड़ी-थोड़ी मूँगफली भी।

'प्रताप' प्रेस वहीं पड़ोस में था। वहाँ हम लोग जाते तो अक्सर थे, लेकिन भगा दिए जाते थे। वहाँ तमाम लोग लिखते-पढ़ते रहते थे। कंपोजीटर लोग एक-एक हरूफ जोड़कर थोड़ा-थोड़ा करके उलटा अखबार बनाते थे।

जब भी मौका लगता, हम लोग अपने-अपने नाम के हरूफ तिड़ी कर

लाते थे और उन्हें जोड़कर धागे से बाँध देते। ताऊ के प्रेस में एक लंबा बेलन रखा रहता था, जिसमें काली स्याही लगी रहती थी। उस बेलन से अपने नाम वाले हरूफों को छुआ कर कागज पर अपना नाम छाप लेते थे।

कोई-कोई लड़का एक-एक हरूफ से भी अपना नाम छापता था, लेकिन उसके हरूफ एक सीधी सतर में नहीं छपते थे। वैसे छपाई मशीन देखना भी बड़ा सुहाना लगता था। जब हरूफ-हरूफ जोड़कर छपाई का हमारा काम चलता होता, तभी कोई-न-कोई डपट कर भगा देता था।

ताऊ ने कभी नहीं डाँटा, वो तो मोटा चश्मा लगाए या तो पढ़ते-लिखते रहते थे या बड़े-बुजुर्गों से बतियाते रहते। वो खद्दर की धोती-कुरता पहनते थे। कभी-कभी घर से प्रेस या प्रेस से घर शर्माजी (नवीनजी) भी उनके साथ आते-जाते थे। अरोड़ाजी (बाबू नारायणप्रसाद) से उनकी बातें घंटों होती थीं। गुरुजी, श्री रघुवरदयाल भट्ट घोड़े पर चढ़कर आया करते थे। बड़ी-बड़ी मूँछें थीं, दारोगाजी जैसी।

प्रेस में लेई भी रहती थी ढेरों, जो हमारे भी काम आती थी। पतंग फट जाने पर हम लोग उसी से जोड़ते थे। कभी माँगने से मिल जाती, नहीं तो चोरी-उठाईगीरी करके काम चलाते थे। ओंकार भइया होते, तो कोई परेशानी नहीं होती। कागज की पुड़िया में ढेर सारी लेई बाँधकर डोर से लटका देते।

'प्रताप' प्रेस में जाने के तीन रास्ते थे। एक तो सड़क से ऊपर जाने का, दूसरा गली से जहाँ मशीनें चलती थीं वहाँ जाने का—और तीसरा पहलवान की दुकान के बराबर से। वहाँ पुलिस भी आती थी, सड़कवाले रास्ते से। पुलिस को देखकर हम लोग इधर-उधर छिप जाते थे।

पता नहीं, ताऊ को पुलिस के आने की खबर पहले से कैसे लग जाती थी। वैसे तो दफ्तर में जहाँ वो बैठते थे, वहाँ से नीचे का सबकुछ दिखाई देता था। एक बार पुलिस सामने सड़क की तरफ से आई, आजादजी (श्रीचंद्रशेखर) उसी समय पिछवाड़े के रास्ते से चंपत हो गए।

जिस दिन ताऊ जेल से छूटकर आए, उस दिन भीड़ बहुत जमा थी। उनको बहुत सारी मालाएँ पहनाई गई थीं। उनमें लाल गुलाब की एक झिलमिल-झिलमिल गोटे वाली भी थी। उस दिन भी हमने उनके पैर छुए थे। तब उस दिन उन्होंने न तो हमारे सिर पर हाथ फेरा और न ही हमेशा की तरह कहा, 'खूब पढ़ो।'

ताऊ फिर नहीं लौटे

दंगे वाले दिन बड़े लोग हमको घर से नहीं निकलने दे रहे थे। घर के गलियारे से हमने उन्हें जल्दी-जल्दी जाते देखा था। फिर वो कभी लौटकर नहीं आए।

●

सच्चे समाजवादी

सद्गुरुशरण अवस्थी

सुना है कि भारतवर्ष के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलालजी नेहरू के कमरे में जो दो विशिष्ट चित्र लगे हैं, उनमें एक महात्मा गांधी का है और दूसरा गणेशजी का। लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर पंडित जवाहरलाल को बहुत ही निकट से देखने का अवसर मिला था। स्वयंसेवकों के शिविर में वे भाई जोग के पास, जो उस समय कांग्रेस के सेनापति थे, बहुत रात तक बैठे रहते थे। सहायक सेनापति के रूप में मैं और भाई श्रीकृष्णदत्त पालीवाल स्वयंसेवकों के गुप्तचर विभाग का संचालन कर रहे थे। उपद्रवों की सूचना हम लोग पंडितजी को दिया करते थे और गणेशजी की सहायता से उनका प्रतिकार भी किया जाता था। उस समय के जवाहरलाल सुरक्षा के लिए स्वयं घोड़े पर घूमा करते थे। मैंने उन्हें देखा कि वे किसी के प्रति भी इस प्रकार की पूज्य भावना अथवा श्रद्धा नहीं रखते थे कि उसके थोड़े से ही महत्त्व पर भावमग्न हो जाएँ। उनकी बुद्धि बड़े से बड़े असाधारण व्यक्तित्व पर भी सहसा आदर प्रदर्शित नहीं करती थी। उनके विवेक में अनहोनी कठोरता थी, जो औपचारिक नम्रता के नाम पर भी साधारणतया झुकना नहीं जानती थी।

आज के जवाहरलाल कोई बहुत भिन्न नहीं हैं। उनके द्वारा आदर की पंक्ति में जो व्यक्ति बिठाया जा सकता है, वह अवश्य ही महान् होगा। गणेशजी के लिए विश्व-वंद्य स्वयं महात्मा गांधी के उद्गार भी बड़े पवित्र और आदरपूर्ण हैं। अपनी चातुरी और व्यवहार प्रतिभा से बहुत से व्यक्ति जनता का नेतृत्व बहुत काल तक करते हैं और लंबी आयु के क्षयकारक प्रभाव से धीरे-धीरे लोप हो जाते हैं। गणेशजी उन व्यक्तियों में थे जो उल्का की भाँति नभोमंडल

में भरपूर आलोक विकीर्ण करके विलीन हो गए। आज भी वह प्रकाश और आज भी वह चमक हम लोगों की आँखों को चकाचौंध किए है। बाल्यकाल और तरुणाई की यह सरलता है कि उसे जहाँ कहीं भी महत् के दर्शन होते हैं श्रद्धा, बुद्धि और पूज्य भावना द्रवित हो उठती है। आयु के उतार के साथ समझ के आते-आते श्रद्धाभाजन की समीक्षा होने लगती है। ऊहापोह और तर्क-वितर्क के निखार में जो बचपन और युवावस्था की मूर्ति धवल होकर परिपक्व जीवन में चमक सकती है उसी को सच्ची आराध्य प्रतिमा समझनी चाहिए।

गणेशजी मेरे बाल्यकाल में आए, तरुणाई की प्रेरणा बने और श्रद्धाभाजन बनकर महामानव के रूप में टिके हैं। मैं एक निर्धन छात्र था। गणेशजी होनहार तरुणों को सहायता दिया करते थे। मेरा उनसे परिचय हुआ। दीन और दीनदयालु का परिचय दीनता की सड़क पर हो जाया करता है। मुझे बिना परिश्रम के कोई पारिश्रमिक स्वीकार न था और उनके पास 'प्रताप' के अतिरिक्त कोई काम न था। ट्यूशन तो मुझे औरों की सहायता से भी मिल जाते थे और जीवन निर्वाह का भी एक स्थूल साधन गुरुवर बाबू नारायणप्रसादजी अरोड़ा के संकेत से स्वर्गीय गुरु रघुवर दयालु के विद्यालय में प्रधानाध्यापकी के रूप में प्राप्त था। कॉलेज में अध्ययन और यहाँ का अध्यापन साथ-साथ चलते थे, पर पत्रकारिता सीखने के मोह को गणेशजी ने उकसाया और मेरा संबंध 'प्रताप' से जुड़ गया। मैं लिखना सीखने लगा। गणेशजी की वाणी में बड़ी सरसता थी। अपने भाषण में श्रोताओं को उलझाकर अपने मंतव्य को मनवा लेना उनकी नेतृत्व कला का पहला रहस्य था। उनके वक्तृत्व में बुद्धि-विलास और ज्ञान के बोझ के स्थान में भावुक प्रेरणा और हृदयस्पर्श अधिक था। उनके नेत्रों में मंतव्य का मोहक मंत्र था। उनके रहन-सहन की सरलता उनके जीवन की व्यापकता और उदारता से मिलकर उन्हें सबका प्रिय बनाए थी।

बातचीत में उन्हें इतना देना रहता था और उस देन में इतनी निष्ठा निवास करती थी कि कभी-कभी उनके साथी उनमें बातचीत के एकाधिकार की दुर्बलता देखने लगते थे। साधारण लोग तो स्नेह से मंत्र-मुग्ध होकर सुना करते थे। वास्तव में न वे वाचाल थे और न मंत्रमुग्ध करनेवाले योगी। उनके पास प्रत्येक परिस्थिति के लिए सुलझे निष्कर्ष थे और उन्हें दूसरों तक पहुँचाने की कुशलता थी। और फिर उनकी अभिव्यंजना में यह बल था कि कथन की टीका साथ-साथ होती चलती। सबल और उपयुक्त शब्दों को लपेटे वाक्य एक के बाद एक निकलते

सच्चे समाजवादी

चले आते थे, जिनकी सहायता से एक ओर भीतर के विचारों का तारतम्य बनता चलता था और दूसरी ओर वे श्रोताओं को स्पष्ट होते जाते थे।

गणेशजी में क्रोध था, परंतु वे क्रोधी न थे। उचित मंतव्यों के प्रतिकूल आचरण से वे झल्ला जाते थे। उनकी वाणी वेग से बरस पड़ती थी। भाव-संतुलन क्षमता भी कभी-कभी उनके दुर्बल शरीर से छूट जाती थी, परंतु प्रतिहिंसा की भावना अथवा किसी को अपमानित करने का अभिप्राय उनका कभी न रहता था। वह, जिसे लोग कभी-कभी दंभ कह बैठते थे, वह उनके विचारों की दृढ़ता और उसका कठोर परिपालनमात्र था। उनकी वाणी जब रोष के कारण साधारण सीमाओं का अतिक्रमण कर देती थी, शांत होने पर वे स्वयं उस पर पश्चात्ताप करते थे। अपने दौर्बल्य का खुला स्वीकार और अपने क्षोभ के लिए ग्लानि उनके सीधे कार्य थे।

इन पंक्तियों के लेखक एवं उसके सहयोगी मित्रों को उनकी स्नेहपूर्ण भर्त्सना और शीलपूर्ण पश्चात्ताप का अनुभव कई बार हुआ है। कभी-कभी तो हाथ पकड़कर हम लोगों को बड़े प्रेम से अधिक आलू अथवा अधिक मिर्च खा जाने के कारण अपनी अनियंत्रित वाणी की ग्लानि समझाया करते थे। बाद में हम लोग मिठाई भी पा जाते थे और कचालू भी। गोस्वामीजी के कथनानुसार—

''सांसति करि पुनि करहिं···
नाथ प्रभुन कर यहै सुभाऊ''

वे अपने समस्त आश्रितों पर बड़े दयालु रहते थे।

वे सच्चे अर्थों में समाजवादी थे। धनिकों के शोषण और उनकी ठसक का वे सर्वदा विरोध करते थे। कोई भी अमीर उन्हें कभी भी विचलित न कर सका। उनका स्वभाव बड़ा दयार्द्र था। 'प्रताप' आर्तों और गरीबों का अड्डा था। उनके क्षीण साधन सहायता के लिए हमेशा खुले रहते थे। न जाने कितने विद्यार्थी उनकी सहायता से पढ़-लिखकर ऊँचे पदों पर पहुँच गए। अपने उदात्त गुणों और उत्तम वृत्तियों के कारण ही वे इतने अधिक लोकप्रिय बन सके। उनमें ऐसी परिचालना शक्ति तथा ऐसा उलझाव था कि तरुण उनके पीछे-पीछे चलने में अपना गौरव समझते थे और उनके संकेत पर मर मिटने के लिए प्रस्तुत रहते थे।

गणेशजी सच्चे मित्र थे। 'मित्र के दुःख रज मेरु समाना' उनका आदर्श था। उनमें न दंभ था और न बड़प्पन का बोझ। उनके कट्टर विरोधी भी उनके

व्यक्तित्व की सराहना ही करते थे। उनकी बात में बल था, उनके मंतव्यों में खड़े रहने की कठोरता थी, उनके परिश्रम में क्षमता थी, उनके साहस में विश्वास था और उनके व्यक्तित्व पर लोगों को भरोसा था। वे किसी विद्या के विशेषज्ञ न थे, परंतु जानते सब थे। साहित्य के सब अंगों का उनको निजी ज्ञान था। उन्हें पढ़ने का व्यसन था। वे बहुश्रुत और बहुपठित थे। विश्वविद्यालय की शास्त्रीय पद्धति के परीक्षित ज्ञान का तुला रूप उनके पास न था, परंतु वे बहुत कुछ जानते थे। उनके तर्क के समक्ष बड़े-बड़े विद्वान् टिक न पाते थे।

एक बार बिठूर मेले के समय रेलवे ने यात्रियों को मालगाड़ी में यात्रा करने की व्यवस्था कर रखी थी। स्टेशन पर पहुँच कर गणेशजी ने यात्रियों को मालगाड़ी में भरे हुए देखा। वे बहुत बिगड़े। उनके आह्वान पर लगभग सभी यात्री गाड़ी से उतर आए। फिर भी जो लोग रह गए थे उनको लेकर ड्राइवर गाड़ी आगे बढ़ाने लगा। गणेशजी भाई बालकृष्ण के साथ इंजन के सामने खड़े हो गए। इंजन ने सीटी पर सीटी दी, परंतु ये लोग टस से मस न हुए। गाड़ी रुक गई। सब यात्रियों के पैसे वापस हुए। उनके साहस में हमेशा एक दैवी स्फूर्ति निवास करती थी और उसके बल पर वे बड़े-बड़े काम कर जाते थे।

गणेशजी बड़ों के प्रति नम्र और छोटों के प्रति मिष्ट थे। उनमें अद्वितीय प्रत्युत्पन्नमति और असाधारण सूझ थी। किसी प्रकार की भी ऊँच-नीच भावना के वे प्रतिकूल थे। 'प्रताप' के संचालन में उन्होंने छोटा-से-छोटा और बड़ा से बड़ा काम स्वयं अपने हाथों किया। राजनीति के क्षेत्र में वे किसी भी वाद के अंध अनुयायी नहीं थे। वे कांग्रेस के भी अंध अनुयायी नहीं थे। उसके समस्त आदेशों को समझ कर और मित्रों में उसकी समीक्षा कर परिपालन करते थे। वे अनुशासन भंग के प्रतिकूल अवश्य थे, परंतु बुद्धि और विवेक के प्रयोग द्वारा ही वे आगे बढ़ते थे। अहिंसा को स्वीकार करते हुए भी क्रांतिकारियों को उनसे सहायता मिलती थी। ब्रिटिश सरकार भी यह जानती थी कि 'प्रताप' में स्वर्गीय भगतसिंह और उनके साथियों को प्रश्रय मिलता है।

आजकल हिंदी जगत् में ऐसे बहुत से जाज्वल्यमान रत्न हैं, जिनको गणेशजी का निकट संपर्क उपलब्ध था। उन्होंने गणेशजी से बहुत कुछ सीखा है और गणेशजी को बहुत कुछ सिखाया। पं. माखनलालजी चतुर्वेदी तो उनके अत्यंत आत्मिक सहयोगी रहे हैं और राजनीति तथा साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में उनका पारस्परिक सहयोग रहा है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त और उनका सारा परिवार

तो 'प्रताप' परिवार में ही समझा जाता रहा है। श्री रायकृष्ण दासजी भी गणेशजी के अनन्य मित्रों में हैं। स्वर्गीय अजमेरीजी तो हमेशा 'प्रताप' प्रेस में ही ठहरते थे। स्वर्गीय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी और स्वर्गीय महाशय श्री काशीनाथजी का आशीर्वाद गणेशजी को जीवनपर्यंत प्राप्त रहा। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, बालकृष्ण शर्मा, दशरथप्रसाद द्विवेदी, विष्णुदत्त शुक्ल प्रभृति हिंदी के ख्यातिनाम लेखकों को गणेशजी से बड़ी प्रेरणा मिली।

यह सत्य है कि गणेशजी व्यक्ति न थे, वे एक संस्था थे। इस संस्था ने कितने व्यक्तियों का निर्माण किया, इसकी तालिका उपस्थित करना कठिन है, परंतु आज प्रदेश के बड़े-बड़े लोग यदि अपने महत्त्व का विश्लेषण करने बैठें तो उनके बड़प्पन के तंतुओं में किसी-न-किसी परिमाण में 'गणेशत्व' मिल जाएगा। आज कितने ही वर्ष उनके निधन को हो गए, परंतु उनके व्यक्तित्व में इतना बल था कि उनकी निर्वाण-घटना कल की मालूम होती है। वे जिन आदर्शों की प्रेरणा के लिए जिए उन्हीं के लिए उन्होंने प्राण भी दिए। वे सच्चे अर्थों के गणतंत्रवादी थे। मानव-मानव के भेदभाव के प्रति उनमें बड़ी घृणा थी। अपने प्राणों की आहुति देकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे सच्चे हुतात्मा थे।



सच्चे समाजवादी

कन्यादानी गणेश

'अखंड ज्योति' अप्रैल 2007

एक क्रांतिकारी को स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में फाँसी की सजा दे दी गई। उनकी विधवा पत्नी के अतिरिक्त घर में एक युवा कन्या और थी। पैसे की कमी, संरक्षक का अभाव एवं विपन्नता अवरोध रूप में सामने खड़े थे। ऐसे में एक शिक्षित नवयुवक आगे आया और क्रांतिकारी की बेटी से विवाह हेतु हाथ आगे बढ़ा दिया। अधिकारियों ने धमकी दी कि अब तुम्हारे पीछे भी पुलिस पड़ेगी। क्यों झंझट में पड़ते हो? युवक डर गया। घटना एक संपादक के संज्ञान में आई। उनने अधिकारियों से जाकर चर्चा की, उन्हें समझाया कि यदि आप उस क्रांतिकारी के स्थान पर होते तो क्या आपको यह अच्छा लगता? यदि आप किसी के आँसू पोंछ नहीं सकते तो रुलाने का भी अधिकार नहीं है। पुलिस अधिकारी पानी-पानी हो गया। उसने क्षमा माँगी। बाद में उसने और संपादक महोदय ने मिलकर विवाह संपन्न कराया, सारा व्यय-भार भी स्वयं उठाया। विवाह में कन्या के पिता की जिम्मेदारी निभाने वाले संपादक सज्जन थे श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, जिन्हें अमर हुतात्मा की बाद में संज्ञा मिली।



धर्म की राजनीति के दुष्परिणाम

चंद्रदत्त तिवारी

आज जब मैं विद्यार्थीजी की शहादत को याद करता हूँ, तो यह देखता हूँ कि राजनीति के साथ धर्म को मिलाने के कारण ही यह घटना घटी। सन् 1921-22 के असहयोग आंदोलन के साथ खिलाफत आंदोलन को गांधीजी ने जोड़ा। इससे आंदोलन तो बहुत बड़ा हो गया, लेकिन नेतृत्व की मंशा को लेकर हिंदू-मुसलमानों के बीच एक गहरी दरार पड़ी। उस समय जिन्ना और तिलक जैसे नेताओं ने इसका विरोध किया। स्टेनली वोल्पर्ट ने 'जिन्ना इन पाकिस्तान' के पृष्ठ 74 पर जिन्ना के कथन को उद्धृत किया है, ''मैं गांधी का अनुसरण नहीं कर सकता। यह एक धार्मिक कार्यक्रम है, जो विध्वंसक उपाय पर आधारित है, जो मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति के जीवन के चरित्र से मेल नहीं खाता··· !''

असहयोग आंदोलन के साथ खिलाफत को जोड़ने की भूल का एहसास गांधीजी को हुआ और उन्होंने अपने को इससे दूर भी किया, किंतु इसके परिणामस्वरूप हिंदू-मुसलमान दोनों कांग्रेस से दूर हो गए, जिससे 1926 का कॉउंसिल का चुनाव कांग्रेस बुरी तरह हारी। फिर भी विष-बीज तो पड़ ही चुका था।

गणेशशंकर विद्यार्थी एक सच्चे गांधीवादी व्यक्ति थे, जिनकी विभिन्न आंदोलनों के बीच समन्वयक की भूमिका थी। शिवकुमार मिश्र अपनी पुस्तक 'क्रांति का अग्रदूत कानपुर' के पृष्ठ 18-19 पर विद्यार्थीजी के बारे में लिखते हैं, ''उस समय कानपुर तीन राष्ट्रीय धाराओं का संगम था। ये धाराएँ थीं—कांग्रेस, क्रांतिकारी दल और कम्युनिस्ट आंदोलन तथा इस समन्वय के सूत्रधार थे गणेशशंकर विद्यार्थी। वे क्रांतिकारियों के प्राण थे। उन्होंने काकोरी के अभियुक्तों की सहायता के लिए समिति गठित की, भगतसिंह को 'प्रताप' प्रेस में शरण दी। वहीं रामप्रसाद

'बिस्मिल' लिखित आत्मकथा जेल से निकाल लाए और उसे प्रकाशित किया था। क्रांतिकारी परचा 'बम का दर्शन' उनके द्वारा कई जिलों में भेजा गया। उनको केवल क्रांतिकारियों का सहायक मानना गलत होगा। सन् 1921-22 के असहयोग आंदोलन में वे सबसे आगे थे। सन् 1930 के सत्याग्रह की आँधी भी उन्होंने उठाई। वे हिंदू-मुसलिम ऐक्य के मसीहा की भाँति मान्य हुए। क्रांतिकारी आंदोलनों का कोई भी इतिहास उनके उल्लेख के बिना अधूरा ही रहेगा।"

विद्यार्थीजी का समय उथल-पुथल का समय था। आर्थिक अभाव तो था ही, उस समय 'प्रताप' पर होनेवाले जुर्मानों और जमानतों की अदायगी से हालत और बदतर हो जाती थी। तो भी इन संकटों का तनिक भी प्रभाव उन्होंने अपने आदर्श और लक्ष्य पर नहीं पड़ने दिया। वे देशी-विदेशी परिवर्तनकारी साहित्य के गहन पाठक तथा कला और ललित साहित्य के मर्मज्ञ थे। उनका मत था, "देश की प्राकृतिक संपत्ति को उन्नति देने के बजाए देश की मानसिक तथा नैतिक संपत्ति को उन्नति देना अधिक आवश्यक है।"

किसी भी देश की आत्मा उसमें बसने वाले लोगों के आत्मबल से बनती है। हमारा देश शरीर-मन-प्राण से बली होने के बावजूद शासकों के चारित्रिक दोषों के कारण लंबे समय तक गुलाम रहा। गुलामी के जुए को उतारने में जब सारा शस्त्र बल और बाहुबल नाकाम रहा, तो गांधीजी ने सत्याग्रह और अहिंसा का नया हथियार उठाया। प्रारंभ में जन सामान्य इन अस्त्रों के प्रति विश्वस्त नहीं था, किंतु धीरे-धीरे लोग न केवल इनकी शक्ति पर विश्वास करने लगे, बल्कि आगे बढ़कर इन्हें अपने आचरण में उतारने लगे। ऐसे ही एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में विद्यार्थीजी भी थे, जिन्होंने इसी विश्वास और आस्था के चलते अपने प्राण भी दिए। विद्यार्थीजी का बलिदान इतना प्रभावशाली था कि सन् 1937 के चुनाव में यू.पी. में मुस्लिम लीग का एक भी प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं हुआ।

विद्यार्थीजी की शहादत 25 मार्च, सन् 1931 को हुई। इसी बीच 23 मार्च, 1931 को भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को भी फाँसी दी जा चुकी थी। अंग्रेज सरकार ने इन फाँसियों के खिलाफ होनेवाले विप्लव से बचने के लिए कानपुर के दंगों की न केवल अनदेखी की, बल्कि प्रशासनिक स्तर पर प्रोत्साहित भी किया। अंततः जब मैं इस पूरे घटनाक्रम के मूल बिंदु को टटोलता हूँ तो मुझे लगता है कि प्रशासनिक उपेक्षा के कारण हमने गणेशजी को खो दिया।



शालीनता की मूर्ति

ज्वालादत्त शर्मा

वह दिन मुझे अच्छी तरह याद है, यद्यपि उसे बीते हजारों दिन हो गए। शाम के समय कानपुर के किसी पार्क में 'प्रताप' का अंक हाथ में लिये मित्रों से घिरे अपनी पेटेंट ड्रेस में, जिसमें छोटा सा मुँडासा और मालवीय टाइप का गले का दुपट्टा मुख्य था, मिले थे। धोती पर नीचा कोट पहनते थे। बाद को गांधी युग में नंगे सिर कुरता पहने कई बार उन्हें देखा था, किंतु उस मुँडासे और धोती-दुपट्टे में एक खास फबन थी। सज्जनता, सहृदयता, परदुख-कातरता और हृदय के खुलेपन ने उनमें तेजस्विता के साथ एक बाँकपन भर दिया था। उनकी विशुद्ध हँसी के ठहाके और कभी-कभी किसी के मौन निरीक्षण में कितना गजब भरा था! 'वह जाने, जिन देखा।'

उन दिनों वंदेमातरम् की धूम थी। विद्यार्थीजी नमस्ते-प्रणाम की जगह सबको हाथ जोड़कर 'वंदे' कहा करते थे। वैसा माधुर्य आज तक मैंने किसी के 'वंदे' में नहीं पाया। हिंदी साहित्य के विशाल क्षेत्र में अनेक लेखक, संपादक और कवि बन-ठनकर रहते हैं और व्यक्तित्व पर तेल-पानी करने का अभ्यास रखते प्रायः देखे गए हैं, किंतु विद्यार्थीजी के व्यक्तित्व में गजब का आकर्षण था। वकौल हाली, 'लाख मजमून और उसका एक ठठोल, सौ तकल्लुफ और उसकी एक सीधी बात।'

आज के कोई अड़तीस वर्ष पहले मैं पहली बार कानपुर गया था। फिर तो आचार्य द्विवेदीजी के कारण कानपुर मेरे लिए तीर्थराज बन गया। पटकापुर में श्री नारायणप्रसादजी अरोड़ा के पड़ोस में शेरा गुरु का अखाड़ा था, उसी में मैं ठहरा था। शायद अरोड़ाजी से ही उन्हें मेरे वहाँ ठहरने का संवाद मिला। 'सरस्वती' से मेरे साधारण संबंध की वजह से वे अपनी कमनीय शालीनता के कारण मुझसे मिलने आए। तब तक मैंने उनके दर्शन नहीं किए थे। हिंदी संसार में वे उस समय कुछ अधिक प्रसिद्ध भी नहीं हुए थे। द्विवेदीजी के पास

कुछ दिनों रहे थे और उन्हें 'सरस्वती' के संपादन में सहायता देते थे। वहाँ से ताजा-ताजा ही आए थे। मुझसे पहली मुलाकात में ही इस तरह मिले मानो वर्षों से परिचित हों। फिर शाम को पार्क में हम लोग रोज मिलते थे। कानपुर की मेरी प्रथम यात्रा विद्यार्थीजी के कारण पवित्र स्मृति के रूप में मेरे लिए बहुत ही आदर की वस्तु हो गई।

उन्हीं दिनों 'प्रताप' का जन्म हुआ और उसकी पहली कॉपी उन्होंने अपने कर कमल से मुझे भेंट की थी। काश वह कॉपी मुझे किसी दिन पुराने कागजों में मिल जाए, तो आज उसका कितना मूल्य हो जाएगा! उसके बाद मैं जब-जब कानपुर गया, उनसे मिलता रहा। मैंने उन्हें बराबर उठते देखा, उनकी क्रमिक उन्नति में उनका व्यक्तित्व दिन-दिन निखरता जा रहा था। मैंने अनेक मिलने वालों को उन्नति करते देखा है। पहले साधारण रूप, फिर उन्नति के क्रम में कायाकल्प, फिर पतन और विनाश। विद्यार्थीजी उठते जाते थे, उतने ही अधिक नम्र, विनयी, तेजस्वी और कर्मठ बनते जाते थे।

एक बार मुरादाबाद के एक परिचित ने, जिनके विषय में यह प्रवाद था कि वह ब्रिटिश सरकार के खुफिया हैं और षड्यंत्र आदि के चक्कर में बेकसूर आदमियों को पकड़ कर नाम पैदा कर रहे हैं, मुझसे विद्यार्थीजी के लिए परिचय-पत्र माँगा। मैंनें उन्हें पत्र दे दिया। उसके चार-पाँच दिन बाद ही मैंने 'लीडर' में पढ़ा कि 'प्रताप' प्रेस की तलाशी ली गई। इस पर मैंने विद्यार्थीजी को पत्र लिखा कि क्या मेरा पत्र लेकर कोई महात्मा आप से मिलने आए थे। उन्होंने उत्तर दिया—मिले थे, मैं उन्हें पहचानता हूँ, आप कुछ चिंता न करें। इस प्रकार के संकटों का हमें अभ्यास है। मेरे मतलब को विद्यार्थीजी फौरन पहचान गए। उनकी आँखें दिल में पैठ जाती थीं और उनकी बुद्धि उपस्थित विषय में से मर्म की बात पकड़ लेती थी। उसके बाद ही दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन था। सरोजिनी नायडू का व्याख्यान था। उसमें उन्होंने मुझे दूर पर बैठा हुआ देखा। उनके प्रेम और आदर भाव की प्रशंसा नहीं हो सकती। मुझे वहाँ से उठाकर अपने पास ले गए और वहाँ बिठाया। व्याख्यान के बाद मैंने उस तलाशी की बात फिर छेड़ी। उस पर जोर से ठहाका मारकर जैसी उनकी आदत थी, बोले, "पंडितजी, इन बातों से हमारी और हमारे प्रेस की प्रसिद्धि होती है। आप इस बात को भूले जा रहे हैं।"



शालीनता की मूर्ति

चार अविस्मरणीय प्रसंग

डॉ. गंगानारायण त्रिपाठी

अभिशाप

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के गोरखपुर (4 मार्च, 1930) अधिवेशन में विद्यार्थीजी उसके सभापति चुने गए थे। वहाँ डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपनी सद्यः प्रकाशित एक कृति उन्हें भेंट की, जिसका शीर्षक था 'अभिशाप'। उसे स्वीकार करते समय विद्यार्थीजी ने हँसते हुए कहा था "क्या अभिशाप मुझे ही मिलना था?" डॉ. वर्मा ने उत्तर दिया, "आपकी तेजस्वी, संघर्षशील राष्ट्रीयवृत्ति के लिए दुनिया यही देगी।" विद्यार्थीजी मुस्कराने लगे और संयोग कि अगले वर्ष कानपुर के भीषण हिंदू-मुसलिम दंगे में एक नादान मुस्लिम द्वारा कत्ल कर दिए गए।

भविष्यवाणी

उक्त गोरखपुर अधिवेशन में विद्यार्थीजी ने जो भविष्यवाणी की थी, वह हिंदी भाषा और साहित्य की ऐतिहासिक धरोहर है। विद्यार्थीजी ने कहा था, "मुझे वह दिन दूर नहीं दिखाई पड़ता, जब हिंदी साहित्य अपने सौष्ठव के कारण साहित्य जगत् में अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा और हिंदी भारतवर्ष जैसे विशाल देश की राष्ट्रभाषा की हैसियत से न केवल एशिया महाद्वीप के राष्ट्रों की पंचायत में बोली जाएगी, वरन् अपनी शक्ति से संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर भरपूर प्रभाव डालेगी और हिंदी भाषा की सहजता और प्रभावशीलता के कारण अनेक अंतरराष्ट्रीय प्रश्न बिगड़ा व बना करेंगे।"

गधा और बकरा दोनों

''पत्रकार गधा और बकरा दोनों होता है।'' यह हैं वे शब्द जो गणेशजी ने मैनपुरी मानहानि के मुकदमे का निर्णय होते ही अपने एक मित्र से हँसते हुए कहे थे।

आशय स्पष्ट करते हुए, बकौल श्रीकृष्ण मिश्र, उन्होंने कहा था, ''पत्रकार गधा इसलिए होता है कि उसे समाज की समस्त चिंताओं का भार अपने ऊपर ढोना होता है और बकरा इसलिए कि उन चिंताओं को ढोते हुए बकरे की तरह अपनी कुरबानी देने के लिए भी उसे तत्पर रहना पड़ता है।''

गीता के भाष्य

अधिवेशन से समय निकालकर गणेशजी गीता प्रेस पधारे। वहाँ उनका भावभीना स्वागत-सत्कार हुआ। हनुमानप्रसाद पोद्दार ने संस्था की ओर से उन्हें श्रीमद्भगवत गीता की एक प्रति भेंट की। उसे सहर्ष स्वीकार करते हुए विद्यार्थीजी बोले, ''इसे ग्रहण करने की पात्रता और क्षमता कहाँ है मुझमें?'' उत्तर मिला, ''आप तो गीता के जीवंत भाष्य हैं।''

एक शब्द में उनकी तारीफ हो सकती है कि—वे नर-शार्दूल थे।



संस्कृति-सचेत मानस की रचना

डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र

इलाहाबाद से सन् 1909 में प्रकाशित पं. सुंदरलाल का 'कर्मयोगी' उग्र राष्ट्रीय प्रेरणा से संपन्न युवक गणेशशंकर के संस्कार के अनुरूप हिंदी पत्र था। 'कर्मयोगी' श्री अरविंद घोष के 'कर्मयोगिन्' का स्वर-प्रतिम था। उसका स्वर इतना उग्र था कि उसमें लिखना तो दूर, उसे पढ़ना तक अपराध समझा जाता था। 'कर्मयोगी' का पाठक होने के अपराध में गणेशशंकर को अपनी करेंसी की नौकरी से हाथ धोना पड़ा था और उसी मुहूर्त से वे बर्तानिया सरकार के अन्याय-अनौचित्य के विरोधी हो गए थे। जीवन के अंतिम मुहूर्त तक दुर्नीतियों के विरुद्ध उनकी युयुत्सु-मुद्रा प्रमुख रही। 'कर्मयोगी' को सक्रिय सहयोग देते हुए उन्होंने स्तरीय पत्रकारिता का सही अर्थ समझा। उसी समय उन्होंने यह प्रतीति अर्जित की कि पत्रकार की भूमिका एक सच्चे लोकनायक की भूमिका होती है।

संस्कृति सचेत मानस की रचना का लक्ष्य

गणेशशंकर विद्यार्थी की मनीषा 'प्रताप' के माध्यम से उस विकलांग मानवीय संवेदन-छंद को सही रूप देने में सक्रिय थी, जिसके कारण मनुष्य बाहर-भीतर से विरूप हो रहा था। चूँकि गणेशशंकर के पत्रकार का मुख्य लक्ष्य था— संस्कृति-सचेत मानस की रचना।

देश की हर समस्या पर विचार करते समय उनके सामने देश की अतीत भूल-चूक, साधन समृद्धि और विश्व के संदर्भ में देश का समग्र वर्तमान होता था। वे अक्सर कहा करते थे कि हमको अपने देश से पहले सरोकार है, उसके

बाद दूसरे देशों से। 'प्रताप' के माध्यम से उन्होंने घोषणा की थी कि "विदेशी इतिहास-लेखकों द्वारा लिखा हुआ इतिहास देश का सच्चा इतिहास नहीं हो सकता···विदेशियों का लिखा हुआ भारतवर्ष का इतिहास ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाली हुई सच्ची या झूठी भारत की समस्त त्रुटियों, निर्बलताओं और दोषावली का संग्रहमात्र है। उससे देश की सच्ची स्थिति का पता नहीं चलता। उसमें हम अपने देश के यथार्थ रूप के दर्शन नहीं कर पाते। हमारे आत्मविश्वास और प्राचीन गौरवाभिमान को नष्ट कर सिंह शावक को गीदड़ बनाए रखना इनका उद्देश्य है।"

राष्ट्रीय अवमानना से उन्मथित होकर 'प्रताप' के संपादक ने 'राष्ट्रीयता' शीर्षक संपादकीय निबंध में कहा था, "राष्ट्र पराधीनता के पालने में नहीं पलता। स्वाधीन देश ही राष्ट्रों की भूमि है, क्योंकि पुच्छविहीन पशु हों तो हों, परंतु अपना शासन अपने हाथों में न रखने वाले राष्ट्र नहीं होते। राष्ट्रीयता का भाव मानव उन्नति की एक सीढ़ी है।"

इसी प्रकार 'अंग्रेजी डींग' पर प्रहार करते हुए घोर गांधीवादी विद्यार्थीजी ने लिखा था, 'लड़कों की सी बातें करने या लोगों की आँखों में धूल डालने से इतिहास और समय की यथार्थ गति के ज्ञान पर परदा नहीं पड़ सकता। कहा जा रहा है कि क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स ने इस देश की सभ्यता की रक्षा की, परंतु उन्होंने और उनके साथियों ने जो क्रूर करतूतें कीं, उनसे देश हड़पे जा सकते थे, उन पर अंग्रेजी झंडा गाड़ा जा सकता था, सभ्यता या उसका त्राण तो उसमें कोसों दूर की बात थी। वारेन हेस्टिंग्स प्रत्येक अंग्रेज को भारतवर्ष के लिए खुदाई फौजदार मानते हैं। वे समझते हैं कि यदि आज अंग्रेज इस देश में न रहें तो इस देश पर आफत का पहाड़ ढा जाए और इसलिए प्रत्येक अंग्रेज इस धरोहर की ईमानदारी के साथ रक्षा करेगा, यह कोरी डींग है। किसी के न रहने से संसार के कामों में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।"

इसी मानसिकता से 'प्रताप' के संपादक ने 'मानव स्वत्व' का मुखर पक्ष-समर्थन करते हुए कहा था, "धन्य हैं वे देश और वे जातियाँ जिन्हें स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध घोर संग्राम करना पड़ा और जिन्हें इस प्रकार मनुष्य की स्वाधीनता के विकास के क्षितिज को अधिक बढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ···पर स्वत्व सहज ही नहीं प्राप्त होते···स्वत्व की वेदी पर सिर चढ़ाने का साहस उन्हीं को हुआ जिनमें कर्तव्य का भाव था, जिन्हें निरंकुशता से घृणा थी, जो उसका मूलोच्छेदन करना अपना धर्म समझते थे और जिनमें इस काम के लिए प्राणों का तनिक

भी मोह न था।'' राष्ट्रीय स्वाभिमान से स्फूर्त गणेशशंकर विद्यार्थी की मनीषा कभी संकुचित राष्ट्रवाद की हिमायत नहीं करती थी। उनका विचार-गवाक्ष बाहरी-भीतरी विचारों के स्वागत से सदा उन्मुक्त रहता था। स्वत्व का प्रश्न वे विश्व-मानवता के संदर्भ में उठाते थे, किसी संकुचित क्षेत्र के संदर्भ में नहीं।

आसन्न संकट की चेतावनी

'प्रताप' के संपादकीय पृष्ठों के माध्यम से वे मनीषी चिंतक की भाँति आसन्न संकटों के प्रति मनुष्य जाति को सचेत करते, हिंसा-विरति की प्रेरणा दिया करते। राजनीतिक 'सुगमता की माया' की विभीषिका पर उन्होंने निर्भीक टिप्पणी की थी, ''कूटनीति की सुगमता और मन के स्वास्थ्य की अवहेलना ने किस प्रश्न को आज तक हल किया और किस देश और किस जाति के स्वास्थ्य को ऊँचा और बलवान बनाया? मृगतृष्णा के प्रलोभन से संसार में अनेक हिरनों ने बड़ी-बड़ी उछालें मारीं, परंतु वे प्यासे के प्यासे ही रहे।'' आदर्शच्युत होकर समझौते की राह सरपट दौड़ने वालों को टोकते हुए उन्होंने लिखा, ''समझौते का उपासक व्यावहारिक कठिनता की दुर्दमनीयता का विकराल रूप देखकर घबराता है, वह अपने को चतुर और नीति-कुशल के नाम से पुकारता है, वह मरना नहीं जानता। वैयक्तिक जीवन में तथा राष्ट्रीय जीवन में जिस समय आदर्श की पूजा होती है, उस समय वह व्यक्ति या राष्ट्र संसार को नवजीवन का संदेश देता है, उस समय का उसका जीवन या मरण आगामी अनंत काल के लिए संसार की अमूल्य संपत्ति बन जाता है।''

पत्रकार का कठिन दायित्व

उनकी स्पष्ट धारणा थी कि पत्रकार की आचार-संहिता लोक-मंगल की चिंता-चेतना से अनुप्राणित होनी चाहिए। सामाजिक सदाचार के लिए वैयक्तिक जीवन का निष्कलुष होना वे अनिवार्य मानते थे। अपनी धारणा-मान्यता को विद्यार्थीजी जिस भाषा में प्रस्तुत करते थे वह लल्लो-चप्पो की भाषा नहीं, 'सुगमता की माया' में उलझे मानस को कंपा देनेवाली भाषा थी (पं. सुंदरलालजी को उन्होंने एक बार लिखा था कि ''मैं 'प्रताप' को ऐसी मक्खन की गोली भी नहीं बनाना चाहता जिसे जो चाहे मुँह में रख ले)।''

'प्रताप' में गणेशशंकर विद्यार्थी ने लिखा था, ''काम करने के दो मार्ग

हैं—एक तो यह कि आगे बढ़ा जाए, परंतु आदि से लेकर अंत तक नैतिक आधार न छोड़ा जाए, दूसरा यह कि काम हो, और फिर चाहे जिस तरह, नैतिक आधारों के बल से या उन्हें छोड़कर। पहला ढंग मन को ऊपर चढ़ने के लिए मार्ग देता है, दूसरा मनुष्य को मनुष्य पर बिलकुल अविश्वास करना सिखाता है और समाज में भय तथा कायरता का संचार करता है।''

सुगमता-प्रिय भीड़ में गणेशशंकर विरल व्यक्ति थे, जो काम करने की पहली राह के राही थे। मजहबी दायरे में सिमट रहे और हिंसा के प्रहार से टूट रहे मानवीय संवेदना-छंद की रक्षा करते हुए प्राणाहुति देकर गणेशशंकर विद्यार्थी ने मानवीय मूल्यों के पक्षधर को आत्मदान की कला सिखाई।



खंड-3

उनका 'प्रताप'

उनका 'प्रताप'

इस खंड में संगृहीत लेख वस्तुतः गणेश-युग के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। जाहिर है, किसी भी काल-खंड के सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को समझने, उनका अध्ययन एवं विश्लेषण करने के लिए समाचार पत्रों से ज्यादा सशक्त और बेहतर कोई माध्यम नहीं हो सकता। प्रस्तुत लेख इस तथ्य को बहुत बेबाकी से रेखांकित करते हैं कि पत्रकारिता के मूल धर्म को विद्यार्थीजी ने किस प्रकार और कितनी निष्ठा से निभाया।

आज जिन बिंदुओं को 'जर्नलिस्टिक इथिक्स' के बतौर अपनाने और जीने की नसीहत दी जाती है उन्हें इस महान् शख्सियत ने किस तरह जिया, यह खंड उसे जानने और समझने का भरपूर अवसर देता है।



निष्पक्ष एवं स्वतंत्र पत्रकारिता के लिए विद्यार्थीजी द्वारा निर्धारित मानक से श्रेष्ठतर मानक क्या आज भी कोई और हो सकता है या भविष्य में हो पाएगा? विद्यार्थीजी का पत्रकारीय मानक, निश्चय ही उन्हें युगद्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठापित करता है। उनका 'प्रताप' हिंदी और हिंदी पत्रकारिता का ही प्रताप नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय पत्रकारिता का प्रताप है।

सत्यप्रकाश त्रिपाठी

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

उनका 'प्रताप'

एक अनूठा व्यक्तित्व
रामनाथ गुप्त

'प्रताप' निर्भीकता की मूर्ति
डॉ. राजीव दुबे

'प्रताप' का प्रताप
आचार्य श्रीराम शर्मा

'प्रताप' की अंतिम साँसें
ज्ञानेंद्र सिंह

तस्वीर रह गई
डॉ. लल्लन मिश्र

‘प्रताप’ और ‘प्रभा’

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

“अखबारों के संबंध में कानपुर का भाग्य एकाएक चमक उठा है।”

“ ‘प्रताप’ नाम का नया साप्ताहिक पत्र है। नवंबर से निकला है। इसमें 16 पृष्ठ हैं। वार्षिक मूल्य बाहर वालों से 2/- रु. है। हम…सादर स्वागत करते हैं।”

—‘सरस्वती’ नवंबर, 1913 पृष्ठ 658

“दशहरे पर हिंदी के…साप्ताहिक पत्र…कानपुर के ‘प्रताप’ के विशेषांक ‘राष्ट्रीय अंक’ की चर्चा की गई है। ‘प्रताप’ के विशेषांक का नाम है ‘राष्ट्रीय अंक’। इस समाचार-पत्र को निकलते मुश्किल से अभी एक वर्ष हुआ है। इतने में ही इसके प्रताप ने धूम मचा दी है। उसके इस अंक में पचास-साठ पृष्ठ हैं। अंक सचित्र और पुस्तकाकार है। कुल लेखों और कविताओं की संख्या 30 है। अधिकांश लेख राष्ट्रीयता और जातीयता के भावों से भरे हुए हैं। मुसलमान सज्जनों के भी दो लेख हैं। कई स्त्रियों ने भी इस अंक में लिखने की कृपा की है। यों तो इसके एक संकलित लेख को छोड़कर सभी लेख पढ़ने लायक हैं, तथापि दो-एक लेखों के विचार बिलकुल ही नए, अतएव लेखकों की मननशीलता और योग्यता के परिचायक हैं। इसकी कई एक कविताएँ भी बहुत सुंदर हैं। इस पत्र की समुन्नति हिंदी के सौभाग्य की सूचक है।”

—‘सरस्वती’ सितंबर, 1914 पृष्ठ 526

“प्रभा बढ़िया मासिक पत्रिका कानपुर के ‘प्रताप’ प्रेस से निकलने लगी है। इसके प्रधान संपादक श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी हैं। यद्यपि अनेक जन उलटा

आपसे विद्या प्राप्ति के अर्थी हैं, तथापि छात्रावास से लेकर अब तक आप 'विद्यार्थी' ही बने हुए हैं।''

''विद्यावदान्य होकर भी जो विद्यार्थी ही बना रहता है वही मनुष्य संसार में कुछ कर भी दिखाता है। इसके लेखकों को पुरस्कार भी दिया जाता है। काव्य, साहित्य, समाज, राजनीति, व्यापार-वाणिज्य और व्यवसाय आदि अनेक विषयों के लेख इसमें अब तक निकले हैं और शायद उसी तरह आगे भी निकलें। निकले हुए लेखों में इसके राजनीतिक और आर्थिक या सांप्रतिक लेख बड़े महत्त्व के हैं। कविताएँ भी इसमें रहती हैं। संपादकीय टिप्पणियों में संपादकों के सुंदर विचार और सामयिक समालोचनाएँ पढ़ने को मिलती हैं।''

''ऐसी अच्छी पत्रिका का प्रकाशित होना हिंदी भाषा के सौभाग्य का सूचक है। लक्षणों से जान पड़ता है कि 'प्रताप' के प्रताप के साथ ही साथ 'प्रभा' की प्रभा भी दिन पर दिन बढ़ती ही जाएगी। एवमस्तु।''

—'सरस्वती' फरवरी, 1920 पृष्ठ 123

''कई वर्ष से 'प्रताप' नाम का साप्ताहिक पत्र कानपुर से निकल रहा है। उसका संपादन योग्यतापूर्वक होता है। इसी से उसका बड़ा मान है। उसका प्रचार भी बहुत है। उसके लेख बड़े महत्त्व के होते हैं। उनसे सच्चाई, देशभक्ति और निर्भीकता टपकती है। देश की दशा और देशवासियों की हृदयगत भावनाओं का खूब खयाल रखकर उसका संपादन होता है। उसके विचार देशवासियों के आंतरिक विचार कहे जा सकते हैं। यही कारण है, जो उसका इतना आदर और इतना प्रचार है। अब, विजयादशमी से, उसका दैनिक संस्करण भी निकला करेगा। उस संस्करण को भी समयानुकूल और बहुगुणसंपन्न बनाने की पूरी चेष्टा की जाएगी। जहाँ तक हम जानते हैं, आयोजन को देखने से यही विश्वास होता है कि वह संस्करण भी बहुत ही अच्छा निकलेगा और लोग उसे भी बहुत पसंद करेंगे। अंग्रेजी के दैनिक पत्रों में जो विशेषताएँ रहती हैं उन सबको चरितार्थ करने का यत्न किया जा रहा है। पृष्ठ संख्या 8 होगी और मूल्य 18/- रुपए वार्षिक। सालभर का मूल्य एकमुश्त भेजनेवालों के साथ एक रुपए की रियायत की जाएगी। ग्राहक होने के लिए व्यवस्थापक, दैनिक 'प्रताप', प्रताप प्रेस, कानपुर को लिखना चाहिए।''

—'सरस्वती' अगस्त, 1920 पृष्ठ 106



पहले देश, फिर 'प्रताप'

विष्णुदत्त शुक्ल

जिसने श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी को कार्यालय में काम करते हुए और बाहर आते-जाते हुए देखा होगा, उससे दोनों अवस्थाओं का अंतर छिपा न होगा। कार्यालय में बैठे हुए गणेशजी बाहर के विद्यार्थीजी से बहुत कुछ भिन्न दिखलाई देते थे। मेरा संकेत कार्य-व्यस्तता की ओर उतना नहीं है, क्योंकि कार्य-व्यस्त तो वे बाहर-भीतर समान रूप से रहते थे, मेरा संकेत उनके व्यवहार की ओर है। वे कार्यालय के प्रधान थे और बाहर भी उनको प्रधानता प्राप्त थी, परंतु दोनों परिस्थितियों में भेद था। यही भेद उनके दोनों स्थानों के व्यवहारों में भी दृष्टिगत होता था। कार्यालय के अनुशासन की रक्षा के लिए, कार्य का समुचित संचालन कराने के लिए, या इसलिए कि किसी कर्मचारी में किसी समय कोई प्रमाद, असावधानी, कर्तव्यविमुखता अथवा आलस्य न आ जाए, वे अपने मातहत कर्मचारियों के साथ कुछ रूखे व्यवहार के आदी हो गए थे।

जब प्रबंध का कार्य श्री शिवनारायण मिश्र सँभालते थे और उन पर केवल संपादन का भार था, तब उनके व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक मृदुता थी, परंतु पिछले दिनों उन पर संपादकीय और प्रबंध विभाग दोनों की जिम्मेदारियाँ आ गई थीं, अत: संभव है उनमें वह रुखाई उत्तरदायित्व के बढ़ जाने के कारण आ गई हो, परंतु यह केवल बाहरी ही थी। उनके हृदय में कटुता कभी नहीं आई। अनेक अवसर ऐसे पड़े हैं जब उनकी इस रुखाई से असंतुष्ट होकर उनके सहकर्मियों ने इस्तीफे दे दिए, परंतु गणेशजी ने उनके प्रति इतनी विनम्रता, उदारता और सहृदयता दर्शित की कि फिर चुपचाप इस्तीफा वापस लेकर काम करने के अतिरिक्त उनसे और कुछ नहीं करते बना। "भाई मेरे स्वभाव में यह

दोष आ गया है, इसमें बुरा न माना करो। कुछ अपमान हो गया हो तो क्षमा करो। कहो तो मैं लिखकर माफी माँगूँ। कहो तो चार आदमियों के सामने माफी माँगूँ।''—आदि बातें थीं, जो वे ऐसे इस्तीफों के उत्तर में कहते थे। एक ओर उनके प्रति कर्मचारियों की श्रद्धा, दूसरी ओर उनकी यह विनम्रता। बेचारा कर्मचारी ऐसी अवस्था में अक्सर आँखों में आँसू लेकर ही वापस आता था। वे स्वयं भी अपने स्वभाव के इस चिड़चिड़ेपन को नापसंद करते थे। अंतिम दिनों में तो इसको उन्होंने बहुत कुछ सुधार भी लिया था।

काम करने में उनकी शक्ति बड़ी अद्‌भुत थी। उनके साथ काम करने वाला कोई भी व्यक्ति, बिना किसी अत्युक्ति के, यह कह सकता है कि वे कार्यालय में बेकार बैठे हुए कभी नहीं देखे गए। हमेशा कोई न कोई काम हाथ में लिए ही रहते और काम करते समय भी वे पूरी मुस्तैदी और तत्परता के साथ काम में जुटते थे, फिर कार्यालय के तात्कालिक सब काम समाप्त होते ही तुरंत बाहर चले जाते और कांग्रेस सेवा समिति, किसान संघ, मजदूर सभा आदि के अन्यान्य कार्यों का निरीक्षण करते। वहाँ से फुरसत पाते, तो फिर दौड़ते हुए प्रताप कार्यालय आते और तब तक जो नया काम आ जाता उसे करते, इस प्रकार कार्यालय और बाहर के कामों में वे सदा व्यस्त रहते।

बाहर से कार्यालय में उनके आने का दृश्य देखने योग्य होता था। एक विशेष गुरुता धारण किए हुए, कुछ अजीब शान के साथ, वे कार्यालय में पदार्पण करते और उनके आते ही सन्नाटा छा जाता। डाक आने के समय का बड़ा खयाल रखते, और चाहे जहाँ होते यथासंभव डाक के समय कार्यालय में अवश्य आ जाते। डाक पहले उन्हीं के पास लाई जाती। उसके आने के पूर्व यदि वे कार्यालय में कोई काम भी करते होते, तो उस काम को छोड़कर पहले वे डाक देख लेते, उसके बाद उस काम को करते। आई हुई डाक में से पहले सब चिट्ठियाँ देखते और उसके बाद समाचार-पत्र पढ़ते। अखबार पढ़ने का उन्हें कुछ ऐसा अभ्यास हो गया था कि बड़े अखबार मिनटों में पढ़ जाते, सिफत की बात यह भी कि इतनी जल्दी पढ़ने पर भी महत्त्वपूर्ण और मतलब की बातें उनकी आँखों से कभी छूटने न पाती थीं। अत्यंत नगण्य स्थानों और समाचारों के बीच से वे मार्के की खबरें ढूँढ़ निकालते थे।

निर्भीकता, ईमानदारी, लोकसेवा और त्याग की भावनाएँ उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थीं। लोकसेवा के नाम पर वे अपना सब कुछ त्याग देने के लिए

तैयार रहते थे और वास्तव में इसीलिए, अंत में, उन्होंने अपने प्राण तक उत्सर्ग कर दिए। यदि उनके जी में यह बात आ जाती कि अमुक काम करने से जनता और देश का हित है, तो वे उसको करने में कभी आगा-पीछा न करते थे। वे देश के बाद ही 'प्रताप' के हिताहित का विचार करते थे। अनेक अवसरों पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह कहा भी था कि 'प्रताप' से मुझे मोह नहीं है, यह इसीलिए निकल रहा है कि इससे देश की कुछ सेवा हो सके। यदि देश का काम बनता हो, तो 'प्रताप' को नष्ट कर देने में भी मुझे आनाकानी न होगी। अपनी इस भावना के कारण उन्होंने जहाँ जनता का अहित देखा, वहाँ कांग्रेस के निर्णय का भी विरोध किया, हाँलाकि उस विरोध से 'प्रताप' की ग्राहक संख्या के घट जाने का पूरा-पूरा डर था।

असहयोग आंदोलन के अवसर पर विद्यार्थियों के शिक्षालयों का बहिष्कार करनेवाले भाग का विरोध ऐसी ही एक घटना थी। कॉउंसिल के निर्वाचन के दिन, जिसमें गणेशजी स्वयं उम्मीदवार थे, कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव किया कि 'प्रताप' कार्यालय बंद करके कर्मचारियों को चुनाव के काम में लगा दिया जाए, परंतु गणेशजी ने उसे कतई स्वीकार न किया। उनका उत्तर यही था कि अपने लिए मैं 'प्रताप' के ग्राहकों का एक दिन खराब क्यों करूँ? कर्तव्यपरायणता उनमें इस कोटि की थी। निर्भीकता तो उनकी प्रसिद्ध है ही। जब-जब कोई शिकायत की बात उनके सामने आई, तब-तब उन्होंने बिना इस बात की चिंता किए कि शिकायत का काम करने वाला व्यक्ति कितना बड़ा और कितना शक्तिशाली है, वे सदा उसका विरोध करने के लिए प्रस्तुत मिले। चंपारन के निलहों की अत्याचार कहानी, रायबरेली का गोलीकांड, नीमूचांणा (अलवर) का अग्निकांड, शिकोहाबाद के दारोगा के अत्याचार आदि का प्रतिवाद उन्होंने जिस ढंग से किया, वह सभी जानते हैं। इसके लिए उन्हें अपनी शक्ति से कहीं अधिक व्यय करना पड़ा और जेल आदि के जो कष्ट भोगने पड़े, वे अलग। फिर भी उन्होंने इस प्रकार की नीति से कभी मुँह नहीं मोड़ा। उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त और भी छोटी-मोटी घटनाएँ प्रायः रोज हुआ करती थीं और वे प्रायः प्रत्येक अवसर पर ईमानदारी के साथ अत्याचारियों की निंदा और उनके अत्याचार का प्रतिवाद करते थे। 'प्रताप' इन्हीं कारणों से पीड़ितों का एक आश्रय स्थान हो गया था।

संपादन कार्य के अपने उत्तरदायित्व का खयाल वे बहुत अधिक रखते थे।

जो समाचार आते उनकी सत्यता की जाँच किए बिना वे छापने न देते थे। कहीं किसी समय कोई असावधानी न हो जाए, इसीलिए वे 'प्रताप' का सब मैटर एक बार ध्यानपूर्वक देख जरूर लेते थे। पिछले दिनों जब 'प्रताप' के संपादन का काम गणेशजी ने प्राय: छोड़ दिया था, और उसका संपादन भार वस्तुत: बालकृष्णजी पर ही था, तब अक्सर पाठ्य सामग्री के प्रेस में जाने के पहले वे यह ज़रूर पूछ लेते थे कि क्या-क्या दिया जा रहा है। कभी-कभी तो समूचा मैटर देखते भी थे। कौन सा समाचार कितने महत्त्व का है, उसके प्रकाशन से पत्र की प्रतिष्ठा और उपयोगिता पर कितना प्रभाव पड़ेगा, जनता की कितनी सेवा हो सकेगी आदि बातों को बड़ी तत्परता से देखते थे। इस प्रकार के उपयोगी समाचार ढूँढ़ निकालने में वे सिद्धहस्त थे। ऐसे विषयों पर जब अन्यान्य पत्रों का ध्यान भी न जाता था, तब वे उस पर लिखते और उस विषय पर नेतृत्व ग्रहण करते थे। ऐसे अवसरों पर उनमें इतना उत्साह रहता था कि वे उन समाचारों की ओर अपने सहायकों का ध्यान आकृष्ट करके ही शांत न हो जाते थे, वरन् स्वयं ही उन पर लेख आदि लिखते थे। जब कभी कहीं से किसी प्रकार से जनता को सताने की कहानियाँ उनके पास आतीं, तब वे उनका प्रतिकार करने के लिए तैयार मिलते।

'प्रताप' अत्याचारियों का प्रसिद्ध विरोधी था, अत: अत्याचार-पीड़ित लोग भी अपनी करुण कहानी सुनाने के लिए 'प्रताप' की शरण लेते थे। भिन्न-भिन्न स्थानों से इस प्रकार के पत्र आया ही करते थे। ऐसे पत्र संपादकों के लिए बड़े खतरनाक होते हैं, परंतु इस भयानकता के डर से गणेशजी उनकी उपेक्षा न करते थे। सबसे पहले तो ऐसे पत्रों के संबंध में वे यह देखते थे कि उनकी बातें कहाँ तक विश्वसनीय हैं। यदि वह पत्र किसी जाने-बूझे संवाददाता का होता, तब तो वे उसको प्रकाशित कर देते थे, अन्यथा पहले अपने परिचित संवाददाता अथवा यदि आवश्यक होता तो अपना विशेष कर्मचारी भेजकर, उसका पता लगाते थे, तब उसे प्रकाशित करते थे। उसके बाद जब तक उस अत्याचार का अंत या सुधार न हो जाता, तब तक उसके विरोध में आंदोलन करते रहते थे। इस कार्य में उन्हें जितनी मुसीबतें उठानी पड़ी थीं, उतनी शायद ही किसी अन्य संपादक को उठानी पड़ी होंगी। हजारों रुपयों का नुकसान, जेल यातना, मानसिक चिंता, शारीरिक श्रम आदि सब कष्ट इसके लिए उन्हें सहने पड़े। धमकी की चिट्ठियाँ और नोटिसें तो प्राय: रोज ही आया करती थीं, परंतु

इन सबके होते हुए भी वे अपने इस कार्य में आजीवन अविचल रहे।

पहले पाठक का हित देखते थे

'प्रताप' से जनता की सेवा ही हो, उससे किसी पाठक का कोई नुकसान न हो, इस बात की वे बहुत चिंता रखते थे। 'प्रताप' में जो मैटर दिया जाता था, उसकी कसौटी ही यही थी। भाषा, विषय, विचार सभी बातों में यह देखा जाता था कि उससे पाठकों को कितना लाभ होगा। 'प्रताप' के अधिकांश पाठक किसान और मज़दूर थे, अतः गणेशजी इस बात का खयाल रखते थे कि जो विषय दिए जाएँ, वे इतने सरल हों, और जो भाषा लिखी जाए, वह इतनी सुबोध हो, तथा जो विचार व्यक्त किए जाएँ, वे इतने सुलझे हुए हों कि मामूली किसान और मज़दूर भी उसे समझ सके। साथ ही, वे भाषा में विचारों के साथ भावुकता का पुट देने के भी पक्षपाती थे। संभवतः इसलिए कि भाव जनता के हृदय को स्पर्श करते हैं और उनके कारण लेख पढ़ने में अधिक रोचक मालूम होते हैं। जो हो, उनकी भाषा में भावों और विचारों का बड़ा सुंदर सामंजस्य रहता था।

विज्ञापनों की सत्यता परख लेते थे

अपने पाठकों की हानि-लाभ का विचार तो वे यहाँ तक रखते थे कि विज्ञापन भी वे बहुत सोच-विचार कर छापते थे। अश्लील, गंदी बातों का प्रचार करने वाला अहितकर विज्ञापन वे 'प्रताप' में देने ही न देते थे। साथ ही, ऐसे विज्ञापन भी न देते थे, जिनमें लोग झूठी बातें कहकर जनता को ठगने का उद्योग करते हैं। वे जिस विज्ञापनदाता के संबंध में शिकायत सुनते, उसकी सच्चाई की जाँच करते और यदि वास्तव में वह विज्ञापनदाता झूठा साबित होता, तो उसी समय, बिना इस बात का विचार किए हुए कि उसमें 'प्रताप' को कितनी आर्थिक कठिनाई उठानी पड़ेगी, वे उसका विज्ञापन छापना बंद कर देते थे।

संपादकीय कार्य करते हुए जहाँ वे 'प्रताप' के पाठकों के हित का खयाल रखते थे, वहाँ अपने लेखकों और साहित्य-सेवियों का भी बराबर स्मरण करते थे। जब कभी कोई कष्ट में दिखलाई पड़ता, वे यथाशक्ति उसकी सहायता अवश्य करते। साहित्यसेवियों की सहायता करना भी कोई आसान काम नहीं होता। स्वाभिमान की बड़ी सूक्ष्म भावना उनमें रहती है। वे किसी का एहसान उठाने के लिए सहसा तैयार नहीं होते, परंतु, गणेशजी सहायता करने का ढंग

जानते थे, उनकी इस सुकुमार भावना की रक्षा करते हुए ऐसे ढंग से वे उनकी सहायता करते थे जिससे उनकी उस भावना को ठेस भी न लगने पाती और उनका काम भी निकल जाता। ऐसे अवसरों पर गणेशजी तन, मन, धन से सहायता के लिए प्रस्तुत रहते थे। ऐसी सहायता के अतिरिक्त लोगों को कर्तव्यनिष्ठ बनाने और उन्हें अच्छे रास्ते पर लगाने में भी गणेशजी बड़े दक्ष थे। अपने जीवन के छोटे से काल में भी वे बहुत से नवयुवकों को प्रोत्साहित करके योग्य लेखक और कार्यकर्ता बना गए।

अपने सहयोगी समाचार-पत्रों के प्रति भी वे वैसी ही उदारता से काम करते थे। दो समाचार-पत्रों में, विशेषकर एक ही क्षेत्र से निकलने वाले दो समाचार-पत्रों में प्रायः प्रतिद्वंद्विता के भाव आ जाते हैं। गणेशजी के सामने भी ऐसे प्रसंग आए थे, परंतु ऐसे मौकों पर उन्होंने सदा उदारता से ही काम लिया। प्रत्येक पत्र के साथ उन्होंने सहानुभूति दिखाई और आवश्यकता पड़ने पर धन-जन से उनकी सहायता भी की। जब इस प्रकार के पत्र प्रकाशित होते थे, तो 'प्रताप' में उनकी अच्छी से अच्छी आलोचना की जाती थी, उनका विज्ञापन छापा जाता था तथा और भी जो सहायता संभव होती थी, की जाती थी। इन कामों में उन्होंने कभी संकीर्णता नहीं दिखाई। समाचार-पत्रों के परिवर्तन के संबंध में तो वे इतने उदार थे कि जो पत्र परिवर्तनार्थ आता था, उसका परिवर्तन तुरंत स्वीकार कर लेते थे। यह विचार न करते थे कि उससे 'प्रताप' को कोई लाभ न होगा, अथवा वह बहुत नगण्य सा पत्र है, उसके बदले में 'प्रताप' क्यों दें। जब कोई नए पत्र निकलते थे तब उनमें और भी उत्साह आता था, और 'प्रताप' को और भी अधिक सुंदर और उपयोगी बनाने का वे प्रयत्न करते थे। 'प्रताप' के ग्राहक बढ़ें, इस बात की उन्हें चिंता निरंतर रहती थी, (सन् 1923 में साप्ताहिक 'प्रताप' की ग्राहक संख्या 14000 हो गई थी) परंतु इससे अधिक चिंता उन्हें इस बात की रहती थी कि उसका आदर्श क्षीण न होने पाए।

गणेशजी कैसे लिखते थे

गणेशजी के मिलने वालों की संख्या बहुत थी। जब वे प्रताप कार्यालय में बैठते, तब भी उनसे छुट्टी न पाते थे, अतः आवश्यक काम के समय अक्सर अपने कमरे के दरवाजे बंद करवा लेते थे। बंद कमरे में बैठकर दत्तचित्त वे संपादकीय लिखते थे। जब वे उमंग और उत्साह के साथ लिखते, तो बड़ी

तेजी से लिखते थे। पन्ने के पन्ने लिखते चले जाते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते, त्यों-त्यों मालूम होता मानो उनमें और भी अधिक शक्ति आ रही है। प्रारंभ में तो इतनी तेजी न होती थी, परंतु जहाँ दो चार पन्ने लिख गए, फिर तो भावों और विचारों का एक स्रोत सा बह निकलता और उनकी लेखनी भी मेल ट्रेन की भाँति चलने लगती। उधर ज्यों-ज्यों लिखने में तेजी आती, त्यों-त्यों एक ओर मार्जिन का स्थान अधिक छूटता जाता, और अब अक्षर, जो प्रारंभ में छोटे और अधिक सुंदर होते थे, बड़े-बड़े और कुछ कम सुंदर होने लगते थे। उस समय उनके लिखे हुए एक पन्ने में मुश्किल से छापे की चार-छह लाइनें आती थीं। यह अवस्था उस समय होती थी, जब वे उमंग के साथ लिखने बैठते थे, परंतु एक अवस्था और भी आती थी। जब उतनी उमंग न होती, तब वे पहले तो अपने आप लिखने की कोशिश करते थे, फिर उससे अधिक काम होता हुआ न देख अपने किसी सहकारी को पास बुला लेते और उसे बोलकर लिखते थे, परंतु हर हालत में लिखा हुआ मैटर चाहे उनका खुद का लिखा हुआ होता, चाहे सहकारी से लिखवाया हुआ—वे दुहराते अपने आप ही थे। फिर उसका प्रूफ भी एक बार सरसरी निगाह से स्वयं ही देख जाते थे। संपादकीय विषयों के चयन में तथा समाचारों के चयन में भी वे अधिक महत्त्व विदेशी समाचारों को न देते थे। किसी महत्त्वपूर्ण समाचार की उपेक्षा करते हों, यह न था, प्रत्युत वे प्रति सप्ताह विदेशों के महत्त्वपूर्ण समाचारों का संकलन करवाते और उन पर टिप्पणियाँ आदि भी लिखते थे, परंतु भारतवर्ष के समाचारों पर उनका ध्यान अधिक रहता था। वे कहा भी करते थे कि हमको अपने देश से पहले सरोकार है, उसके बाद दूसरे देशों से।

मिलने के लिए आने वालों के साथ उनका व्यवहार बड़ा मधुर था। अधिकांश में उनके पास दुःखी और सताए हुए लोग ही आते थे। उनके साथ बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे और उनकी सेवा के लिए प्रयत्न भी करते थे। उनके पास आकर कोई बिरला ही अभागा विमुख होकर लौटा होगा। सताए जानेवाले आदमियों की दीन और असहायावस्था के कारण वे आदर एवं सत्कार में कमी न करते थे। वे उन्हें बड़े प्रेम और आदर के साथ बुलाते और उनसे बातचीत करते थे। अपने अन्य मित्रों के साथ भी उनके व्यवहार में प्रेम और आदर का यथेष्ट भाव रहता था। पूज्य गुरुजनों के साथ तो उनकी नम्रता दर्शनीय और अनुकरणीय थी। वे उनके आते ही तुरंत अपनी कुरसी छोड़कर

दूसरी कुरसी पर बैठ जाते और जब तक वे गुरुजन वहाँ रहते, उनके साथ आवश्यक वार्तालाप किया करते। बातचीत का ढंग भी उनका प्रभावशाली था। जिस विषय पर बात करते, पूर्ण विश्वास और अधिकार की भावना के साथ करते। विवाद के समय उनमें और भी तेजस्विता आ जाती थी। अपनी बात का प्रतिवाद सुनकर वे बड़े तपाक के साथ कहते, ''ऐसा नहीं होगा। क्या कहते हैं आप! यह जरूर होगा!'' इस विश्वास और दृढ़ता के साथ कहे गए विचारों का फिर विरोध अधिकांश में संभव ही न होता था। उस समय उनके मुखमंडल पर एक दर्शनीय तेज आ जाता था। उनकी प्रतिभा और उनका तेज उस समय कुंदन की भाँति निखर उठता था।

व्यवसाय की ईमानदारी के रक्षक थे

नीति के विचार से सरकार के साथ उनका कोई मेल न था। इतना ही क्यों, वह तो उनको कुचलने ही में तत्पर रही। फिर भी कोई बिरला ही सरकारी कर्मचारी ऐसा रहा होगा, जो हृदय से उनके साथ सहानुभूति न रखता रहा हो। जो लोग उनके सत्कार्यों से परिचित थे, उन सबकी सहानुभूति उन्हें प्राप्त थी, परंतु इस सहानुभूति से उन्होंने कभी कोई बेजा लाभ नहीं उठाया। सरकारी महकमों की बहुत सी बातें उन्हें होने से पहले ही मालूम हो जाती थीं, परंतु वे उनके प्रकाशन के लिए उतावली न करते थे। समय पर और उचित रूप से ही वे उनका प्रकाशन करते थे। वे अपने व्यवसाय की ईमानदारी के बड़े पक्के अनुयायी थे। उनके पत्र में, ईश्वर की कृपा और उनके परिश्रम से वह शक्ति आ गई थी कि वे आसानी के साथ बड़े-बड़े काम कर सकते। किसी बात का विरोध कर उसके प्रतिकूल वातावरण तैयार कर सकते थे और किसी का समर्थन करके उसकी बुराइयों को दबा भी सकते थे, परंतु उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग कभी नहीं किया। यह हो सकता है कि किसी विशेष अवसर पर उनका निर्णय गलत हुआ हो, यद्यपि ऐसे प्रसंग भी शायद ही मिलें, परंतु यह असंभव था कि कभी उन्होंने जानबूझ कर उलटी बात कही या की हो। दूसरों से रुपए ऐंठने के लिए समाचार-पत्रों में कहीं किसी पर मिथ्या दोषारोपण किया जाता है और कहीं किसी की मिथ्या चाटुकारिता की जाती है, परंतु गणेशजी इस प्रकार के छल-कपट से सदा दूर रहते थे। उन्होंने कभी किसी की कोई रिश्वत स्वीकार नहीं की और न कभी किसी

के मुलाहिजे या दबाव में आकर किसी न्याययुक्त बात की अवहेलना ही की। इसके विपरीत ऐसे प्रसंग कई बार आए थे, जब सत्य और न्याय की रक्षा के लिए उन्हें अपने हितचिंतकों और सहायकों का भी विरोध करना पड़ा था, परंतु सबकुछ होते हुए भी उन्होंने सत्य और न्याय का पक्ष कभी नहीं छोड़ा। ईमानदारी को वे सर्वोपरि समझते थे। इस नीति से उन्होंने जन्म भर काम लिया। वे वास्तव में ईमानदार अखबारनवीसी के उज्ज्वल उदाहरण थे। यह हिंदी का दुर्भाग्य है कि उसका ऐसा गुणवान संपादक असमय ही उठ गया।



हमारा प्रमाद

बनारसीदास चतुर्वेदी

गणेशजी की शहादत को साढ़े तीस बरस हो गए, पर हम उनका साहित्यिक श्राद्ध अब तक नहीं कर सके। इसमें अपराध हम सभी का है और उसे हम गणेशजी के उत्तराधिकारियों के सिर पर डालकर अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते। यद्यपि कानपुर वालों ने फूलबाग का नाम गणेश उद्यान लिखकर और मेमोरियल हॉल को गणेश भवन के नाम से पुकारकर तथा मेडिकल कॉलेज को उन्हीं का नाम देकर अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए कुछ प्रयत्न किया है और अभी हाल में वहाँ विद्यार्थी स्मारक भवन की भी नींव रखी गई है, यह स्मारक पर्याप्त नहीं है, जब तक गणेशजी के लेखों, उनकी टिप्पणियों और उनके भाषणों को एकत्र कर नहीं छपाया जाता, तब तक श्राद्ध अधूरा ही रहेगा।

जहाँ तक लेखन-शैली का प्रश्न है, निस्संदेह वे एक अत्यंत प्रभावशाली लेखक थे। यदि उनके अग्रलेख और टिप्पणियाँ आज से 25-30 बरस पहले छप गई होतीं, तो हिंदी पत्रों की भाषा पर उनका जबरदस्त प्रभाव पड़ता। गणेशजी के बाद उन जैसी भाषा लिखने वाला दूसरा कोई पत्रकार नहीं हुआ। यद्यपि 'नवीन' जी बहुत प्रभावशाली गद्य लेखक हैं, उनके लेखों में कभी-कभी संस्कृत शब्दों का इतना बाहुल्य हो जाता था कि उनका प्रसाद गुण कम रह जाता था। बंधुवर पालीवालजी भी आज से बीस-पचीस बरस पहले जोरदार भाषा लिखते थे और उनके कई लेख जैसे 'मत चूके चौहान' इत्यादि उच्च कोटि के गद्य के नमूने माने जा सकते हैं। खेद की बात है कि विविध प्रकार के आंदोलनों में पड़ने के बाद और समय की कमी के कारण पालीवालजी की

शैली में ओज नहीं रह गया, जो पहले पाया जाता था। अब भी समय है, जबकि गणेशजी के लेखों का संग्रह किया जा सकता है, पर यह काम गणेशजी के उत्तराधिकारी ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके द्वारा संपादित 'प्रताप' की फाइल अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती।

लॉ मिज़रेबल का अनुवाद

यह बड़े हर्ष की बात है कि इतने वर्षों के बाद गणेशशंकरजी द्वारा अनुवादित 'ला मिज़रेबल' अब छपने जा रहा है। इस प्रसंग में हमें एक घटना याद आ रही है। साहित्य अकादमी की एक मीटिंग हो रही थी, जिसमें मौलाना अबुलकलाम आज़ादजी उपस्थित थे। मौलाना साहब ने मीटिंग में 'लॉ मिज़रेबल' के उर्दू अनुवादक को कुछ आर्थिक सहायता देने की बात कही थी। ठीक मौका देख कर मैंने मौलाना साहब की सेवा में निवेदन किया कि गणेशजी द्वारा अनूदित वह पुस्तक अभी तक नहीं छप पाई। यह सुनकर मौलाना साहब को बड़ा ताज्जुब हुआ और उन्होंने फौरन ही पूछा, "गणेशजी की चीज अब तक कैसे पड़ी रही?" मैंने जवाब दिया, "यह हम लोगों की लापरवाही है।" मौलाना साहब ने तुरंत ही साहित्य अकादमी के सेक्रेटरी को आदेश किया कि उस अनुवाद के बारे में लिखा-पढ़ी की जाए। बहुत-कुछ पत्र-व्यवहार के बाद वह अनुवाद अब साहित्य अकादमी को प्राप्त हो गया है और गणेशजी की शहादत के 31 बरस बाद वह छपेगा।

उस अनुवाद को पूरा करने में गणेशजी को कई बरस लगे थे। श्रद्धेय टंडनजी कहते थे कि जेल में गणेशजी उसका अनुवाद कर रहे थे। गणेशजी द्वारा अनूदित ग्रंथ का 31 बरस तक यों ही पड़े रहना हम सबके लिए घोर लज्जाजनक है। इस बीच उस ग्रंथ का एक हिंदी अनुवाद छप भी चुका है, पर गणेशजी का अनुवाद तो निराला ही होगा। आशा है कि साहित्य अकादमी अब बिना विलंब उस ग्रंथ को अच्छे से अच्छे रूप में छपवा देगी।



हमारा प्रमाद

धुरंधर संपादकाचार्य

देवव्रत शास्त्री

एक बार विद्यार्थीजी कलकत्ता गए हुए थे। वहाँ एक दिन अपने मित्र स्वर्गीय ईश्वरीप्रसादजी शर्मा के यहाँ पहुँचे। बातचीत होने लगी। विद्यार्थीजी ने शर्माजी से कहा, ''प्रताप' की सहायता के लिए अर्थ संग्रह करने आया हूँ। दैनिक 'प्रताप' में बड़ा खर्च है। इतने दिनों से कलकत्ते में गोष्ठी जमाए बैठे हो, कुछ दिलवाओ। लेकिन लेने-देने की बात तो पीछे होगी, पहले रसगुल्ले खिलाओ। देखता हूँ, दैनिक 'प्रताप' की पूरी फाइल तुम्हारे पास है। सब जुगाकर रखते आ रहे हो क्या?'' शर्माजी ने रुपया निकालकर श्री शिवपूजन सहाय (जो उन दिनों यहीं रहते थे और 'मतवाला' का काम करते थे) को दिया और कहा कि ट्राम से जाकर बाजार से रसगुल्ले ले आओ। विद्यार्थीजी ने श्री शिवपूजन सहाय की हथेली से रुपया उठा कर अपनी जेब में डालते हुए कहा, ''इनको क्यों हैरान करोगे, मैं रास्ते में उधर खा लूँगा।' अट्टहास से कमरा गूँज उठा। इसके बाद वे श्री शिवपूजन सहाय से पूछने लगे, '''माधुरी' को क्यों छोड़ आए भाई? 'मतवाला' कौन-कौन है? उसे हिंदी का विलायती 'पंच' बनाओ। कभी-कभी वह 'मतवाला' बेतरह ढाल लेता है। गंदे और टुच्चे मजाक से जनता की रुचि भ्रष्ट होती है, शुद्ध विनोद से साहित्य परिपुष्ट होता है। निर्दोष व्यंग्य-विनोद से भी तो मतवालापन निभ सकता है। कभी-कभी सनककर कीचड़ उछाल देता है। हँसी तो जरूर आती है, मगर साथ ही घृणा भी पैदा होती है।'' श्री शिवपूजनजी ने कहा,'' एक बार पधारकर 'मतवाला' मंडल को भी कृतार्थ कीजिए। आज या कल, किसी समय जब अवकाश हो।'' विद्यार्थीजी ने खेद प्रकट करते हुए कहा, ''माफ करो भाई, फिर कभी आना हुआ तो कोशिश

करूँगा। इस बार तो बिलकुल समय नहीं है। और मुझे वहाँ ले जाकर क्या करोगे? मैं कोई साहित्य-सेवी थोड़े हूँ, मैं तो एक मामूली किसान हूँ, बस। किसान का दिल्लगी से क्या संबंध! वह तो रोटी के लिए परेशान रहता है। मरभुक्खे को दिल्लगी नहीं सूझती, वह तो बाबुओं के दिल बहलाव की चीज है। मैं बाबू नहीं हूँ, खेतिहर ठेठ किसान! क्यों शर्माजी?'' शर्माजी, ''आप जो हैं, सो हम लोग जानते हैं, दुनिया जानती है, आप नहीं जान सकते।'' विद्यार्थीजी, ''ऐसा'', शर्मा जी ''हाँ, और क्या?'' विद्यार्थीजी, ''अच्छा, तो तुम्हीं बताओ, मैं क्या हूँ—सच कहना, ईमान से?'' शर्माजी, ''आप किसान नहीं, किसानों के अन्नदाता हैं, पीड़ितों और त्रस्तों के भय-त्राता हैं और हैं धुरंधर संपादकाचार्य।''

विद्यार्थीजी—''धुरंधर···? हा-हा-हा! लेकिन भई, मैं 'अन्नदाता' नहीं हूँ। अन्नदाता नहीं हूँ। अन्नदाता लोग तो राजपूताने के महलों में—जनानखानों में चहेतियों के बीच में रहते हैं।'' विद्यार्थीजी की यह बात सुनकर सभी खिलखिला उठे थे।



एक दिन की बात

छैलबिहारी दीक्षित 'कंटक'

बात संभवत: 1928 की है। मैं उन दिनों साप्ताहिक 'प्रताप' के संपादकीय विभाग में काम करता था। 'प्रताप' शनिवार की दोपहर को छपने लगता था। सौभाग्य से उस दिन शनिवार ही था। मैं भी कॉलेज से कुछ जल्दी आ गया था। सोचा कि प्रेस का काम निबटा लूँ। प्रेस गया और चिट्ठी-पत्री का स्तंभ लेकर बैठ गया। चिट्ठी-पत्री के उसी बंडल में एक तार भी था। मैंने अभी तार को हाथ लगाया ही था कि गणेशजी कहीं से टहलते हुए आए और आकर पीछे खड़े हो गए। मैं अपने काम में तल्लीन रहा, लेकिन तार पर दृष्टि पड़ते ही वे पूछ बैठे, "कब आया?" मैंने कहा, 'मुझे तो अभी इसी चिट्ठियों के बंडल के साथ मिला है।'

फिर क्या था, छान-बीन प्रारंभ हो गई। फलस्वरूप पता चला कि तार शुक्रवार को ही आ गया था और जिन सज्जन की जिम्मेदारी थी, उनकी लापरवाही के परिणामस्वरूप पड़ा रह गया। उन महाशय को तत्काल याद किया गया और आते ही उन पर अच्छी-खासी बौछार हुई।

तार पंडित रामगोविंद त्रिवेदी का था, जो उन दिनों फिजी आदि द्वीपों के दौरे पर वृहत्तर भारत की खोज में गए हुए थे। वहाँ उन्होंने कुछ ऐसी बातें कह दी थीं जो राष्ट्रीय हितों के विपरीत थीं। गणेशजी ने उन्हीं सब बातों को लेकर संपादकीय टिप्पणी लिखी थी। उनका तर्क था कि यदि टिप्पणी लिखते समय तार मुझे मिल गया होता, तो टिप्पणी का स्वरूप ही कुछ और होता। इन सारे कांडों का मेरे जैसे नौसिखिए पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। साथ ही मुझे गणेशजी की सूक्ष्म दृष्टि का पता चला।

सबसे बड़ी बात तो यह समझ में आई कि एक संपादक के लिए कितना प्रखर और गहरी सूझबूझ का होना आवश्यक है। जिस बात को साधारण व्यक्ति अधिक महत्त्व नहीं देता, उसे ही पैनी सूझ-बूझ का संपादक महत्त्वपूर्ण मानता है।

गणेशजी में जहाँ अनेक प्रकार की खूबियाँ थीं, वहीं वे संपादक भी उच्च कोटि के और प्रखर थे। 'प्रताप' के संपादकीय अग्रलेख ही इस बात के ज्वलंत साक्षी हैं। मुझे गर्व है कि गणेशजी जैसे महापुरुष के चरणों में बैठकर कुछ दिन काम करने का सहज सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज वे नहीं रह गए, परंतु उस समय की अनेक घटनाएँ मुझे आजीवन याद रहेंगी और उनका स्मरण समय-समय पर प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

●

गणेशजी की याद में

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी को हम सब गणेशजी कहा करते थे, और सचमुच मेरे लिए तो वे राजनीति, पत्रकारिता और सार्वजनिक जीवन के गणेशजी ही थे। अनेक विद्वानों का मत है कि संसार के बड़े आदमी अनिवार्यत: भले नहीं होते और बहुधा भले आदमी बड़े नहीं हो पाते, लेकिन गणेशजी बड़े एवं भले दोनों थे या यों कहना अधिक सही होगा कि वे भले होते हुए भी बड़े हो गए। ऐसे बड़े कि महात्मा गांधी व त्यागमूर्ति पंडित मोतीलाल नेहरू और जवाहर भाई ही नहीं, पंजाब केसरी लाला लाजपतराय और महामना मदनमोहन मालवीय भी उनको अत्यंत स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे थे।

गणेशजी का जीवन तप, त्याग और नि:स्वार्थ सेवा का सुंदर समन्वय था। वक्ता, लेखक, मनुष्य और पत्रकार सबकी दृष्टि से वे बड़े थे। हिंदी में जनसाधारण के हृदय को अपनी ओर खींच लेने वाले उन जैसे वक्ता अंगुलियों पर ही गिने जा सकेंगे। उनकी लेखन शैली उनकी अपनी थी। ओजपूर्ण और स्फूर्ति प्रदायक, सरल और सुबोध होने के साथ-साथ मस्तिष्क और हृदय दोनों को गुदगुदा देनेवाली पत्रकारिता गणेशजी के लिए व्यवहार्य कभी नहीं थी। उनके लिए वह सदैव राष्ट्र धर्म का प्रचार करने का साधन मात्र रही। इस दृष्टि से भी वे हिंदी पत्रकार जगत् के गणेशजी थे। उन दिनों राष्ट्रीय जन-जागरण में जो काम गणेशजी के 'प्रताप' ने किया, वह शायद ही किसी दूसरे पत्र ने किया हो। सुदूर पहाड़ों तक में जब साप्ताहिक 'प्रताप' पहुँचता था, तो उसे पढ़ने और सुनने के लिए लोग डाकखाने पर उसी श्रद्धा-भक्ति के साथ इकट्ठे होते थे जिस तरह धार्मिक कथाएँ सुनने के लिए।

प्रारंभ में 'प्रताप' का सब काम, प्रूफरीडरी और संपादकीय से लेकर पते लिखने तथा डिस्पैच करने तक का काम गणेशजी एवं उनके सहयोगी शिवनारायण मिश्र को ही करना पड़ता था। बहुत कम लोगों को यह मालूम होगा कि महान् अर्थसंकट में इतना अधिक परिश्रम करने के कारण ही गणेशजी के स्वास्थ्य का सर्वनाश हुआ और इन सब बातों के होने के साथ ही वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रचंड प्रहारों के सामने कभी नहीं झुके। जमानतें और पत्र के बायकाट तथा अनेक देशी राज्यों में पत्र के प्रवेश-निषेध एवं मानहानि आदि के मुकदमों की धमकियों की कौन कहे, जिस प्रहार के सामने बड़े-बड़े और प्रसिद्ध पत्र तक झुक गए उसको भी गणेशजी ने वीरतापूर्वक सहा तथा उस सिलसिले में जेल की नारकीय यातनाएँ भी सहीं।

अपने एक भाषण के कारण जेल जाते हुए उन्होंने जिस त्याग की भावना का परिचय दिया था, उससे प्रेरित होकर मैंने 'प्रताप' में 'लड़ाई का पक्षपाती' शीर्षक एक लेख लिखा था। उस लेख में मैंने बताया कि जहाँ महाराणा प्रताप बिल्ली के रोटी ले जाने पर बेटी को भूख से बिलखती देखकर अकबर को पत्र लिख गए थे, वहाँ गणेशजी पिता और गर्भवती पत्नी की मृत्यु की आशंका से भी विचलित नहीं हुए।

मानवीय सहृदयता की दृष्टि से भी गणेशजी अद्वितीय महामानव थे। राजनीति में अपने व्यक्तिगत विरोधियों की सहायता करना उनके लिए अपने दैनिक जीवन का एक अनिवार्य अंग था। महात्मा गांधी तथा उनकी अहिंसा में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हुए भी अपनी जान जोखिम में डालकर वे हिंसा से काम लेने वाले क्रांतिकारियों की सहायता करते थे। शहीद शिरोमणि भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, शौकत उस्मानी आदि अनेक क्रांतिकारी 'प्रताप' कार्यालय में गणेशजी की छत्तछाया में आश्रय पाते थे।

गणेशजी ने न जाने कितने लेखक और पत्रकार बना डाले! बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि संसार-प्रसिद्ध हिंदी कहानी और उपन्यास लेखक प्रेमचंदजी को हिंदी लिखने के लिए गणेशजी ने ही प्रेरित और प्रोत्साहित किया था। सही बात यह है कि स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की तरह गणेशजी भी केवल एक व्यक्ति ही नहीं थे, वे स्वयं एक संस्था थे।

अपने लगभग 60 वर्ष के जीवन में मुझे आज तक गणेशजी जैसा महामानव नहीं मिला। इस छोटे से लेख में तो इतना ही कह सकता हूँ कि जब कभी

मुझे गणेशजी के गुणों की याद आ जाती है, तब श्रीमद्‌भगवत गीता का अंतिम श्लोक याद आ जाता है। संजय की तरह मेरा भी यही हाल होता है कि गणेशजी के अद्‌भुत मानवीय रूप को स्मरण करके मुझे महान् विस्मय तो होता है, हृदय में बार-बार हर्ष की लहरें भी हिलोरें लेने लगती हैं।



हिंदी पत्रकारिता के कीर्तिमान

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

इलाहाबाद के 'लीडर' के 21 फरवरी, 1924 के अंक में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के बारे में एक लेख छपा था, जिसमें कहा गया था, ''प्रताप' के उस प्रभाव के पीछे क्या है? गणेशशंकर विद्यार्थी का व्यक्तित्व। अपने व्यवहार में वे बिलकुल कृत्रिमता नहीं रखते, उनका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुखमंडल से उनके दीर्घ कष्ट सहन और पारदर्शी सच्चाई की आभा छिटकती है। यह गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व का अपना आकर्षण है। उन्होंने बहुत कष्ट उठाए हैं, अनेकों मुसीबतों का सामना किया है और उनके जीवन में असंख्य दुखप्रद दिवस तथा चिंताकुल रजनी व्यतीत हुई हैं। उन्हें तीन बार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट सहिष्णुता में उनका रेकॉर्ड अद्वितीय है।

''स्वार्थ-भावना से रहित, दरिद्र नारायण की सेवा के सिवा जिसकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं और जिसमें अदम्य साहस है अत्याचार तथा अन्याय का विरोध करने का चाहे फिर वे अत्याचार किसी की ओर से क्यों न हों, पूँजीपतियों या सरकार की ओर से अथवा अनियंत्रित मानव समूह द्वारा, ऐसे 'प्रताप' के योद्धा संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी भारत की भावी शक्तिशाली पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं।''

यह लेख जिस समय छपा, उस समय 'लीडर' के संपादक श्री सी.वाई. चिंतामणि थे, जो उस समय देश के सबसे अधिक योग्य और शक्तिशाली संपादक माने जाते थे। उस समय तक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी न तो अखिल भारतीय कांग्रेस की स्वागतकारिणी समिति के मंत्री हुए थे और न प्रदेश कॉउंसिल

के सदस्य अथवा प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष। उनका साप्ताहिक 'प्रताप' भी दस वर्ष पहले ही प्रकाशित हुआ था। लेखक थे श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, जो उस समय महात्मा गांधी के साबरमती आश्रम में रह रहे थे और जो पूर्वी अफ्रीका में पूर्वी अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस के अवसर पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में जा रहे थे। तब तक वे स्वयं बहुत विख्यापित व्यक्ति हो चुके थे और महात्मा गांधी, गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर, श्री सी.एफ. एंड्रयूज और श्रीनिवास शास्त्री जैसे विश्व विख्यात महापुरुषों के संपर्क में आ चुके थे, परंतु उन्होंने श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की शक्ति को उसी समय ठीक प्रकार से आँक लिया था। निःसंदेह श्री गणेशशंकर विद्यार्थी हिंदी की नई शक्तिशाली पत्रकारिता के प्रतीक भी थे और उन्नायक भी।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता समाचार-पत्र कार्यालय में बैठकर अपनी बात कह देने तक सीमित नहीं थी। उन्होंने पत्रकारिता को जनता की सेवा तथा जन-जागरण के माध्यम के रूप में वरण किया था और यही कारण था कि अपने सिद्धांतों को कार्यान्वित करने के लिए वह महान् बलिदान भी करना पड़ा, जिसके बारे में महात्मा गांधी ने कहा था कि उनकी मृत्यु से ईर्ष्या होती है। यह बात दूसरी है कि महात्माजी को भी उसी प्रकार की मृत्यु का वरण करना पड़ा।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने जब अपने पत्रकारिता के आदर्श निर्धारित किए, उस समय उनके सामने देश में कोई ऐसे बड़े रास्ते नहीं थे, जिनमें से उन्हें एक चुन लेना था। कह सकते हैं कि उन्होंने अपना मार्ग स्वयं बनाया। साप्ताहिक 'प्रताप' के पहले अंक में, जो 9 नवंबर 1913 को देवोत्थानी एकादशी के शुभ मुहूर्त में जन्मा था, उन्होंने जो अग्रलेख लिखा था, वह केवल 'प्रताप' के लिए ही नहीं, हमारे देश के लिए, नए युग की एक नई कल्पना थी। उस समय ही उन्होंने पत्रकारिता के और राष्ट्र के बारे में जो कल्पना की थी उसमें आज भी सुधार की आवश्यकता नहीं है। वह वास्तव में युग दृष्टा और युग निर्माता थे। उन्होंने लिखा था, "आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं को धारण करके और अपने उद्देश्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर 'प्रताप' कर्मक्षेत्र में आता है। समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है, और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा एवं बहुत ज़रूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं। उन्नति से हमारा अभिप्राय देश की कृषि, व्यापार, विद्या, कला, वैभव, मान,

बल, सदाचार और सद्चरित्रता की वृद्धि से है। भारत को इस उन्नतावस्था तक पहुँचाने के लिए असंख्य उद्योगों, कार्यों और क्रियाओं की आवश्यकता है। इनमें से मुख्यत: राष्ट्रीय एकता, सुव्यवस्थित, सार्वजनिक और सर्वांगपूर्ण शिक्षा का प्रचार, प्रजा का हित और भला करने वाली सुप्रबंध और सुशासन की शुद्ध नीति का राज्य कार्यों में प्रयोग, सामाजिक कुरीतियों, अत्याचारों का निवारण, आत्मावलंबन और आत्मानुशासन में दृढ़ निष्ठा है। हम इन्हीं सिद्धांतों और साधनों को अपनी लेखनी का लक्ष्य बनाएँगे। हम अपनी प्राचीन सभ्यता और जातीय (राष्ट्रीय) गौरव की प्रशंसा करने में किसी से पीछे न रहेंगे, अपने पूजनीय पुरुषों के साहित्य, दर्शन, विज्ञान और धर्म-भाव का यश सदैव गाएँगे। किंतु अपनी जातीय निर्बलताओं और सामाजिक कुसंस्कारों तथा दोषों को प्रकट करने में हम कभी बनावटी जोश या मसलहत वक्त से काम न लेंगे, क्योंकि हमारा विश्वास है कि मिथ्या अभिमान जातियों के सर्वनाश का कारण होता है। किसी की प्रशंसा य: अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी, हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी। सत्य और न्याय हमारे भीतरी पथ-प्रदर्शक होंगे और सरकारी कानून बाहरी। सांप्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से 'प्रताप' सदा अलग रहने की कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, व्यक्ति या मत के पालन-पोषण, रक्षा या विरोध के लिए नहीं हुआ है, किंतु उसका मत स्वतंत्र विचार और उसका धर्म सत्य होगा।

''हम अपने देश और समाज की सेवा के पवित्र काम का भार अपने ऊपर लेते हैं। हम अपने भाइयों और बहनों को उनके कर्तव्य और अधिकार समझाने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। राजा और प्रजा में, एक जाति और दूसरी जाति में, एक संस्था और दूसरी संस्था में बैर और विरोध, अशांति और असंतोष न होने देना हम अपना परम कर्तव्य समझेंगे। हम अपने देशवासियों को उन सब अधिकारों का पूरा हक़दार समझते हैं जिनका हक़दार संसार का कोई भी देश हो सकता है। जिस इंग्लैंड की छत्रछाया में हम हैं, वह अपनी उदारता, स्वातंत्र्यप्रियता और न्यायपरता में इस भू-मंडल पर अपना सानी नहीं रखता। भारत का कल्याण ब्रिटिश अध्यक्षता और सुशासन के द्वारा हो सकता है। इंग्लैंड की उदारता से हमारे लिए रास्ते हैं। अतएव, हमारी यह कोशिश होगी कि हमारे देशवासियों के रास्ते से वे तमाम रुकावटें और कठिनाइयाँ दूर हो जाएँ, जिनके कारण हिंदुस्तानी उच्च से उच्च पद और मान को नहीं पा सकते। जिन देशों

में अंग्रेजी झंडा फहराता है, उनमें एक ही राजा की प्रजा होने के नाते से, हमारे समान अधिकार होने चाहिए। हम सरकार और प्रजा के संबंध को ज़्यादा मजबूत बनाने का यत्न करेंगे। प्रजा की सच्ची शिकायतों और तकलीफों को गवर्नमेंट तक पहुँचाने में हम कभी किसी से पीछे न रहेंगे। इस काम के लिए हमें अपने अस्तित्व तक की परवाह नहीं होगी, क्योंकि हम अपना होना और न होना उस दिन बराबर मानेंगे, जिस दिन हम अपने आपको इस काम के लिए तैयार न पाएँगे। इसके साथ ही हम यह भी न चाहेंगे कि गवर्नमेंट की इच्छाओं और मंतव्यों के उलटे और मनमाने मतलब निकालकर प्रजा को भड़काया और भटकाया जाए। हम न्याय में राजा और प्रजा दोनों का साथ देंगे, परंतु अन्याय में दोनों में से किसी का भी नहीं। हमारी यह हार्दिक अभिलाषा है कि देश की विविध जातियों, संप्रदायों और गणों में परस्पर मेल-मिलाप बढ़े। जो उनकी कमज़ोरी हो दूर की जाए। जो बलवान जाति अपनी ताकत के भरोसे दूसरी कमज़ोर जाति को दबाती या कुचलती है, वह अत्याचार करती है। उसके जुल्म से देश में अनाचार, अन्याय, कायरता और फूट की वृद्धि होती है। साथ ही जो जाति हर मौके पर और हर काम में संतोषी बनकर पिटना तथा पिटते रहना प्रारब्ध समझती है, वह किसी तरह से भी कम अपराधी और कम दोषी नहीं हो सकती, क्योंकि वास्तव में वह अत्याचार को बढ़ाती और फैलाती है। राष्ट्रीय सदाचार के लिए यह परमावश्यक है कि देश की जातियाँ एक से हक रखती हों और उनके लिए एक से मौके हों, नहीं तो अनमेल हालत में रहते हुए राष्ट्र निर्माण और जातीय एकता की चर्चा करना हवा में पुल बाँधना है।

"हम जन-साधारण की किसी ऐसी बात को मानने के लिए तैयार न होंगे, जो मनुष्य समाज और मनुष्य धर्म के विकास एवं वृद्धि में बाधक हो। हमारे लिए वह धर्म कहलाने योग्य नहीं, जिसके सिद्धांत और आदेश किसी जाति या देश के मानसिक, आत्मिक, सामाजिक, शारीरिक या राजनीतिक अध:पतन के कारण हों। जो धर्म व्यवहार और आचरण से उदासीन होकर कोरी कल्पनाओं से लोगों का दिल बहलाया करता हो, उसे हम केवल धर्माभास समझते हैं। हम सदाचार, सद्व्यवहार, पुरुषार्थ, जितेंद्रियता, स्वार्थ-त्याग, देशभक्ति, न्यायपरता, उदारता आदि को ही धर्म के मुख्य अंग मानते हैं और उन्हीं के द्वारा हम अभ्युदय और नि:श्रेयस् की प्राप्ति समझते हैं।"

हिंदी पत्रकारिता के कीर्तिमान

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी योजना बनाकर पत्रकार नहीं हुए थे। हिंदी पत्रकारिता अपनाने की प्रेरणा परिस्थितिवश ही आ गई थी। श्री विद्यार्थीजी के पिता श्री जयनारायण श्रीवास्तवजी उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के हथगाँव नामक कस्बे के निवासी थे और जीविका के लिए ग्वालियर राज्य के मुंगावली नामक स्थान पर राज्य के अंग्रेजी मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गए थे। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म 26 अक्तूबर, 1890 यानी आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, विक्रम संवत् 1947 को इलाहाबाद में अपने नाना श्री सूरजप्रसाद श्रीवास्तव के घर पर अतरसुइया मोहल्ले में हुआ था। उनके नाम के पीछे एक कथा है कि उनकी नानी ने स्वप्न में देखा कि उन्होंने गणेशजी की एक मूर्ति अपनी पुत्री गोमती देवी के हाथ में दे दी। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि गोमती देवी को कोई पुत्र होगा तो उसका नाम गणेशशंकर रखा जाएगा और इस प्रकार उनका नाम गणेशशंकर रखा गया। यह तो बाद में ज्ञात हुआ कि गणेश के रूप में लेखन की विधा जन्म से ही अलौकिक वरदान के रूप में प्राप्त थी। इसलिए परिस्थितियाँ ऐसी बनती गईं जो उन्हें पत्रकारिता में ले आईं। गणेशजी का जन्म अवश्य प्रयाग में हुआ था, परंतु उनकी शिक्षा अपने पिता के स्कूल में पहले मुंगावली में और फिर विदिशा में हुई। उनके पिताजी मुंगावली के ऐंग्लो-वर्नाकुलर मिडिल स्कूल में सैकेंड मास्टर थे। वे उर्दू और फारसी के बहुत बड़े जानकार थे उन्होंने अंग्रेजी का भी अध्ययन कर लिया था। इसलिए गणेशशंकरजी को पहले उर्दू पढ़ाई गई, फिर अंग्रेजी और जब उनके पिता का तबादला विदिशा हो गया, जो उस समय भेलसा कहलाता था, तो गणेशजी की पढ़ाई वहाँ चालू रही। भेलसा से उन्होंने अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा पास की, जिसमें पहली बार हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में लिया था। मिडिल पास करने के बाद उनके पिताजी ने उन्हें नौकरी करने के लिए कानपुर भेज दिया, जहाँ गणेशजी के बड़े भाई शिवव्रत नारायण नौकरी कर रहे थे। भेलसा में अंग्रेजी मिडिल से आगे की पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए उनके पिताजी ने यही सोचा कि नौकरी करेगा तो खर्च भी चलाएगा और परिवार का भी बोझ कम होगा, परंतु उनके बड़े भाई ने यह पसंद नहीं किया कि ऐसे कुशाग्र बुद्धि बालक को इतनी छोटी उम्र में पढ़ाई से हटा दिया जाए। इसलिए उन्होंने उनके लिए इंट्रेंस की परीक्षा की पाठ्य पुस्तकें खरीद दीं और यह सुझाव दिया कि वह घर जाकर परीक्षा की तैयारी करे एवं दो वर्ष बाद कानपुर के क्राइस्ट चर्च कॉलेज

केंद्र से यू.पी. बोर्ड की इंट्रेंस परीक्षा का इम्तहान दे। श्रीजयनारायण का तबादला फिर मुंगावली हो गया था, गणेशजी ने मुंगावली में रहकर ही पढ़ाई की तैयारी की और 1907 में द्वितीय श्रेणी में इंट्रेंस परीक्षा पास की। इस परीक्षा में उन्होंने द्वितीय भाषा के रूप में फारसी को लिया था, जिसका ज्ञान उन्हें विरासत में प्राप्त हुआ था। इंट्रेंस परीक्षा पास करने के बाद वे इलाहाबाद कायस्थ पाठशाला कॉलेज में पढ़ने चले गए। परंतु परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और कॉलेज की पढ़ाई सात-आठ महीने ही हो सकी, लेकिन इलाहाबाद के प्रवास में वे श्रीसुंदरलाल के संपर्क में आए। उन दिनों इलाहाबाद से उर्दू का प्रसिद्ध पत्र 'स्वराज्य' निकल रहा था। इसके आठ संपादकों को सजा दी गई, जिनमें तीन को काले पानी की सजा दी गई थी। श्रीसुंदरलाल साप्ताहिक 'कर्मयोगी' निकाल रहे थे, जिसकी प्रसार संख्या दस हजार प्रतियाँ हो गई थी। श्रीसुंदरलाल के कहने से श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'स्वराज्य' के लिए उर्दू और 'कर्मयोगी' के लिए हिंदी में टिप्पणियाँ लिखीं। श्री सुंदरलाल के आदर्श लोकमान्य तिलक थे, जिनको प्रयाग बुलाने के जुर्म में श्री सुंदरलाल को कॉलेज से निकाल दिया गया था और उनकी पढ़ाई भंग हो गई थी। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता के संस्कार भी लोकमान्य तिलक की पत्रकारिता के प्रति आदर और 'स्वराज्य' तथा 'कर्मयोगी' के संपादकों के प्रति निष्ठा से पल्लवित हुए। लेकिन श्री गणेशशंकर विद्यार्थी बहुत दिन प्रयाग नहीं रह सके और कानपुर के करेंसी ऑफिस में उन्हें तीस रुपए मासिक पर नौकरी मिल गई। यह नौकरी वे एक साल ही कर पाए। 6 फरवरी, 1908 को उन्हें नौकरी मिली, लेकिन एक दिन जब वे करेंसी ऑफिस के नियमानुसार पुराने नोट जलवा रहे थे, तो खाली समय में बैठे-बैठे एक पुस्तक भी पढ़ रहे थे। बैंक के अंग्रेज अधिकारी ने उनके पढ़ने पर आपत्ति की और उन्होंने 26 नवंबर, 1909 को नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

इलाहाबाद में ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की रुचि 'स्वराज्य' और 'कर्मयोगी' के कारण क्रांतिकारी आंदोलन में हो गई। कलकत्ता से श्री चितरंजन दास, श्री विपिनचंद्र पाल और श्री सुबोधचंद्र मलिक ने एक अंग्रेजी दैनिक 'वंदेमातरम्' निकाला और उसके संपादक बनाए गए थे श्री अरविंद घोष। वह पत्र क्रांतिकारियों का एक अखिल भारतीय पत्र था और बाद में अंग्रेजी में ही उसका साप्ताहिक संस्करण इसीलिए निकाला गया कि वह देश के कोने-कोने में भेजा जा सके।

कानपुर में श्री प्रयागनारायण शिवाला के अहाते में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने एक वाचनालय खोल रखा था, जिसमें यह पत्र आता था। 'वंदेमातरम्' को पढ़ने के लिए ही श्री गणेशशंकर विद्यार्थी उस वाचनालय में जाया करते थे। उसी वाचनालय में उनकी भेंट श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा से हुई, जो पं. पृथीनाथ मिडिल स्कूल में अध्यापक थे। श्री अरोड़ाजी भी लाला हरदयाल द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों में दीक्षित हो चुके थे। उनकी श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से मित्रता हो गई और उनकी सिफारिश पर विद्यार्थीजी को उसी स्कूल में बीस रुपए पर एक अध्यापक की जगह मिल गई। परंतु स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से इसलिए नाराज़ हुए कि वे 'कर्मयोगी' पढ़ते थे, जो आपत्तिजनक पत्र समझा जाता था। 9 दिसंबर, 1909 को उन्हें नौकरी मिली थी, परंतु वह एक साल भी नहीं चल पाई। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी और श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा दोनों को ही वह नौकरी छोड़नी पड़ी। अरोड़ाजी को तो शिक्षण का अनुभव था, वे मारवाड़ी स्कूल के हेडमास्टर हो गए और विद्यार्थीजी कानपुर के सेठ रामगोपाल के प्राइवेट सेक्रेटरी।

यह संयोग ही था कि 'सरस्वती' संपादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, जो उन दिनों कानपुर में ही रहकर 'सरस्वती' का संपादन करते थे, श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा से कहा कि वे अपने मित्र श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की कोई रचना 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भिजवाएँ। उनका लेख 'आत्मोत्सर्ग', 'सरस्वती' में छपा, जिसके बाद द्विवेदीजी ने उन्हें पच्चीस रुपए मासिक पर 'सरस्वती' में अपना सहायक बना लिया। इस प्रकार 2 नवंबर, 1911 से श्री गणेशशंकर विद्यार्थी हिंदी पत्रकारिता में प्रतिष्ठापित हो गए। वस्तुत: अच्छी हिंदी लिखना उन्होंने महावीरप्रसाद द्विवेदी से सीखा। श्री द्विवेदीजी ने गणेशजी के बारे में लिखा था, "जब तक मेरे पास रहे, गणेश ने बड़ी मुस्तैदी और बड़े परिश्रम से काम किया। रोज दो मील दूर शहर से जुही जाते और शाम को लौटते। उनकी शालीनता, सृजनता, परिश्रमशीलता और ज्ञानार्जन की सदिच्छा ने मुझे मुग्ध कर लिया। इधर वे मुझे शिक्षक या गुरु मानते थे, इधर मैं स्वयं ही कितनी बातों में उन्हें अपना गुरु समझता था। धीरे-धीरे वे मेरे कुटुंबी से हो गए। कभी स्वप्न में भी किसी भी विषय में आपसी मत-विरोध या खटपट नहीं हुई। गणेश मेरे खानगी कामों तक में मेरी मदद करते रहे। हिंदी लिखना उन्होंने खूब सीखा। मैं चाहता था कि वे कुछ संस्कृत सीख लें। पर उनका झुकाव राजनीतिक शिक्षा

ही की ओर अधिक था। अतएव, मैंने उन पर दबाव नहीं डाला। उन्हें पढ़ने का बड़ा शौक था। जुही आते-जाते राह में भी कभी-कभी वे अखबार या पुस्तक पढ़ते चले जाते थे।''

जैसा द्विवेदीजी ने सही संकेत किया था, गणेशजी राजनीतिक लेखन को महत्त्व देते थे, परंतु 'सरस्वती' की जो नीति थी, उसमें इस प्रकार के लेखन, की अधिक गुंजाइश नहीं थी, इसलिए उन्हें जब प्रयाग में साप्ताहिक 'अभ्युदय' में सहायक संपादक का प्रस्ताव मिला, तो उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे 'अभ्युदय' में चले गए। 'अभ्युदय', वैसे तो प्रसिद्ध पत्र था, परंतु उस समय देश में उग्र राजनीतिक चेतना थी और 'अभ्युदय' नरमदली पत्र समझा जाता था। एक बार तो यह ख्याल भी हुआ कि उसे बंद कर दिया जाए और गणेशजी ने यह योजना भी बनाई कि पत्र को बंद कर देने के बजाए, वे अपने साथियों के सहयोग से उसे खरीद लें, परंतु इसी बीच उनका स्वास्थ्य खराब हो गया और वे स्वास्थ्य लाभ के लिए कानपुर चले आए। कानपुर में उनके मित्रों की राय हुई कि कानपुर से ही पत्र निकाला जाए और तीन मित्रों, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, श्री शिवनारायण मिश्र और श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा ने मिलकर 'प्रताप' नाम से एक साप्ताहिक पत्र निकालने का निर्णय किया। कोरोनेशन प्रेस के मालिक श्री यशोदानंदन जो इस पत्र को निकालने के लिए राजी हुए, इसलिए उन्हें भी साझीदार मान लिया गया। श्री अरोड़ाजी कुछ समय बाद हट गए और 'प्रताप' का अपना प्रेस भी हो गया। लेकिन श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' के द्वारा न केवल कानपुर में नया प्राण फूँक दिया, बल्कि एक ऐसा समाचार-पत्र बना दिया, जो सारी हिंदी पत्रकारिता की अस्मिता और शक्ति का प्रतीक बन गया।

प्रारंभ में गणेशशंकर विद्यार्थी को 'प्रताप' को निकालने के लिए क्या-क्या करना पड़ा, इस बारे में श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''दिसंबर सन् 1915 के अंतिम सप्ताह में मैं कानपुर पहुँचा। 'प्रताप' के जीवन का उस समय एक अध्याय समाप्त हो चुका था। पहले श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, पं. शिवनारायण मिश्र और श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी, तीनों मिलकर पीली कोठी में 'प्रताप' का संचालन करते थे। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कुल काम इन्हीं तीनों व्यक्तियों को करना पड़ता था, परंतु जब मैं पहुँचा, 'प्रताप प्रेस' तथा 'प्रताप' कार्यालय पीली कोठी से उठकर उस इमारत में आ चुका था, जहाँ इस समय प्रताप प्रेस है। अरोड़ाजी ने 'प्रताप' से अपना हाथ खींच लिया था।

संपादन कार्य विद्यार्थीजी और प्रबंध कार्य मिश्रजी किया करते थे। डिस्पैच आदि के लिए श्री शीतलप्रसाद नाम के एक क्लर्क थे। बस 'प्रताप' के स्टाफ में यही तीन मूर्तियाँ थीं। इसके अलावा थे कुछ कंपोजीटर और प्रेसमैन।''

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी किस प्रकार पत्रकारिता के द्वारा दीन-दुखियों का दर्द दूर करना अपना कर्तव्य समझते थे और उसके लिए सबकुछ झेलने को तैयार रहते थे, इसका एक नमूना भी श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी ने दिया है। उन्होंने लिखा, ''गणेशजी से यह कभी नहीं होता था कि वे असहायों, पीड़ितों और दलितों की फरियाद की अनसुनी कर दें। वह ढाल बनकर उनकी मदद किया करते थे और तमाम जोखिम अपने सर पर ओढ़ लेते थे। रियासतों की प्रजा की तरफ बहुत दिनों बाद लोगों का ध्यान गया, लेकिन हिंदी पत्रों में, इस संबंध में पहले-पहले 'प्रताप' ने ही अपनी आवाज बुलंद की थी। राजपूताना से एक पत्र आया था। लेखक ने वहाँ की कुछ रियासतों का बड़ा ही दर्दनाक चित्र खींचा था और गणेशजी से अनुरोध किया था कि वे इस आंदोलन को अपने हाथ में लें। लेखक ने अपना नाम और पूरा पता नहीं दिया था। वे अपना नाम और पता देने को तैयार भी नहीं थे, लेकिन अपने पत्र में गणेशजी को उन्होंने विश्वास दिलाया था कि उनकी लिखी हुई बातें सब सच हैं। बस केवल इसी विश्वास पर 'पथिक' के लेख 'प्रताप' में छपने लगे और रियासत में इससे एक सनसनी पैदा हो गई। पथिक ने तब भी अपना पूरा नाम प्रकट नहीं किया और वी.एस. पथिक के नाम से उनकी चिट्ठियाँ आती रहीं। गणेशजी ने उनका पूरा नाम जानने की कभी इच्छा नहीं की। उनसे भेंट भी हुई, तब भी पथिकजी कहकर ही उन्होंने उनसे बातें कीं। जब पथिकजी खुद 'विजय सिंह' कहकर प्रकट हुए, तब हम लोगों ने उनका पूरा नाम जाना। देशी रियासतों के इस आंदोलन में 'प्रताप' को आगे चलकर कितनी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी, इसे तो सभी जानते हैं।''

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने कभी इस बात का मलाल नहीं किया कि सही बात कहने के लिए, दु:खीजनों की पुकार को जनता तक पहुँचाने के लिए उन्हें पाँच बार जेल जाना पड़ा। अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व 16 मई, 1930 को श्री विष्णुदत्त शुक्ल की पुस्तक 'पत्रकार कला' की भूमिका में उन्होंने अपने विचारों की अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में समीक्षा की और इसके बाद उसी निष्कर्ष पर पहुँचे, जिसको लेकर उन्होंने पत्रकारिता प्रारंभ की थी। उन्होंने लिखा, ''क्या

यह ठीक होगा कि इस समय संसार के अन्य बड़े देशों में समाचार-पत्रों के चलने की जो लकीर है, इसका हम अनुसरण करें या यह कि हम अपने आदर्श के संबंध में अधिक सजगता और सतर्कता से काम लें। मैं यह धृष्टता तो नहीं कर सकता कि यह कहूँ कि संसार के अन्य बड़े पत्र गलत रास्ते पर जा रहे हैं और उनका अनुकरण नहीं होना चाहिए, किंतु मेरी धारणा यह अवश्य है कि संसार के अधिकांश समाचार-पत्र कमाने और झूठ को सच सिद्ध करने के काम में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार-पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। इसी प्रकार के संचालन या किसी फल विशेष की प्रेरणा से ही उनका निकलना संभव है। अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु है, उनके पक्ष समर्थन के लिए हर तरह के हथकंडों से काम लेना अपना आवश्यक काम समझते हैं। इस काम में तो वे इस बात का विचार रखना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है? सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं कि संसार भर में यह हो रहा है। इने-गिने पत्रों को छोड़कर, सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं।

जिन लोगों ने पत्रकार कला को अपना काम बना रखा है, उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं जो अपनी चिंताओं को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हों कि हमें सच्चाई की भी लाज रखनी चाहिए। केवल अपनी मक्खन-रोटी के लिए दिन भर में कई रंग बदलना ठीक नहीं है। इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार-पत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जाता है। हिंदी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है। यहाँ भी अब बहुत से समाचार-पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे। सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं।

''एक समय था, इस देश में साधारण आदमी सर्वसाधारण के हितार्थ एक ऊँचा भाव लेकर पत्र निकालता था और उस पत्र को जीवन क्षेत्र में स्थान मिल जाया करता था। आज वैसा नहीं हो सकता। आपके पास जबरदस्त विचार हों और पैसा न हो, और पैसे वालों का बल न हो तो आपके विचार आगे फैल नहीं सकेंगे। आपका पत्र न चल सकेगा। इस देश में भी समाचार-पत्रों का आधार धन हो रहा है। धन से ही वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करनेवाले बहुत

से पत्रकार भी धन ही की अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही समय पश्चात् यहाँ के समाचार-पत्र भी मशीन के सहारे हो जाएँगे और उनमें काम करनेवाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। व्यक्तित्व न रहेगा। सत्य और असत्य का अंतर न रहेगा। अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल ऊँची लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। ऐसे बड़े होने की अपेक्षा छोटे और छोटे से भी छोटे, किंतु कुछ सिद्धांतों वाले होना कहीं अच्छा है।" इन सिद्धांतों के लिए गणेशजी ने आजीवन संघर्ष किया। उसी का परिणाम था कि उत्तर भारत उस समय बंगाल के बाद देश में सबसे जागरूक प्रांत हो गया और गाँव-गाँव में गणेशजी के विचार पहुँचने लगे। जिसे आज राष्ट्रीय पत्र कहते हैं उससे तात्पर्य उन पत्रों से होता है जो राजधानी से या महानगरों से छपते हैं और जिनके पीछे बड़े-बड़े पूँजीपति या धनाढ्य परिवार हैं। 'प्रताप' उत्तर प्रदेश के एक ऐसे नगर से प्रकाशित होता था जहाँ कमिश्नर का भी कार्यालय नहीं था, लेकिन चाहे बिहार का चंपारन आंदोलन हो या राजस्थान में बिजौलिया का सत्याग्रह हो, बूँदी में, बेगू में या धौलपुर में वहाँ के नागरिकों पर अत्याचार हों, उनके समाचार 'प्रताप' में सबसे पहले छपते थे। यद्यपि गणेशजी के पिता ग्वालियर दरबार की सेवा में रहे थे, फिर भी ग्वालियर पर एक लंबी लेखमाला, जिसे आज की भाषा में खोजी पत्रकारिता कहेंगे, 'प्रताप' में छपी। इस पर ग्वालियर नरेश महाराजा माधवराव सिंधिया ने उन्हें बुलाया, उनकी आवभगत की और समाचारों के बारे में चर्चा की। गणेशजी ने सिद्ध कर दिया कि उन्होंने जो समाचार छापे हैं, वह खोजबीन कर छापे हैं, लेकिन अगर कहीं भूल हो गई हो तो दरबार का भेजा हुआ प्रतिवाद भी छप जाएगा। जब वे चलने लगे तो उनके सामने भेंट स्वरूप रुपयों से भरा थाल पेश किया गया और यह कहा गया कि यह दरबार की भेंट है, आप तो यहाँ की प्रजा हैं, भेंट को अस्वीकार करना महाराजा का अपमान होगा, तो उन्होंने एक रुपया उठा लिया। परंतु जब उन्हें किराया दिया जाने लगा तो उन्होंने कह दिया कि 'प्रताप' अपने संपादक का किराया-भाड़ा उठाने में समर्थ है और किराया नहीं लिया। वे लेते भी कैसे। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी को राजस्थान की प्रजा के कष्टों को 'प्रताप' द्वारा उजागर करने के लिए बिजौलिया की जनता की ओर से 1915 की श्रावणी को चाँदी की एक राखी बनाकर भेजी

गई थी। गणेशजी ने उस राखी को स्वीकार किया था और यह आश्वासन दिया था कि जोखिम उठाकर भी राजस्थानी जन-आंदोलन का साथ देंगे।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी राजाओं के कोई शत्रु नहीं थे और जब किसी राजा के साथ ब्रिटिश सरकार कोई अन्याय करती, तो वे उसका विरोध करते थे। एक बार दिल्ली दरबार में बड़ौदा नरेश ने सलाम तो किया, परंतु वे उलटे पांव नहीं लौटे, बल्कि साधारणतया चलकर अपनी सीट पर आ बैठे। इस पर ऐंग्लो-इंडियन पत्रों में महाराजा तुकोजी राव की विपरीत आलोचना हुई। गणेशजी ने उस समय महाराजा के समर्थन में एक लेख लिखकर 'हितवार्ता' संपादक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर को भेज दिया, जो 'हितवार्ता' में प्रकाशित हुआ और उसकी हिंदी पाठकों में बड़ी चर्चा हुई। बाद में इंदौर राज्य में 'प्रताप' का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया था, फिर जब बावला कांड में महाराजा होल्कर को इंदौर की गद्दी से उतारा गया, तो 'प्रताप' ने होल्कर नरेश का समर्थन किया और लिखा कि ब्रिटिश सरकार ने उनके स्वाभिमानी व्यवहार का बदला लिया है। इसके बाद भी गणेशजी ने यह प्रयत्न नहीं किया कि इंदौर राज्य में 'प्रताप' के प्रवेश पर जो प्रतिबंध है, वह हटा लिया जाए।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी को 1921 से लेकर 1931 तक पाँच बार जेल जाना पड़ा और यह प्राय: 'प्रताप' में प्रकाशित किसी समाचार के कारण होता था। उस समय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी को शिकोहाबाद के एक थानेदार के बारे में, जिसकी जाँच हो रही थी, भ्रष्टाचार का आरोप लगाने पर मानहानि के मुकदमे में 400 रुपए जुर्माने या छह महीने की सजा हो गई। गणेशजी जेल चले गए। बाद में उनके साथियों ने जुर्माने की रकम अदा कर दी, लेकिन फैसले के विरुद्ध अपील कर दी। इलाहाबाद न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि कोई व्यक्ति असहयोगी या कांग्रेसी होने से विश्वास और सत्य की सीमा से बाहर नहीं निकाला जा सकता। 'प्रताप' संपादक ने थानेदार संबंधी बातें अच्छी तरह से जाँच-पड़ताल के बाद नेकनीयती से ही छापीं। सार्वजनिक हित की दृष्टि से ऐसा करने के लिए वे दोषी नहीं ठहराए जा सकते। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि थानेदार के खिलाफ रिश्वत लेने के जो तेरह मामले पेश किए, उनमें चार मामलों पर उस पर मुकदमा चलाया जाए और वह मुकदमा सेशन जज की अदालत में हो और उस पर रिश्वत लेने की जो जाँच रुक गई थी, वह आगे बढ़ाई जाए। इस मुकदमे में 41 गवाह पेश किए गए थे और 'प्रताप' के

दो हजार रुपए व्यय हुए। इस पर गणेशजी ने लिखा था, " 'प्रताप' गरीब पत्र है, इतने रुपए उसके पास न थे, इधर-उधर से लेकर काम चलाना पड़ा, तब भी यह नतीजा है तो हर तरह के अँधेरे को देखते रहने की अपेक्षा हम इसे अच्छा समझेंगे कि 'प्रताप' बंद हो जाए। हम दुनिया भर के अँधेरों को दूर करने के ठेकेदार नहीं हैं, किंतु हमारी ताकत के भीतर जो बात है, हम जो कुछ कर सकते हैं और जिसके करने को हम अपने अस्तित्व के लिए सार्थक मानते हैं, यदि हम उसी को न करें तो हमारे और उनके बने रहने और लोगों को केवल भले और बुरे समाचारों को सुनाते रहने का कोई हक नहीं है।"
एक अन्य मुकदमा था, जिसने नेहरू परिवार को रायबरेली जिले से परंपरागत तरीके से जोड़ दिया। इसे मुंशीगंज हत्याकांड का मुकदमा कहते हैं। रायबरेली में किसान आंदोलन शुरू हुआ था और इसे बाबा रामचंद्र ने, जो फीजी से लौटे थे, ताल्लुकेदारों के विरुद्ध शुरू किया था। जब आंदोलन तेज हुआ, तो रायबरेली से सात मील दूर रुस्तमपुर बाजार लुटवा दिया गया और भी ऐसी घटनाएँ हुईं, जिसके बाद श्री जवाहरलाल नेहरू किसानों से मिलने रायबरेली आए। उनके स्वागत के लिए मुंशीगंज में किसानों की बड़ी भीड़ थी, परंतु श्री जवाहरलाल नेहरू को सई नदी के उस पार पुलिस द्वारा रोक दिया गया, फिर भी भीड़ नहीं हटी तो जनता पर पीछे से गोली चलाई गई। पुलिस ने कहा कि उसने गोली नहीं चलाई, लेकिन अनेक लोग मरे। तब गणेशजी ने यह समाचार पाकर एक विशेष प्रतिनिधि भेज कर हत्याकांड का पता लगाया ओर उसका पूरा विवरण 'प्रताप' में छापा। इस समाचार में कहा गया था कि वहाँ पर गोली ताल्लुकेदार वीरपाल सिंह ने चलाई थी और उनके कहने से ही और गोलियाँ चलीं। ये समाचार तो इलाहाबाद के 'लीडर', में 'इंडिपेंडेंट' पत्रों में भी छपे, परंतु श्री गणेशशंकर विद्यार्थी और 'प्रताप' के प्रकाशक श्री शिवनारायण मिश्रा पर मुकदमा चलाया गया। उसकी सुनवाई के लिए बड़ी भीड़ आती थी और उसमें पं. मोतीलाल नेहरू और पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे लोगों ने गवाहियाँ दीं, लेकिन मजिस्ट्रेट ने दोनों अभियुक्तों को तीन-तीन माह की कैद और एक हजार रुपया जुर्माना कर दिया। वे दोनों जेल चले गए, अपील भी खारिज हो गई। परिणामस्वरूप 'दैनिक प्रताप' भी बंद करना पड़ा और उसी बीच उन लोगों से पंद्रह-पंद्रह हजार रुपए के जमानती मुचलके भी माँग लिए गए। एक जेल से छूटे तो फतेहपुर में एक भाषण को आधार मानकर उन्हें फिर जेल भेज दिया गया, जहाँ वे दो

साल रहे।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की पत्रकारिता के लिए अनेक अवदान हैं। एक तो वे आदर्श हैं, वह निर्भयता है और दु:ख झेलने की वह क्षमता है जो संसार की किसी भाषा के पत्रकार के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर रहे। उनमें लोक संग्रह की भावना भी बहुत अधिक थी, वे स्वयं महापुरुष थे, परंतु उन्होंने हिंदी पत्रकारिता को अपने जैसे ही अनेक पत्रकार निर्मित करके दिए। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, श्रीराम शर्मा, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी, श्री मुकुटबिहारी वर्मा आदि ऐसे अनेक प्रतिष्ठित पत्रकार हैं जो स्वयं मार्ग-द्रष्टा माने गए। यद्यपि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी और श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने कभी 'प्रताप' में कार्य नहीं किया, परंतु उन्हें प्रोत्साहन देने में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की भूमिका कम नहीं थी। उनमें सबसे बड़ी बात यह थी कि अन्याय की बात हो, तो वे न सरकार से दबते थे, न अपने मित्रों से, न पत्रों और पत्रकारों से। उन्होंने 'चाँद' के मारवाड़ी अंक की आलोचना की थी। इस पर 'चाँद' संपादक श्री रामरिख सिंह सहगल ने एक ओर अदालत में उन पर मुकदमा चलाने की धमकी दी, तो दूसरी ओर उनके अभिन्न समझे जानेवाले श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा श्री हरिभाऊ उपाध्याय को पत्र लिखकर यह प्रयत्न किया कि गणेशजी अपने पत्र में पहले प्रकाशन के लिए खेद प्रकट करें। विद्यार्थीजी ने पराड़करजी को अपने 18 जून, 1925 के पत्र में जो कुछ लिखा था, उससे उनके विचारों का, उनकी विनम्रता और दृढ़ता, दोनों का परिचय मिलता है। उन्होंने लिखा—

मान्यवर पराड़करजी

प्रणाम!

आपका कृपा पत्र प्राप्त हुआ। आपके कृपा भाव के लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। जिस पत्र के छपने पर 'चाँद' वालों को अदालत में जाने की आवश्यकता अनुभव होती है उसमें जितना अंश मुझे अनुचित भासित हुआ उसका प्रतिकार मैं 'प्रताप' के दूसरे अंक में कर चुका हूँ, इसके अतिरिक्त कुछ भी करना मुझे आवश्यक नहीं मालूम पड़ता। संतानवृद्धि निरोध के प्रश्न पर मेरा कोई झगड़ा नहीं है, किंतु मेरा यह विचार है कि इस ज्ञान का प्रचार न चाहने वालों पर जो कटु प्रहार होते हैं, यदि वैसे ही कटु प्रहार वे लोग करें, तो दूसरे पक्ष के लोगों

को बुरा न मानना चाहिए और जहाँ तक किसी खुले प्रश्न पर खुले ढंग से, किंतु भद्रता के साथ बातें कहने और राय प्रकट करने का प्रश्न है, वहाँ तक मेरी साधारण समझ में तो यही बात आती है कि अपने विरुद्ध तक कटु बातों को छापने में हमें कोई हिचक न होनी चाहिए। इसीलिए मेरी धारणा तो यह है कि 'चाँद' के उस लेख की आलोचना करनेवाले और भी तीव्र ढंग से लिखने के पूरे अधिकारी थे। संभव है, मेरी धारणा गलत हो, किंतु इस प्रकार की गलतियों का सुधार अदालती फैसलों की ताकत से बाहर की चीज है।

श्रीयुंत सहगलजी को आप जो चाहें लिख दें, उन्होंने पं. हरिभाऊ उपाध्याय को कुछ लिखा है। इसीलिए उपाध्यायजी मुझे कई पत्र अब तक लिख चुके हैं। उनके लिखने पर मेरा ध्यान एक विशेष दिशा की ओर तो अवश्य गया। उन्होंने लिखा है कि सहगलजी का चित्त दुःखी हुआ, कम-से-कम इसका तो तुम्हें खयाल होना ही चाहिए। उपाध्यायजी की यह बात ठीक है। मैंने, यथार्थ में, सहगलजी का चित्त दुखाने के लिए कुछ भी नहीं किया। इस बात तक के लिए कि उनका चित्त मेरे किसी उचित काम से दुःख गया, मैं उनसे क्षमा की भिक्षा माँगता हूँ, किंतु जिस समय वे मेरे सिर पर अदालत, कानून और वकील की तोप का निशाना बनाए बैठे हों, इधर और उधर से बराबर धमकियाँ दे रहे हों, मुझे उनके हृदय की व्यथा की अपेक्षा अपने हृदय की स्थिरता की रक्षा की अधिक चिंता है और आप मानेंगे कि मेरी यह मानसिक वृत्ति स्वाभाविक है।

मेरी अग्रिम प्रार्थना यही है कि आप इस झगड़े को अपने भाग्य पर छोड़िए। होने दीजिए, जो कुछ होने को हो। मेरा विश्वास है कि जो होगा, वह बहुत ही अच्छा होगा। आशा है आप सानंद होंगे। यदि मेरे इस पत्र में आपको कोई भी बात ऐसी भासित हो जो अहम्मन्यतापूर्ण हो तो उसके लिए क्षमा कीजिए। मैं आपके सामने किसी प्रकार की धृष्टता नहीं कर सकता। आप मेरे गुरु तुल्य हैं।

अत्यंत विनय के साथ।

सेवक— गणेशशंकर विद्यार्थी

'प्रताप' ने चंपारन और बेतिया जिले के निलहा गोरों के विरुद्ध गांधीजी के सत्याग्रह का समाचार दिया और रायबरेली के किसानों के आंदोलन के सिलसिले में तो जो दैनिक 'प्रताप' बड़ी आकांक्षाओं के साथ 20 नवंबर, 1920 को प्रारंभ हुआ था, वह लगभग डेढ़ साल के अंदर ही बंद हो गया। 'प्रताप' कार्यालय

को मुंशीगंज कांड के मुकदमे की पैरवी में पच्चीस हजार रुपए की हानि उठानी पड़ी और श्री गणेशशंकर विद्यार्थी तथा श्री शिवनारायण मिश्र को उसी प्रसंग में किसी न किसी बहाने दो वर्ष की जेल हुई, लेकिन विद्यार्थीजी ने पत्रकारिता के अपने आदर्शों में कोई ढील नहीं दिखाई। यह बात अलबत्ता दूसरी है कि वे यह अनुभव करने लगे थे कि मानहानि के मुकदमे में फँसने के बजाए राजद्रोह के मुकदमे में फँसना ज्यादा लाभकारी होता है, क्योंकि वह शासन के साथ सीधी टक्कर होती है और मानहानि का मामला निजी झगड़ा समझ लिया जाता है, परंतु ऐसा होते हुए भी जब कभी चाहे उनके सहकारी की गलती से ही मानहानि का नोटिस आ गया हो, उन्होंने माफी माँगने के बजाए अपने समाचार पर दृढ़ रहकर जोखिम उठाना उचित समझा। यही कारण है कि मात्र 17 वर्षों तक हिंदी के एक ऐसे साप्ताहिक के संपादक होते हुए, जो उस शहर से निकलता था, जो महानगर नहीं था, उन्होंने पत्रकारिता में असीम यश प्राप्त किया। उन्होंने हिंदी को अनेक श्रेष्ठ लेखक दिए। श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की राष्ट्रीय कविताओं का प्रकाशन 'प्रताप' द्वारा ही हुआ, 'सरस्वती' द्वारा नहीं। वर्ष 1920 से 1926 तक उन्होंने जिस योग्यता के साथ मासिक 'प्रभा' का प्रकाशन-संपादन किया, उससे 'प्रभा' हिंदी पत्रिकाओं का एक कीर्तिमान बन गई और उससे प्रेरणा लेकर 'त्यागभूमि' और 'विशाल भारत' जैसे प्रसिद्ध मासिक पत्र हिंदी जगत् में एक स्थान बना गए।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का राष्ट्रीय जीवन के लिए एक दूसरा योगदान भी है। वे पहले राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होंने काकोरी षड्यंत्र केस के अभियुक्तों के मुकदमे की पैरवी कराई और कानपुर को क्रांतिकारी गतिविधियों का केंद्र बनने दिया। श्री भगत सिंह 'प्रताप' कार्यालय में बलवंत सिंह के नाम से अज्ञातवास कर रहे थे और श्री चंद्रशेखर आजाद, श्री विजयकुमार सिन्हा तथा श्री राजकुमार सिन्हा जैसे क्रांतिकारी गणेशजी से प्रेरणा पाते थे। यही कारण था कि जब लाहौर षड्यंत्र केस में अभियुक्तों ने भूख हड़ताल कर दी, तो उसे तुड़वाने के लिए श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से अनुरोध किया गया कि वे लाहौर जाकर सरदार भगत सिंह, श्री बटुकेश्वर दत्त तथा अन्य क्रांतिकारियों से मिलें, क्योंकि उनका उन क्रांतिकारियों पर विशेष प्रभाव समझा जाता था। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी गांधीवाद को अपना चुके थे और उन्होंने एक अहिंसक की भाँति अल्पसंख्यकों को प्रकोप से बचाने के प्रयास में अपनी बलि दी, परंतु

जिन लोगों ने देश की स्वाधीनता के लिए अपनी जान बाजी पर लगा दी थी, उनका विद्यार्थीजी सम्मान करते थे और संभवत: जब उनके एक सहयोगी सरदार भगत सिंह की फाँसी का विरोध करने के लिए हड़ताल कराने का आह्वान कर रहे थे, तभी ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने कानपुर के संभावित आक्रोश को मोड़ देने के लिए उसे हिंदू-मुस्लिम दंगे के रूप में परिवर्तित करा दिया। बहुतों का ऐसा विचार है कि विद्यार्थीजी की जिन परिस्थितियों में मृत्यु हुई, वह एक षड्यंत्र का परिणाम थी। उत्तेजना में आकर किसी ने उन्हें नहीं मारा, उन्हें मारने के लिए ही लोग भेजे गए थे। दस वर्ष पूर्व जब रायबरेली की अदालत में मुंशीगंज गोलीकांड के मामले में 'प्रताप' पर मानहानि का मुकदमा चल रहा था तो स्थानीय गवर्नर महोदय की यह राय बताई जाती थी कि जब तक कानपुर का 'प्रताप' जीवित है, उत्तर प्रदेश में शांति स्थापित नहीं रह सकती। गणेशजी की बलि हो गई, परंतु अंग्रेजी राज तक 'प्रताप' जीवित रहा और उसने उत्तर प्रदेश को ब्रिटिश साम्राज्यशाही से लड़ने के लिए भारत वर्ष का सबसे अभेद्य दुर्ग बना दिया।

गणेशजी का शव 25 मार्च, 1931 को अस्पताल की लाशों में पड़ा मिला। शव इतना फूल गया था कि साधारणतया पहचान नहीं हो सकती थी। 26 मार्च को उनका अंतिम संस्कार हुआ, परंतु उनका यश: शरीर कभी क्षय नहीं होगा।



अनोखा मालिक

दशरथप्रसाद द्विवेदी

श्रद्धेय गणेशशंकरजी विद्यार्थी जिस पुण्यलोक से इस मृत्युलोक में आए थे, अपनी प्रतिभा की आभा दिखाकर और भारतीय नौजवानों को व्यावहारिक देश-भक्ति के पथ का पथिक बनाकर, फिर उसी पुण्यलोक को चले गए। विद्यार्थीजी को उनके सगे संबंधी, हित-मित्र, संगी-साथी, सभी 'गणेशजी' कहकर पुकारा करते थे। इस संबोधन में सबको एक अजीब लुत्फ आता था। आज भी गणेशजी अथवा विद्यार्थीजी कहने में मुझे विशेष आनंद आता है। सच पूछिए, तो इस प्रकार 'पुकारने का नाम' लेने की चाल गणेशजी की ही चलाई हुई है। प्रताप प्रेस में जाने के पहले और वहाँ से आने के बाद, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, मुझे बीसियों सरकारी, अर्द्ध-सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं तथा समाजों के संसर्ग में आने का अवसर मिला, परंतु समता और भाईचारे का जो शुद्ध व्यवहार गणेशजी अपने यहाँ के छोटे-बड़े सभी लोगों के साथ रखते थे, वह आज तक मुझे कहीं देखने को भी नहीं मिला। 'प्रताप' प्रेस की उनके जीवन-काल में यह सबसे बड़ी विशेषता थी।

जिस समय 'प्रताप' निकला, मैं बी.एन.डब्ल्यू.आर. में टेलीग्राफ (तार) इंस्पेक्टर था और हमारे गोरखपुर के श्री महावीरप्रसाद पोद्दार उस समय कानपुर में ही थे। वहीं पोद्दारजी के पिताजी की कपड़े की दुकान थी। पोद्दारजी उसी पर बैठते थे। इस प्रकार उनसे और गणेशजी से काफी परिचय हो गया था। पोद्दारजी और गणेशजी में हेल-मेल हो जाने से 'प्रताप' की सबसे पहली एजेंसी गोरखपुर में हुई, जो अब भी कायम है। इसी एजेंसी से लेकर मैं 'प्रताप' पढ़ा करता था। वे सब प्रतियाँ आज तक मेरे पास सुरक्षित हैं और अक्सर

जब मौका मिलता है, तब मैं उन्हें अब भी उलट-पलट जाता हूँ, और मुझे उन प्रतियों को पढ़ने में आज भी वही आनंद मिलता है जो उस समय 'प्रताप' पढ़ने में मिलता था। 'प्रताप' की इन प्रतियों में एक मात्र गणेशजी के ही व्यक्तित्व की छाप है। इनमें अथ से इति तक सभी गणेशजी का लिखा या उनका संपादित किया हुआ होता था।

उस समय मेरा और गणेशशंकरजी का कोई परिचय नहीं था। आपस में कभी पत्र-व्यवहार भी नहीं हुआ था। देवता समझकर मैं उनकी आराधना किया करता था। हिंदी पढ़ने और विकट से विकट शब्द समझ लेने का उस वक्त तक अभ्यास तो मुझे हो गया था, पर हिंदी में ठीक-ठीक लिख नहीं पाता था। इसीलिए कई बार कलम-दवात लेकर गणेशजी को चिट्ठी लिखने बैठा, कभी-कभी दो-चार-दस सतरें लिखीं भी, लेकिन संकोचवश कभी उन्हें कोई चिट्ठी भेजी नहीं। गणेशजी को मैंने कभी देखा-सुना तो था नहीं, इसलिए साधारण पाठक, संपादकों के प्रति जो विविध कल्पनाएँ किया करते हैं, बैठे-बैठे वही कल्पनाएँ मैं भी किया करता था। इसी बीच गणेशजी सोनपुर (हरिहरक्षेत्र) का मेला देखने आए। जब वे आकर लौट गए, तो मुझे पता चला। जितना पछतावा मुझे उस समय हुआ, जीवन में शायद ही एकाध बार हुआ हो।

थोड़े दिन और गुजरे। सन् 1915 में हिंदी साहित्य सम्मेलन का लखनऊ अधिवेशन था। पं. श्रीधर पाठक उसके सभापति थे। अपने कुछ गोरखपुरी मित्रों के साथ मैं भी लखनऊ गया था। कानपुर से श्री गणेशजी और शिवनारायणजी भी आए थे। अपने जीवन में पहलेपहल इसी शुभ अवसर पर मुझे गणेशजी के दर्शन हुए। उनके मृदुल स्वभाव और दोनों हाथ जोड़कर वंदे कहने के ढंग ने मुझे मोहित कर लिया और फिर वे मेरे कंधे पर हाथ रखकर लगे मुझसे घुल-मिलकर बातें करने। श्री महावीरप्रसाद पोद्दार भी मेरे साथ थे। उन्होंने गणेशजी से मेरा परिचय कराया था। 'प्रताप' के लेखों का मेरे हृदय पर काफी प्रभाव पड़ चुका था। मैं 'प्रताप' में रहकर कुछ काम करना चाहता था। पोद्दारजी ने गणेशजी से वहीं इसका जिक्र किया। हम तीनों व्यक्ति एक इक्के पर बैठे और सभास्थल से अमीनाबाद गए। इक्का पर आगे इक्केवान की बगल में बैठने के लिए तीन मिनट तक हुज्जत हुई और इस 'आसन' पर गणेशजी ही आसीन हुए। मेरी तो आँखें खुल गईं।

मैं पुलिस ट्रेनिंग स्कूल के लिए नामजद हो चुका था। खुद इस 'लाइन'

में जाने की इच्छा तो नहीं थी, लेकिन घरवाले बहुत मजबूर कर रहे थे, परंतु गणेशजी का ऐसा सरल व्यवहार देखकर मैंने इक्के पर ही यह प्रतिज्ञा की कि मैं थानेदारी का काम न करके गणेशजी के ही चरणों में रहकर मनुष्यता का सबक सीखूँगा और अपने मानव जीवन को सार्थक करूँगा। रास्ते में बहुत सी बातें हुईं। गणेशजी ने कहा, ''इसमें तो सिवा दुःख के सुख नहीं है। इस क्षेत्र में आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत उठानी पड़ेंगी। संभव है, कभी-कभी फाकों तक ही नौबत आ जाए। दोयम यह कि अब तक आप काफी कमाते रहे हैं, उन कामों में आगे भी तरक्की की गुंजाइश है, परंतु हमारे यहाँ जो आपको मिलेगा वह बहुत कम और सर पर झंझट रहेगा ज्यादा। मालूम नहीं, हमारे यहाँ जो आपको मिलेगा उससे आप अपनी भी गुजर कर सकेंगे या नहीं, इसलिए सोच-समझकर तब इस मैदान में कदम रखिए।'' 'सारांश यह कि ऊपरी तरीके से उन्होंने मुझे बहुत हतोत्साहित किया, लेकिन मैंने जब दृढ़ता दिखाई, तो उन्होंने कहा कि ''अच्छा तो पोद्दारजी को मैं लिखूँगा।'' पोद्दारजी को उन्होंने लिखा, ''दशरथजी को अभी खूब ठोंक बजाकर तब मुझे लिखिए।''

6 दिसंबर, सन् 1915 को, मेरे संबंध में गणेशजी ने पोद्दारजी को यह पत्र लिखा, ''दशरथजी के विषय में हमारा निश्चय यह है कि वे यहाँ आ जाएँ। काम हमारे यहाँ मेहनत का है, यह तो आप, हम और दशरथजी सभी जानते हैं, इसलिए हमें इस बात को देखने की आवश्यकता है कि अपनी योग्यता और श्रमशीलता के मुकाबले में दशरथजी हमारे काम को अधिक तो नहीं पाते।...यदि हम देखेंगे कि काम उनकी शक्तियों से अधिक है, या उनके और हमारे मिजाजों में बहुत अंतर है, तो अपने स्नेह को दूर किए बिना ही हम दोनों एक-दूसरे से नमस्कार कर लेंगे।...मैं ऐसा अवसर आने देना नहीं चाहता कि अपने एक हितैषी के बुरे बनें तथा उनकी सहानुभूति से वंचित हो जाएँ। यदि हम पहले ही स्पष्टता से काम लेंगे तो संभव है कि दशरथजी और हम लोगों का मन न मिले, परंतु इस कारण हम दोनों पक्ष एक-दूसरे के अशुभ-चिंतक न बन सकेंगे।''

पुलिस ट्रेनिंग स्कूल खुलने की तारीख 2 जनवरी नजदीक थी। इसलिए, लखनऊ से लौटने के बाद मैंने पहलेपहल गणेशजी को एक कार्ड भेजा। उसका उत्तर 10 दिसंबर, 1915 को उन्होंने इस प्रकार दिया, ''...आप तुरंत चले आएँ, शर्त यही है कि हम दोनों एक-दूसरे को एक मास तक खूब ठोंक-बजा लें।

अनोखा मालिक

यदि देखें कि नहीं निभेगी तो अपना रास्ता अलग-अलग है ही और नहीं तो फिर अच्छी प्रकार मिल-जुलकर काम करें। यह शर्त इसलिए है कि पीछे हम दोनों को एक-दूसरे की शिकायत न करनी पड़े।...यदि आप हमारा हाथ बँटाना चाहते हैं, तो इस शर्त को तनिक भी बुरा न समझकर चले आइए। आपका काम स्वयं आपको हमारा साथी बना लेगा, शायद ऐसा साथी बना ले कि किसी समय हम लोग आपके बिना कुछ भी न कर सकें...आपके साथ पूरी समानता और पूरे प्रेम के साथ व्यवहार करना हमारे हृदय का सबसे पहला कर्तव्य होगा और इस कर्तव्य में, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, हम लोग किसी प्रकार भी कम नहीं उतरेंगे।''

उपर्युक्त दोनों पत्रों को उद्धृत करके मुझे दिखाना है कि सन् 1930-31 के श्री गणेशशंकर विद्यार्थी और सन् 1914-15 के गणेशशंकर विद्यार्थी में सिवा आयु-वृद्धि के कुछ विशेष अंतर नहीं था। आज गणेशजी के जिन गुणों पर लोग मंत्रमुग्ध से हैं वे सब गुण आज से 36-37 वर्ष पहले केवल अंकुरित ही नहीं थे, बल्कि पूर्णत: उनका विकास हो चुका था।

घरवालों से छिपाकर, दिसंबर सन् 1915 के अंतिम सप्ताह में, मैं कानपुर पहुँचा। 'प्रताप' के जीवन का उस समय एक अध्याय समाप्त हो चुका था। पहले श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, पं. शिवनारायण मिश्र और श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी तीनों मिलकर पीली कोठी में प्रताप का संचालन करते थे। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कुल काम इन्हीं तीनों व्यक्तियों को करना पड़ता था, परंतु जब मैं पहुँचा, 'प्रताप' प्रेस तथा 'प्रताप' कार्यालय पीली कोठी से उठकर उस इमारत में आ चुका था, जहाँ इस समय 'प्रताप' प्रेस है। अरोड़ाजी ने 'प्रताप' से अपना हाथ खींच लिया था।

संपादन कार्य विद्यार्थीजी और प्रबंध कार्य मिश्रजी किया करते थे। डिस्पैच आदि के लिए श्री शीतलाप्रसाद नाम के एक क्लर्क थे, जो अब तक 'प्रताप' में ही काम कर रहे हैं। बस 'प्रताप' के स्टाफ में यही तीन मूर्तियाँ थीं। इनके अलावा थे कुछ कंपोजीटर्स और प्रेसमैन। गणेशजी उस समय म्युनिसिपल दफ़्तर के पास अपने एक रिश्तेदार के यहाँ रहा करते थे। मेरे कानपुर पहुँचने की खबर उन्हें पहले से ही थी। वे रोज सुबह जुही की तरफ घूमने जाया करते थे। उस दिन उधर न जाकर कार्यालय में ही चले आए। ज्यों ही सीढ़ियों को पार करके ऊपर हॉल में मैं पहुँचा, चौकी से उछलकर उन्होंने मुझे लिपटा लिया

और लगे बच्चों की तरह प्रेमपूर्वक मुझे उछालने। लखनऊ के बाद उनसे भेंट होने का यह दूसरा मौका था।

गणेशजी के सामने ही मैंने उस सप्ताह के 'प्रताप' के अंतिम फार्म के प्रेस प्रूफ देखने का भार ले लिया था। सोचा कि हिंदी तो मैं जानता ही हूँ, क्या अशुद्धियों को शुद्ध न कर सकूँगा? पर गणेशजी के चले जाने के बाद जब मैंने फार्म देखना शुरू किया, तो प्रूफ-संशोधन की एक विकट समस्या मेरे सामने उठ खड़ी हुई। मैं बड़ी चिंता में पड़ा कि गणेशजी बंबई जा रहे हैं, शिवनारायणजी कुछ बीमार हैं, अगले सप्ताह कार्य कैसे सधेगा? इसके पहले मैंने न तो किसी अखबार के लिए कभी एक लाइन लिखी थी और न किसी प्रेस की शक्ल देखी थी। गणेशजी जब कहीं बाहर जाते थे, और उन दिनों वे बाहर बहुत कम जाते थे, तो श्रीयुत वेणीप्रसाद अग्रलेख और टिप्पणियाँ आदि लिख दिया करते थे। वे उस समय क्राइस्ट चर्च कॉलेज के विद्यार्थी थे। बाकी मैटर शिवनारायणजी इधर-उधर से काट-छाँट कर दिया करते थे। मैं प्रूफ आदि देख लिया करता था और उर्दू पत्रों से कुछ समाचार छाँट दिया करता था।

गणेशजी के 'प्रताप' की पहले ही से धूम थी। चंपारन-आंदोलन की वजह से तो 'प्रताप' की ख्याति और भी बढ़ गई, परंतु गणेशजी को बज़ात खुद बहुत कम लोग जानते थे। जितना 'प्रताप' का नाम रौशन था, उतना उसके संपादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी का नहीं। कानपुर के कुछ साहित्यिक मित्रों के अलावा प्रतिष्ठित व्यक्तियों में दस-बीस लोगों से उनकी खासी जान-पहचान थी। गणेशजी का एकमात्र काम था समाचार-पत्रों का अवलोकन, पुस्तकों का अध्ययन और 'प्रताप' का संपादन। सभा-सोसाइटियों में जाने का न उन्हें अवकाश ही था और न उस समय इस ओर उनकी विशेष रुचि ही थी। कानपुर शहर में 'प्रताप' भी विशेष नहीं पढ़ा जाता था।

मुश्किल से दो-ढाई सौ उसके खरीदार थे और 40-50 प्रतियाँ फुटकर बिक जाती थीं। युक्त प्रांत तथा बिहार प्रांत के देहातों में अलबत्ता उसका बेहद प्रचार था। 'प्रताप' इसीलिए निकाला ही गया था। इतने कम समय में देहाती संसार में जितना 'प्रताप' का प्रचार हुआ, उससे पूर्व किसी हिंदी पत्र का नहीं हुआ था।

गणेशजी के लिखने की अपनी एक खास शैली थी। इस शैली के वे ही प्रवर्तक थे। बहुत से युवकों ने इस शैली को अपनाने और अनुकरण करने

की कोशिश की, लेकिन किसी को आशातीत सफलता नहीं मिली। गणेशजी के लेखों में वजन होता था। गूढ़ से गूढ़ तत्त्वों को सीधे-सादे ढंग से व्यक्त करने में वे बहुत कुशल थे। उनकी भाषा में प्रवाह होता था, उपयुक्त शब्दों को रखने का उनका एक निराला ढंग था। उनके लेखों की एक-एक लाइन से ओजस्विता और राष्ट्रीयता टपकती थी। लेखों के लिखने के संबंध में वे कहा करते थे कि लेखक पहले यह समझ ले कि वह पाठकों के सामने क्या बात पेश करना चाहता है। फिर वह उन बातों को इस ढंग से प्रकट करे गोया उस लेख को पढ़ने वाला इस विषय में पहले से कुछ जानता ही नहीं। इसलिए उनके एक-एक शब्द दिल में नक़्श हो जाते थे। यह खूबी या तो मैंने गणेशजी के लेखों में पाई या लाला लाजपतराय के व्याख्यानों में।

गणेशजी न तो साहित्यिक 'जीव' थे, न हिंदी के पंडित। हिंदी तो वे पहले ठीक-ठीक जानते भी नहीं थे। हिंदी लिखना तो उन्होंने आचार्य पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी से सीखा। उनके हिंदी ज्ञान के बस ये ही स्रोत थे। आचार्य द्विवेदीजी का कहना है कि अच्छी हिंदी वही लिख सकता है जो उर्दू का जानकार हो। गणेशजी का भी यही मत था। जब मैं 'प्रताप' में गया तो उन्होंने मुझसे पं. रतननाथ सरशार के उपन्यास पढ़ने को कहा और उनके कई उपन्यास उन्होंने मुझे खुद लाकर दिए भी। 'प्रताप' की भाषा को गणेशजी टकसाली भाषा कहा करते थे। इस भाषा पर उनका पूरा प्रभुत्व था। वे मुझसे बराबर ऐसी ही भाषा लिखने को कहा करते थे। एक बार मैंने ठीक-ठीक उनका अनुकरण भी किया, प्रयाग के एक महंतजी के विरुद्ध आया हुआ एक समाचार छापकर। गणेशजी कार्यवश खंडवा चले गए थे। इसी बीच में, महंतजी का नोटिस मिला। हम लोग बड़ी चिंता में पड़े। अंत में उस नोटिस का हवाला देते हुए मैंने एक टिप्पणी लिखी, जिससे न तो पिछले समाचार का खंडन होता था और न उसका समर्थन। गणेशजी को जब 'प्रताप' का वह अंक खंडवा में मिला, तो उनका कहना था कि पंद्रह मिनट तक वे सोचते ही रह गए कि इस टिप्पणी को उन्होंने कब लिखा। उनके लौटने पर जब भेद खुला, तो उन्होंने मेरी पीठ पर जोर-जोर से दो-तीन थपकियाँ दीं। गणेशजी जब किसी से प्रसन्न होते थे, तो वे ऐसा ही किया करते थे। और तभी से वे मुझसे संपादकीय टिप्पणियाँ आदि लिखवाने लगे।

अनोखा मालिक

प्रथम व्याख्यान

कानपुर में पहलेपहल एक राजनीतिक कॉन्फ्रेंस की योजना बनी। गणेशजी का इस योजना में पूरा हाथ था। पं. इकबालनारायण गुर्टू इस कॉन्फ्रेंस के सभापति थे। लखनऊ के पं. गोकर्णनाथ मिश्र भी इस कॉन्फ्रेंस के लिए खास तौर पर बुलाए गए थे। दो-एक बार पहले भी वे कानपुर में आकर व्याख्यान दे चुके थे। हँसमुख होने के कारण उनके व्याख्यान लोगों को बहुत पसंद आते थे। इसलिए उनके आ जाने से वह कॉन्फ्रेंस बड़ी सफल हुई। कानपुर में यह पहली सभा थी, जिसमें सर्वसाधारण ने विशेष रूप से भाग लिया, परंतु गणेशजी इस सभा में भी कुछ नहीं बोले। मैंने अलबत्ता 'सनेही' जी लिखित एक स्वागत-गान पढ़ा था। मंच पर आने का यह मेरा पहला मौका था। कविता बड़ी अच्छी थी। मैंने उसे पढ़ा भी ठिकाने से। इसका लोगों पर प्रभाव पड़ा। सभा खतम हो जाने पर बातों ही बातों में गणेशजी ने पूछा कि ''आगे से अगर मैं भी सभाओं में बोला करूँ, तो कैसा रहे?'' पूरी मित्र-मंडली जुटी थी। सबने जोर दिया कि आपको सभाओं में अवश्य बोलना चाहिए। गणेशजी ने कहा कि सभाओं में बोलने में मुझे हिचक मालूम होती है। इस पर सभाओं में बोलनेवाले एक मित्र गरज उठे, 'जैसे आप लिखते हैं, वैसे बोल भी सकते हैं। इसमें घबराहट की कौन सी बात है? समझ लीजिए कि जितने श्रोता हैं वे मूर्ख हैं।'' इस पर खूब ठहाका मचा। गणेशजी ने कहा, ''अच्छा सोचूँगा कि बोलूँ या न बोलूँ।''

होमरूल आंदोलन उठाने के कारण मि. अरेंडेल और मि. बाडिया के साथ श्रीमती एनी बेसेंट नजरबंद हो चुकी थीं। पब्लिक में उस समय बड़ा जोश था। शहर और नगर-नगर में प्रतिवाद सभाएँ हो रही थीं। कानपुर में भी एक ऐसी ही सभा हुई। इसी सभा में गणेशजी पहले-पहले बोले। बोले क्या, बोलने को मजबूर किए गए। हम लोगों ने जबरदस्ती उन्हें ठेल-ठालकर मंच पर खड़ा कर दिया। गणेशजी बड़े ही शुद्ध और सच्चे विचार के कर्मनिष्ठ पुरुष थे। जिस तरह से उनके लेख लिखने का एक नया तर्ज था, उसी तरह से उनके बोलने का भी एक खास लहजा था। वही जोर और वही जोशोखरोश। गणेशजी के इस पहले व्याख्यान का श्रोताओं पर खूब असर पड़ा। व्याख्यान देकर जब गणेशजी मंच से उतरे, तो उन्होंने हम लोगों से पूछा, ''क्यों भाई, मैं कैसा बोला?'' हम लोगों ने उनके व्याख्यान की तारीफ की। उन्होंने कहा, ''मालूम

अनोखा मालिक

होता है कुछ ऊटपटाँग ढंग से कह गया हूँ। इसीलिए तुम लोग मुझे बनाते हो!'' चूँकि हम लोग हँस-हँसकर उनसे बातें करते थे, इसलिए उन्हें हम लोगों की बातों पर यकीन ही नहीं आया, लेकिन इसके बाद तो गणेशजी पूरे स्पीकर या ऑरेटर हो गए। अगर वे कभी न बोलने की इच्छा प्रकट करते थे, तो भी जनता उन्हें बोलने के लिए मजबूर करती थी। कई बार तो बीमार होते हुए भी उन्हें बोलना पड़ा। वे बोलते क्या थे, दिल की वेदनाएँ शब्दों में प्रकट कर दिया करते थे। जब से उन्होंने बोलना शुरू किया, कानपुर की पब्लिक का ध्यान उनकी तरफ विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इसके बाद तो फिर गणेशजी खुलकर सभी सभाओं में भाग लेने लगे।

अब गणेशजी पर दोहरी जिम्मेदारी आ पड़ी, एक तो 'प्रताप' का संचालन और संपादन, दूसरी सभा-सोसाइटियों का आयोजन। 'प्रताप' द्वारा वे सार्वदेशिक हित किया करते थे और सभा-सोसाइटियों द्वारा कानपुर की भलाई। गांधीजी और लोकमान्य तिलक उस समय तक कानपुर नहीं आए थे। उन्हें कानपुर में बुलानेवाला था भी कौन? बाबू आनंदस्वरूप, बाबू विक्रमाजीत सिंह, बाबू ज्वालाप्रसाद आदि लिबरल टाइप के आदमी थे। डॉ. मुरारीलाल, डॉक्टरी के साथ-साथ इमारतें आदि बनवाने का काम किया करते थे। डॉ. जवाहरलाल बिलकुल तटस्थ थे। बाबू दयानारायण निगम ऑनरेरी मजिस्ट्रेटी और अपने दोनों अखबारों में लगे-लिपटे थे। केवल बाबू नारायणप्रसाद निगम, एडवोकेट ऐसे शख्स थे जो उस समय कुछ न कुछ किया करते थे। श्रीयुत नारायणप्रसाद अरोड़ा उस वक्त बिलकुल मौन थे। चार-पाँच व्यक्तियों की उनकी एक खास मंडली थी। वे उसी में मस्त थे। छोटे-मोटे दस-पाँच आदमी थे, वे गणेशजी का पल्ला पकड़े हुए थे और उन्हीं को साथ लेकर गणेशजी कानपुर में कुछ काम करा लेते थे। जब से गणेशजी 'मंच' पर प्रकट हुए, सभाओं की कानपुर में अच्छी धूम मची। उस समय भी सभास्थल वही था, जो आजकल है, यानी श्रद्धानंद पार्क।

तिलक व गोखले का आगमन

इतने में लखनऊ (सन् 1916) की कांग्रेस का समय आ पहुँचा। नरम और गरम दोनों दलों का यहाँ मिलाप होने वाला था। इसलिए कानपुर से लखनऊ इतने लोग गए कि स्पेशल ट्रेनों का ताँता बँध गया। गणेशजी ने निश्चय किया कि लखनऊ से लौटते समय गांधीजी और लोकमान्य तिलक को कानपुर लाया

जाए। उनके इस निश्चय पर अमल शुरू हो गया, परंतु इतने बड़े शहर में उनको ठहराने के लिए कहीं कोई जगह ही नहीं मिली। झख मार कर बड़ी मुश्किल से ई.आई.आर. के पुराने जंक्शन स्टेशन के पास एक धर्मशाला में लोकमान्य तिलक के ठहराने का बंदोबस्त किया गया और गांधीजी को मि. पोलक के साथ 'प्रताप' ऑफिस में ठहराया गया। तिलक महाराज का जुलूस कानपुर में बड़ी धूम से निकला और एक सार्वजनिक सभा में उनका भाषण भी हुआ, परंतु गांधीजी का उस समय कानपुर में कोई व्याख्यान नहीं हुआ और न कोई जुलूस ही निकला। गांधीजी उस समय तीसरे दर्जे में सफर करते थे, नंगे पैर रहते थे, सर पर एक काठियावाड़ी ढंग की पगड़ी बाँधा करते थे और एक चौबंदी पहना करते थे। अपने कंधे पर खादी का एक झोला भी टाँगे रहते थे। भरी हुई एक स्पेशल ट्रेन से वे रात को आठ-नौ बजे कानपुर उतरने वाले थे। शिवनारायणजी और मैं स्टेशन पर उन्हें लेने गए थे। बड़ी मुश्किल से हम लोग उन्हें ढूँढ़ पाए। बहुत कोशिश की खादी का झोला हम लोग उनसे ले लें, परंतु हम लोग अपने इस प्रयत्न में विफल रहे।

कानपुर के लोग तो उस समय लोकमान्य तिलक को अपने यहाँ ठहराने में डरते थे, तो उनके लिए अपनी सवारी कौन देता। इसलिए मजबूरन गांधीजी और मि. पोलक को रात को शिवनारायणजी के ताँगे पर लोग स्टेशन से 'प्रताप' कार्यालय ले आए। उन दिनों रात को गांधीजी दूध के सिवा कुछ नहीं लेते थे। 'प्रताप' ऑफिस के बड़े कमरे में फर्श पर एक बड़ी दरी बिछी और मि. पोलक[1] और गांधीजी ने वहीं जमीन पर विश्राम किया। मि. पोलक उस समय लुंगीनुमा एक धोती अथवा पाजामा और एक कुरता पहना करते थे। गांधीजी की खुराक थी उस समय कच्ची मूँगफली और बिना घी की खिचड़ी। दूसरे दिन यही उन्हें अर्पित किया गया। मि. पोलक ने भी इसमें हिस्सा बँटाया और कौतूहलवश हम लोगों ने भी उसे चखा। गांधीजी शहर के व्यक्तियों से मिलकर कुछ राजनीतिक वार्ता करना चाहते थे, परंतु वहाँ कोई आया-गया नहीं। केवल डॉक्टर मुरारीलाल और बाबू नारायणप्रसाद निगम अपने कुछ साथियों के साथ अवश्य पधारे थे। गांधीजी की 'हिंद स्वराज्य' नामक पुस्तिका की उन दिनों

1. पोलक और सी.एफ. एंड्रयूज दक्षिण अफ्रीका में कार्यरत मिशनरी थे। गांधी ने 1907 में जो सत्याग्रह किया था उसमें भारतीयों के पक्ष में इन दोनों की भूमिका थी।

अनोखा मालिक

बहुत चर्चा थी। इसी पर डॉक्टर साहब आदि ने कई प्रश्न किए। गांधीजी ने उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया, लेकिन उनके उत्तर से लोग संतुष्ट नहीं हुए। मि. पोलक कानपुर से बंबई चले गए और गांधीजी अहमदाबाद।

इसके बाद तो कानपुर में नेता भी आने लगे और श्रोता भी। इन सब का श्रेय एकमात्र गणेशजी को था। एक बार पं. हृदयनाथ कुंजरू किसी काम से कानपुर आए। ठहरे तो वे कहीं दूसरी जगह थे, लेकिन गणेशजी से भेंट करने वह 'प्रताप' ऑफिस में पहुँचे थे। दो घंटे तक दोनों में खूब घुल-मिलकर बातें हुईं, गणेशजी से मिलकर वे बहुत खुश हुए। इस मुलाकात के थोड़े ही दिनों बाद 'प्रताप' की एक हजार रुपए की जमानत जब्त हो गई। प्रेस ऐक्ट के अनुसार अंदेशा था कि कहीं दस-पाँच हजार की जमानत न माँग ली जाए। इसलिए कुंजरूजी के जरिए से मि. चिंतामणि से मिलने के लिए गणेशजी ने मुझे सीतापुर भेजा। वहाँ पं. गोकर्णनाथ मिश्र के सभापतित्व में प्रांतीय राजनीतिक कांग्रेस हो रही थी। सब लोग वहीं जुटे थे। मैं जाकर कुंजरूजी से मिला। गणेशजी की प्रशंसा करते हुए उन्होंने बड़े प्रेम से मुझसे बातें कीं। तुरंत मुझे लेकर मि. चिंतामणि के पास गए। यद्यपि 'प्रताप' की नीति से मतभेद होने के कारण मि. चिंतामणि कुछ भुनभुनाए जरूर, लेकिन जान-पहचान न होते हुए भी गणेशजी के प्रति उनके हृदय में भी आदर का भाव था। इसलिए उनकी कोशिश का नतीजा यह हुआ कि दोबारा 'प्रताप' से रु. 1000/- की ही जमानत ली गई।

साहित्यिक लोगों का तो 'प्रताप' एक अड्डा ही था। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, रसिकेंद्र जी, पं. बदरीनाथ भट्ट, बाबू वृंदावनलाल वर्मा, श्री भगवन्नारायण भार्गव, पं. मन्नीलाल पांडेय आदि सभी मौका पाकर कानपुर पहुँच जाते थे। 'सनेही' जी तो 'प्रताप' के कविता विभाग के इंचार्ज ही थे। वे बराबर कानपुर आया करते थे। 'एक भारतीय आत्मा' (पं. माखनलाल चतुर्वेदी) ने अपने-आप को बहुत दिनों तक गुप्त रखा, लेकिन फिर गणेशजी से उनकी इतनी गाढ़ी छन गई कि गणेशजी अथवा शिवनारायणजी उनसे मिलने अकसर खंडवा आया करते थे। एक बार सन् 1918-19 में चतुर्वेदीजी सख्त बीमार हो गए, तब कानपुर में ही लाकर गणेशजी ने उनकी दवा-दारू की। फिरोजाबाद के पं. ठाकुरप्रसाद शर्मा (एक्जीक्यूटिव अफसर, बनारस) और पं. श्रीकृष्णदत्त पालीवाल उस जमाने में आगरा कॉलेज के विद्यार्थी थे। ये दोनों महाशय विद्यार्थीजी के कृपापात्रों में से थे। पालीवालजी तो गरमी की छुट्‌टी अथवा और कोई लंबी

छुट्टी कानपुर में ही बिताया करते थे। मुझसे गणेशजी ने एक बार कहा था कि ठाकुरप्रसादजी तो नहीं, किंतु पालीवालजी अवश्य सार्वजनिक कार्य की ओर झुकेंगे। गणेशजी की यह भविष्यवाणी सोलहों आने सच निकली।

गणेशजी से यह कभी नहीं होता था कि वे असहायों, पीड़ितों और दलितों की फ़रियाद को अनसुनी कर दें। ढाल बनकर उनकी मदद किया करते थे और तमाम जोखिम अपने सर पर ओढ़ लेते थे। रियासतों की प्रजा की तरफ बहुत दिनों बाद लोगों का ध्यान गया, लेकिन हिंदी पत्रों में इस संबंध में पहलेपहल 'प्रताप' ने ही अपनी आवाज बुलंद की थी। राजपूताना से एक पत्र आया था। लेखक ने वहाँ की कुछ रियासतों का बड़ा ही दर्दनाक चित्र खींचा था और गणेशजी से अनुरोध किया था कि वे इस आंदोलन को अपने हाथ में लें। लेखक अपना नाम और पूरा पता देने को तैयार भी नहीं थे, लेकिन अपने पत्र में गणेशजी को उन्होंने विश्वास दिलाया था था कि उनकी लिखी हुई बातें सब सच हैं। बस केवल इसी विश्वास पर 'पथिक' के लेख 'प्रताप' में छपने लगे और रियासत में इससे एक सनसनी पैदा हो गई। पथिक ने तब भी अपना पूरा नाम प्रकट नहीं किया और वी.एस. पथिक के नाम से उनकी चिट्ठियाँ आती रहीं। गणेशजी ने उनका पूरा नाम जानने की कभी इच्छा नहीं की। उनसे भेंट भी हुई तब भी पथिकजी कहकर ही उन्होंने उनसे बातें कीं। जब पथिकजी खुद 'विजय सिंह' कहकर प्रकट हुए तब हम लोगों ने उनका पूरा नाम जाना। देशी रियासतों के इस आंदोलन में 'प्रताप' को आगे चलकर कितनी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी, इसे तो सभी जानते हैं।

गणेशजी काम से तो नहीं, लेकिन नाम से सदा भागते थे। पहले 'प्रताप' में वे संपादक के स्थान पर अपना नाम देते थे। मेरे जाने के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने अपना नाम[1] पत्र से हटा लिया और उस वक्त तक अपना नाम नहीं छापा, जब तक कि कानूनन नाम छापना आवश्यक नहीं हो गया। जब तक पत्र का प्रत्यक्ष भार उन पर था, उन्होंने अपनी किसी स्पीच आदि की

---

1. सन् 1921 में गणेशजी की लोकप्रियता शिखर पर थी, अतः प्रताप से नेकचलनी की जमानत माँगी गई। 5-5 हजार और 10 हजार की जमानत से 'प्रताप' को बचाने के लिए 1 मई, 1930 को संपादक पद से त्यागपत्र दे दिया और श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल संपादक हुए।

अनोखा मालिक

बात नहीं छापी। लेकिन उनका काम ही इतना व्यापक हो गया कि आखिरकार उन्हें कानपुर के बाहर विस्तृत क्षेत्र में आने के लिए मजबूर होना पड़ा। अगर भाई बालकृष्णजी और उनके साथी 'प्रताप' का ज्यादा भार अपने कंधों पर न उठा लेते, तो गणेशजी बाहरी कामों में इतना भी वक्त न देते, जितना वे पिछले दो-तीन वर्षों से देते आ रहे थे। गणेशजी का सन् 1913 से सन् 1931 तक जितना काम हुआ वह इतना ठोस हुआ है कि उनके एक-एक काम के संबंध में एक-एक स्वतंत्र पोथी तैयार की जा सकती है।

गणेशजी का जीवन त्याग का जीवन था। जिस समय मैं 'प्रताप' में गया, वे उससे केवल चालीस रुपए मासिक लेते थे और बराबर हिसाब देखा करते थे कि कहीं उन्होंने ज्यादा तो नहीं खर्च कर डाला। जब 'प्रताप' अपने पैरों पर खड़ा हो गया और उससे कुछ लाभ की संभावना हुई, तो प्रेस और पत्र दोनों उन्होंने एक ट्रस्ट के सुपुर्द कर दिए। क्या यह मामूली आत्म-बलिदान था? और उनका अंतिम बलिदान, अपनी और देश की उससे भारी क्षति होते हुए भी, हम कहेंगे कि वह गणेशजी के अनुरूप ही हुआ। गणेशजी और उनके लिए साधारण मौत ज़ेबा नहीं देती। गणेशजी तो आज भी जीवित हैं और हमेशा जीवित रहेंगे।



योद्धा पत्रकार

विजयदत्त श्रीधर

ऐसे व्यक्तित्व विरले ही होते हैं जो मन-वचन-कर्म से एक हों। अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे ही महापुरुष थे। वे एक समर्थ पत्रकार, समर्पित राष्ट्र सेवक और निष्ठावान सामाजिक कार्यकर्ता थे। भारत की स्वतंत्रता का सवाल हो अथवा सांप्रदायिक सौहार्द का या कि जनता की रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़े प्रश्न हों—विद्यार्थीजी का नजरिया बहुत साफ और सुलझा हुआ होता था। लच्छेदार भाषा के बजाए वे सहज और बोधगम्य ऐसी भाषा का प्रयोग करते थे जिससे आम आदमी के साथ उनका सीधा संवाद कायम हो जाता था और यही वजह है कि अपने समकालीन संपादकों में जो प्रभावोत्पादकता विद्यार्थीजी की लेखनी में थी, वह उन्हें और उनके अखबार को जन-जन के प्रतिनिधि की लोक-मान्यता प्रदान करती थी। उन्होंने जनता की लड़ाई का हथियार तो 'प्रताप' को बनाया ही, स्वयं भी स्वतंत्रता संग्राम के धर्मयुद्ध में उतरे।

विद्यार्थीजी का पत्रकारीय जीवन विधिवत 2 नवंबर, 1911 को आरंभ हुआ, जब वे संपादक प्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी के सहायक होकर 'सरस्वती' में गए। पं. सुंदरलाल से पत्रकारिता की दीक्षा लेने वाले गणेशजी को 'सरस्वती' में अपने राजनीतिक रुझान का निर्वाह नहीं मिल सका और वे साप्ताहिक 'अभ्युदय' में चले गए। यह समय उनकी पत्रकारिता के निखार का था। अंततः 9 नवंबर, 1913 को विद्यार्थीजी ने कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन शुरू किया। वह उनके अपने सोच और विचारों का प्रतिबिंब था, जिसके पीछे काम कर रही थी लोकमान्य तिलक और पं. सुंदरलाल की विचारधारा।

अभिव्यक्ति की आजादी के प्रति विद्यार्थीजी की निष्ठा और किसी अखबार

का गला घोटने की कुचेष्टाओं के विरुद्ध उनकी तड़प 9 अगस्त, 1915 की उस टिप्पणी में झलकती है जब 'अभ्युदय' से जमानत माँगी गई थी। 'प्रताप' में उन्होंने लिखा, ''प्रेस ऐक्ट के अनुसार 'अभ्युदय' से पूरे ढाई हजार की जमानत माँगी गई है। इस कड़े जमाने में, जबकि भारतीय समाचार-पत्रों का गला घोट देने के लिए कड़े से कड़े शिकंजों का जन्म होता जा रहा है, किसी पत्र पर जमानत की बिजली गिरना कोई आश्चर्य या अपूर्व घटना नहीं है, परंतु हमें स्वप्न में भी इस बात की शंका नहीं थी कि 'अभ्युदय' का गला इस फाँसी में फँसेगा।…उस घड़ी से जबकि 'अभ्युदय' का जन्म हुआ, आज तक…उसने अपने विचारों और अपनी कर्मशैली से राजा की उतनी ही सेवा की, जितनी कि प्रजा की। देश के प्रति उसने भक्ति दर्शाई, और भक्ति दर्शाई उसने सम्राट और शासन के प्रति भी।…महीनों घाटा सहकर उसने वह काम किया, जो सरकारी प्रेस ब्यूरो के दस पत्र भी न कर सकते थे। बाजारी गप्पों और लोगों के भ्रम को दूर करने में उसने अधिकारियों का पूरा साथ दिया। परंतु आज उसकी धीरता, उसकी शांति, नियमबद्धता, उसकी कर्मण्यता, उसकी हितैषिता, उसकी देश-सेवा और उसकी राजसेवा का यह गहरा पुरस्कार मिलता है।

''…जमानत का रुपया खजाने में न पहुँचना एक बड़ा ही भयंकर अर्थ रखता है। उसके अर्थ हैं कि 'अभ्युदय' बंद हो जाएगा। 'मर्यादा' बंद हो जाएगी। 'अभ्युदय' प्रेस से उच्च और अच्छा साहित्य निकलना बंद हो जाएगा। हिंदी संसार के माथे पर एक टीका लग जाएगा। किसी यश का नहीं, कृतघ्नता और कलंक का।…तो बताओ, कौन सा मार्ग चुनते हो? ऊपर उठने का या नीचे गिरने का? अपने मुहल्ले में भीख माँगकर, अपने मित्रों से चंदा लेकर, अपने हितैषियों से रकमें लेकर 'अभ्युदय' की जमानत की रकम पूरी करने का पूरा प्रयत्न करके अपनी उन्नति का, या अल्प कठिनाइयों के सामने पूरी नीचता के साथ गरदन झुकाकर लोगों को अपने भाव, अपनी दृढ़ता और अपने बल पर कहकहा लगाने हेतु अवसर देने का?''

प्रथम विश्व युद्ध के कारण महँगाई और अभाव ने जब जन-जीवन को त्रस्त कर रखा था, 21 जनवरी, 1918 को 'प्रताप' में विद्यार्थीजी ने लिखा, ''एक नई मुसीबत उठ खड़ी हुई है। रोज काम में आने वाली चीजें महँगी होती जा रही हैं। अन्न, नमक, तेल, कपड़ा आदि का भाव चढ़ता जा रहा है। अन्य वस्तुओं के भाव भी चढ़ गए हैं, परंतु उनके महँगे हो जाने से कोई

विशेष कष्ट नहीं हो सकता!···बंगाल के कितने ही गाँवों में लूटमार हो गई। लुटेरों और डाकुओं ने लूटमार नहीं की, उन लोगों ने ऐसा किया, जो अच्छे गृहस्थ हैं। जब भूखों मरने लगे और तन पर कपड़ा न रहे, तब वे बेचारे क्या करें?···जिनके पेट धुआँ से जल रहे हों, और जिनके शरीर नंगे हों, उनके छीना-झपटी कर बैठने पर, खुद सुख से दिन बिताते हुए, ईमानदारी का उपदेश देना एक ऐसी ठगी और बदमाशी है, जिसको कभी माफ नहीं किया जा सकता।···बंबई में भी गरीबों की शिकायतें बढ़ गई हैं···घर के मालिकों को अच्छा मौका मिला है। वे लोगों को घर से निकल जाने के नोटिस दे रहे हैं। जब किराएदार गिड़गिड़ाता है, तब मकान मालिक साहब मकान का किराया ड्योढ़ा या दुगुना तक करके मान जाते हैं। चीजों की महँगाई का बड़ा भारी कारण युद्ध है।···कोयला, तेल, नमक, अन्न, कपड़ा आदि की महँगाई की बात तो कुछ-कुछ समझ में भी आती है, परंतु यह बात साफ समझ में नहीं आती कि घरों के किराए क्यों बढ़ाए जा रहे हैं। क्या मकान भी युद्ध क्षेत्र में भेजे जा रहे हैं या बाहर से रेल या जहाज पर लदकर आया करते थे, जो अब नहीं आने पाते?··· म्यूनिसिपैलिटियाँ इस मामले में बहुत कुछ कर सकती हैं। देहली की म्यूनिसिपैलिटी ने मार्ग दिखा दिया है। प्रत्येक मोहल्ले में नमक, तेल, मोटे कपड़े, कोयले आदि की दुकानें कायम करा देनी चाहिए। इन दुकानों पर गरीब आदमियों को फुटकर सौदा लागत दाम पर मिलना चाहिए। यदि सट्टे कम पड़ जाएँ तो चीजें उतनी महँगी न रहें। यह इस तरह हो सकता है कि नमक, तेल, मोटे कपड़े आदि वस्तुओं का स्टॉक कोई व्यापारी अपने यहाँ इस गरज से जमा न रख सके कि वह बाजार भाव बढ़ाकर उससे लाभ उठाए।''

काकोरी के शहीदों के प्रति लिखी गई उनकी टिप्पणी बताती है कि मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए सिर पर कफन बाँधकर निकली क्रांतिकारियों की टोली के प्रति उनकी श्रद्धा कितनी गहरी थी। मरण त्योहार के इन आह्वानकर्ताओं के लिए उन्होंने लिखा, ''वे विद्रोह के पुंज हैं! वे भारतवर्ष की अंतः अग्नि की चिनगारियाँ हैं। उनकी माँ हैं, जो आज फाँसी की रस्सी गले में लटकाकर मस्ती का गीत गाते हैं, साल के भीतर त्योहार भी आएँगे, उत्सव भी आएँगे, मेले भी होंगे और खेल-तमाशे भी होंगे। उस वक्त ये माँ क्या कहेंगी और आप जानते हैं कि साल में दो त्योहार कैसे मुश्किल से कटेंगे—राखी और भैयादूज। राखी और भैयादूज के अवसर पर इन घरों में न जाने क्या होगा?

मुन्नी की आँखें 'भैया' को खोजेंगी और अम्माँ की आँखें 'लल्ला' को। सजी हुई थाली में घुली हुई रोली सूख जाएगी और राखी का वह प्यारा सूत प्रतीक्षा करते-करते थक जाएगा। थाली भरी मिठाइयाँ यों ही पड़ी रह जाएँगी। माँ का मुँह सूखा रह जाएगा और हम वैसे ही हँसेंगे, खेलेंगे और खाएँगे।''

'प्रताप' ने देशी रियासतों में प्रजा पर होनेवाले अत्याचारों के खिलाफ जमकर लोहा लिया और ऐसे अनेक आंदोलन चलाए जिसके कारण उन्हें न्याय मिला। ग्वालियर, उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, इंदौर आदि अनेक रियासतों में 'प्रताप' के प्रवेश पर ही रोक लगा दी गई थी। लेकिन विद्यार्थीजी न तो इन प्रतिबंधों के सामने झुके और न ही राजाओं-सामंतों के प्रलोभन उन्हें अपने मार्ग से डिगा सके। उनके स्वाभिमान की सुस्पष्ट झलक भी इन संघर्षों से मिलती है। 1913 में उदयपुर राज्य में शुरू हुआ बिजौलिया सत्याग्रह, जिसका सफल समापन 1922 में हुआ था, 'प्रताप' के प्रतापी संघर्ष का एक उज्ज्वल अध्याय है। बिजौलिया जागीर में आदिवासियों पर होनेवाले जागीरदारों के अत्याचार के खिलाफ विजय सिंह 'पथिक' के नेतृत्व में चले सत्याग्रह की आवाज 'प्रताप' की ही थी। (इस उपलक्ष्य में आदिवासियों ने उन्हें चाँदी की राखी भेजी थी)।

किसान और मजदूर, जो उस दौर में सर्वाधिक त्रस्त परिस्थितियों में बसर कर रहे थे, की निरंतर, पूरी शक्ति से और दूर दृष्टिपूर्वक फिक्र हिंदी पत्रकारिता में पहलेपहल गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' ने ही की। उन्होंने लिखा, ''हम लोगों को कागजी स्वराज्य मसविदा बनाने के लिए झंझट में न पड़कर सीधे गाँवों की ओर मुड़ना चाहिए। हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य दूर करने का एक मात्र यही तरीका है कि ग्राम-संगठन के काम को हाथ में लेकर बिना भेदभाव के भारत के दीन किसानों की सेवा की जाए। उसी तरह शहरों की मिलों में काम करनेवाले लाखों मजदूरों के संगठन की भी आवश्यकता है। किसान और मजदूरों का युग आ गया है। थोथी राजनीति से अब काम न चलेगा।'' विद्यार्थीजी ने इस अग्रलेख के साथ ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर ली, बल्कि वे किसानों के हित में, मजदूरों के हित में, उन पर होनेवाले दमन, शोषण और अत्याचार के खिलाफ लड़े भी।

कानपुर की मजदूर सभा के वे अध्यक्ष रहे, जो उन दिनों देश का एक सशक्त अग्रणी श्रमिक संगठन हुआ करता था। चंपारन में निलहा गोरों के जुल्मों के खिलाफ गांधीजी का संघर्ष हो या रायबरेली और प्रतापगढ़ के किसानों का

आंदोलन, 'प्रताप' ने उनके जायज संघर्ष की आत्मा बनकर चेतना की ऐसी ज्योति प्रज्वलित की, जो अंततः जमींदारी उन्मूलन का आधार बनी।

पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, पं. श्रीराम शर्मा, देवव्रत शास्त्री आदि पत्रकारों की दीक्षा भूमि 'प्रताप' ही रहा और उसने हिंदी में राष्ट्रवादी पत्रकारिता की अलख जगाई। दादा माखनलाल चतुर्वेदी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', श्यामलाल गुप्त 'पार्षद्' आदि उनके सुहृदजनों में से थे। आजादी का एक लोकप्रिय तराना – 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' की प्रेरणा विद्यार्थीजी ही थे।

गणेशशंकर विद्यार्थी एक सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे और उत्तर प्रदेश (तब का युक्त प्रांत) के अग्रणी नेताओं में उनका स्थान था। आरंभ में वे क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित थे, लेकिन 1916 में लखनऊ कांग्रेस में गांधीजी को उन्होंने अपना नेता मान लिया और उन्हीं की राह पर चल पड़े। तथापि, उनका 'प्रताप' और वे स्वयं क्रांतिकारियों के मददगार बने रहे। फरारी में शरण देना, मुकदमों की तैयारी और आर्थिक सहयोग का सिलसिला बनाए रखा। सरदार भगत सिंह ने भी अपना अज्ञातवास 'प्रताप' के संपादकीय सहयोगी के रूप में बिताया था।

सन् 1925 के कानपुर कांग्रेस के आयोजन की धुरी विद्यार्थीजी थे। 1926 में एक उद्योगपति को पराजित कर गणेशजी संयुक्त प्रांत कॉउंसिल के लिए चुने गए। 1929 में सदस्यता छोड़ने के कांग्रेस के फैसले का पालन करनेवाले वे पहले नेता थे। 1929 में फर्रुखाबाद संयुक्त प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए और तदनंतर उन्हें प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष भी चुना गया। 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में गणेशशंकर विद्यार्थी संयुक्त प्रांत के प्रथम डिक्टेटर मनोनीत हुए थे।

24 मार्च, 1931 को कानपुर हिंदू-मुस्लिम दंगे की आग में जलने लगा। पुलिस मौन बैठी जैसे इस आग में और घी डाल रही थी। उधर 23 मार्च, 1931 को भारतमाता के लाड़ले सरदार भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी पर चढ़ा दिया गया था। एक सच्चे इन्सान के रूप में विद्यार्थीजी मानवता की रक्षा में जुट गए। लेकिन जिन्हें बचाने के लिए उन्होंने अपनी जान जोखिम में डाली थी, उनमें से ही किन्हीं सिरफिरे तत्त्वों के हाथों 25 मार्च, 1931 को बचाव कार्य करते हुए ही वे मारे गए-शहीद हो गए उन सिद्धांतों, विचारों,

संकल्पों के लिए जो उनके जीवन-ध्येय थे। तब उनकी उम्र मात्र 40 वर्ष 7 माह थी। दो दिन तक उनकी लाश लावारिसों की तरह पड़ी रही। 27 मार्च को पहचानी गई और 29 मार्च को गुपचुप अंतिम संस्कार की भी तैयारी कर दी गई। और एक योद्धा पत्रकार का इस रूप में असामयिक अवसान हो गया, लेकिन यह मौत नहीं शहादत थी, जो राष्ट्र के जीवन को हमेशा-हमेशा एक प्रकाश पुंज बनकर आलोकित करती रहेगी।

गणेशशंकर विद्यार्थी हिंदी पत्रकारिता की एक परंपरा बन गए, जिसने आजादी की लड़ाई में कंधे-से-कंधा मिलाकर योगदान दिया। उनकी शक्ति थी भारत के जन-जन में उनकी आस्था। इसका एक प्रमाण है उनकी यह टिप्पणी—''लगभग दस लाख हिंदू देश के इस कोने से लेकर उस कोने तक नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए पवित्र जाह्नवी में स्नान करने के लिए त्रिवेणी तट पर पहुँच ही गए। हो सकता है यह महज लीक का पीटना हो, परंतु लीक के पीटने में इतने बल का होना आशा और जीवन का एक ऊँचा चिह्न है। जिस दिन वह महान् शक्ति, जो दस लाख प्राणियों को अनेक कठिनाइयों में रहते हुए भी दूर-दूर से घसीटकर एक ठिकाने बटोर लाती है, अपना बल उन मार्गों में भी लगा देगी, जिनमें वर्तमान जीवन संग्राम संसार भर के राष्ट्रों को पग रखने का आदेश दे रहा है, तब संसार की कोई भी शक्ति भारत के अगणित प्राणियों के आगे बढ़ने का मार्ग रोकने की हिम्मत न कर सकेगी।''

सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में उनकी यह कामना साकार हुई और 1947 में देश आजाद हुआ। स्वतंत्र भारत की कृतघ्न पीढ़ियों ने गणेशशंकर विद्यार्थी और उनकी शहादत को बिसरा दिया।



पत्रकारिता का पुरोधा

ठाकुरप्रसाद शर्मा

गोरखपुर साहित्य सम्मेलन के मनोनीत सभापति श्री गणेशशंकर विद्यार्थी संयुक्त प्रांत से चुने हुए नररत्नों में से हैं। उनका चरित्र शील, प्रतिभा और निर्भीकता का विचित्र सम्मिश्रण है। गत पंद्रह वर्ष में 'प्रताप' संपादक की दृष्टि कभी धुँधली नहीं हुई। किसी स्वार्थ का तो नाम लेना भी उनका अपमान करना होगा। किसी कठिनाई ने उनको विचलित नहीं किया। उन्होंने कभी बड़े बनने की इच्छा नहीं की, परंतु अपने को कभी छोटा भी नहीं समझा।

विद्यार्थीजी से मैंने पहली बार सन् 1915 में भेंट की थी, जब मैं प्रयाग से आगरा लौट रहा था। मैं पहले 'प्रताप' प्रेस पहुँचा और वहाँ से कीचड़ भरी सड़कों और कल-कारखानों के कोलाहल से होकर उनके मकान पर पहुँचाया गया। थोड़ी देर पीछे सिर खोले, चश्मा लगाए और कान तक की शास्त्रोक्त ऊँचाई का इक्षु-दंड हाथ में लिये कोष्ठबद्धता के साक्षात् शरीर रक्षक के रूप में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के दर्शन हुए। गणेशजी ने जिस प्रेम और अपनेपन से मेरे साथ व्यवहार किया वह उनकी एक विशेषता है, जिसे कोई भूल नहीं सकता।

आदर्श की दृष्टि से ही नहीं, आपने व्यावसायिक दृष्टि से भी कभी 'प्रताप' को पिछड़ने नहीं दिया। समाचार देने में भी 'प्रताप' सबसे आगे रहना चाहता है। दादाभाई नौरोजी की कठिन बीमारी की खबर पढ़कर विद्यार्थीजी ने उनकी मृत्यु के संबंध में अग्रलेख लिख ही नहीं लिया, उसे छाप भी डाला और जब उन महापुरुष के शरीरांत में देर होने लगी तो आप बड़े चिंताकुल होकर उनकी मृत्यु की बाट देखने लगे। सौभाग्य से कहिए या दुर्भाग्य से, पत्र प्रकाशित होने के समय तक वह समाचार आ गया और 'प्रताप' देर और क्षति से बच गया।



‘राष्ट्र की आशा’ का अनुशीलन

रामकृष्ण तैलंग

‘प्रताप’ के लेख सोद्‌देश्य होते थे। उद्‌देश्य था देश व जनता को स्वतंत्रता के लिए तैयार करना। देश स्वतंत्रता की पात्रता और यत्किंचित् जो स्वतंत्रता मिली थी उसको पूर्णतया होमरूल—‘स्वराज्य’ में बदलने के लिए संघर्ष कर रहा था। इस संदर्भ में ‘प्रताप’ के अनेक लेखों की चर्चा की आवश्यकता है। अनुशीलन से प्रकट होता है कि प्रताप के इन लेखों में समय के तीनों कालों की गति व्यक्त होती थी। इस भावभूमि को पहले समझें—

लेख की भावभूमि

भारत में अंग्रेजों के राज का विरोध क्यों होना चाहिए, यह मोहनदास करमचंद गांधी ने ‘हिंद-स्वराज्य’ नामक पुस्तक में अपनी विधि से समझा दिया था, यद्यपि इसके प्रकाशन (1909 ई.) के समय वे दक्षिण अफ्रीका में आंदोलन कर रहे थे। इसके तर्कों से गणेशजी प्रभावित हुए थे, जैसा कि उनके लेख ‘स्वराज्य की आकांक्षा’ (साप्ताहिक ‘प्रताप’, विशेषांक संवत् 1973) से अनुज्ञात होता है।

यों तो सम-सामयिकता हर अग्रलेख का आधार होती है, किंतु ‘प्रताप’ के लेखों में प्रत्यक्षानुभूति का तत्त्व प्रमुख रहता था। कांग्रेस के छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं, अनगिनत मजदूरों-गरीब औरतों और उनके शराबी-निठल्ले मर्दों की समस्याएँ हल करने, उनकी रोटी का जुगाड़ कराने और पुलिस के डंडे से निजात दिलाने में गणेशजी का काफी समय जाता था। नया से नया अनुभव मिलता था, जैसा ‘सुरापान की भयंकरता’ (‘प्रताप’, 10 मई, 1915) आदि में निदर्शित

होता है। यही प्रत्यक्षानुभूति गणेशजी को अन्य संपादकों से भिन्न करती है।

साप्ताहिक 'प्रताप' को प्रारंभ से ही लोकप्रियता मिली, जिससे अन्य समकालीन पत्र-पत्रिकाओं की तुलना में इसकी प्रसार संख्या नौ हजार हो गई (ब्रह्मानंद : भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन, पृ. 67)। सन् 1919 में 'प्रताप' सरकार का कोप-भाजन, किंतु जनता का कंठहार हो गया था। अत: अध्ययन-अनुशीलन के लिए 1913-19 की अवधि उपयुक्त है। यों, इन छह वर्षों में प्रकाशित सभी अग्रलेख व विशेष लेख अध्ययनोपयुक्त हैं, तथापि हम पहले 'प्रताप' के विशेषांकों के लेखों से अनुशीलन यात्रा आरंभ करते हैं। इनके चयन का प्रमुख कारण यह है कि ये संपादकीयों-अग्रलेखों से भिन्न हैं और इनका आलेख सोद्देश्य है। सामयिकता का भविष्य से संयोजन करने हेतु इनका शिल्प भी विशेष है, भाषा की रंगत भी द्रष्टव्य है।

साप्ताहिक 'प्रताप' के विशेषांक मुख्यत: दशहरा व नव वर्ष पर पूरी सजधज से निकलते थे, जिनमें गणेशजी के सुविचारित-सामयिक और देश के युवकों में देशभक्ति का उन्मेष करनेवाले लेख होते थे। इस प्रकार के लेखों में से एक लेख हम ले रहे हैं, यह है 'राष्ट्र की आशा' (साप्ताहिक 'प्रताप', विजयादशमी अंक, संवत् 1971 तदनुसार 1914 ई.)। अन्य लेखों का अध्ययन इसी श्रृंखला में आगे यथावसर प्रस्तावित है। ये सभी लेख विशेष रूप से विशेषांकों में छपे थे—परंतु पृष्ठभूमि की चर्चा पहले करेंगे।

सन् 1913 से 18 की अवधि मुख्यत: विश्वयुद्ध से आच्छादित रही, किंतु 'प्रताप' ने सावधानी से कांग्रेस की नीति पर चलते हुए इन विशेष लेखों में देश की तत्कालीन विवशता के साथ आशा को अभिव्यक्त किया। विवशता की छोटी-मोटी झाँकी देखिए—सन् 1913-14 के मध्य जनता की ओर से राष्ट्रीय मंचों पर लगातार माँग की जा रही थी कि तत्कालीन संयुक्त प्रांत (वर्तमान उ.प्र.) में गठित 1909 का कॉउंसिल का रेगुलेशन रद्द किया जाए। वायसराय ने माँगों को ठुकरा दिया था। तभी 1910 के 'राजद्रोह संबंधी कानून' को लौटाने की माँग हुई, जिसके अंतर्गत सरकार क्रांतिकारी युवकों व देश के मान्य नेताओं को पकड़ रही थी, (रक्षा कहाँ? 'प्रताप', 19.04.14) प्रेस ऐक्ट तो अखबारों को दबोचे हुए थे ही। केंद्रीय सभा के मेंबरों की दशा सरकार के सामने 'ऑनरेबल भिखमंगे' ('प्रताप', 23.03.1914) के समान थी। तिलकजी छूटे तो, परंतु रोगी होकर।

'राष्ट्र की आशा' का अनुशीलन

उपर्युक्त के अतिरिक्त सन् 1913-19 की अवधि की एक मौलिकता है— 'एशियाई एकता का भाव'। भारतवासियों को एशिया की घटनाओं से एक नई प्रेरणा का बोध हुआ— 1911 में टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला, जो किसी एशियावासी को पहली बार मिला था, रामानुजम ने गणित की थ्योरमों का हल प्रस्तुत किया, जो यूरोप वाले नहीं जानते थे। दूसरी ओर चीन में सनयातसेन ने अंग्रेज संरक्षित चीनी राजवंश को हटाकर चीन को प्रजातंत्र की ओर उन्मुख किया। जापान ने सर्वशिक्षा में अभूतपूर्व विस्तार कर गरीबी हटा दी। इस पर पं. सुंदरलाल ने 'जापान का इतिहास' पुस्तक लिखी जो 'प्रताप' प्रेस से छपाई रोककर पुलिस उठा ले गई। तभी सरकार ने फूट डालने के लिए मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन स्वीकार किया (मुसलमानों का पृथक निर्वाचन, 'प्रताप', 10.04.1916)। गांधीजी समेत भारतीयों ने युद्ध में सामग्री व जनशक्ति सहित जो सहायता की, उसके बदले में ब्रिटेन की पार्लियामेंट में एनी बीसेण्ट के भाषण के समय स्वराज्य यानी द्वैध (डायर्की) शासन की आशा दिलाई गई ('प्रताप', 01.01.1917, 04.11.1918 आदि)। किंतु इस युद्धकाल का अंत होते-होते 1918 में ही सरकार के झोले से रौलट ऐक्ट, सेडीशन कानून आदि निकले, जिसके प्रतिरोध का बीड़ा क्रांतिकारियों ने उठा लिया।

इससे निष्कर्ष निकला कि उक्त अवधि में देश के समक्ष सरकारी दमन की पीड़ा को दर्शाना प्रतिबंधित होते हुए भी 'स्वराज्य' (होमरूल) स्वदेश-प्रेम, स्व-शिक्षा, स्वदेशी आदि 'प्रताप' के मुख्य विषय थे।

1913-18 में राष्ट्रीय स्तर की इन कतिपय घटनाओं के साथ-साथ 'प्रताप' कानपुर की स्थानीय राजनीति व समाज के साथ जुड़ा हुआ रहता था। सन् 1913-18 के मध्य वे प्रमुख सरोकार थे। जिस साल 'प्रताप' निकला, मेस्टन रोड की मस्जिद के कारण दंगा हो गया, तत्पश्चात् गोरक्षा का प्रश्न ('प्रताप', 05.04.1914), बज-बज का दंगा (25.01.1915) आदि से कानपुर में अखाड़े खुदने लगे थे। कनपुरिया समाज में चहल-पहल आई थी। गंगा जी, शिवाला, कैलाश मंदिर व काँच का मंदिर नए आकर्षण के केंद्र हुए थे। ट्रामगाड़ी में बैठी स्त्रियाँ गंगा स्नान को जाती थीं (1907) और बिजली के बल्बों (1906) में दुकानें सजती थीं। पटवारियों की शिक्षा हेतु कृषि कॉलेज खुल गया था। स्वदेशी की भावना का सम्मान करते हुए अंग्रेजों ने स्वदेशी मिल 1911 में खोली थी। कानपुर के युवकों को क्रांतिकारी गदर पार्टी के आदर्श भा रहे थे। तभी कानपुर में हुए कॉउंसिल और

म्युनिसिपैलिटी के चुनावों से नई विषबेल फैलने लगी थी, कानपुर के युवक शिक्षा-क्षेत्र में भी आगे आ रहे थे। जातीय चेतनानुसार खत्रियों-ब्राह्मणों-मारवाड़ियों, वैश्यों ने स्कूल खोल दिए थे, जिनका राष्ट्रीय चेतना के जागरण में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस पृष्ठभूमि पर राष्ट्र के युवकों से गणेशजी मुखातिब हुए थे। इसी भाव भूमि का लेख है 'राष्ट्र की आशा'।

'राष्ट्र की आशा' अग्रलेख का अनुशीलन

अनुशीलनार्थ चयनित प्रथम लेख का शीर्षक है 'राष्ट्र की आशा'। गणेशजी युवकों से क्या आशा रखते थे, यही इस विशेष लेख का प्रतिपाद्य है। यह साप्ताहिक 'प्रताप' के संवत् 1971 (सन् 1914-15) के विजयादशमी विशेषांक में प्रकाशित हुआ था। लेख का आरंभ इटली के राष्ट्रभक्त मैजिनी के बोधवाक्य से होता है, ''हममें से प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मा को एक देवालय के समान पवित्र बनाएँ।'' बताते चलें कि गणेशजी व उनके मार्गदर्शक एवं मित्र नारायणप्रसाद अरोड़ा ने मैजिनी और गैरीबाल्डी की जीवनियाँ बड़े चाव से पढ़ी थीं (अरोड़ा अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 12 सन् 1951), तत्पश्चात् पूर्व कथित एशियाई गौरव-बोध को विस्तार देते हुए यह लेख 'प्रताप' के नवयुवक पाठकों को लक्ष्य कर लिखा था। इसके सभी पैराग्राफ लंबे हैं, शीर्षकाभिषिक्त हैं जैसे एशिया का प्राचीन गौरव, एशिया का पतन, भारत की अवनति, आशा की छटक, एशिया की जागृति, भारत में उन्नति की मंद गति, युवकों का कर्तव्य, नवयुवकों से प्रार्थना आदि। लेख का समापन करते हुए लेखक ने सावधान किया है कि देश की उन्नति के लिए एकता ही मूलमंत्र है और यह कि देशभक्त युवक ''मोहर्रम में गोवध आदि के झगड़ों के कारण देश-सेवा का काम सही अर्थों में नहीं कर सकते'' ('प्रताप', विजयादशमी विशेषांक, 1971 संवत्), फिर आगे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''मजहबी झगड़े हमारे देश की अधोगति का एक मुख्य कारण हैं।'' अंत में गणेशजी मैजिनी को पुनः उद्धृत करते हुए लिखते हैं, ''उद्देश्य को स्थिर करके उद्योग पूरा करो।''

सन् 1914-15 का वह लेख अपने संदर्भ में आज भी उतना ही सार्थक और समसामयिक है जितना उस समय था। गणेशजी की सर्वकालिक महत्ता और समस्याओं में उनकी अंतर्भेदिनी दृष्टि तथा समाधान बहुत प्रकार से अध्ययनयोग्य हैं। शैली की दृष्टि से भी यह लेख उनकी प्रारंभिक विचार-यात्रा का प्रवेश

द्वार है, जो सन् इकतीस तक पुष्ट होकर जारी रही।

भारत में गांधीजी के आदर्शों ने प्रगति की ओर जो धीमी-धीमी यात्रा की थी उसको युवकों की अधीरता सहन नहीं कर पाती थी। 1905 से क्रांतिकारी दल कई काररवाई कर चुके थे, किंतु उनमें एकता नहीं थी। अतः गणेशजी (जो अभी लेख लिखते समय 30 की उम्र से भी कम थे) पक्की त्याग भावना के लिए उन्हें जगाना चाहते थे। चूँकि गणेशजी का चरित्र ओढ़ा हुआ देशभक्त का नहीं था, वे युवकों को सच्ची क्रांति के लिए तैयार कर रहे थे, वे स्वयं क्रांतिवीरों के संरक्षक थे, इसलिए यह लेख संबोधन शैली में लिखा गया है और गांधीजी की 'हिंद-स्वराज' की याद बरबस ताजा कर देता है। भाषा में संवेगात्मक चेतना की उपस्थिति से ओत-प्रोत यह लेख पुनः-पुनः पठनीय है।



एक अनूठा व्यक्तित्व

रामनाथ गुप्त

जिस प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के साथ देवताओं ने भी अपने अंश एवं शक्तियों को इस पृथ्वीतल पर अवतरित किया था तथा एक मन और एक चित्त होकर राक्षसराज रावण का समूलोच्छेदन करने के पश्चात् धरती को पाप-भार विमुक्त किया था, उसी प्रकार से ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आविर्भाव के साथ ऐसे ज्योतिमंडल का उदय भारतमाता की गोद में हुआ, जिसने अनुशासनबद्ध होकर अपनी तेजस्विता, निर्भयता तथा बलिदान-प्रियता के द्वारा राष्ट्र के सहस्राधिक वर्षों के पारतंत्र्य-पाश को छिन्न-भिन्न कर दिया और इस प्रकार भूलोक में सभ्यता, समता तथा सुहृदय भावना की स्थापना में सफलता प्राप्त की।

अमर शहीद श्री गणेशशंकरजी विद्यार्थी इसी ज्योति मंडल के समुज्ज्वल नक्षत्र थे, जो अपने महामहिम बलिदान द्वारा अपने सेनानी विश्व पुरुष महात्मा गांधी के भी आदर्श बन गए।

आज की पीढ़ी संभवत: उस समय की कल्पना नहीं कर सकती जब गणेशजी जैसे महाप्राण कानपुर की इसी धरती पर विचरण करते थे और अपने अनवरत तपश्चरण द्वारा क्रांति का संचालन करते थे। कैसी उमंग थी उस समय, कैसा उत्साह और जोश था भारतीय जनमानस में। मातृभूमि के लिए न्योछावर होने की कैसी अनोखी तमन्ना थी। क्रांति पथ पर एक दूसरे से आगे बढ़कर बलिवेदी पर निछावर होने का कैसा हौसला था जनसेवकों में। सभी के दिलों में एक ही संगीत था, एक ही राग था कि गुलामी की तौक कटे और हमारा पुरातन देश स्वतंत्र होकर विश्व-शांति, सुरक्षा तथा व्यवस्था का पालना बने।

एक ओर अंग्रेजों का पशुबल था, छल-छद्म था, कपटजाल था, कूटनीति थी, दंड-भेद-शक्ति थी और दूसरी ओर बलिदानी वीरों की टोलियाँ थीं, बाल, वृद्ध तथा जवानों की जमातें थीं, जो सर्व-सहा माता धरित्री के समान सारे पाशविक प्रहारों को अपने प्राणों पर झेलने के लिए सदैव तत्पर एवं उद्यत रहती थीं। भारतीय जन-मानस का यह स्वयंभूत ऐक्य, यह आत्मप्रेरित अनुशासन, गांधी युग की ऐसी शक्ति थी, जिसने अंततः 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का अमोघ मंत्र दिया और जिसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि अंग्रेजी शासकों को भारत छोड़ना पड़ा तथा भारतीयों को सत्ता देनी पड़ी।

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी इस अनोखे वातावरण के सृष्टाओं में प्रमुख थे। उन्होंने एक अति सामान्य व्यक्ति के रूप में अपना जीवन प्रारंभ किया और अंत में उस ऊर्ध्व स्थान को प्राप्त किया जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।

सामान्यतः नाम के अनुसार गुण खोजने से भी नहीं मिलते, पर गणेशशंकर इसके अपवाद सिद्ध हुए। वे गणों में ईश थे। विशाल जनसमुदाय का प्रेम एवं विश्वास उन्हें प्राप्त था। वे बड़े भारी जन- संगठक तथा जन-नेता थे। यही नहीं, वे गणेशजी के समान सुलेखक, विचारक एवं विद्यानुरागी (विद्यार्थी) थे। वे शंकर के समान औघड़ दानी थे, आशुतोष थे। वे जन-कल्याण तथा मंगल के साकार स्वरूप थे। फलतः यदि उनके आविर्भाव से उनके परिवार में सुखसम्भूति हुई तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उनके पिताजी की इसी समय वेतन-वृद्धि भी हो गई।

गणेशजी के नाना मुंशी सूरजप्रसाद सहारनपुर जिला जेल के असिस्टेंट जेलर थे। दो-ढाई साल की आयु में गणेशजी अपने नाना के पास कुछ दिनों तक रहे। इसी समय उन्हें उक्त जेल में बनी हुई पावरोटी रोज खाने को उनके नाना देने लगे। कौन जानता था कि शैशव में जेल की बनी रोटी खाने की उनकी आदत कालांतर में उनके जीवन की एक विशेषता बन जाएगी!

श्री गणेशशंकर के पूर्वज जिला फतेहपुर के अंतर्गत हथगाँव नामक स्थान के निवासी थे। उनके पिताजी का नाम श्रीजयनारायण था। वे उर्दू और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। अंग्रेजी उन्होंने अपने अध्यवसाय से सीख ली थी। उनकी गति ज्योतिष शास्त्र में थी। उनकी अनेक भविष्यवाणियाँ सही निकलीं। उन्होंने सन् 1923 में गणेशजी को सावधान किया था कि वह बहुत होशियारी के साथ कहीं भाषण करें, क्योंकि इससे उन पर संकट आ सकता है। गणेशजी ने सन्

1923 में ही फतेहपुर में आयोजित राजनैतिक सम्मेलन में ऐसा पुरजोर भाषण दिया कि उन्हें उसके लिए जेल-यातना भुगतनी पड़ी। इसी प्रकार शिकोहाबाद (मैनपुरी) के थानेदार की मानहानि के मामले में भी उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि गणेशजी हाई कोर्ट से जीत जाएँगे। उनकी यह दोनों भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हुईं। मुंशी जयनारायणजी यह भी जानते थे कि उनके इस गौरवशाली पुत्र की मृत्यु स्वाभाविक रूप से नहीं होगी।

कानपुर में गणेशजी के अग्रज आदरणीय श्री शिवव्रत नारायणजी पहले से ही रहते थे और रेलवे में काम करते थे। उन्होंने गणेशजी को सदैव प्रोत्साहित किया। एक प्रकार से गणेशजी को जनता जनार्दन का सेवक बनाने में सबसे बड़ा योगदान शिव बाबा (श्री शिवव्रत नारायणजी) का है। वस्तुत: उन जैसे इन्सान संसार में आज दुर्लभ हैं। जिन लोगों ने शिव बाबा को निकट से देखा है वे जानते हैं कि उनका जीवन सतत बलिदान की करुण परिभाषा है। स्वयं पृष्ठभूमि में रह कर उन्होंने गणेशजी को मातृभूमि की सेवा में आजीवन रहने का अवसर एवं अवकाश प्रदान किया और उनकी गृहस्थी का संपूर्ण दायित्व स्वयं वहन किया। मौन तपश्चरण ही उनके जीवन का यथार्थ दर्शन था। श्रद्धेय शिवव्रत नारायणजी के यौवनकाल में ही उनकी पत्नी और एकमात्र पुत्र का देहांत हो गया था। उन्होंने पुन: विवाह नहीं किया और गणेशजी के व्यक्तित्व एवं उनकी संतानों में ही अपने अस्तित्व को निमज्जित कर दिया।

इंट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद सन् 1907 में गणेशजी उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु इलाहाबाद गए और कायस्थ पाठशाला कॉलेज में भरती हो गए। आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनका शिक्षा-क्रम आगे नहीं बढ़ सका, किंतु इस बीच उनका संपर्क कर्मवीर सुंदरलालजी से हो गया, जो उन दिनों अत्यंत उग्र तथा क्रांतिकारी पत्र 'कर्मयोगी' निकालते थे। सुंदर लालजी का सत्संग प्राप्त कर उनकी देश-सेवा की प्रसुप्त शक्ति का विकास द्रुत गति से हुआ। 'कर्मयोगी' वे निरंतर पढ़ते रहते थे। 'कर्मयोगी' के पढ़ने के प्रसंग में ही उन्होंने 5 सितंबर, 1910 को पृथीनाथ हाई स्कूल के अध्यापन कार्य से त्यागपत्र दे दिया था।

इसके पूर्व 26 नवंबर, 1909 को करेंसी ऑफिस में अंग्रेज अधिकारी के व्यवहार से रुष्ट होकर उन्होंने इस्तीफा दे दिया था। इन बातों से प्रकट होता है कि विद्यार्थीजी प्रारंभ से ही तेजस्विता एवं स्वाभिमान की मूर्ति थे। वे किसी प्रकार का भी अन्याय बरदाश्त न कर पाते थे।

एक अनूठा व्यक्तित्व

देश की तत्कालीन राजनीति का प्रभाव गणेशजी पर पड़ना प्रारंभ हो गया था। गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ भारतवर्ष मुक्त होने के लिए तड़प रहा था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने सर्वत्र क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी।

इस मानसिक स्थिति में विद्यार्थीजी ने 'सरस्वती' के लब्धप्रतिष्ठ संपादक आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का आशीर्वाद प्राप्त किया और वे द्विवेदीजी के सहायक संपादक के रूप में नियुक्त हो गए। गणेशजी ने अपनी संपादनकला तथा लेखनशक्ति का विकास द्विवेदीजी के सान्निध्य में रहकर किया। उनकी प्रतिभा, परिश्रमशीलता, तीक्ष्ण बुद्धि तथा गंभीरता को देखकर द्विवेदीजी परम प्रसन्न हुए।

'सरस्वती' प्रधानत: एक साहित्यिक पत्रिका थी, गणेशजी का मन राजनीति की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रहा था। फलत: उन्होंने प्रयाग से पं. कृष्णकांत मालवीय के संपादकत्व में निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'अभ्युदय' का संपादन-भार ग्रहण किया। कुछ समय तक उन्होंने 'अभ्युदय' का सफल संपादन किया। उनका राजनैतिक पक्ष यहाँ सुदृढ़ हुआ और उनका संपर्क व्यापक हो गया।

इस बीच 'अभ्युदय' की आर्थिक स्थिति बिगड़ी और उसके बेचे जाने की चर्चा चलने लगी। विद्यार्थीजी ने स्वयं उसको खरीदने का विचार किया, पर जब ऐसा नहीं हुआ, तब उन्होंने पं. शिवनारायण मिश्र तथा श्री नारायणप्रसादजी अरोड़ा के साथ कानपुर से साप्ताहिक 'प्रताप' के प्रकाशन की योजना बनाई। इस प्रकार कार्तिक शुक्ल 11 देवोत्थान एकादशी संवत् 1970 वि. (9 नवंबर, 1913) को गणेशजी के मानसपुत्र के रूप में 'प्रताप' कानपुर में अवतरित हुआ।

एक प्रकार से 'प्रताप' के प्रकाशन के बाद ही गणेशजी के सार्वजनिक जीवन का सूत्रपात होता है। महाराणा प्रताप के बलिदान तथा आत्मत्याग का आदर्श गणेशजी के जीवन में जिस प्रकार घुलमिल गया था, 'प्रताप' उसी का मूर्त रूप था। 'प्रताप' में उनके संपूर्ण व्यक्तित्व के दर्शन होते थे। इसीलिए वह भारतीय दीन दलित मानवता का मुख-पत्र बन गया था और उसने तत्कालीन राष्ट्रीय जीवन के निर्माण तथा विकास में सर्वाधिक योग प्रदान किया।

'प्रताप' को निकालने के बाद गणेशजी ने कानपुर के राजनैतिक जीवन का निर्माण किया और यहाँ की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। उन दिनों राजनैतिक जन-सेवकों की बड़ी कमी थी, अत: गणेशजी को जन-सेवकों

का भी निर्माण करना पड़ा। उनके समर्पित सेवामय जीवन का प्रभाव कुछ ऐसे विशद एवं व्यापक रूप में फैला कि नवयुवकों का एक बड़ा समुदाय न केवल कानपुर में, प्रत्युत कानपुर के बाहर भी उनकी ओर तीव्रता के साथ आकृष्ट हुआ और सैकड़ों व्यक्ति उनके भक्त बनकर जन-सेवा के पथ पर आरूढ़ हो गए।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के कृतित्व एवं सत्याग्रह ने भारत में उनके लिए भूमि तैयार कर दी थी। गांधीजी का सत्य एवं अहिंसा का मंत्र लोकमान्य तिलक के क्रांतिकारी विचारों से मेल नहीं खाता था। इस द्वंद्व के बावजूद कर्मवीर गांधी का प्रभाव भारत में फैल रहा था और लोग उनकी बातों एवं योजनाओं को समझने की चेष्टा कर रहे थे। गणेशजी ने भी गांधीजी की योजनाओं, कार्यक्रमों तथा विचारों को समझने की चेष्टा की। वे लोकमान्य के प्रति निष्ठा रखने के साथ-साथ गांधीजी के प्रति भी अनुरक्त हो गए। उस समय गणेशजी ने गांधीजी की अहिंसा को नीति-रूप में ही ग्रहण किया था, सिद्धांत रूप में नहीं। इस संबंध में उनका यह वाक्य स्मरणीय है, ''मैं नॉन वायलेंस (अहिंसा) को शुरू से ही अपनी पॉलिसी मानता रहा हूँ, धर्म नहीं मानता रहा। निस्संदेह मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ और टाल्सटाय एवं महात्मा गांधी पूर्ण अहिंसा को जिस अर्थ में धार्मिक सिद्धांत मानते हैं उस अर्थ में मैं उस पर विश्वास नहीं करता।''

यह विचार उनके सन् 1923 के हैं, पर ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों ने एवं वैज्ञानिक संहारमूलक नए-नए अनुसंधानों ने उनके अहिंसा संबंधी विचारों में परिवर्तन अवश्य उपस्थित कर दिया था। पहली दिसंबर, 1929 के 'प्रताप' में लिखे उनके निम्नलिखित वाक्य मननीय हैं—

''विज्ञान ने वर्तमान रणशैली को बेहद भयंकर बना दिया है। उसमें वीरता नहीं रही, उसमें पशुता और हत्या का राज्य है? और उसके मुकाबले हमारे ऐसे शताब्दियों से निरस्त्र लोगों का खड़ा भी रह सकना असंभव है। हमारे लिए तो अहिंसा ही परम अस्त्र है, उसी से हम दुनिया में किसी का मुकाबला कर सकते हैं।''

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गणेशजी के मानस में हिंसा एवं अहिंसा का द्वंद्वात्मक विवेचन चलता रहता था और वे धीरे-धीरे गांधीजी के अहिंसात्मक

विचारों को ग्रहण करते जा रहे थे। अपने जीवन के उत्तर काल में उनका यह विश्वास हो गया था कि एकमात्र अहिंसा से ही आज की स्थिति में पार्श्व शक्तियों का मुकाबला किया जा सकता है एवं आत्म बलिदान द्वारा ही बर्बर हिंसात्मक शक्तियों को चुनौती दी जा सकती है तथा उनके क्रूर मानस को परिवर्तित किया जा सकता है। गणेशजी का अंतिम महान् बलिदान उनकी इस मान्यता को सिद्ध करता है। जिस निरासक्त भाव से उन्होंने सन् 1931 में कानपुर में घटित सांप्रदायिक विद्वेष की होली में अपनी आहुति दी उससे प्रकट होता है कि गांधीजी की अहिंसा को उन्होंने अपने जीवन में ही सिद्ध कर लिया था और वे एक जीवन्मुक्त की भाँति अपने कर्तव्यों के पालन में तन्मय थे।

सन् 1916 में लखनऊ कांग्रेस के बाद गांधीजी को गणेशजी कानपुर ले आए और उन्हें 'प्रताप' प्रेस के एक कमरे में टिकाया। इसी अवसर पर लोकमान्य तिलक भी कानपुर आए थे और उनका भाषण यहाँ कराया गया था। इस अवसर पर गांधीजी ने डॉ. मुरारीलाल को गणेशजी के निर्देश पर राजनैतिक जीवन की ओर खींचा और उन्हें नवयुवकों के मार्गदर्शन के लिए प्रेरित किया। कहना न होगा कि मुरारीलालजी भी उसी समय से सार्वजनिक जीवन में खुल कर प्रविष्ट हो गए। जैसा कि हमने अभी ऊपर बताया है, 'प्रताप' ने अपने जीवन के प्रारंभ से ही अंग्रेजी सत्ता तथा नौकरशाही से खुलकर लोहा लेना शुरू कर दिया था। गणेशजी के महान् बलिदान तक उसके इस व्रत में कभी भी स्खलन नहीं देखा गया। 'प्रताप' गरीब किसान-मजदूरों का प्रतिनिधित्व करता ही था, वह देशी राज्यों की पीड़ित प्रजा का भी मुख-पत्र था। उसने न जाने कितने आंदोलनों को जन्म दिया। रायबरेली गोलीकांड, होमरूल लीग, 1921 के असहयोग आंदोलन, 1930 के नमक सत्याग्रह, मुंशीपेढ़ा, बारडोली, खेड़ा और पटुआखाली सत्याग्रह आदि जन-आंदोलनों को 'प्रताप' ने सदैव नेतृत्व प्रदान किया। उदयपुर राज्य के बिजौलिया आंदोलन को जो प्रेरणा 'प्रताप' से मिली, उससे उदयपुर राज्य का प्रशासन हतप्रभ हो गया।

बिहार के चंपारन में गोरे निहत्थी, अकिंचन जनता पर भीषण अत्याचार करते थे। 'प्रताप' ने महीनों इनके विरुद्ध प्रचंड आंदोलन संचालित किया और इस प्रकार वहाँ के बीस-बाईस लाख किसानों का उद्धार किया। 'प्रताप' के इस आंदोलन ने गांधीजी को चंपारन सत्याग्रह में बड़ी सहायता की। अंग्रेजी प्रशासन ने 'प्रताप' को कुचलने की भरसक कोशिश की, पर 'प्रताप' संपादक

गणेशशंकर को अपने कर्तव्य पालन से न सरकारी दमन डिगा सका और न बड़े-बड़े राजाओं एवं ताल्लुकेदारों द्वारा दिए जानेवाले मायामय प्रलोभन। गणेशजी अपने सेवा-व्रत पर एवं पत्रकला के सर्वोच्च मानदंड पर सदैव अडिग तथा स्थिर बने रहे।

23 नवंबर, 1920 में गणेशजी ने 'प्रताप' का दैनिक संस्करण निकाला तथा मासिक 'प्रभा' को जन्म दिया। 'प्रभा' ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अपनी धाक जमा ली। स्वस्थ साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में इसका योगदान स्तुत्य है। 'दैनिक प्रताप', 6 जुलाई, 1921 को सरकारी दमन के परिणामस्वरूप बंद हो गया।

इसके ठीक नौ वर्ष बाद 21 नवंबर, 1930 को दैनिक 'प्रताप' का प्रकाशन फिर शुरू किया गया। नमक सत्याग्रह इस समय देश में जोरों पर था। 'प्रताप' के सभी संपादक गिरफ्तार कर लिए गए थे। भीषण कठिनाइयों के बीच उसके 35 अंक प्रकाशित हुए। इसी बीच उसके संपादक श्री प्रकाशनारायण शिरोमणि भी गिरफ्तार कर लिए गए थे। इस अवस्था में 2 जनवरी, 1931 को उसका प्रकाशन पुनः स्थगित कर दिया गया। 9 मार्च, 1931 को गणेशजी हरदोई जेल से छूटकर घर आए थे। उस समय दैनिक 'प्रताप' के पुनः प्रकाशन के संबंध में उन्होंने एक मौलिक योजना बनाई थी, पर हाय, उनकी यह योजना कार्यान्वित हो पाती, इसके पहले ही 25 मार्च, 1931 को 'प्रताप' के प्रकाशन के 18वें वर्ष इस मनस्वी वीरात्मा ने अपने यज्ञमय जीवन की आहुति अंग्रेजी शासन की कूटनीति से प्रज्वलित हुतासन की लपटों में राष्ट्रीय ऐक्य के संस्थापनार्थ सदैव के लिए समर्पित कर दी।

गणेशजी के बहुविध व्यक्तित्व को शब्दों में बाँध सकना कठिन है। वे कानपुर के गांधी थे, उत्तर भारत के जन-मानस के निर्माता थे। वे केवल दूरदर्शी ही नहीं, त्रिकालदर्शी थे। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश जैसी अद्‌भुत क्षमता का वरदान लेकर वे उत्पन्न हुए थे। उन्होंने आजीवन देशसेवकों, साहित्यकों, लेखकों, सुकवियों, संपादकों तथा राजनीतिज्ञों का निर्माण किया। हिंदी के उपन्यासकार श्री प्रेमचंदजी पहले उर्दू में लिखते थे। उन्हें हिंदी में लिखने की प्रेरणा गणेशजी से प्राप्त हुई और उसके परिणामस्वरूप वे हिंदी साहित्य के उपन्यास सम्राट् बने। पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' संपूर्णतः उन्हीं की सृष्टि हैं। पं. श्री कृष्णदत्त पालीवाल, श्री देवव्रत शास्त्री, श्री दशरथप्रसाद द्विवेदी, पं. विष्णुदत्त शुक्ल, श्री

शिवनारायण टंडन जैसे शतश: ज्ञात-अज्ञात व्यक्तियों के जीवन-विकास में गणेशजी का प्रत्यक्ष योग रहा है। क्रांतिकारियों के तो वे पालक-पोषक थे ही।

न जाने कितने जेल में बंद देशसेवकों के पालन एवं योग-क्षेम की जिम्मेदारी गणेशजी पर रहती थी। अपने लिए उदासीन तथा दूसरों के लिए कर्ण के समान उदार एवं सदैव सहायता में तत्पर उन जैसा व्यक्ति दुर्लभ ही समझिए। भारत में ब्रिटिश सत्ता के संहार के लिए वे आजीवन लड़ते रहे, कभी उन्होंने क्षण भर का विश्राम नहीं लिया।

गणेशजी ने अपने छोटे से जीवन में कई बार कारागार की यात्रा सही। वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष थे। आज के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू उस समय उनकी रहनुमाई में कार्य कर रहे थे। उस समय उत्तर भारत में जितने क्रांतिकारी आंदोलन चले, सभी को उनसे प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा सहायता मिली। मैनपुरी षड्यंत्र केस तथा लाहौर कॉन्सपिरेसी केस के बंदी क्रांतिकारियों के तो वे प्राण ही थे। अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद, सरदार भगत सिंह, बटुकेश्वर दत्त, शिव वर्मा, राजकुमार सिन्हा, विजय कुमार सिन्हा, शचींद्र नाथ सान्याल, राजेंद्र लाहिड़ी, रोशन सिंह, वैशम्पायन, श्रीराजगुरु, श्रीशुकदेव, श्री यतींद्रनाथ दास जैसे क्रांतिकर्मी शूरवीरों के वे शरण-स्थल थे। यही नहीं, क्रांति की इस धारा को समाजवादपरक बनाने का श्रेय भी उन्हीं को है।

सरदार भगत सिंह, गणेशजी को बहुत प्यारे थे। वे 'प्रताप' प्रेस में बलवंत सिंह के नाम से बहुत दिनों तक रहे थे। अत: जब लाहौर षड्यंत्र केस में 23 मार्च, 1931 को सरदार भगत सिंह को अपने साथी सुखदेव एवं राजगुरु के साथ फाँसी पर लटका दिया गया, तब गणेशजी को जो मर्मांतक वेदना हुई उसका वर्णन शब्दों में कर सकना असंभव है। ऐसा कहा जा सकता है कि सरदार भगत सिंह, राजगुरु एवं सुखदेव की शहादत गणेशजी के मानस पर संपूर्ण रूप से छा गई और वे उसी भावावेश में कानपुर के तत्कालीन अंग्रेज कलक्टर सेल द्वारा आयोजित, प्रज्वलित एवं प्रसारित हिंदू-मुस्लिम दंगे के परिशमन के लिए कूद पड़े। तभी तो अहिंसा के प्रवर्तक एवं सत्याग्रह संग्राम के सृष्टा सेनानी गांधी ने कहा था, ''उसकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी। उसी की तरह कुल्हाड़ी से प्रहार सहते हुए मैं शांतिपूर्वक मरूँ तो मेरी अहिंसा भी सिद्ध होगी। मेरा भी यह सुख स्वप्न है कि मैं उसी की तरह मरूँ। एक तरफ से एक मनुष्य मुझ पर कुल्हाड़ी चला रहा हो, दूसरी तरफ से बर्छी मार रहा हो। ऐसी अवस्था

में भी मैं खुद शांत रहूँ और लोगों से शांत रहने को कहूँ और खुद हँसता हुआ मरूँ, ऐसा भाग्य मैं चाहता हूँ।''

गणेशजी का आत्म-बलिदान महात्मा गांधी के हृदय में उसी प्रकार बस गया था जिस प्रकार गणेशजी के चित्त में भगत सिंह की आहुति बस गई थी। गांधी ने कहा था, ''मैं नहीं मानता कि गणेशशंकर की आत्माहुति व्यर्थ गई। उसकी आत्मा मेरे दिल पर काम करती रहती है। मुझे जब उसकी याद आती है, तब उससे ईर्ष्या होती है।''

ऊपर हमने बताया है कि गणेशजी परम दूरदर्शी थे। उन्होंने यह स्पष्ट समझ लिया था कि सर्वाधिक शोषित तथा पीड़ित किसान-मजदूरों के संगठन के बिना देश का उद्धार असंभव है। इसीलिए कानपुर के पास स्थित ग्राम नरवल में उन्होंने 'नरवल सेवा आश्रम' स्थापित किया और वहाँ खादी आदि रचनात्मक कार्यों द्वारा वहाँ के किसानों का संगठन प्रारंभ किया। 'नरवल सेवा आश्रम' गणेशजी के कृतित्व का आज भी अमर स्मारक है।

इसके साथ ही कानपुर में उन्होंने वर्तमान 'मजदूर सभा' का संगठन एवं संचालन प्रारंभ किया था। कानपुर के मजदूरों को पूर्ण एकता में बाँधने तथा उनके हितों की रक्षा का श्रेय गणेशजी को ही है। हिंदू-मुसलमानों की एकता उनके जीवन का मूल मंत्र था। 'हिंदुस्तानी बिरादरी' की स्थापना उन्होंने इसी उद्देश्य से की थी। यह संस्था आज भी कानपुर में किसी न किसी रूप में काम कर रही है।

गणेशजी हिंदी में सरल, ओजस्वी तथा मुहावरेदार शैली के निर्माता थे। शब्द सीधे पाठक के हृदय में पहुँचते थे और सारे अस्तित्व को प्रकंपित कर देते थे। उन्होंने अपने जेल में बिताए गए बंदी जीवन को अमर साहित्यकारों की रचनाओं को पढ़कर सार्थक बनाया था। उन्होंने जेल में ही अपनी प्रथम तथा अंतिम कहानी 'हाथी की फाँसी' लिखी। जेल में ही उन्होंने विक्टर ह्यूगो के 'नाइंटी थ्री' और 'लॉ मिजरेबल' का अनुवाद 'बलिदान' तथा 'आहुति' शीर्षक से किया।

आज का यह स्वतंत्र भारत गणेशजी जैसी हुतात्माओं के पावन बलिदान से ही उद्भूत हुआ। उन जैसी आत्माओं का आविर्भाव शताब्दियों बाद ही होता है। गांधी और गणेश पुरातन भारतीय संस्कृति के पावन प्रसून हैं, जिनके सौरभ की मधुरिमा कभी मंद नहीं होगी। इस विश्व के उपवन में ही नहीं, प्रत्युत

नंदन-वन में भी उनके इस सौरभित सौंदर्य का शतविधि बखान होता रहेगा और भगवती वीणापाणि शारदा उनका सतत गुणगान करते हुए कभी थकेंगी नहीं। उनके तीर्थ चरणों में हमेशा श्रद्धापूर्ण प्रणाम अंकित हों और हम उनके प्रशस्त मार्ग पर चलने के अधिकारी बनें, परम प्रभु से आज हमारी यही प्रार्थना है।



'प्रताप' निर्भीकता की मूर्ति

डॉ. राजीव दुबे

गणेशशंकर विद्यार्थी ने एक बार कहा था, ''मैं पत्रकार को सत्य का प्रहरी मानता हूँ—सत्य को प्रकाशित करने के लिए वह मोमबत्ती की भाँति जलता है। सत्य के साथ उसका वही नाता रहता है, जो एक पतिव्रता नारी का अपने पति के साथ रहता है। पतिव्रता पति के साथ सती हो जाती है और पत्रकार सत्य के साथ।''

विद्यार्थीजी सत्य के हेतु मोमबत्ती की भाँति आजीवन जलते रहे और शलभ की भाँति सत्य के शिखर पर मिट गए। विद्यार्थीजी का चरित्र ऊँचाई, शील, प्रतिभा और निर्भीकता का विचित्र सम्मिश्रण था। आपकी चरित्र की ऊँचाई विराट शैल की सी थी, पराधीनता को नष्ट करने के लिए उनके दृढ़ भावों का गांभीर्य समुद्रवत। उनकी देशभक्ति में गंगाजल की पवित्रता थी और उनके समाजसेवी कार्यों में कच्चे दूध सी धवलता। उनके वक्तव्य में बुद्धि विलास और ज्ञान के बोझ के स्थान पर भावुक प्रेरणा भरा हृदयस्पर्श अधिक था। उनके नेत्रों में मंतव्य का मोहक तंत्र था। उनके रहन-सहन की सरलता उनके जीवन की व्यापकता और उदारता से मिलकर उन्हें सबका प्रिय बनाए थी।

विद्यार्थीजी अपने नाम के आगे 'विद्यार्थी' क्यों लिखते थे? उनका विचार था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन भर विद्यार्थी ही है, साधक है। जिंदगी भर वह कुछ-न-कुछ बराबर सीखता ही रहता है, फिर भी उसके ज्ञान का भंडार पूरा नहीं होता। इसी विचार को ध्यान में रखकर विद्यार्थीजी अपने नाम के साथ आजीवन 'विद्यार्थी' शब्द लिखते रहे।

गणेशजी ने 'प्रताप' के नाम को राणा प्रताप के स्मारक के रूप में ग्रहण

किया। साधन-सुविधाओं के अभाव में गणेशजी तथा सहयोगियों ने अपनी आस्था, साहस, निःस्वार्थ त्यागवृत्ति और अदम्य लगन के साथ हिंदी पत्रकारिता को उच्च स्थान प्रदान किया। 'प्रताप' के प्रकाशन पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आशीर्वचनस्वरूप दो पंक्तियाँ गणेशजी को भेजी थीं, वही कालांतर में 'प्रताप' की आमुखवाणी बनी थीं।

'प्रताप' अति उग्रवादी एवं स्वतंत्रता देवी का उपासक लोकप्रिय पत्र था। इसका प्रभाव न केवल उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषा-भाषियों पर था, अपितु यह अपनी क्रांतिकारिता एवं स्पष्ट राजनीतिक विचारधारा के कारण उत्तर भारत का एक प्रमुख राजनीतिक पत्र बन गया था। राजनीतिक विचारों एवं स्वतंत्रता के प्रति समर्पण की भावना ने 'प्रताप' को अंग्रेजी सरकार का घोर विरोधी बना दिया था। यह इतना लोकप्रिय हो गया था कि 1919 में इसकी प्रसार संख्या 9,000 थी।

शुरू में विद्यार्थीजी ने लोकमान्य तिलक को अपना राजनैतिक गुरु माना और वे उन्हीं के पद-चिह्नों पर चलते थे। बाद में गांधीजी की छाप पड़ी और फिर लोकमान्य के भक्त होने के साथ गांधीजी के भी अनुयायी हो गए। लखनऊ कांग्रेस (1916) के बाद गांधीजी कानपुर आए तो 'प्रताप' की ओर से गांधीजी का अभिनंदन किया गया। तभी महात्माजी ने भविष्यवाणी की थी, "एक दिन 'प्रताप' भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अग्रदूत होगा।" उनकी वाणी सत्य हुई। 'प्रताप' समय की कसौटी पर खरा उतरा।

स्वतंत्रता आंदोलन में कानपुर के साप्ताहिक 'प्रताप' के संचालकों ने कठिनाइयों की कुछ भी परवाह न करके मातृ मंदिर की सेवा में दैनिक पुष्प चढ़ाने का संकल्प किया। इसी संकल्प के अनुसार विद्यार्थीजी के संपादकत्व में 23 नवंबर, 1920 को 'प्रताप' का दैनिक संस्करण निकलने लगा। साप्ताहिक की तरह ही दैनिक 'प्रताप' भी राष्ट्रवादी था और निरंकुश तथा अत्याचारी शासकों का घोर विरोधी।

सत्य और न्याय के सिद्धांतों पर अडिग रहते हुए स्वाधीनता संग्राम में लगे रहने की प्रेरणा देते हुए 'बलिवेदी की ओर' शीर्षक 'प्रताप' के अग्रलेख का कुछ अंश द्रष्टव्य है—

"हमारे सिरों पर प्रहार होते हों, तो हों। बिजलियाँ गिरती हों, तो गिरें। परंतु हमारे व्यवहार में न नरमी आए और न शिथिलता ही। हम डटे रहें, वहीं

पर, जहाँ पर हम डटे हुए हैं, हमारी दृष्टि रहे उसी लक्ष्य पर, जिस पर वह लगी हुई है। प्रहारों की मार से इनमें कोई अंतर न पड़े, और अंत में प्रहार करनेवाले हाथों में शिथिलता आएगी और उसके साथ ही निश्चय रूप से आएगी हमारी अंतिम विजय की सूचना।''

सन् 1921 में रायबरेली में किसान आंदोलन को कुचलने के लिए भीषण गोलीकांड हुआ, जिसमें अनेक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। विद्यार्थीजी ने 'प्रताप' के माध्यम से किसानों की दुर्दशा का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत करके सरकार तथा ताल्लुकेदारों तथा जमीदारों का भंडाफोड़ किया। दमन के इस प्रवाह में गणेशजी की लेखनी अग्निवर्षा कर रही थी। रायबरेली के ताल्लुकेदार सरदार वीरपाल सिंह ने 13 तथा 19 जनवरी, 1921 के दैनिक 'प्रताप' के लेखों को अपने लिए अपमानजनक मानकर 'प्रताप' पर मानहानि का मुकदमा चला दिया। इसकी कथा और परिणाम सबको ज्ञात है।

फतेहपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण के कारण, गणेशजी को 1923 में पुनः कारागृह जाना पड़ा। 'प्रताप' पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आईं। गणेशजी का गिरता हुआ स्वास्थ्य देखकर मित्रों ने क्षमा माँगने के लिए दबाव डाला, परंतु उन्होंने क्षमा मांगना सीखा ही नहीं था। उनका जीवन तो 'तलवार की धार धावनो' का साकार रूप था।

उनकी पत्नी ने बधाई देते हुए लिखा था, ''मैं कर्तव्य करते हुए तुम्हारी मृत्यु भी पसंद करूँगी और इस निश्चय के लिए तुम्हें बधाई देती हूँ।''

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'लीला' पुस्तक में उन्हीं को लक्ष्य करके लिखा था—

''क्षमा चाहने वाला काम
कभी नहीं करता है राम।''

गणेशजी के लिखने की अपनी एक खास शैली थी। गणेशजी के लेखों में वजन होता था। गूढ़ तत्त्वों को सीधे-सादे ढंग से व्यक्त करने में वह बहुत कुशल थे। उनकी भाषा में प्रवाह होता था, उपयुक्त शब्दों को रखने का एक निराला ढंग था। उनकी लेखों की एक-एक पंक्ति से ओजस्विता और राष्ट्रीयता टपकती थी। लेखों के लेखन के संबंध में वह कहा करते थे, ''लेखक पहले यह समझ ले कि वह पाठकों के सामने क्या बात पेश करना चाहता है, फिर

वह उन बातों को इस ढंग से प्रकट करे कि, जैसे उस लेख को पढ़ने वाला इस विषय में पहले से कुछ जानता ही नहीं।''

देहात की अपढ़ जनता इसीलिए 'प्रताप' पर फिदा रहती थी। 'प्रताप' की भाषा को गणेशजी टकसाली भाषा कहा करते थे। उनकी भाषा के संबंध में पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है, ''गणेशशंकर की भाषा में नए-नए शब्द, ऐसे चुभते हुए मुहावरे इस्तेमाल होते, ऐसी लोच भरी शैली होती, वर्णन का ढंग इतना आकर्षक होता, और होता उनमें ऐसा ओज कि उनकी लिखी हुई लकीरें पाठकों के हृदय में बिजली की सी रेख करती चली जाती थीं।''

राजनीति, साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में भी वे क्रांतिकारी तथा सहृदय थे। 'आज' के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर एक विधवा से विवाह करना चाहते थे। इस कार्य में विद्यार्थीजी ने पराड़करजी को पूर्ण उत्साहित किया, सहयोग दिया, व्यवस्था की और कानपुर में विवाह संपन्न कराया।

1913 से 1930 तक देश में कोई भी ऐसा आंदोलन नहीं हुआ जिसका प्रसार-प्रचार और आंशिक नेतृत्व विद्यार्थीजी और उनके 'प्रताप' ने न किया हो। 24 मार्च, 1931 को कानपुर में सांप्रदायिक दंगा आरंभ हुआ, बड़ी जल्दी उसने प्रलयंकारी रूप धारण कर लिया। पाँव में जूता नहीं, हाथ में छड़ी नहीं, सिर्फ एक कुरता पहने विद्यार्थीजी इधर-उधर दौड़कर लोगों को समझाकर आवेश-उत्तेजना को रोककर लोगों की रक्षा कर रहे थे, परंतु भीड़ में किसी ने विद्यार्थीजी पर हमला किया, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। इस पर पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा था, ''पत्रकार कला विधवा हो गई।'' अपनी मृत्यु के कुछ दिवस पूर्व ही 'प्रताप' में 'अंत का आरंभ' शीर्षक संपादकीय टिप्पणी लिखकर, गणेशजी ने अपने अंत की परोक्ष में पूर्व सूचना दे दी थी।

'प्रताप' ने हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना का जो व्रत क्रियान्वित किया था, उसे उसके अमर संस्थापक ने अपने ही जीवन में यथार्थ बनाकर, निराकार को साकार कर दिया। सचमुच में वे 'प्रताप' के समान निर्भीक थे।



'प्रताप' का प्रताप

आचार्य श्रीराम शर्मा

"अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा, और ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।" यह धार्मिक वाक्य श्रद्धेय विद्यार्थीजी ने गत 29 जनवरी, सन् 1931 को अपनी जेल डायरी में अंकित किया था। यह वाक्य उनके जीवन का मूलमंत्र था। वे अमानुषिकता और असज्जनता के विरुद्ध अंतिम श्वास तक लड़ते रहे···उसी सिद्धांत पर शहीद हो गए।

अधिकांश लोग चालीस वर्ष की आयु के लगभग अपना सार्वजनिक जीवन प्रारंभ करते हैं, पर विद्यार्थीजी ने चालीस वर्ष की आयु में साहित्य, राजनीति, पत्रकार-कला और सार्वजनिक जीवन में इतना काम किया कि वे अमर हो गए। उनकी मौत भी ऐसी निराली और पवित्र रही कि जैसी सन् 1857 के बाद बहुत कम महापुरुषों को नसीब हुई होगी।

श्री गणेशशंकरजी के पिता बाबू जयनारायणजी हथगाँव, जिला फतेहपुर के निवासी थे। फारसी के वे अच्छे ज्ञाता थे। अंग्रेजी अध्ययन भी उन्होंने स्वयं किया और वे मुंगावली राज्य, ग्वालियर ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल के सेकेंड मास्टर हो गए। वे ज्योतिष के ज्ञाता थे। उनके देहांत (1928 ई.) तक गणेशजी चिंतित रहे।

श्री गणेशशंकरजी के बाल्यकाल और युवावस्था में पदार्पण करने से पूर्व की कुछ घटनाएँ उनके सिद्धांत पर अटल रहने की वीरोचित भावना का हमें दिग्दर्शन कराती हैं। उस समय की एक घटना यहाँ दी जाती है। अब से बहुत पहले पोस्टकार्ड का टिकट काटकर किसी कागज या सादा पोस्टकार्ड पर लगाना कानूनन जायज था। एक बार किसी प्रकार एक पोस्टकार्ड बैरंग कर दिया गया।

गणेशशंकर ने एक पोस्टकार्ड का स्टांप काटकर एक-दूसरे कागज पर लगाया और अपने कार्ड पर उसका नाम डाल दिया। पोस्टकार्ड बैरंग होकर उनके पास आया। पैसे देकर उन्होंने पोस्टकार्ड ले लिया और पोस्ट मास्टर के यहाँ इस संबंध में लिखा-पढ़ी की। वे अधिकारियों से इतने भिड़े कि उनको अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी और उनके पैसे लौटा दिए गए। यह घटना उस समय की है, जब गणेशशंकरजी मिडिल स्कूल में पढ़ते थे। पाठक इससे समझ सकते हैं कि डटकर लड़ने की उनकी प्रवृत्ति का अंकुर उनके बाल्यकाल में ही उत्पन्न हुआ।

शिवनारायण का सहयोग कैसे मिला?

सरस्वती से हटने के उपरांत वे 'अभ्युदय' में चले गए। 'अभ्युदय' में भी वे सफलतापूर्वक काम करते रहे। 'अभ्युदय' की आर्थिक स्थिति कुछ बिगड़ सी गई और मालवीय परिवार ने उसे बेचने का विचार किया। 'अभ्युदय' को स्वयं मोल लेने का प्रयत्न किया और अपने प्रिय मित्र शिवनारायणजी मिश्र को रुपए के प्रबंध के लिए लिखा, पर 'अभ्युदय' की बिक्री रोक दी गई और मिश्रजी के प्रयत्न निरर्थक ही रहे। 'अभ्युदय' संबंधी बात मैंने अभी मिश्रजी की प्राइवेट फाइल में पढ़ी है।

मिश्रजी और विद्यार्थीजी का संबंध भी 'प्रताप'-जन्म के लिए एक अद्वितीय बात थी। जिन दिनों विद्यार्थीजी कानपुर में सरकारी नौकरी पर थे, उन दिनों मिश्रजी ब्रह्मावर्त सनातन धर्म मंडल के सेक्रेटरी थे। एक दिन मंडल की ओर से व्याख्यान हो रहे थे। श्रोताओं में से एक गंभीर मुखाकृति वाला युवक उठा और कहने लगा, ''क्या मैं भी कुछ कह सकता हूँ?'' उसे बोलने की आज्ञा दी गई।

युवक ने बोलना प्रारंभ किया और ऐसा बोला कि सबको मंत्रमुग्ध कर दिया और मिश्रजी को तो उसने अपना लिया। वह युवक गणेशशंकर विद्यार्थी ही था। उस दिन से मिश्रजी की और विद्यार्थीजी की मैत्री इतनी बढ़ी कि 'प्रताप' के जन्म के कई वर्ष बाद तक कानपुर के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति दोनों को सहोदर समझते थे।

अनेक लोगों को यह पता नहीं होगा कि गणेशशंकरजी को 'प्रताप' के संपादन और संचालन में कैसी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और किस प्रकार वे

नरपुंगव राणा प्रताप के समान अपने सिद्धांतों पर अटल रहे। फीलखाना में तीन रुपए मासिक का एक जीर्ण-शीर्ण मकान लिया गया। 'प्रताप' का जन्म वहीं हुआ। गणेशशंकरजी और शिवनारायणजी के पास रुपया तो था ही नहीं और न कोई उनकी साख थी, पर इन सबसे बढ़कर उनके पास दो चीजें थीं··· वे थीं पवित्रतम लगन और अनुपम त्याग। दो-तीन सौ रुपए का प्रबंध करके 'प्रताप' निकाला गया।

तीन-चार ही अंक निकले होंगे कि प्रेसवालों ने बाधा डाली। तीन-चार अंकों में घाटा रहा। प्रेसवालों ने समझा कि कहीं छपाई के दाम न मारे जाएँ। विकट समस्या थी, पर इन्हीं कठिनाइयों का सामना करने से आदमी बनता है। विद्यार्थीजी विचलित नहीं हुए। विपत्तियाँ और आवश्यकताएँ विशेष व्यक्तियों की सूझ भी बढ़ा देती है। उनकी बुद्धि को पैना कर देती है। विद्यार्थीजी ने प्रयत्न किया और एक छोटा सा प्रेस मोल ले लिया। इस कार्य में कानपुर के सेठ रामगोपाल ने कुछ सहायता की और सेठ कमलापतजी ने भी कुछ कर्ज दिया, जो बाद में सहायता के रूप में ही रहा। कदाचित् इस योजना में लगभग सात सौ रुपए लगे होंगे। श्री नारायणप्रसादजी अरोड़ा ने भी 'प्रताप' के संचालन में हाथ बँटाया था, पर वे थोड़े दिनों बाद ही अलग हो गए। लेखक के ख्याल से सबसे बड़ी सहायता विद्यार्थीजी और मिश्रजी को मिली कानपुर के महाशय काशीनाथजी से, पर 'प्रताप' का संचालन और संपादन तो केवल मिश्रजी और विद्यार्थीजी पर था। स्याही लगाने से लेकर कंपोजीटरी तक का काम मिश्रजी करते थे। लिखने का काम आद्योपांत विद्यार्थीजी के ऊपर था। ग्राहकों के पते तक वे स्वयं लिखते थे। मिश्रजी 'प्रताप' का पुलिंदा अपने सिर पर लादकर बड़े डाकखाने ले जाते और स्वयं ही बाजार में बेचते थे। श्री गणेशशंकरजी जैसे पराक्रमी और स्वावलंबी युवक कितने हैं? कितने ऐसे हैं, जो साधारण काम करने में शर्माते न हों?

श्रद्धेय विद्यार्थीजी ने हिंदी पत्रकार-कला की एक नवीन प्रणाली ही स्थापित कर दी थी। उन जैसा सफल पत्रकार कोई दिखाई नहीं पड़ता।

कहाँ हैं ऐसे संपादक जो दीन-हीन किसानों पर अत्याचार को देखकर रो पड़ें और उनकी रक्षा के लिए सत्ताधिकारियों से भिड़ पड़ें? पिछले असहयोग आंदोलन के समय (1920-21) में अवध के किसानों पर घोर अत्याचार हुए। रायबरेली कांड का समाचार आया। 'प्रताप' ने किसानों का पक्ष लिया। चारों

ओर से प्रयत्न हुए कि क्षमा-याचना कर ली जाए। कांग्रेस का सिद्धांत भी था कि अदालत में सफाई न दी जाए, पर श्रद्धेय गणेशशंकरजी ने एक न सुनी। वे जानते थे कि मुकदमा न लड़ने से अवध के किसान सर्वदा के लिए दब जाएँगे। उनका रहा-सहा जीवन भी नष्ट हो जाएगा। मुकदमे की कार्यवाही हिंदी जगत् के सामने है। रायबरेली के किसानों की अधोगति और उन पर किए गए अत्याचारों को देखने का अवसर मुझे भी मिला। गणेशशंकरजी को वे लोग अत्यंत श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वास्तव में वे उनके भ्राता थे।

देशी राज्यों की दु:खी प्रजा के लिए वे संकटमोचन थे। अपने सिद्धांतों और सत्य-पक्ष ग्रहण करने के कारण बीसों देशी राज्यों में 'प्रताप' के लिए प्रवेश निषिद्ध था। पर क्या चाँदी के टुकड़े उन्हें पथ भ्रष्ट कर सकते थे? एक बार विद्यार्थीजी ने मुझसे कहा कि एक बड़े देशी राज्य ने उन्हें निमंत्रण देकर खातिरतवज्जो करनी चाही। उद्देश्य यह था कि 'प्रताप' उस राज्य की आलोचना न करे; प्रशंसा न करे तो तीव्रालोचना भी न करे। कदाचित् इसका पुरस्कार था एक लाख चाँदी के टुकड़े, पर गणेशशंकरजी क्या उस पाश में बँध सकते थे? इसके फलस्वरूप 'प्रताप' का राज्य में जाना रोक दिया गया। रुपए-पैसे की आवश्यकता होती है, किंतु संसार में केवल रुपया-पैसा ही कोई चीज नहीं। सत्यनिष्ठा, ईमानदारी और कर्तव्यपरायणता के सम्मुख रुपया-पैसा हेय है।

गणेशजी के पास कैसे पहुँचा?

विद्यार्थीजी से मेरा घनिष्ठ, संबंध सन् 1920 से था। उससे पहले वे मेरे लिए एक आदर्श की सजीव प्रतिमा थे। आगरा कॉलेज में मैं पढ़ रहा था। सन् 1920 में 'प्रताप' का दैनिक संस्करण[1] निकलने जा रहा था। उसके लिए एक सहायक संपादक की आवश्यकता हुई। एक विज्ञापन निकाला गया। मैंने कोई आवेदन पत्र न भेजा, पर पालीवालजी ने आकर मुझसे कहा, "तुम कानपुर जाकर गणेशजी से मिल आओ। दैनिक 'प्रताप' के लिए गणेशजी को एक सहायक

---

1. कठिनाइयों की परवाह न करते हुए गणेशजी ने प्रताप का दैनिक संस्करण 23 नवंबर, 1920 को निकाला, किंतु रायबरेली आदि कांडों के कारण 6 जुलाई, 1921 को इसका प्रकाशन स्थगित कर दिया। प्रताप का सांध्य संस्करण 11 दिसंबर, 1931 को निकाला गया था।

चाहिए।'' मेरी इच्छा वकील बनने की थी, पर पालीवालजी ने जोर दिया, आज्ञा का उल्लंघन न कर सका। गया।

'प्रताप' में जाकर कॉलेज-शिक्षा का सब गर्व चूर हो गया। किताबी पढ़ाई पर घृणा हो गई, और मैट्रिकुलेशन पास वाले विद्यार्थीजी से मैंने इतना सीखा जितना कि कॉलेज में भी न पढ़ा और न सीखा था। सुंदर और सूक्ष्म शीर्षक का महत्त्व, सार करना, अग्रलेख लिखना, स्टाफ के सदस्यों से प्रेमपूर्वक काम लेना, ये सब बातें विद्यार्थीजी अपने सहकारियों को बखूबी सिखलाते थे। विद्यार्थीजी साधारण सी भूलों को भी पसंद न करते थे। प्रूफ की भूल, उचित समाचार और उचित नोट का अभाव उनके लिए असह्य था। स्टाफ वालों से कार्य के उपरांत वे भाई के समान मिलते थे। जहाँ पर यह भावना हो, वहाँ के लिए उस व्यक्ति के लिए मर मिटने के लिए लोग क्यों न तैयार हों?

दैनिक 'प्रताप' की धाक जम गई। 'प्रताप' का यश तो पहले ही था, अब उनकी ग्राहक संख्या भी धड़ाधड़ बढ़ने लगी। वह बिरला ही महीना होगा जिसमें दो-तीन सौ नए ग्राहक न बन जाते हों। ग्राहक संख्या पाँच हजार तक पहुँच गई।

सन् 1921 में 'प्रताप' और सरदार वीरपाल सिंह का मुकदमा चला। उन्हीं दिनों नौकरशाही के एक महाप्रभु ने एक व्यक्ति से कहा था, ''जब तक 'प्रताप' का अंत न कर दिया जाएगा, तब तक संयुक्त प्रांत का सार्वजनिक जीवन सुरक्षित नहीं हो सकता।'' पर गणेशशंकरजी इन बातों से विचलित होनेवाले न थे। मुकदमा चला और 'प्रताप' को हानि भी हुई, किंतु निरीह किसानों को मालूम हो गया कि उनके लिए मर मिटने वाला वीरवर गणेशशंकर है। नौकरशाही ने उनको धारा-108 में फँसाना चाहा, पर उसकी एक न चली।

मुकदमे के कारण 'प्रताप' का दैनिक संस्करण बंद हो गया। अपने आर्थिक संकट के कारण मुझे 'प्रताप' छोड़ना पड़ा, पर मेरा कौटुंबिक संबंध 'प्रताप' और विद्यार्थीजी से वैसे ही बना रहा और वह बढ़ता ही गया। जेल जाने के पहले एक पत्र विद्यार्थीजी ने मुझे लिखा था, ''हम लोग जेल की तैयारी कर रहे हैं, आवश्यकता पड़ेगी तो आप 'प्रताप' में जोते जाएँगे। संपादन का भार आप पर पड़ेगा।''

एक बार उन्होंने मुझे एक आंदोलन की जाँच करने भेजा। वह स्थान कानपुर से कई सौ मील की दूरी पर था। खबर थी कि बड़े-बड़े लोगों के मुँह मीठे

कर दिए गए हैं। कतिपय बड़े नेता तक उस व्यक्ति के विरुद्ध कुछ न कह सकते थे, लाखों रुपए अपनी संस्था के लिए पा चुके थे।

मैं भी गया और गया 'प्रताप' का प्रतिनिधि होकर। बड़ी आवभगत हुई। मेरे सम्मुख पाँच हजार रुपए का लालच रखा गया। प्रार्थना की गई कि 'प्रताप' तटस्थ ही बना रहे, पर 'प्रताप' का प्रतिनिधि गणेशशंकर के चरणों में बैठ चुका था। उसको खूब खरी-खोटी सुनाई और वहाँ की रिपोर्ट निष्पक्ष रूप से 'प्रताप' में निकाली गई।

गणेशशंकरजी दो-चार बार मेरी कुटिया पर आए थे। ग्राम संगठन पर घंटों उनसे बातचीत होती रही। मेरा विचार था कि विद्यार्थीजी, पालीवालजी इत्यादि मित्रों के सहयोग से ग्राम संगठन का कार्य प्रारंभ करूँ। अप्रैल सन् 1931 में श्री विद्यार्थीजी एक सप्ताह के लिए मेरी कुटिया पर इसी विषय पर बातचीत करने आनेवाले थे, पर विधाता को कुछ और ही मंजूर था।

मैं जो कुछ हूँ, विद्यार्थीजी की कृपा से हूँ, वे मेरे रहनुमा और बड़े भाई जैसे थे। गुरु थे, वे मेरे थे और मैं उनका हूँ। वे बलिदान हो गए, मैं लुट गया। अनाथ हो गया।



'प्रताप' की अंतिम साँसें

ज्ञानेंद्र सिंह

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' को आज भी लोग श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं और सोचते हैं कि आज यदि यह समाचार-पत्र अपने संस्थापक संपादक की ही रीति-नीति पर संपूर्ण निष्ठा से चलते हुए जीवित होता, तो पत्रकारिता का स्वरूप कदाचित् कुछ और ही होता। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्र भारत में भी वह शासन का कोपभाजन भी जब-तब अवश्य बनता रहता, इसलिए कि गणेशजी का खरबोला 'प्रताप' शोषित-पीड़ित-दलित जन-साधारण का प्रबल-प्रखर और मुखर पक्षधर था। स्वातंत्र्योत्तर दुश्शासन की जनविरोधी दुस्सह अनीतियों-कुनीतियों को वह किंचित् भी कभी सहन न कर पाता। खुलकर कड़ा विरोध करता, जो शासन के लिए असह्य होता। परिणामस्वरूप 'प्रताप' को विषपायी तब भी बनना पड़ता। तथापि 'प्रताप' का कारुणिक अंत वास्तव में भारतीय पत्रकारिता के इतिहास की एक त्रासदी है।

दूरदर्शी गणेशजी ने 'प्रताप' के रूप में अपनी जलाई मशाल को कभी बुझने न देने के लिए अपनी ओर से कोई कसर नहीं छोड़ी। अपनी निजी संपत्ति 'प्रताप' को जनगण की धरोहर का रूप देकर चिरजीवी बनाने के लिए उन्होंने सन् 1919 में एक सार्वजनिक ट्रस्ट का गठन कर उसे सौंप दिया था, किंतु अंततोगत्वा उनकी यह युक्ति भी काम न आई। गणेशजी के बलिदान के बाद 'प्रताप' ट्रस्ट की निष्क्रियता से व्यथित होकर गणेशजी के मित्र राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने उसकी सदस्यता से इस्तीफा दे दिया था। गणेशजी के बलिदानोपरांत उनका 'प्रताप' बंद न होने पाए, इसके लिए सहायतार्थ कितने ही हाथ उठे, अनेकानेक दिग्गजों तक ने भरसक जोर लगाया, किंतु उनकी इस अनमोल धरोहर

को अत्यंत क्षुद्र निहित स्वार्थों के कुत्सित षड्यंत्रों के कारण अकाल अवसान से कोई बचा न पाया। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन और पंडित जवाहरलाल नेहरू से लेकर दो-दो मुख्य मंत्रियों, श्री चंद्रभानु गुप्त और श्रीमती सुचेता कृपलानी तक ने अपने कार्यकाल में यथासाध्य सभी यत्न-उपाय किए, किंतु सबके सब निष्फल रहे।

'प्रताप' का स्वर्णयुग तो वास्तव में गणेशजी के बलिदान के साथ ही समाप्त हो गया था, किंतु उसका प्रकाशन जारी रहा। गंभीर आर्थिक संकट का सामना उसको गणेशजी के जीतेजी करना पड़ रहा था। उनके बलिदान के बाद खस्ताहाल 'प्रताप' की बागडोर 'प्रताप' मंडली के वरिष्ठ सदस्य पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने सँभाली, किंतु 30 अप्रैल, 1931 के अपने अग्रलेख पर उन्हें राजद्रोह के अभियोग में शीघ्र ही जेल जाना पड़ गया, जिसके बाद 'प्रताप' के संपादन-संचालन का उत्तरदायित्व गणेशजी के कनिष्ठ पुत्र श्री ओंकारशंकर विद्यार्थी ने ग्रहण किया, किंतु शीघ्र ही आंतरिक दुश्चक्र कुछ ऐसा चला कि सन् 1945 में उनको 'प्रताप' से विलग होना पड़ा। तदुपरांत सन् 1946 में 'प्रताप' का कार्यभार गणेशजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री हरिशंकर विद्यार्थी ने सँभाला, जिन्हें 15 अगस्त, 1947 को भारत के स्वतंत्र होने के बाद उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत ने जब कानपुर डेवलपमेंट बोर्ड का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया, तब काकोरी ट्रेन डकैती कांड के क्रांतिकारी पत्रकार सुरेशचंद्र भट्टाचार्य दैनिक 'प्रताप' के संपादक नियुक्त हुए और उनके सहयोगी पंडित रामदुलारे त्रिवेदी ने साप्ताहिक 'प्रताप' सँभाला। संचालन किंतु हरिशंकरजी के ही हाथ में रहा।

दुर्भाग्यवश कुछ ही समय बाद हरिशंकरजी रक्त कैंसर से पीड़ित हो गए। उनके निरंतर गिरते स्वास्थ्य के कारण समाचार-पत्र के संचालन का कार्यभार उनकी दूसरी पत्नी श्रीमती रमा विद्यार्थी ने अपने हाथ में ले लिया। सन् 1955 में हरिशंकरजी के देहांत के बाद रमाजी ने 'प्रताप' पर अपना पूर्ण आधिपत्य होते ही पन्नालाल त्रिपाठी को 'प्रताप' का जनरल मैनेजर नियुक्त कर दिया, जो रमाजी से अपने नैकट्य का लाभ उठाकर 'प्रताप' का संचालन मनमाने तरीके से करने लगे। दुष्परिणामस्वरूप 'प्रताप' घाटे की ओर अग्रसर होने लगा, जबकि वह पहले कभी घाटे पर नहीं रहा था। आखिरकार, नौबत यहाँ तक आ गई कि कर्मचारियों को वेतन तक के लाले पड़ने लगे, जिससे उनमें असंतोष भड़कने लगा।

'प्रताप' के संपादक-मंडल के वरिष्ठ सदस्य रहे धुरंधर पत्रकार पंडित गौरीशंकर त्रिवेदी बताते थे कि 'प्रताप' को प्राणवायु पहुँचाने के प्रयास गणेशजी के बलिदान के कुछ ही समय बाद प्रारंभ हो गए थे। सन् 1931 का दंगा शांत होने पर उसकी जाँच के लिए प्रांतीय कांग्रेस के तत्वावधान में जाँच कमीशन के रूप में एक कमेटी बनी, जिसमें बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, बाबू श्रीप्रकाश, कर्मवीर सुंदरलाल, आचार्य नरेंद्रदेव, श्री मोहनलाल सक्सेना, श्री रफीअहमद किदवई, पंडित मोतीलाल नेहरू, डॉक्टर कैलाशनाथ काटजू आदि थे। दंगे की जाँच के सिलसिले में इन कांग्रेस नेताओं ने कानपुर के कई दौरे किए। उन दिनों ए.बी. रोड पर गयाप्रसाद पुस्तकालय के निर्माणाधीन भवन में इन नेताओं ने बैठकें करके दंगे की जाँच-पड़ताल करने के अलावा 'प्रताप' के सहायतार्थ कोष संग्रह का भी काम किया, जिससे लगभग एक लाख रुपया एकत्र हुआ, किंतु दुर्भाग्यवश यह धनराशि 'नवीन' जी, ओंकार भैय्या (ओंकारशंकर विद्यार्थी) या 'प्रताप' ट्रस्ट को प्राप्त होने के बजाए किसी प्रकार उन षड्यंत्रकारी तत्त्वों के हाथ लग गई जो 'प्रताप' पर गिद्धदृष्टि लगाए बैठे थे। उन्होंने इस रकम को अपनी अय्याशी में उड़ा दिया।

सन् 1955 में रक्त कैंसर से हरिशंकरजी के निधनोपरांत 'प्रताप' की स्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती ही चली गई। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद विज्ञापनों से 'प्रताप' की आय में गणेशजी के यश के कारण अच्छी वृद्धि हुई थी, विशेषकर सरकारी विज्ञापन खूब मिलने लगे, इतने मिलने लगे कि कतिपय अन्य स्थानीय अखबारों के पेट में दर्द होने लगा। उन्होंने अपनी इस पीड़ा को संसद् में यह प्रश्न उठवा कर प्रकट किया कि 'प्रताप' को विज्ञापन इतने अधिक क्यों? बहरहाल, विज्ञापन-आय में बढ़ोतरी के बावजूद प्रबंधकीय घोटालेबाजी से 'प्रताप' पर कर्ज़ का बोझ बढ़ता ही चला गया, जबकि इस दौरान 'प्रताप' में कर्मचारियों के लिए प्रचलित किसी भी वेतनमान का पालन कभी नहीं हुआ। दस-दस वर्ष से किसी को भी एक भी वेतनवृद्धि नहीं मिली थी। फिर भी कर्मचारियों को वेतन समय पर नहीं बँट पा रहा था। घोर असंतोष के कारण सर्वश्री जयदेव गुप्त, जमुनानारायण शुक्ल, रामनाथ गुप्त, गंगाचरन निगम, गजपतराय सक्सेना आदि एक के बाद एक 'प्रताप' छोड़कर चले गए। तथापि सुरेश दा और पंडित दुर्गादत्त पांडेय जैसे तपस्वी पत्रकार, जिनको 'प्रताप' से आत्मिक लगाव था, आर्थिक कष्ट उठाकर भी उससे जुड़े रहे।

'प्रताप' की अंतिम साँसें

'प्रताप' में उस समय संपादक का मासिक वेतन 285 रुपए, नगर संवाददाता का 105 रुपए, विज्ञापन मैनेजर का 180 रुपए तथा चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों का 40 रुपए था। इतना कम वेतन भी समय पर न मिलने से कर्मचारियों का असंतोष आक्रोश में बदलने लगा। आखिरकार, 24 अक्तूबर, 1964 को इस आक्रोश का विस्फोट हड़ताल के रूप में हुआ। 'प्रताप' में जैसे भूकंप आ गया। समझौते के लिए तत्कालीन मैनेजिंग ट्रस्टी रमाजी ने श्री शिवनारायण टंडन को मध्यस्थ स्वीकार किया। रमाजी के निवास पर सभा हुई, जिसमें कर्मचारियों ने अपनी व्यथा-कथा सुनाकर 40 रुपए मासिक वेतन वृद्धि की माँग की। टंडनजी ने मध्यस्थ की हैसियत से 20 रुपए प्रति व्यक्ति वेतन वृद्धि की अनुशंसा की, परंतु प्रबंधन ने मध्यस्थ की भी बात नहीं मानी।

आर्थिक रूप से टूटे कर्मचारियों के धरने, प्रदर्शन और आंदोलन को कुचलने के लिए कोर्ट-कचहरी का सहारा लिया गया। सभी कर्मचारी नेताओं के खिलाफ यू.पी. इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट ऐक्ट की धारा-6 के अंतर्गत मैनेजमेंट ने एक परिवाद दाखिल किया, जिसमें सबूत पक्ष के अधिवक्ता विद्यार्थीजी के एकमात्र पौत्र श्री अशोक विद्यार्थी ने कठोर दंड की माँग की। बचाव पक्ष की ओर से इस ग्रंथ के संपादक-अधिवक्ता श्री श्रीतिलक ने प्रसंज्ञान का मुद्दा उठाते हुए न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को चुनौती दी। खचाखच भरी अदालत में दोनों पक्षों के वकीलों की बहस सुनने के बाद विद्वान् मजिस्ट्रेट श्री माथुर ने सभी अभियुक्तों को अवमुक्त कर दिया।

'प्रताप' पर कर्ज चढ़ता-बढ़ता गया। कर्मचारियों के प्रॉविडेंट फंड का करीब 10 हजार रुपए, कर्मचारी राज्य बीमा निगम का लगभग दो हजार रुपए, सुरेश दा के वेतन का पाँच हजार, 'प्रताप' के संपादक मंडल के सबसे पुराने और तपोनिष्ठ सदस्य पंडित दुर्गादत्त पांडेय के वेतन का शेष लगभग चार हजार रुपए तथा अन्य अल्प वेतनभोगी कर्मचारियों के पाँच हजार रुपए बकाया हो गए।

इस बीच उत्तर प्रदेश शासन ने 17 फरवरी, 1965 को एक शासनादेश द्वारा 'प्रताप' का अधिग्रहण कर उसके लिए नए ट्रस्ट का गठन कर दिया, जिसमें डॉ. जवाहरलाल रोहतगी अध्यक्ष, ओंकारशंकर विद्यार्थी मंत्री तथा इलाहाबाद के श्री मंगलाप्रसाद और कलकत्ता के श्री बी.पी. बाजोरिया सदस्य नियुक्त किए गए, किंतु इस ट्रस्ट को पूर्व ट्रस्टी रमाजी ने 'प्रताप' की कोई संपत्ति नहीं लौटाई।

उलटे, इस ट्रस्ट पर परिवार के लोगों द्वारा कीचड़ उछाला गया। अंततः अधिग्रहण का शासनादेश और नया ट्रस्ट भी 'प्रताप' को नवजीवन न दे पाया।

रमाजी के राज में 'प्रताप' का साज-ओ-सामान पहले ही बिक चुका था। 'प्रताप' के निरंतर घाटे के नाम पर उसकी मशीनें भी बिक चुकी थीं। धीरे-धीरे केवल नाम छोड़कर उसका सर्वस्व बिक गया। 'प्रताप' प्रेस बंद होने के साथ ही वहाँ की साहित्यिक सामग्री, गणेशशंकर विद्यार्थी के क्रांतिकारी अग्रलेखों युक्त 'प्रताप' की ऐतिहासिक फाइलें श्रीमती रमा विद्यार्थी के बँगले में पहुँच गईं। पत्रकारिता विषय में शोध करनेवाले छात्रों के लिए इन फाइलों का बड़ा महत्त्व है। अनेकानेक शोधकर्ताओं ने प्रयास भी किया कि वे फाइलें शोध कार्य के लिए देखने को मिल जाएँ, किंतु उनकी मनोकामना पूरी नहीं हुई।

अशोक नगर स्थित हिंदी पत्रकार संघ एवं पुस्तकालय ने भी प्रयास किया कि गणेशशंकर विद्यार्थी के अग्रलेखयुक्त एवं उनके द्वारा संपादित फाइलें उसे मिल जाएँ, ताकि हिंदी पत्रकारिता में शोध करनेवाले छात्र वहाँ बैठकर शोध कार्य कर सकें, लेकिन उसके लिए यह माँग स्वप्न बनकर रह गई। फाइलें अब कहाँ किस हाल में हैं, दीमक चाट रही हैं या वे सड़-गल चुकी हैं, यह जानने की किसे फुर्सत है?

'प्रताप' प्रेस बंद होने के समय वहाँ संपादकीय विभाग में स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े काकोरी केस के श्री सुरेशचंद्र भट्टाचार्य, श्री दुर्गादत्त पांडेय, पं. गोपीकृष्ण तिवारी, श्री रामनारायण त्रिपाठी, श्री गौरीशंकर त्रिवेदी, श्री रामकिशोर मिश्र (स्वतंत्रता सेनानी) के साथ लेखक भी था। विज्ञापन विभाग में श्री केशवदत्त दालाकोटी एवं शिवबालक अग्निहोत्री (बच्चा बाबू) थे। सबके सब 'प्रताप' की बंदी पर केवल आँसू बहाते रह गए। 'प्रताप' को बचाने की दिशा में कुछ भी न हो सका।

कुशल व्यंग्यकार श्री दुर्गादत्त पांडेय 'प्रताप' में 'बेढबानंद' के छद्म नाम से 'बेढब विचार' शीर्षक स्तंभ नियमित रूप से लिखते थे और यह इस अखबार का बड़ा ही लोकप्रिय स्तंभ था। पांडेयजी ने बकाया वेतन के लिए दावा दायर किया, तो प्रबंधन ने उनको चपरासी बताया, जिससे उन्हें इतना आघात लगा कि उनका मानसिक संतुलन स्थायी रूप से बिगड़ गया।

फीलखाना (कानपुर) स्थित 'प्रताप' प्रेस जिस भवन में था, वह आज भी वहाँ है। उस विशाल कमरे को जहाँ बैठकर गणेशशंकर विद्यार्थी 'प्रताप'

का संपादन करते थे और कभी जहाँ महात्मा गांधी तक आकर बैठे थे, राष्ट्रीय स्मारक के रूप में ले लिया जाता, तो गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' का एक उत्तम स्मारक बन जाता। आज है कोई समाचार-पत्र जो 'प्रताप' के निकष के दर्पण में अपना मुखड़ा देख सके?



तसवीर रह गई

डॉ. लल्लन मिश्र

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के बलिदान को आज 80 वर्ष से अधिक बीत गए। अंग्रेजों के कुशासन के विरुद्ध उन्होंने पत्रकारिता को अपनाया। आज गणेशशंकर विद्यार्थी से अधिक पढ़े-लिखे पत्रकार हो सकते हैं, किंतु जिस संदर्भ में उन्होंने पत्रकारिता को अपनाया उसमें वे अप्रतिम थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्ति बड़ा नहीं होता, अपितु संदर्भ उसे बड़ा बना देता है। साधनों के घोर अभाव में उन्होंने अल्प साधन से जो कार्य किया वह हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में दुर्लभ है।

वे जीवन भर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते रहे, किंतु उन्होंने कभी हार नहीं मानी। अपने उसूलों के अनुसार आगे बढ़ते गए। वे चाहते तो 'प्रताप' के संपादक के रूप में करोड़ों रुपए ऐंठ सकते थे, किंतु तब अपने सिद्धांत के साथ बेईमानी करते, पर वैसा करना उन्होंने सीखा ही न था। अपने गुरु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा अंग्रेज सरकार के विरुद्ध कड़े शब्दों का प्रयोग न करने की हिदायत देने पर उनके ही सिखाए श्लोक की इन पंक्तियों को दुहरा देते थे—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

गणेशजी के समय में भी हिंदी जगत् में कुछ यशस्वी पत्रकार थे, जैसे सर्वश्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबूराव विष्णु पराड़कर, लक्ष्मणनारायण गर्दे, माधवराव सप्रे आदि, किंतु वे इन लोगों से कुछ भिन्न थे। पराड़करजी के नाम

लिखे पत्रों में गणेशजी ने अपने सिद्धांतों की चर्चा की है। सत्य के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा उन पत्रों में कोई देख सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की उत्क्रांति ने भारतीय जन-जीवन में एक नए अध्याय का श्रीगणेश किया था। लोगों ने कदाचित् यह पहली बार समझा कि इस देश में विदेशी शासन का प्रभाव समाप्त करना एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है, उसके लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। उन दिनों अपने देश के गण्यमान्य नेताओं ने राष्ट्रीय एवं सामाजिक संगठन का नारा देकर इस धारणा को और भी मजबूत कर दिया, किंतु जन-जागरण को तीव्र बनाने तथा साथ ही देश की जनता को विदेशी शासन के दुष्परिणामों से अच्छी तरह अवगत कराने के लिए समाचार-पत्रों का आश्रय लेना सबसे अधिक उपयुक्त समझा गया। अत: उन्हीं दिनों उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी ने वैसा ही स्वर बुलंद किया था—

खींचो न कमानों को न शमशीर निकालो,
गर तोप मुकाबिल हो अखबार निकालो।

आंग्ल शासन से संत्रस्त भारतीय जीवन के वैसे ही वातावरण में हिंदी के यशस्वी पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म हुआ था। गणेशजी राष्ट्रभाषा हिंदी के धुरंधर लेखक, ओजस्वी वक्ता, निर्भीक संपादक, निष्पक्ष आलोचक थे, जो साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं सांप्रदायिकता के विरुद्ध तथा भारतमाता के स्वातंत्र्य-युद्धकाल के समस्त क्रांतिकारी आंदोलनों के समर्थन में अपनी लेखनी से प्रलय की आँधी पैदा करते रहे। मुर्दों में जान फूँक देनेवाले प्रेरक व्यक्तित्व एवं चरित्र के धनी विद्यार्थीजी के जीवन को संप्रदायवाद की काली शक्तियों द्वारा 25 मार्च, 1931 को समाप्त कर दिया गया। शहीद विद्यार्थीजी का देश के विभिन्न क्रांतिकारी आंदोलनों से अति निकट का संपर्क रहा था।

जिस प्रकार महात्मा गांधी ने अपने अहिंसात्मक आंदोलन द्वारा देश का नेतृत्व किया था उसी प्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' द्वारा देश की जनता को जगाने का संकल्प लिया था। आज जब देश के विभिन्न भागों में सांप्रदायिकता की विषाक्त लहर फैलने लगी है, तब विद्यार्थीजी की शहादत हमें कुछ सोचने के लिए विवश करती है।

गणेशजी की वक्तृता शैली हमें मुग्ध कर लेती है। उनके भाषणों में तोप-

बंदूक की शक्ति छिपी मालूम पड़ती है। साम्राज्यवादी अंग्रेजों की तरह उन्होंने पूँजीवाद को भी देश के लिए बहुत बड़ा खतरा कहा था। यही नहीं, किसानों और मजदूरों की वकालत उन्होंने इन शब्दों में की थी, ''भविष्य किसानों और मजदूरों के हाथ में है। जो संस्था भविष्य में कृषक-मजदूर सेवा से वंचित रहेगी, वह शक्तिहीन और निकम्मी सिद्ध होगी।''

आंग्ल शासन के कूटनीतिक चातुर्य ने जब हमें मानसिक और आध्यात्मिक, दोनों ही दृष्टियों से रुग्ण बना दिया था, तब मार्च, 1923 में फतेहपुर के जिला राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्होंने अपने दृढ़ विचारों एवं अतुलनीय राष्ट्र-प्रेम से हमें निस्तंद्र बनाते हुए उद्‌घोषित किया था, ''मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ। फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारों की, धनवानों की या ऊँची जातियों की।'' ऐसा मादक स्वर फिर कभी सुनने को नहीं मिला, जिससे हमारा युगों का नशा दूर हो जाए, हमारी पाषाण जैसी कठोरता सर्वभूत हित व्यापिनी करुणा में विगलित हो जाए और हमारा प्रमाद जागृति का संदेशवाहक बन जाए।

अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने की मनोवृत्ति विद्यार्थीजी में बचपन से ही थी। पत्रकार-कला की उनकी जैसी निपुणता हिंदी जगत् में शायद ही कहीं दिखाई पड़े। किसी पत्रकार का सबसे बड़ा गुण पाठकों की मनोवृत्ति को देखते हुए उन्हें सुरुचिपूर्ण और उनके हृदय में पैठ-बैठ जानेवाली बात कहना है। विद्यार्थीजी इस कला में पूर्णतः दक्ष थे।

गणेशजी ने हिंदी को एक विशेष प्रकार की भाषा शैली दी। गोखलेजी के निधन पर लिखी उनकी श्रद्धांजलि का एक अंश देखिए—

''देश की बड़ी आत्मा अंतर्धान हो गई। सूर्य के तेज का मूल्य उसके समय में कम जाना गया, पर अब वह जाना जाएगा। ऐसा पुजारी जिस पर हिंदू और मुसलमान दोनों के उपासकों का विश्वास हो और जिसने अपना सर्वस्व सब भेद-भाव भुलाकर देवी के चरणों पर चढ़ा दिया हो। उसकी तलाश में हमारे नेत्र घूमेंगे—गोखले को खोजेंगे और गोखले का सा खोजेंगे, परंतु माता के दुर्भाग्य से और उसी की संतति के दुर्भाग्य से व्यर्थ और व्यर्थ।'' यहाँ छोटे-छोटे वाक्यों में उनके हृदय की धड़कन मानो मूर्तिमान हो उठी है।

हिंदी के ओजस्वी पत्रकारों के नामों के साथ गणेशजी का मूल्यांकन करते हुए आधुनिक काल के प्रमुख समीक्षक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी

'हिंदी साहित्य की भूमिका' पुस्तक में लिखा है—

''समाज को सुधारने के जो प्रयत्न थे वे इस काल में राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने की ओर मुड़ गए। राजनीति ने निश्चित रूप से हमारे समस्त प्रयत्नों को आत्मसात करना आरंभ किया। इस बात ने सामयिक समाचार-पत्रों में बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया। इस काल में हिंदी में कुछ इतने महत्त्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए जो दीर्घकाल तक याद किए जाएँगे। बुद्धिगत प्रौढ़ता के साथ-साथ चरित्रगत दृढ़ता ने इन पत्रकारों को बड़ी सफलता दी। गणेशशंकर विद्यार्थी, पराड़करजी, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे और बनारसीदास चतुर्वेदी ऐसे ही पत्रकार हुए हैं।''

गणेशजी पत्रकार के रूप में ही सर्वप्रथम देश के सामने प्रकट हुए थे। हिंदी-संसार को उन्होंने बेजोड़ पत्र 'प्रताप' दिया। उसे उन्होंने मानव जाति की सेवा का माध्यम बनाया था। पत्रकार होने के लिए जिस बड़े त्याग, बड़ी शुद्धता, बड़ी जिम्मेदारी, बड़ी लगन, बड़े परिश्रम एवं अध्यवसाय की आवश्यकता होती है, ये सभी गुण गणेशजी में विद्यमान थे। उन्हें अपने देश की भावी पत्रकारिता का भी अंदाज था। उन्होंने हिंदी पत्रकारिता के भविष्य के विषय में इस प्रकार लिखा था—

''संसार के अधिकांश समाचार-पत्र पैसे कमाने और झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार-पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं। अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो बहुत दूर की वस्तु है, उनके पक्ष-समर्थन के लिए वे हर तरह के हथकंडों से काम लेना अपना नित्य का आवश्यक काम समझते हैं। संसार भर में यह हो रहा है और इने-गिने पत्रों को छोड़कर सभी पत्र ऐसा कर रहे हैं। इस देश में भी समाचार-पत्रों का आधार धन हो रहा है। धन ही से वे निकलते हैं, धन ही के आधार पर वे चलते हैं और बड़ी वेदना के साथ कहना पड़ता है कि उनमें काम करनेवाले बहुत से पत्रकार भी धन ही की अभ्यर्थना करते हैं। अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही हैं। कुछ ही दिन पश्चात् यहाँ के समाचार-पत्र भी मशीन सदृश हो जाएँगे और उनमें काम करनेवाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अंतर न रहेगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफतों

को बुलाने की चाह न रहेगी, रह जाएगा केवल खींची हुई लकीर पर चलना। मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता।''

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणेशजी ने समाचार-पत्रों के जिस आदर्श की कल्पना की थी, उसका अपने व्यक्तिगत जीवन में पालन करके दिखा दिया था। वह समय पराधीनता का था। आज स्वतंत्र देश में पत्रकारिता की जो दशा है वह किसी समझदार आदमी से छिपी नहीं है। सर्वत्र अराजक तत्त्वों का बोलबाला है। अत: पत्रों के संपादकों को बहुत सोच-समझकर उनके विरुद्ध कुछ लिखना पड़ता है। हाल ही में कई योग्य पत्रकारों को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा है। वैसे, गणेशजी के जीवन पर महाराणा प्रताप के उच्च त्याग और उच्च स्वातंत्र्य प्रेम, आत्म-गौरव का बहुत प्रभाव पड़ा था। इसीलिए उन्होंने अपने पत्र का नाम 'प्रताप' रखा था। वस्तुत: 'प्रताप' शब्द ही त्याग एवं स्वातंत्र्यप्रियता का द्योतक है। 'प्रताप' द्वारा देश-सेवा का जो कार्य उन्होंने किया वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

राजनीतिक नेता के साथ गणेशजी एक आदर्श पत्रकार और साहित्य-सेवी भी थे। वे जन्मजात पत्रकार थे। उन्होंने अपने लेखों और संपादकीय टिप्पणियों द्वारा हिंदी संसार में एक नवीन स्फूर्ति को जन्म दिया। वे जो कुछ लिखते थे उस पर उनके हृदय की छाप रहती थी। हिंदुस्तानी अकादमी, प्रयाग में एक बार अध्यापक रामरत्नजी ने गणेशजी की भाषा के विषय में कहा था—

''आप लोग हिंदुस्तानी जबान की सृष्टि कर रहे हैं, पर क्या आप लोगों को मालूम है कि इस जबान की सृष्टि हो चुकी है और उसका सिरजनहार है गणेशशंकर विद्यार्थी।''

'प्रताप' ने सर्वसाधारण के मनोभावों में परिवर्तन किया। लोगों में शिक्षा और जागृति फैलाई, उनमें स्वतंत्रता और स्वाभिमान के भाव भरे। गणेशजी ने संपादनकला का जो आदर्श रखा वह हिंदी-पत्र संपादकों को सतत प्रोत्साहित करता रहेगा। कारण यह कि संपादक में जो गुण सत्य-निष्ठा, निर्भीकता और निष्पक्षता होने चाहिए वे उनमें अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए थे। उनकी भाषा में बड़ी सजीवता, ओज एवं तेजस्विता थी।

बड़े लेखक या पत्रकार का महत्त्व केवल अपने समय के लिए ही नहीं होता, बल्कि आने वाली पीढ़ियाँ भी उससे प्रभावित होती रहती हैं। गणेशजी अपने समय के लिए जितने प्रासंगिक थे, आज भी वे उतने ही प्रासंगिक हैं।

तसवीर रह गई

उनकी प्रासंगिकता कभी समाप्त नहीं हो सकती।

इस पत्रकार-शिरोमणि एवं महापुरुष का पार्थिव शरीर आज हमारे बीच नहीं है, किंतु इनका प्रभाव जन-जीवन पर किसी-न-किसी प्रकार अवश्य अंकित है और सदैव रहेगा। कविवर पं. गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के शब्दों में हम भी कह सकते हैं—

दीवाना-ए-वतन गया, जंज़ीर रह गई,
चमकी चमक के क़ौम की तक़दीर रह गई।
ज़ालिम फलक ने लाख मिटाने की फिक्र की
हर दिल में अक्स रह गया, तसवीर रह गई।।



खंड-4

उनकी कलम से

उनकी कलम से

हिंदी में ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने अपनी कलम से देश के राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष को दिशा व ऊर्जा दी, किंतु गणेशशंकर विद्यार्थी का कोई जोड़ नहीं। अपने 'प्रताप' के माध्यम से उन्होंने अपने समय की राजनीति, समाज, धर्म व वैचारिकता पर निरंतर बेबाक टिप्पणियाँ की, तो युवा पीढ़ी का ओजस्वी नेतृत्व भी किया। गणेशजी के लेख व संपादकीय अपने समय का प्रतिबिंब हैं। 'अफगान हमले का भय' में उन्होंने तेजी से बढ़ती हिंदू-मुस्लिम खाई पर तार्किक व विश्वसनीय टिप्पणी की है। हिंदू धर्म की पतनशील प्रवृत्तियाँ अथवा गोर्की और तिलक की मृत्यु पर लिखे संपादकीय उनकी विवेकशील चेतना व सरोकारों के परिचायक हैं। प्रस्तुत खंड में गणेशजी की कलम से निकले विचार पाठकों को निश्चित रूप से तत्कालीन प्रवृत्तियों व प्रसंगों को समझने में पूरी मदद करेंगे।



प्रियंवद

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

उनकी कलम से

अंग्रेजी डींग	-	06 जुलाई 1905
प्रांत के लिए भयंकर समय	-	05 अक्टूबर 1925
होलकर का सिंहासन त्याग	-	14 मार्च 1926
क्या हिंदुओं का नाश होगा ?	-	21 मार्च 1926
कलकत्ता की गुंडेशाही	-	11 अप्रैल 1926
सरकारी वर्ण व्यवस्था	-	13 फरवरी 1927
मूर्खता का अखंड राज्य	-	19 जून 1927
मनशेरचा अवारी और उनका प्रजातंत्र	-	19 जून 1927
ऊँचे पहाड़ों के अञ्चल में	-	1-17 जुलाई 1927
ऊँचे पहाड़ों के अञ्चल में	-	2-17 जुलाई 1927
गुलाम देश की राजनीति	-	02 अप्रैल 1927
एक ही रास्ता	-	27 मार्च 1928

प्रबंध हैं उनके ये निबंध

सेवक वात्स्यायन

ये निबंध प्रबंध हैं। निबंध में विचारणा पुष्ट होकर विकास पाती है। इस विकास में प्रक्रम और आयाम सहज निहित हैं। इनका विचारणा से पृथक्कृत होना असहज स्थिति में लाकर प्रतिपादना में शिथिलता ला सकता है। अच्छे निबंध में या कह सकते हैं कि अच्छे निबंध के प्रलेखक में यह दोष नहीं होता। इन निबंधों में यह दोष नहीं है। ये निबंध पुष्ट निबंध हैं। विद्यार्थीजी एक पुष्ट निबंधकार हैं।

निबंध वस्तुतः संप्रधारणा के संप्रबंध की संज्ञा है। इस साहित्य-विधा में हमारे स्थिर, पर गत्युन्मुख विचार व्यवस्था से स्वतः बंधकर प्रकाशित होते हैं। अप्राकृतिक प्रयत्न इन्हें इनकी प्रकृति से दूरस्थ बनाकर विचार-गौरव और विचार-व्यवस्था को पंगु करता है। गणेशशंकर विद्यार्थी के ये लेखकीय परिप्रबंध कच्चे लेखकों की इस दुरवस्था से पंगु नहीं बनते। इन निबंधों का साहित्यिक स्वास्थ्य अविकल संप्रधारणा-सम्वाही है अतः अपनी विवक्षाओं की सम्यक् संप्रेषणाओं को लक्ष्य तक पहुँचाने वाला सिद्ध है। विद्यार्थीजी जिस कालखंड में अवतरित हुए वह समय राजनीतिक उथल-पुथल, सामाजिक परिक्रांति, राष्ट्रीय भावना के बलशाली अभ्युदय, मूल्यों और सनातन मूल्यों के संघर्ष का, संघर्षशील परीक्षा का समय था तथा स्मरणीय यह भी है कि इसकी स्थिति केवल भारतवर्ष में ही नहीं, छोटे-बड़े अन्य राष्ट्रों में भी उपस्थित हो रही थी। विचारवान् पुरुषों की अंतर्दृष्टि अंतर्भेदिनी होती है। यह अंतर्दर्शन-अंतर्भेदन अपनी सीमा में विराट होता है। वह वहाँ तक पहुँच पाता है, जहाँ तक सामान्यों की दृष्टि नहीं पहुँच पाती, उन्हें वह दिखाई देता है, जो सामान्यों को नहीं या देर में दिखाई देता है। यही

वजह है कि विचारक विद्यार्थीजी की विचारक-दृष्टि देश-देशांतर और समय से समयांतर तक पहुँचती है। स्वतंत्रता-पूर्व के हमारे राजनीतिक राष्ट्रीय और सामाजिक जागरणकाल में अच्छे से अच्छे हमारे अधिसंख्य राष्ट्रनायकों में भी विद्यार्थीजी की तुलना में चिंतन-दृष्टि का यह अपेक्षित विस्तार नहीं या बहुत कम था। इस नैसर्गिक एवं पारिस्थितिक सूक्ष्मानुसंधान में स्वलेखन और स्वविचारणा की लोक-मंगल-चिंता में हम विद्यार्थीजी को महात्मा गांधी की तत्तुल्यता में सन्निविष्ट नहीं, सुप्रतिष्ठित करके देख सकते हैं। जैसे गांधीजी अंदर से अंदर और दूर से दूर तक सोच पाते थे, विद्यार्थीजी भी सोच पाते थे, जैसे गांधीजी किसी की भी कठिनाइयों को स्वकीयता की आत्यंतिक अनुभूति में लाकर उनके निराकरण के लिए कर्मोन्मुख, उद्वेलित भाव से अभिभूत हो उठते थे, उसी तरह विद्यार्थीजी भी कातरता के अध्ययन-परिणामों से स्वचालित हो उठते थे। विद्यार्थीजी को समय और सौभाग्य का साहाय्य मिल पाया होता, तो हमारे यहाँ कदाचित् दो गांधी होते। बड़ों के लिए जैसे अपनी व्यष्टि समष्टि से भिन्न नहीं होती है वैसे ही समाज का एक हिस्सा संपूर्ण समाज से भिन्न नहीं होता। एक राष्ट्र और देश भी हिताहित दृष्टि से सभी राष्ट्रों और देशों से भिन्न नहीं होता। हमें लगता है कि व्यक्ति घर-परिवार, मोहल्ला, राष्ट्र देश आदि की सीमा में वस्तुत: सर्वात्मभाव सर्वहितचिंतन-दर्शन की आदि पाठशालाएँ हैं। विद्यार्थी जैसे महच्चरित्र इन्हीं पाठशालाओं में दीक्षा लिये उत्तीर्ण छात्र होते हैं। विद्यार्थीजी के लेखों के अवलोकन से हमारी यह धारणा पुष्ट होती है। उनकी शहादत से भी यही धारणा पुष्टि प्राप्त करती है। तभी तो उन्हें न केवल भारतवर्ष, प्रत्युत रूस, फ्रांस आदि अन्यान्य देशों और समाजों के भी दर्द की अपनी जैसी ही अनुभूति होती है। महान् त्याग, बलिदान एवं महनीयता के वैशिष्ट्यपूर्ण सुगुण उन्हें स्वदेश के साथ-साथ अपर देशों में भी दिखाई देते हैं। कलम के सिपाही गोर्की, महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन और देवी जोन ऑफ आर्क जैसे विद्यार्थीजी के लिखे लेख इस तथ्य के अन्यान्य प्रमाण प्रस्तुतकर्ता हैं।

मिलेंगे वे भी जो कहेंगे ये निबंध, निबंध नहीं, कुछ और हैं। पर स्मरणीय तथ्य यह है कि विद्यार्थीजी के निबंधों को निबंध के साहित्याचार में जटिलतापूर्वक बाँधने की जरूरत नहीं है। स्मरण व्यक्तिनाम या किसी प्रकार की विवरणियों के वांछित समावेश से निबंध का निबंध होना समाप्त नहीं हो जाता। उक्त लक्षणों से संयुक्त होने पर भी निबंध निबंध ही बना रहता है। निबंध का प्रधान लक्षण एक ही है कि उसमें विचार-व्यवस्था का समाबंधन कहीं शिथिल या अदृश्य न

होता हो, विद्यार्थीजी के निबंधों में यह लक्षण अपरिहार्य होकर विद्यमान है। यह लक्षण निबंध के लिए इस सीमा तक अपरिहार्य है कि बर्नार्ड शॉ के लंबे नाटकीय संवादों को भी उनमें अनुस्यूत व्यवस्थामूलक विचार संगुम्फनता के वशीभूत हुए कई सुधी समीक्षकों ने निबंध की संज्ञा दी है। अंग्रेजी के ही विक्टोरियन एरा के दार्शनिक सुकवि रॉबर्ट ब्राउनिंग की ऐसी कविताओं तक को कई सुधी समीक्षकों ने इंकंप्लीट एसेज बताया है। यहाँ निबंध और एसे के व्युत्पत्तिमूलक भेद की आवश्यकता नहीं है। विद्यार्थीजी के ऐसे प्रलेखों में वे भी आते हैं, जो उन्होंने 'प्रताप' के संपादकीय के रूप में लिखे। निबंध सामयिक हो, तो भी विवक्षित ऐसा पुराना नहीं लगता जैसा कि समाचार पुराना होने पर पुराना लगता है। विचार-स्वास्थ्य में तब वह पुराना होकर भी पुराना नहीं लगता और विद्यार्थीजी के ऐसे लेख हैं जो कल के होकर भी मात्र कल के नहीं लगते, आज तथा आनेवाले कल के भी लगते हैं और यह उनका साहित्यीय महत्त्व है।

अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ऐसे महामानव थे, जो राष्ट्रनायक, समाजसेवक, विचारक, निबंध-लेखक, संस्मरणचेता, भाषा के उन्नायक, सच्चे धर्मात्मा, सच्चे धर्मनिरपेक्ष, उदारचेता, निष्पक्ष, आस्थावादी, सुधारवादी, पत्रकार, मुदुभाषी, सिद्धांतवादी, स्थितप्रज्ञ जैसे उदात्त गुणज्ञ एवं अतिशय अच्छे मनुष्य आदि नानात्त्वपूर्ण सुरूपों में सब दिन याद किए जाएँगे और उनका यह गौरवमय स्वरूप उनके लेखों में सबसे अधिक आसानी के साथ देखा जा सकता है। उनके ये लेख उनके पवित्र अंतश्चरित्र को उजागर करनेवाले हैं। उनके लेखों में न तो विचारों, भावों की दुरूहता है और न भाषा की। उनकी अभिव्यक्ति-शैली उनके व्यक्तित्व के समान सरल और निश्छद्म है। पत्रकार होकर उन्होंने पत्रकारिता के कर्दम की भी खबर ली है। पत्रकारिता का सच्चा बोध-धर्म उनके पत्रकार व्यक्तित्व में समाया हुआ है। हिंदी-पत्रकारिता का भविष्य, नामक उनका निबंध पत्रकारिता के तब के वर्तमान, आज और आनेवाले भविष्य के लिए अनुकरणीय आदर्श एवं नातिसुष्ठु यथार्थ परिचय देने के लिए पर्याप्त कहा जा सकता है। प्रासंगिकता पुनरावृत्ति देवी जोन, महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन, कलम के सिपाही गोर्की, वे, राज्यक्रांति का दर्पण (अनूदित) तथा हिंदी-पत्रकारिता का भविष्य, नामक हुतात्मा गणेशशंकर विद्यार्थी के कुछ निबंध प्रस्तुत हैं जिन्हें आधार मानकर उक्त विचार प्रस्तुत किए गए हैं। आशा है, लोक मंगल के लिए यह सरणि अधिक उपयोग की सिद्ध होगी।



प्रबंध हैं उनके ये निबंध

देवी जोन

फ्रांस संसार का पूज्य स्थान है। यही नेपोलियन की अभ्युदय भूमि है। यही साम्य और भ्रातृत्व का घोषणा स्थल है। फ्रांसीसी विप्लव के मुकाबले में विप्लव आज तक संसार भर में कहीं भी नहीं हुआ। फ्रांस की भाषा आज सार्वदेशिक भाषा है। फ्रांस का गौरव आज भी पृथ्वी भर में व्याप्त है। सभ्यता और सुशिक्षा में, भद्रता एवं शिष्टाचार में उन्नतेच्छा और शक्तिमत्ता में फ्रांस जगत् का आदर्श है। वाटरलू और सिदान युद्ध के बाद भी वह आज संसार भर में अपनी टक्कर का एक ही है। उसकी पेरिस नगरी के सौंदर्य और तड़क-भड़क से संसार की कोई भी राजधानी चढ़ी-बढ़ी नहीं है। फ्रांस संसार में अतुल सम्मान से पूजनीय है।

प्राचीन रोम, ग्रीस, भारत और मिस्र के पतन की याद आते ही सभी इतिहासवेत्ताओं के मन व्यथित हो जाते हैं, मगर फ्रांस मानो अब भी नया ही है। फ्रांस की छाती पर जितनी ही चोटें लगीं, उतनी ही बार वह नया होता गया। संसार ने देखा कि उसका पतन सदैव के लिए हुआ, किंतु थोड़े ही काल में संसार उसके नवीन उत्थान को देखकर चकित हो गया। संसार ने उसे डूबते हुए छोड़ा, मगर वह दूसरे ही दिन उदय होनेवाले सूर्य के साथ हिमालय की चोटी पर दिखाई दिया।

फ्रांस अपूर्व क्यों है? पेरिस नगरी के लिए नहीं और नेपोलियन की लीला-भूमि, साम्य-घोषणा या फ्रांसीसी विप्लव के कारण नहीं। फ्रांस इसलिए भी अपूर्व नहीं है कि उसने प्रजातंत्र शासन चलाया, बल्कि फ्रांस अपूर्व है एक कन्या को उत्पन्न करने के कारण। प्रायः पाँच सौ वर्षों के बाद यह बात संसार ने एकमत से स्वीकार कर ली है कि ऐसी कन्या को संसार के किसी देश ने आज तक नहीं उत्पन्न किया। फ्रांस संसार का पूज्य है, किसान की लड़की जोन को पैदा करने

के कारण। वह अनंतकाल तक इसीलिए भक्ति-भाव से देखा जाएगा।

अमेरिका पूज्य है—इमरसन और वाशिंगटन के लिए। जर्मनी पूज्य है—गेटे और बिस्मार्क के लिए। चीन पूज्य है—कंफ्यूशियस के लिए, रशिया पूज्य है—टाल्सटाय के लिए, भारत पूज्य है—गौतम और प्रताप के लिए, इंग्लैंड—पूज्य है मिल्टन और कारलायल के लिए। अरब पूज्य है—मोहम्मद के लिए। पेलिस्टाइन पूज्य है—ईसा के लिए, इटली पूज्य है—मैज़िनी के लिए, किंतु फ्रांस पूज्य है—वाल्टेयर एवं रूसो के लिए और खासकर केवल देवी जोन के लिए।

जोन जगत्पिता की एक अपूर्व सृष्टि थी। ऐसी सृष्टि और कहीं हुई है या नहीं, कौन जाने? कौन कह सकता है कि दरिद्र किसान की लड़की और जगत् के सर्वश्रेष्ठ रत्नों में! जोन का सम्मान इन साढ़े चार शताब्दियों में भी पूरा न हो सका। उसकी प्रशंसा में लोगों क़ी जुबान दबी नहीं, किंतु कालचक्र ने पलटा खाया।

सन् 1909 में रोम के पोप ने जोन ऑफ आर्क का महागौरव बड़े ही सम्मानपूर्वक स्थापित किया। जिन धर्म-याचकों ने अंग्रेजों के पैरों तले बैठकर, निष्ठुरता से अपमान और राक्षसी अत्याचारों के साथ उनको जीते-जी अग्नि में जला दिया था, उन्हीं के वंशधरों ने आज उसे ईसा के पवित्र सिंहासन पर सम्मान के साथ बिठाया। इतिहास के पन्ने उलट जाइए, यह बात अपूर्व ही मिलेगी कि पाँच सौ वर्षों के बाद जोन सेंट कहलाई। उस समय उसी जोन को जिसका लोग नाम तक लेने में हिचकते थे, आज ख्रीस्त जगत् देवता के तुल्य पूजता है। इतने दिनों के बाद उसके शत्रुओं को स्वर्ग में अपना मुख लज्जा से नीचा करना पड़ा। धिक्कार है ऐसी निष्ठुरता और उसके दासों को?

पृथ्वी पर सर्वांग सुंदर कौन? स्वदेश के लिए आत्मोत्सर्ग ही सर्वांग सुंदर है। अपने नहीं, बल्कि अपने देश के, अपने भाइयों की शिक्षा की जय घोषणा करने के लिए ही जोन ने जन्म लिया था। जिसके स्वार्थ-त्याग की उन्मादिनी शक्ति से एक दिन सारा फ्रांस मतवाला हो गया था, जिसके इशारे से एक दिन फ्रांस के असंख्य मनुष्य घर छोड़कर देश पर प्राण न्योछावर करने के लिए दौड़ पड़े थे। उस देव-कन्या की याद आते ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और आँखों से पानी बहने लगता है। उसी कृषक-दुहिता की कहानी संक्षेप में सुनने वालों को इस घोर दुर्दिन में भी स्वार्थ-त्याग की बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है।



देवी जोन

महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन

''मुझे क्या अधिकार है कि मैं विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त इस अमूल्य सुख को भोगूँ? मेरे इतने रूसी भाई जब तक जार द्वारा पददलित होते रहेंगे, तब तक मैं अपनी ज्ञान-वासना को तृप्त कर अपने जीवन की उत्कट इच्छा को कैसे शांत कर सकता हूँ? इसलिए हे मेरे जीवन के आवश्यक अंग, मेरे ज्ञानार्जन तुम्हें अंतिम प्रणाम! तज्जनित अकथनीय सुख और शांति, तुम्हें भी अंतिम प्रणाम।''

हमने महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन के इस आशय के वाक्य उनकी स्वरचित जीवनी में पढ़े थे। जिस समय हमने इस महात्मा के उद्‍गार पढ़े, सहसा मन में यह भावना उत्पन्न हुई कि हमारे पराधीन देशवासियों को क्या अधिकार कि स्वातंत्र्य-युद्ध तथा शिक्षार्जन में वे शिक्षा को प्रथम स्थान दें? जहाँ ज्ञान को विस्तृत एवं पल्लवित करने के लिए क्षेत्र नहीं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से सुविधाएँ प्राप्त नहीं, जहाँ मनुष्य के जीवन की सच्ची महत्ता को समझने का कोई साधन विद्यमान नहीं, जहाँ स्वातंत्र्य युद्ध की तैयारी में सबकुछ लगा देने, अपनी प्यारी से प्यारी चीज को देश की बलिवेदी पर रख देने के लिए समय की प्रत्येक घड़ी और सुयोग का प्रत्येक क्षण देश की आत्माओं का आवाहन कर रहा हो, वहाँ उस समय देशवासियों को क्या अधिकार कि वे रुकें, झिझकें, विचारें और इस प्रकार अवसर को गँवाकर अंत में हाथ मलते रह जाएँ?

महात्मा क्रोपाटकिन की आत्मा संसार की उन इनी-गिनी आत्माओं में से एक थी जो बर्फ के पहाड़ में या जेठ-बैसाख की कड़ी धूप में नंगे पैरों को देखकर रो उठती है। महात्मा क्रोपाटकिन संसार के रोने वालों में से एक थे। वे अपने आँसुओं की तरंगों में ऐसे बह सकते थे और बहे थे कि भौतिक विलासों

की चरमता ही को नहीं, बल्कि ज्ञान-तृप्ति के परम सुख को भी वे उस तन्मयता के सामने कुछ नहीं समझते थे। प्रिंस (Prince) होकर भी उन्हें गुलाम (Serf) होना ऐसा भाया था कि इसके लिए उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया था।

प्रिंस पीटर क्रोपाटकिन का जन्म सन् 1842 में हुआ था। इनके पिता रूस के सरदार थे। उन दिनों सरदारों के घरों में सैकड़ों गुलाम रहा करते थे। गुलामों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है, उनके जीवन का मूल्य कितना है, पीठ और कोड़ों में कितना घनिष्ठ संबंध है, तिल्ली एवं बूट का कैसा अनोखा मेल हुआ करता है। इन बातों को हमें अपने पाठकों को बतलाना होगा, क्योंकि इस पूर्वापर संबंध को हमारे पाठक और हम खूब समझ चुके हैं और किसी के कहने, सुनने से नहीं, किंतु स्वानुभव से बालक क्रोपाटकिन ने एक बार अपने घर के गुलाम के साथ बड़ा पाशविक व्यवहार होते देखा। बस तभी से बालक के मन पर सुसंस्कार अंकुरित हो गए। बड़े होने पर वे स्कूल में भेजे गए। रूस में उस समय शिक्षा की जैसी दशा थी, लड़कों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता था तथा पढ़ाई का क्रम जिस प्रकार भद्दा था, उन सब बातों के कहने में बड़ी देर लगेगी। अस्तु, विद्यालय के फौजी स्कूल में भेजे गए और वहाँ ज़ार के अंगरक्षक बनाए गए।

युवावस्था में उन्होंने भूगोलशास्त्र तथा विज्ञान का अध्ययन किया। फिर साइबेरिया में घूम-घूमकर उन्होंने एशिया के नक्शे में सुधार किया। उसके बाद फिनलैंड में ग्लेशियर (बर्फ की नदी) के विषय में नवीन सिद्धांतों को स्थिर किया। इससे उनका वैज्ञानिक संसार में बड़ा नाम हुआ, किंतु हृदय में एक ऐसी ज्वाला जल रही थी जो इन बातों से शांत न हो सकी। हमारे यहाँ किंवदंती है कि महर्षि व्यास ने सत्रह पुराण लिखकर भी शांति नहीं पाई। ठीक उसी तरह प्रिंस ने वैज्ञानिक संसार में नामार्जन करने पर भी शांति नहीं पाई। मन में रूस की दशा का चित्र खिंचा हुआ था। वे देखते थे कि देश की नसों में गुलामी भरी है।

प्रिंस ने उसके स्थान पर स्वतंत्रता का नया रक्त भरने का प्रण किया और उन्होंने इसी प्रण की पूर्ति में अपना जीवन बिता दिया। उधर तो वे रूस के भूगोलशास्त्रवेत्ताओं की परिषद् में काम करते थे और इधर वेश बदलकर गाँव-गाँव में घूमकर आपत्ति-प्रताड़ित परतंत्र रूसियों को स्वतंत्रता का संदेश भी सुनाते थे। पैरों में देहाती जूता पहन, मुँह पर राख मलकर देहाती वेश बनाए हुए देहातों

में घूमते, किसानों को उनके अधिकार समझाने, देश को जार के कुशासन से मोक्ष-लाभ कराने और उन्हें अपनी वास्तविक अवस्था से अवगत कराने का पुनीत कार्य विज्ञान अध्ययन के साथ-ही-साथ जारी था। ये सब काम वे अपना नाम बदलकर करते थे, परंतु चालाक शासक भेद समझ गए। प्रिंस को जेलखानों की हवा खानी पड़ी। वहाँ से वे बड़ी चतुराई व वीरता से निकल भागे और स्विट्जरलैंड में उन्होंने समष्टिवाद की अनेक शाखा-प्रशाखाओं का अध्ययन किया तथा अराजकतावादी साम्यवाद पर कई ग्रंथ लिखे। यहीं पर अंतरराष्ट्रीय मजदूर संघ की नींव दृढ़ की गई। इसके प्रचारार्थ वे फ्रांस गए फलतः उन्हें फ्रांस के कारागार में जाना पड़ा। वहाँ से छूटकर उन्होंने इंग्लैंड-यात्रा की। उनका विवाह पहले ही हो चुका था। उनकी पत्नी बड़ी विदुषी थी। उन्होंने विज्ञान में डी.एस-सी. की सर्चोच्च परीक्षा पास की थी। इंग्लैंड में कुछ दिनों तक वे 'नेचर' (Nature) नामक पत्र का संपादन करते रहे।

उस समय भी प्रिंस अपनी मातृभूमि के स्मरण में तल्लीन रहते थे। बोरों में साम्यवाद का साहित्य भरकर वे उसे रूस भेजते थे। वहाँ उनके सहयोगी अनेक असुविधाओं तथा संकटों का सामना करते हुए प्रचार कार्य करते जाते थे। लंदन की 29 जनवरी, 1921 की खबर है कि प्रिंस क्रोपाटकिन ने मास्को में 79 वर्ष की अवस्था में अपनी इस लोक की लीला संवरण की। अथवा, संसार की वह आत्मा उठ गई जो अकेले अपने आदर्श पर मरना जानती थी।

पराधीन देश के निवासियों के पूजा के भाव, वीर-पूजा के भाव ही होते हैं। साधारणतः आदर्शों की पूजा को भी मनुष्य व्यक्ति की पूजा में केंद्रित कर देता है। परतंत्र देशवासी के लिए वही मनुष्य पूज्य हो जाता है, जिसने किसी भी देश के लिए बंधन काटने के लिए अपना हाथ बढ़ाया हो। प्रिंस क्रोपाटकिन हम लोगों के लिए पूज्य हैं। उस समय जब पहले-पहले उन्होंने रूस को समष्टिवाद का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया था, तो बहुत से मनुष्यों ने जो अपने को बड़ा बुद्धिमान कहते हैं, उन्हें असंतुष्ट आदर्शवादी कहा होगा। किंतु सोवियत रूस क्या है? क्या रूस की चौतरफा कार्य क्षमता में महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन के हृदय का रक्त परिलक्षित नहीं होता? असहयोगियों को मूर्ख कहें, परंतु दूर नहीं, बहुत पास टँगा हुआ है भारत का वह मानचित्र, जिसके एक कोने पर छोटे-छोटे अक्षरों में लिखा हुआ है, 'सत्यमेव जयते।'

●

महात्मा प्रिंस क्रोपाटकिन

कलम के सिपाही गोर्की

इस सप्ताह रूस के एक प्रसिद्ध उपन्यास लेखक मैक्सिम गोर्की की मृत्यु का समाचार आया है। इस देश के सुशिक्षित लोगों में भी बहुत ही कम ऐसे हैं जिन्हें पता है कि गोर्की किस ढंग का आदमी था? एक गरीब घराने में पैदा हुआ। लड़कपन में ही उसके माता-पिता जाते रहे। नाना के घर परवरिश पाई, परंतु अभागे का ठिकाना वहाँ भी न लगा। नाना का काम गिर गया और नाती को पेट पालने के लिए घर छोड़ बाहर का रास्ता देखना पड़ा। कभी चमार की दुकान का उम्मीदवार बना, तो कभी अस्तबलों में घोड़ों की सेवा करता फिरा। नानबाइयों की दुकानें उसने साफ कीं और मालियों की खिदमतगारी उसने की। एक दिन तो नौबत यहाँ तक पहुँची कि सेब बेचते-बेचते जब थक गया और तो भी पेट भरने के लायक पैसे न मिले, तो आत्महत्या के लिए तैयार हो गया, परंतु आगे चलकर उसे प्रसिद्ध उपन्यास लिखना और नाम कमाना था, इसलिए मरते हुए भी न मरा।

15-16 वर्ष का हो गया, उस समय तक उसने कुछ पढ़ा ही नहीं। पढ़ता भी कैसे? पढ़ने से तो उसे चिढ़ थी। उसने स्वयं एक बार कहा था कि किताबें और छापे की अन्य चीजें मुझे काटे सी खाती थीं, मैं जहाज पर सवार हुआ, तो छपा हुआ पासपोर्ट तक मेरी आँखों में खटकता था, परंतु जहाज पर नौकरी करते ही उसकी आँखों का शूल दूर हो गया।

जहाज का एक बावर्ची उसका गुरु बना और उसने पकड़-धकड़कर लड़के गोर्की का अक्षरों के साथ परिचय करा ही दिया। अब तो गाड़ी चल निकली और कुछ ही दिनों में वह डाकगाड़ी बन गई। फिर तो जहाँ-जहाँ नौकरी की, वह एक जगह कहीं जमा ही नहीं, वहाँ-वहाँ उसे गुरु मिलते रहे, और अंत

में एक लेखक उसे ऐसा मिला जैसा बँगला साहित्य के धुरंधर लेखक रमेशचंद्र दत्त को बंकिमचंद्र चटर्जी के रूप में मिल गया था। उसने कहा कि गोर्की तुम लिखो। बस गोर्की लिखने लगा और थोड़े ही दिनों में उसकी पूछ हो गई और अंत में तो वह इतना बढ़ा कि रूस के घर-घर में उसका नाम हो गया। यूरोप भर में उसके उपन्यास फैल गए और उनके अनुवाद हो गए।

गोर्की की सारी उम्र कष्टों में कटी। दरिद्रता से छुट्टी मिली, तो हृदय की वीणा के खुले स्वरों के कारण रूस के स्वेच्छाचारी शासकों ने उस पर कृपादृष्टि फेंकी। उसकी कहानियाँ और उपन्यास दर्दे-दिल के नक्शे होते थे, वे सब देश के उद्धार व स्वेच्छाचार से आच्छादित हैं, बोलने-लिखने की, घूमने-फिरने की, सोचने व समझने की आजादी नहीं, वह बात नहीं जिससे व्यक्ति की आत्मा ऊपर उठ सकती है और जाति की आत्मा आगे बढ़ सकती है। जीवन के उस अधिक अच्छे क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए वर्तमान बंधनों को टूक-टूक कर दो।

एक स्थान पर वह अपने देश की दुर्दशा का रोना रोता हुआ बड़ी मार्मिकता के साथ कहता है, ''इस देश में अच्छे और भले कामों का नाम अपराध है, ऐसे मंत्री शासन करते हैं जो किसानों के मुँह से रोटी का टुकड़ा तक छीन लेते हैं, ऐसे राजा राज्य करते हैं जो हत्यारों को सेनापति और सेनापति को हत्यारा बनाने में प्रसन्न होते हैं।''

1905 में रूस में कुछ सुधार हुए थे। गोर्की उनसे संतुष्ट न हुआ। उसकी लेखनी स्पष्ट शब्दों में कहती रही कि यह कुछ भी नहीं, यूरोप वाले भूलें नहीं, रूस की आग बुझी नहीं है, वह दब कर मर गई है। वह दब गई है इसलिए कि दस गुनी शक्ति के साथ उखड़ पड़े और दशों दिशाओं को भस्मीभूत कर दे। दस वर्ष बाद गोर्की के वे शब्द बिलकुल सच निकले।

गोर्की लेखक था, परंतु सिर खरोंच कर कलम घिसने वाला नहीं। वह ऊँचे स्वप्नों को देखने वाला था, परंतु उन पर केवल स्वयं ही मुग्ध हो जाने वाला नहीं। अपनी लेखनी के चमत्कार से गरीबों के झोंपड़ों तक में मोहन-वंशिका की गूँज फैला देने वाला। उसके लिए उसे दरिद्रता के थपेड़े सदा खाने पड़े। उसके लिए उसे कई बार जेल जाना पड़ा। मुसीबतें उसे बचा न सकीं। अंतिम समय में वह समझा कि देश के उद्धार के दिन आ गए हैं और अब उसे चैन मिलेगा, परंतु कठिनाइयों की मार से बूढ़े पड़ जानेवाले लेखक को

मालूम पड़ा कि जिस युग को उसने बल एवं उत्साह के साथ अपने दोनों बाहुओं से बुलाया था वह आया भी और आगे भी बढ़ गया।

गोर्की तेज था तथा परिवर्तनों को निमंत्रण देता था, परंतु रूस की वर्तमान क्रांति के सामने उसकी तेजी फीकी पड़ गई और जो परिवर्तन हुआ उससे उसकी बुद्धि तक चक्कर खा गई। क्रांतिकारी रूस ने उसका आदर किया। उसे ललित कलाओं एवं अजायबघरों का निरीक्षक बनाया और अब उसका आदर यह हुआ है, जैसा अंग्रेजी पत्र कहते हैं और जो बिलकुल विश्वसनीय नहीं है क्योंकि वे राजकुमार क्रोपाटकिन के विषय में भी पहले ऐसी ही खबर उड़ा चुके हैं जो पीछे असत्य साबित हुई, कि गोर्की बोलशेविकों की गोली का शिकार बना दिया गया। रूसी स्वाधीनता के इस देवता का यह अंत बहुत खेदजनक है। निरंकुशता की अग्नि मनुष्य को पशु बना देती है। यह पशुता और कहीं कभी उस भयंकर रूप में नहीं देखी जा सकती जितनी कि किसी दबे हुए देश की स्वाधीनता के उखाड़-पछाड़ के समय। हम गोर्की को बोल्शेविकों की गोली का निशाना नहीं मानते। हम अंत में उसे उसी जुल्म का बलिदान समझते हैं जो शुरू में उसे पीसता रहा और जो मरते-मरते भी लोगों की बुद्धि को ऐसा गहरा झोंका दे गया कि वे अपने-पराए को नहीं परख पाते।

'प्रताप' सितंबर 1919



'वे'*

अनुत्तरदायी? जल्दबाज? अधीर आदर्शवादी? लुटेरे? डाकू? हत्यारे? अरे, ओ दुनियादारी तू उन्हें किस नाम से, किस गाली से विभूषित करना चाहती है? वे मस्त हैं, वे दीवाने हैं, वे इस दुनिया के नहीं हैं। वे स्वप्न-लोक की वीथियों में विचरण करते हैं। उनकी दुनिया में शासन की कटुता से माँ धरित्री का दूध अपेय नहीं बनता। उनके कल्पना-लोक में ऊँच-नीच का, धनी-निर्धन का, हिंदू-मुसलमान का भेद नहीं है। इसी संभावना का प्रचार करने के लिए वे जीते हैं, इस दुनिया में उसी आदर्श को स्थापित करने के लिए वे मरते हैं। दुनिया के पंडित मूर्खों की मंडली उनको गालियाँ देती है, लेकिन यदि सत्य के प्रचारक गालियों की परवाह करते, तो शायद दुनिया में आज सत्य, न्याय, स्वातंत्र्य एवं आदर्श के उपासकों के वंश में कोई नामलेवा और पानीदेवा भी न रह जाता।

लोक रुचि अथवा लोकोक्तियों के अनुसार जो अपना जीवनयापन करते हैं, वे अपने पड़ोसियों की प्रशंसा के पात्र भले ही बन जाएँ, पर उनका जीवन औरों के लिए नहीं होता है। संसार को जिन्होंने ठोकर मारकर आगे बढ़ाया, वे सभी अपने-अपने समय में लांछित हो चुके हैं। दुनिया खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा उपयोग करने की वस्तुओं का व्यापार करती है, पर कुछ दीवाने चिल्लाते फिरते हैं, ''सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।'' ऐसे कुशल, परंतु औघड़ व्यापारी भी कहीं देखे हैं? अगर एक बार आप-हम उन्हें देख

---

*पृष्ठभूमि 6 अप्रैल, 1927 को लखनऊ के रिंग थिएटर में सुनाए गए काकोरी षड्यंत्र केस का निर्णय है।

लें, तो कृतकृत्य हो जाएँ। हाँ, बुद्धि-दुनिया में आजकल व्यवहार की बड़ी धूम है। सब कोई अपनी डेढ़ अंगुल की व्यवहार बुद्धि ले उचकते फिरते हैं। व्यवहार क्या चीज है? फूँक-फूँककर कदम रखना, खतरे से सौ कोस दूर रहना और मौका पड़ने पर चापलूसी करना, दुनिया की दृष्टि में बुद्धिमत्ता है। इसी को लोग चतुरता कहते हैं, सारांश यह कि व्यावहारिकता का दूसरा नाम कायरता है।

कुछ मतवाले ऐसे हैं, जो इस दुनियादारी से घृणा करते हैं। संसार की दृष्टि में वे अधीर आदर्शवादी हैं। वे जहाँ जाते हैं, अपमानित किए जाते हैं, उनके कार्यों में विकरालता रहती है। हम लोग कभी उन्हें ठीकठाक नहीं समझ पाते। कारण? यह बात है कि कायर लोग वीरों की कद्र करना नहीं चाहते। दृष्टिकोण में अंतर होने के कारण उनके कार्यों की महत्ता हम दुनियावी लोगों की आँखों में नहीं समा सकती। भारतवर्ष के राजनीतिज्ञों की खोखली तथा शाब्दिक सहानुभूति भी उन वीरों को प्राप्त नहीं होती। गालियाँ उन्हें जरूर मिल जाती हैं। उनकी सेवाओं की कद्र करना तो दूर, कई धुआँधार राजनीतिज्ञों ने उलटा उन्हें देशद्रोही कहा है।

मॉडरेट अखबारों ने तो बाज मौकों पर यहाँ तक लिख मारा है कि उन्हीं अनुत्तरदायी, जल्दबाज नौजवानों के देशद्रोह का यह फल है कि भारतवर्ष में दमनकारी कानूनों की सृष्टि हुई है। उन कायर राजनीतिक पंडितों का मत है कि न इन नवयुवकों की कठोर कार्यप्रणाली का प्रदर्शन होता और न सरकार बहादुर को कड़ाई से काम लेना पड़ता। इसलिए मुल्क में सरकार आला की तरफ से जो कुछ धाँधली हुई उसका मूल कारण है कुछ नौजवानों की अधीरता और अनुत्तरदायिता। मुल्क के लिए सर कटाने का प्रतिफल मिला यह है कि अन्याय-अत्याचार और काले कानूनों के निर्माण कराने का पाप उन निरपराध वीरात्माओं के सर मढ़ा गया। सबसे घृणित लांछन जो इन वीरों पर लगाया गया वह यह है कि वे देशद्रोही देश के दुश्मन इसलिए हैं, क्योंकि उन्होंने काले कानूनों की सृष्टि की है। नरम राजनीतिज्ञों की इस नीचातिनीच भावना को हम किन शब्दों में कोसें? भारत के विद्रोही नवयुवक समाज को काले कानूनों का विधाता कहकर उन्हें गाली देना, उतना ही दौरात्म्यपूर्ण (दुरात्मापूर्णता) है, जितना कि किसी चरित्रवती पतिव्रता स्त्री को व्यभिचारिणी कहना।

राजनैतिक स्वतंत्रता की भावना कैसे फैली? सर कटाने वालों ने उसे प्रचारित किया या 'जी हुजूर' कहने वालों ने? खाली अखबारों के कॉलम रँगने

'वे'

से ही क्या उस भाव का विस्तार हो सकता था? स्वयं सर सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी जीवन स्मृति में प्रकारांतर से यह बात स्वीकार कर ली है कि भारत की राजनैतिक और शासन व्यवस्था संबंधी प्रगति का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है, तो वह कुछ सरफिरे युवकों को ही दिया जा सकता है। हम सशस्त्र क्रांति के उपासक नहीं हैं, हम भी उन-पढ़े लिखे मूर्खों में गिने जाते हैं जो व्यावहारिकता को छोड़ना नहीं चाहते, लेकिन हमारे हृदय में आदर और भक्ति है, उन आदर्श पुजारियों के प्रति जो देशकाल के बंधनों को काटकर फेंक देते हैं। उनका काम क्या रंग लाएगा, उसकी उन्हें चिंता नहीं। वे विद्रोह के पुतले हैं, वे भारतवर्ष की अंतर-अग्नि की चिनगारियाँ हैं। वे इस बात का जबरदस्त प्रमाण हैं कि राजनैतिक असमानता के मैदान में पूर्व पश्चिम के आगे कभी घुटने न टेकेगा। जो नौजवान मौत के सामने भी खड़े-खड़े मुसकराते रहे हैं उनका काम है देश को अधिक उन्नत और विशाल करना। राजनैतिक दाँव-पेंच में पड़कर हमें कम-से-कम इतना तो न भूलना चाहिए कि वर्तमान काल ही सबकुछ नहीं है। भूत और भविष्य काल भी कोई वस्तु हैं। जार्ज वाशिंगटन एक विद्रोही था और साथ-साथ ही राष्ट्र निर्माता भी। लेनिन साइबेरिया निर्वासित कैदी था और राष्ट्र निर्माता भी।



'वे'

राज्य क्रांति का दर्पण

उस समय पेरिस में लोग खुले ढंग से रहते थे। दरवाजों पर मेज बिछा लेते और वहीं उन पर भोजन करते। स्त्रियाँ गिरजाघरों की सीढ़ियों पर बैठ जातीं, घावों पर बाँधने की पट्टियाँ बनातीं और देशभक्ति के गीत गातीं। बड़े-बड़े बागों में सिपाहियों को कवायद सिखाई जाती। लुहार की दुकानों पर बहुत काम रहता। वे बंदूकें बनाते। लोग उन्हें उस काम को करते हुए देखकर प्रसन्न होते और खुशी से तालियाँ बजाते। हर एक आदमी की जबान पर यह बात थी, "धैर्य रखो, घबड़ाओ मत, क्रांति का समय है।" विपत्ति के समय भी लोग वीरता के साथ मुसकराते, खेल-तमाशे बराबर पहले की तरह होते रहते। लोग थिएटरों में जाया करते। जर्मन सेना फ्रांसीसी सीमा पर आ गई थी। खबर मशहूर थी। प्रशा के राजा ने विजय के पश्चात् तमाशे देखने के लिए पेरिस के थिएटरों में अपने लिए जगह तक 'रिजर्व' करा ली थी। चारों तरफ खतरा था, परंतु किसी के भी हृदय में भय नहीं था।

जिस व्यक्ति के विरुद्ध देशद्रोही होने का संदेह भी हो जाता, उसकी नजरों के सामने फाँसी द्वारा मारे जाने का दृश्य सदा नाचा करता। लेरा नाम का एक वकील था। लोगों ने उसका तिरस्कार किया। उसकी यह दशा थी कि अपनी खिड़की पर कपड़े पहने हुए और बंशी बजाता हुआ सदा अपनी गिरफ्तारी का इंतजार किया करता। किसी को फुर्सत न थी। सभी कार्यों में व्यस्त थे। हर एक आदमी की टोपी पर प्रजातंत्र का चिह्न होता। स्त्रियाँ कहती थीं कि प्रजातंत्र की लाल टोपियाँ अच्छी लगती हैं। पेरिस भर में चहलपहल थी। विचित्र चीजों के बेचने वाली दुकानों पर राजमुकुट, राजदंड और अन्य उसी प्रकार के राज्य-चिह्न युक्त वस्तुओं का ढेर लगा रहता। यह सब राजमहलों की सामग्री होती।

राजसत्ता का इस प्रकार संहार हो रहा था। गरीब लोग सड़कों पर नंगे पैर चला करते, परंतु कभी-कभी यहाँ तक देखा जाता कि वे ठेले पर जूता बेचने वाले का ठेला रोक लेते। चंदा करके जूतों के बहुत से जोड़े खरीद डालते और फिर फ्रांस की जन-सभा के पास उन जोड़ों को इसलिए भेज देते कि देश के लिए लड़ने वाले सिपाहियों को ये जूते दे दिए जाएँ। शहर भर में फ्रेंकलिन, रूसो, ब्रूटस और मारे की मूर्तियाँ जगह-जगह पर स्थापित थीं। बड़ी-बड़ी दुकानें बहुत कम थीं। छोटी-छोटी दुकानें और ऐसी दुकानें जिन्हें दुकानदार अपने साथ लिये फिरते थे, बहुत थीं। स्त्रियाँ बिसातखाने की चीजें और खिलौने ठेलों पर लेकर निकलतीं। रात को मोमबत्तियाँ जलाकर उनमें रोशनी कर लेतीं। अन्य प्रकार की खुली हुई छोटी दुकान पर वे स्त्रियाँ बैठी हुई दिखाई पड़तीं, जो पहले सुधनियाँ थीं। कहीं कोई काउंटेस (काउंट की स्त्री) दिखाई पड़ती और कहीं कोई मारशनैस।

अमीर लोग महलों को छोड़कर छोटे-छोटे राज्यों में जा बसे थे। लोग दौड़-दौड़कर समाचार-पत्र बेचते थे। गलियों में गाने वालों की भरमार रहती। बड़े-बड़े घेरे बनाकर लोग खूब नाचते। लोग एक-दूसरे का 'नागरिक या नागरिका' शब्द द्वारा संबोधन करते। गिरजाघर और मकबरों की कोई कदर न रह गई थी। लोग वहाँ नाचते-गाते। सड़कों और बाजारों के नाम बदल दिए गए थे। पुराने नामों की जगह पर ऐसे नाम रखे गए जिनका संबंध उस समय की घटनाओं से था। उस समय के जो बड़े-बड़े क्रांतिकारी लोग थे, वे जब निकलते तब लोग उन्हें बड़ी उत्सुकता के साथ देखते। मौत की सजा पाए हुए लोगों को फाँसी की टिकटी पर चढ़ते देखने में बड़ा मजा आता। वे इस प्रकार के मुकदमे-मामले अपने सौ काम छोड़कर भी देखते। वे ऐसे अवसरों की सदा प्रतीक्षा किया करते।

लोग अदालती कायदे के अनुसार किए गए विवाहों का मजाक उड़ाते। इधर-उधर ईसाई संतों और राजाओं की जो मूर्तियाँ स्थापित थीं, उन पर मुकुट के स्थान पर उलटी टोपियाँ लगा दी जातीं। लोग ताश खेलते, परंतु क्रांति के रंग में रँग कर। बादशाह की जगह पर ज्ञान का देवता रखा जाता। रानी की जगह स्वाधीनता की देवी मिलती। गुलाम की जगह समता की मूर्ति बनाई जाती। इक्के की जगह विधान-कानून का स्वरूप रखा जाता। जो पुराने बाग थे उनमें हल चला दिए गए थे। समाचार-पत्र बहुत निकलने लगे। स्त्रियाँ खुले स्थान पर केश गुंथवाती थीं और पुरुष गूँथते। और साथ ही उन्हें जोर-जोर से

अखबार पढ़कर सुनाया जाता। आस-पास जमा हो जानेवाले लोग तीव्रता और उत्साह के साथ समाचार-पत्र पर टीका-टिप्पणी करते। एक-एक दुकान पर बहुधा अनेक बेजोड़ वस्तुएँ बिका करतीं। गुड़ियों और खेल-तमाशों की चीजों के साथ नाई की दुकान पर मांस भी बिका करता। पुराने रईसों की घड़ियाँ और पलंग कबाड़ियों के यहाँ बिकते दिखाई पड़ते। एक बाल सँवारने वाले ने साइन बोर्ड लगा रखा था कि पादरियों की हजामत बनाता हूँ, रईसों के बालों में कंघी करता हूँ और साधारण आदमियों के बालों को ठीक करता हूँ।

रोटी, कोयले और शोरबे की कमी थी। दुधारू गायें झुंड की झुंड देहातों से आतीं। राष्ट्रीय पंचायत की आज्ञा थी कि प्रत्येक आदमी को दसवें दिन आधा सेर मांस मिले। मांस की बड़ी कमी थी। मांसवालों की दुकान पर ग्राहकों की भारी भीड़ रहती। अंत में तो दशा यहाँ तक पहुँची थी कि लोग एक रस्सी को पकड़ पंक्तिबद्ध खड़े हो जाते, और जब सबसे आगे का आदमी मांस ले चुकता, तब उससे पीछे का आदमी लेने के लिए आगे बढ़ता। बहुधा यह पंक्तियाँ बहुत लंबी होतीं और दुकान से परे अन्य कई गलियों तक निकल जातीं। रोटियों की दुकानों पर भी यही हाल रहता। बहुधा स्त्रियों को रोटियाँ प्राप्त करने के लिए बड़ी वीरता के साथ रात-रात भर दुकान के सामने खड़ा रहना पड़ता। चोरियाँ बहुत कम होतीं। दरिद्रता के कारण लोगों को बहुत कष्ट था, तो भी उनमें बेहद ईमानदारी थी। नंगे पैर घूमते, भूखे रहते, परंतु जौहरी की दुकान के पास से जब निकलते, तब आँख नीची करके। एक स्त्री ने एक बाग से एक फूल तोड़ लिया। लोगों ने उसके कानों पर घूँसे लगाए। लोगों में किसी प्रकार की घबड़ाहट न थी। राजसत्ता की समाप्ति पर वे खुश थे। स्वयंसेवकों की एक सेना तैयार थी। जिले-जिले के झंडे तैयार हो गए थे। एक झंडे पर लिखा था, ''अब कोई हमारी दाढ़ी नहीं कटवा सकता।'' दूसरे पर लिखा था, ''हम किसी को रईस नहीं मानते, सिवाय अपने हृदय के।'' सभी दीवारों पर छोटे-बड़े सफेद, पीले, हरे, लाल, छपे और लिखे इश्तिहार चिपके हुए थे, जिन पर अंकित था, ''प्रजातंत्र की जय''। छोटे बच्चे भी जय-जय करते। इन छोटे बच्चों में भारी भविष्य की आभा छिपी हुई थी।



हिंदी पत्रकारिता का भविष्य

संसार के अधिकांश समाचार-पत्र पैसे कमाने तथा झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत से चरित्र-शून्य व्यक्ति। अधिकांश बड़े समाचार-पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं या किसी दल विशेष की प्रेरणा से ही उनका निकलना संभव है।

अपने संचालकों या अपने दल के विरुद्ध सत्य बात कहना तो दूर, उनके पक्ष-समर्थन के लिए हर प्रकार के हथकंडों का इस्तेमाल करना वे अपना नित्य का आवश्यक कार्य समझते हैं। इस काम में वे इस बात का विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि सत्य क्या है? सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं। वे तो सिर्फ अपने मतलब की बात चाहते हैं।

इस देश में भी दुर्भाग्य से समाचार-पत्रों और पत्रकारों के लिए यही मार्ग बनता जा रहा है। हिंदी पत्रों के सामने भी यही लकीर खिंचती जा रही है। यहाँ भी अब बहुत से समाचार-पत्र सर्व-साधारण के कल्याण के लिए नहीं, बल्कि उनके निजी स्वार्थ की वस्तु बनते जा रहे हैं।

इस देश में भी समाचार-पत्रों का आधार धन होता जा रहा है। धन के आधार पर ही पत्र निकलते हैं और चलते हैं। बड़ी ही वेदना के साथ यह कहना पड़ता है कि उनमें काम करनेवाले बहुत से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते हैं।

वैसे अभी यहाँ पूरा अंधकार नहीं हुआ है, किंतु लक्षण वैसे ही दिखते हैं। इसके बाद यहाँ के समाचार-पत्र भी मशीन के सदृश हो जाएँगे और उनमें कार्य करनेवाले पत्रकार केवल मशीन के पुरजे। इसके फलस्वरूप न व्यक्तित्व रहेगा और न ही सत्य-असत्य का अंतर। अन्याय के विरुद्ध डर जाने और न्याय

के लिए आफतों के बुलाने की चाह न रहेगी। सिर्फ रह जाएगा, खिंची हुई लकीर पर चलना।

मैं तो उस अवस्था को अच्छा नहीं कह सकता। पत्रकार कैसा हो, इस संबंध में मेरी दो राय हैं। एक तो यह कि उसे सत्य या असत्य, न्याय या अन्याय के झगड़े में नहीं पड़ना चाहिए। दूसरी राय यह कि पत्रकार की अपने समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है। वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है। वह जो कुछ लिखे प्रमाण और परिणाम का विचार रखकर लिखे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है। लोकसेवा उसका ध्येय है और अपने कार्य से जो पैसा वह कमाता है वह ध्येय तक पहुँचाने के लिए एक साधन मात्र है।

इस तरह संसार के पत्रकारों में दो तरह के आदमी हैं—पहले दूसरी तरह के पत्रकार अधिक थे, अब इस उन्नति के युग में पहली तरह के हैं। उन्नति सिर्फ समाचार-पत्रों के आकार-प्रकार में हुई है, लेकिन खेद की बात है कि उन्नति उनके आचरणों में नहीं हुई।

मैं हृदय से चाहता हूँ कि उन्नति उधर हो या न हो, किंतु कम-से-कम वे आचरण के क्षेत्र में पीछे न हटें। पैसे का मोह और बल की तृष्णा भारतवर्ष के किसी भी नए पत्रकार को ऊँचे आचरण के पवित्र आदर्श से बहकने न दे।

आजकल हिंदी के लेखकों एवं पत्रकारों की जो शोचनीय अवस्था है, भुक्तभोगी लेखकों और पत्रकारों के सिवा और कोई नहीं जान सकता। बेचारों की आर्थिक अवस्था प्रायः इतनी खराब रहती है कि घर-गृहस्थी का खर्च चलाना भी मुश्किल होता है। हिंदी साहित्य संसार में यह एक बड़े लांछन और शर्म की बात है कि उसके पत्रकार तथा लेखकों की कुछ भी कदर नहीं होती। न ही उन्हें आर्थिक सहायता मिलती है और न किसी प्रकार की सहानुभूति तथा प्रोत्साहन। पत्रों के प्रकाशक, संचालक या प्रधान संपादक का यही सोच रहता है कि उनके यहाँ काम करने के लिए जो भी पत्रकार रखे जाएँ, कम-से-कम रुपए पर रखे जाएँ। वे इतना भी सोचने का कष्ट नहीं करते कि जिस शख्स ने अपना समय और शक्ति खर्च करके इस लेख को लिखा है, अगर उसे उसका उचित पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा, तो वह खाएगा कहाँ से?



कर्मवीर गांधी

संग्राम घोर न्याय और अन्याय का! मनुष्य के सर्वोच्च भावों और उसके सबसे नीचे भावों का! पशुता मनुष्यता के मुकाबले में है। एक ओर विकराल शक्ति और दूसरी ओर सौम्य शांति! एक ओर पशु-बल और दूसरी ओर धैर्य और दृढ़ता! एक ओर प्रकृति के स्वयं निर्मित ठेकेदार और दूसरी ओर प्रकृति की स्वाभाविकता के साथ उपासना करने वाली बीसवीं शताब्दी। उसकी रंगरेलियों से संसार की आँखें झेंप गईं। मोहनी मूर्ति और संसार मोह गया। विकट जाल-मोह गए, फँस गए और सो गए! सुंदर रूप बदला। चंडिका ने अपनी भयंकर आकृति धारण की। चोट लगी और बड़ी भारी। नींद उचट गईं। सज्जनता, समता, भ्रातृत्व और मनुष्यता की शांतिमय अमृतधारा में हलाहल विष की रेख देख पड़ी। लावण्यता में कुरूपता घुसी मिली। सरलता से भरी हुई हँसी में घृणा, अपमान और तिरस्कार से भरी हुई मुसकराहट नजर आई। अमृत और विष! मिष्टता और कटुता।

घोर संग्राम! सभ्यता और उस पर भी बढ़ी हुई, लेकिन घटिया सभ्यता ने इतना विष नहीं उगला था। न्याय और स्वतंत्रता की भूमि से नाता जोड़ने वाले, लेकिन हृदय इतना छोटा कि, मनुष्य और मनुष्य में फर्क निकालने वाले! सफेद चमड़े के हृदय में कालापन आ गया। गोरा संसार और काला संसार। काले में सभ्यता नहीं! काले में तमीज नहीं! काली खोपड़ी में अक्ल कहाँ? काले रंग से सद्गुणों को घृणा है। योग्यता, सभ्यता, सत्यता और विज्ञता सब गोरे रंग के लिए प्रकृति ने सुरक्षित रख छोड़े हैं। काले रंग का उन पर दावा नहीं। भूमि—वह भी सुरक्षित है। छि: काले! पवित्र भूमि पर पैर मत रख, यह भूमि गोरे खुदाई फौजदारों की है। दक्षिण अफ्रीका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया मेरे राजा के झंडे तले

हैं, लेकिन भारत से बाहर होते ही तू अपने राजा के झंडे से बाहर हो जाता है। संसार में, काले आदमी! तेरा कहीं भी ठिकाना नहीं।

बीसवीं शताब्दी के इस घोर संग्राम की छटा देखोगे? भयंकर रूप! पूरा बल! अथाह वेग! सामना करना अति कठिन! संसार के मजबूत से मजबूत हाथ ढीले हैं। फौलाद है, जो नहीं कटता। हवा है, जो नहीं दबती। जल है, जो नहीं पकड़ा जाता। इंग्लैंड की लंबी भुजाएँ शिथिल हैं। लाड़ले बेटे और अब वे...बिगड़ गए। हाथ से जाते रहे, मनाने से मानते नहीं, दूसरों को परवाह ही क्या? जिन्हें परवाह है, वे कठोर शक्ति की कठोरता का शिकार हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के निवासी, लेकिन इसमें क्या? तुम एशिया के रंगदार आदमी हो। एक दोषी की तरह रजिस्टर में अपनी उँगलियों की छाप दो, और यह लो सर्टिफिकेट, जो तुम्हारी हीनता, दीनता और दुर्दशा की सनद है।

देवासुर संग्राम! आधुनिक सभ्यता के पशु-भाग का विकास! चंडिका परःगणुवादिता का विजय हास्य से भरा गगनभेदी नाद! देशभक्ति और जातिभक्ति नहीं, नैतिक कर्तव्य की प्रेरणा नहीं, नागरिकों की नागरिकता नहीं, किंतु नीचातिनीच स्वार्थ, धूर्तता, और सांसारिक सुख तथा वह भी व्यक्तिगत ही। बढ़ी हुई भीषणता, और चढ़ी हुई निर्दयता! लेकिन, इधर हृदय और सच्चे हृदय। अन्याय, अत्याचार, स्वार्थ और अविवेक की बड़ी से बड़ी शक्ति के सामने न झुकने वाले। इधर हिरण्यकशिपु की रुद्रता और कठोरता! उधर प्रह्लाद की निर्मल, कोमल और सबल अटलता। राम और रावण, कृष्ण और कंस एक-दूसरे के लिए परमावश्यक। और वह भूमि—राम, कृष्ण और प्रह्लाद की भूमि—संसार के सामने आई। बढ़ती हुई भयंकर, तामसिक और क्रूर लहरों को चट्टान का सामना करना पड़ा। सतयुग में देवासुर संग्राम के समय समुद्र मथा गया। 14 रत्न निकले। कलियुग में भी यह संग्राम पेश है। समुद्र की शांति भंग की गई। देवताओं ने नहीं, असुरों ने की। फल? रत्न निकले, और ऐसे जिन पर किसी एक देश के देवता ही नहीं, संसार भर के देवता न्योछावर हो जाएँ! शांति की अनंत राशियों ने पशुबल के सूखे जंगल में चिनगारी लगाने के लिए आत्मबल की ज्योतिर्मयी, स्थिर, दिव्य अग्निशिखा को जन्म दिया। प्राचीन भूमि—अभी उसकी उर्वरा शक्ति नष्ट नहीं हुई।

मुरझाया हुआ हृदय! खिल उठ! अभी तेरी भूमि की मिट्टी, हवा और पानी में वृत्रासुर के लिए दधीचि को पैदा करने की शक्ति है। गिरी हुई आत्मा! अधिक

नीचे मत गिर। अभी तेरे आकाश में सहस्रों कर्मवीर नक्षत्रों के साथ कर्मवीर चंद्र के उदय करने का बल है। आह! मातृभूमि! तेरी शक्ति पर अविश्वास नहीं, और तेरी भक्ति में निराशा नहीं। पशु-बल! उसकी परवाह नहीं, जब तक तू अपने पुत्रों के हृदयों में आत्मबल का संदेश पहुँचा सकती है।

पहली चोट। आकाश ने चंद्र और उसके साथी नक्षत्रों का आह्वान किया। कर्मवीर मोहनदास करमचंद गांधी, और उसके साथी कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। अफ्रीका का समुद्र तट! गांधी का जहाज! गांधी अपने साथ बहुत से हिंदुस्तानी कारीगर ला रहा है। अब गोरे कारीगरों का रोजगार मारा गया। गोरों के हृदय काँप उठे। गांधी को जीता न छोड़ो। गांधी! जहाज से अभी मत उतरो। लेकिन, नहीं मानते, तो देखो, तुम्हारे ऊपर चोट होना ही चाहती है। लो, वे तुम्हारे ऊपर टूट पड़े। एक नहीं, दो नहीं, कितने ही एक साथ! बचाओ! कोई बचाओ, लेकिन कौन आगे बढ़े? कोई पुरुष नहीं, एक देवी और वह भी उस रंग की, जिस रंग के लोग जमीन पर पैर तक नहीं रखते। जान बची, और बड़ी मुश्किल से। किसी पुरुष की दया से नहीं, बल्कि एक देवी की कृपा से। दक्षिण अफ्रीका के पुरुषत्व-विहीन पुरुषों की मरु-भूमि में इस देवी की दिव्य शांति-छाया! गनीमत!

भीषण बोअर युद्ध! गोलियाँ चल रही हैं। तोपें गोले उगल रही हैं। लाशें गिर रही हैं और रणक्षेत्र में ये कौन है? सैनिक नहीं, सादे भेष वाले। एक हजार आदमी! गोरे भी नहीं और अफ्रीका के काले भी नहीं। ये गांधी के साथी। देखो, वे घायलों को रणक्षेत्र में से उठाते फिरते हैं, उनके घावों को धोते हैं और उनकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं। गोलियाँ बरस रही हैं, और इनको जान की परवाह नहीं। सेनापति लॉर्ड राबर्ट्स का इकलौता पुत्र रणक्षेत्र की गोली का शिकार होता है, और वह देखो! गांधी के काले साथी उसके गोरे शरीर को गोलियों के मेह से उठाकर ला रहे हैं। एक वह सुलूक, जो सभ्य गोरों ने असभ्य काले हिंदुस्तानियों के नेता गांधी के साथ जहाज पर से उतरते समय किया था, और एक यह!

1906। काले रंग के धब्बे से दक्षिण अफ्रीका को सुरक्षित रखने की गोरी तरकीब का आगमन हुआ। सख्तियाँ, और झिड़कियाँ, उपेक्षा और अपमान के बादल घिर आए। खैरियत और केवल इसी में, कि पशुबल का आत्मबल से मुकाबला किया जाए। प्रार्थनाएँ, लेकिन गांधी, ये देवता प्रार्थनाओं के लिए बहरे

हैं। इंग्लैंड जाओ, चाहे और जगह, होगा कुछ नहीं। जातीय मान, और जातीय पुरुषत्व का दाँव है। अस्तित्व के लिए बल को प्रकट करने की जरूरत है। परीक्षा में दृढ़ता की परख है। तुम्हारी लेखनी का बल और तुम्हारे बोलने की शक्ति देखो, सब दम की दम में व्यर्थ हो गई, क्योंकि इंग्लैंड भी अनुदारता के कठोर चंगुल में फँस गया है।

दूसरी चोट! गांधी जेल में, और कितने ही हिंदुस्तानियों के साथ! भयंकर दोष! उन्होंने अफ्रीका की धींगाधींगी का विरोध किया। सजाएँ हुईं और ज्यादा-से-ज्यादा। जेल में कड़े काम, नाना प्रकार की तकलीफें, अफ्रीका के असभ्यपन की तरंग, और कैदियों का मरण। गांधी को दो मास की सजा और साथियों को छह-छह मास की। दो ही मास की। नहीं उतनी ही सजा दीजिए जितनी मेरे साथियों की है। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। नेता का हृदय अपने साथियों के इस अधिक कष्ट से फट गया। आँसू बह चले। सिर झुक गया। मुँह मुरझा गया। अच्छा भोजन, गांधी, अच्छा भोजन लो। लेकिन मेरे साथियों को? उनको अफ्रीका के आदिवासियों का भोजन मिलेगा। मेरे लिए यह विष है।

पत्तियाँ हरी हैं, और जड़ उन्हें पहुँचाती हैं। तारे चमकते हैं, और सूर्य से उन्हें प्रकाश मिलता है। अफ्रीका की मरुभूमि में अमृत वर्षा हुई, और वर्षा की इंद्र गांधी ने। शुष्क भूमि में आत्मशक्ति की अर्चा हुई और अर्चा की राम गांधी ने! दयाशून्य हृदयों में दृढ़ता और बल का सिक्का जमा, और सिक्का जमाया भीष्म गांधी ने! और गांधी को किस जड़ ने रस पहुँचाया? उस माता ने, जिसके स्तनपान से उसका शरीर पला। गांधी! बैरिस्टरी के लिए विलायत जाओ, लेकिन शपथ खाओ कि तुम मांस, मदिरा और स्त्री का सेवन नहीं करोगे। माता, नहीं करूँगा। और अक्षर-अक्षर शपथ निबाही गई। और इस वीर माता को किस माता ने जनमा। मेरी और तुम्हारी माता ने, मेरी और तुम्हारी जननी ने, मेरी और तुम्हारी पालन-पोषणकर्त्री देवी ने। बालक गांधी, और अब पुरुष गांधी। साथियों के ऊपर दोष लगाया जाता है, लेकिन नहीं, मैं ही दोषी हूँ, मुझी को सजा दो। हिंदू और मुसलमान दोनों एक ही माता के पुत्र हैं। आप मुझे सराहते हैं, और चीजें भेंट करते हैं, लेकिन मैंने किया ही क्या? सेवा का भाव हृदय को उच्च करता है, और जो आदमी जितनी ही सेवा करता है, वह अपने को उतना ही उच्च बनाता है। प्लेग फैला और गांधी अपने देशभाइयों की सेवा में दत्तचित्त। अपने तन-बदन की सुध नहीं। हजारों रुपया मासिक की

आय, लेकिन अब कुछ नहीं। जो थी, वह सब सेवा की वेदी पर भेंट। युद्ध। गोरे असभ्य लोगों के खून से पृथ्वी को रँग रहे हैं। गोरों का पशुवत हाथ बेदर्दी से रोका नहीं जा सकता। लेकिन, वह देखो। गांधी गोरे हाथों की काली बेदर्दी के शिकार अफ्रीका के काले आदमियों के घावों की मरहम-पट्टी कर रहा है। देश की मान-रक्षा के लिए धन की जरूरत है। लो सब अर्पण। देशभाइयों की दुःखभरी आवाज का मार्ग यह लो 'इंडियन ओपीनियन'। सारा खर्च लाखों रुपए, अपने पास से।

100 एकड़ भूमि, यह भी लो, देशभाइयों के लिए। कैदी के भेष में, हथकड़ियाँ पड़ी हुईं, गठरी लादे हुए शहर के बीच में से होकर निकलना पड़ा, लेकिन यह भी कुछ नहीं। स्त्री बीमार है, और लड़का अस्वस्थ। गांधी! देख आओ, देखो, अधिकारी लोग भी कहते हैं। लेकिन, स्त्री की बीमारी से कर्तव्यपालन ज्यादा महत्त्व का है। पूरा और पक्का बैरिस्टर, लेकिन स्याह का सफेद और सफेद का स्याह बनाने वाला नहीं। मुवक्किल झूठ बोला और कचहरी में जज के सामने पहुँचने पर झूठ जानते ही मुवक्किल से सूखा सलाम। शत्रु भी सज्जनता के ही इतने कायल कि हथकड़ी भरे हुए हाथों और गठरी लादे हुए शहर से निकाले जाने पर गोरे 'नेटाल मरकरी' के हृदय में भी न्याय की लहरों ने हिलोरें मारी थीं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, गोरे और काले, सभ्य और असभ्य सभी बराबर, क्योंकि सभी परम पिता के हाथ की मूर्तियाँ हैं। सादगी और वह भी हद से बढ़ी हुई। कहा जाता है कि कभी 25 लाख का आदमी, लेकिन अब पास एक हजार भी नहीं। सब सेवाभाव के नजर। पत्नी वीर। पुत्र वीर। पत्नी जेल गई तथा पुत्र हो आया और अब फिर तैयार।

शांति हुई थी, लेकिन, फिर अशांति की अग्नि भभक उठी। वही संग्राम और ओज से। कर्मवीर तैयार हैं, सिर हथेलियों पर। मातृभूमि और जाति की मान-मर्यादा की वेदी पर तन, मन और धन अर्पण। गांधी जेल में और नौ मास के लिए। और भी दो हजार वीरों पर चंगुल है। वीर नारियाँ भी पीछे नहीं। घोर तपस्या! और इस तपस्या, इस महायज्ञ से भारतीय महाजाति के निर्माण का महाकाम हो रहा है। वीरों ने इस महायज्ञ में अपने प्राणों की आहुतियाँ दी हैं। और अब देवगण देख रहे हैं कि यज्ञ के मुख्य पात्र, भारत मही की गोद में सुख निद्रा लेने वाले, अपना यज्ञ भाग लेने के लिए किस तरह आगे बढ़ते हैं? प्राणों की माँग नहीं, और न शरीर ही की। हाथ के मैल की जरूरत

है, और वह भी दूसरों के लिए नहीं, अपने भाइयों के बच्चों को कुछ दिन खिलाने के लिए। नहीं, बल्कि अपनी और अपने देश की मान रक्षा के काम को जारी रखने के लिए। सभ्य संसार देख रहा है, नहीं, सभ्य संसार से क्या मतलब, क्योंकि उसे गोरे और काले रंग के सवाल ने बावला कर रखा है, हमारे पूर्व पुरुष जिन्होंने अपने उच्च भावों पर कौड़ी को, नहीं हड्डी को कौड़ी को ही नहीं अपने सबकुछ तक को आन की आन में न्योछावर कर दिया, आज आकाश से देख रहे हैं कि हम उनकी संतान अपने उच्च भावों की रक्षा के लिए कितने त्याग से काम ले सकते हैं। कपूत? कदापि नहीं। जब तक हमारे शरीर में अक्ल है और अक्ल में तमीज करने की शक्ति, जब तक हमारे हृदय में भाव हैं एवं भावों में आगे बढ़ने का बल, जब तक हमें अपनी मातृभूमि का ज्ञान है तथा हमारी मातृभूमि में हमें उत्साहित करने की शक्ति, जब तक हमारे नेत्र संसार की ओर हैं और संसार में आगे बढ़ने के लिए रास्ते, तब तक हम कदापि पीछे नहीं देखेंगे, पीछे कदम नहीं रखेंगे और पीछे नहीं।

16 नवंबर, 1913



कर्मवीर गांधी

लोकमान्य तिलक

विगत शनिवार (31 जुलाई, 1920) की रात्रि देश के लिए एक अत्यंत भयंकर रात्रि थी। घटा न थी, परंतु देश के असंख्य हृदयों पर बिजली गिर पड़ी। आँधी न थी, परंतु उद्यान का वह पुष्प टूट पड़ा, जिसके सौरभ से चारों दिशाएँ व्याप रही थीं और जिसका विछोह कलेजे को टूक-टूक किए डालता है। मृत्यु वह शक्ति है, जिसका मार्ग नहीं रोका जा सकता। वह न्याय करती है, परंतु बहुधा घोर अन्याय भी। 65 वर्ष की अवस्था बड़ी अवस्था न थी। दुर्भाग्य है इस देश के निवासियों का, कि कठिन-से-कठिन युग में, आक्रमणों और संघर्षों की कंटकाकीर्ण पगडंडी पर चलते और तूफानों और भँवरों को मँझाते समय, वे अपने उन अग्रगण्यों, उन कर्णधारों को, जो अपनी कुशलता और कर्तव्यनिष्ठा में अद्वितीय हों, इस उम्र में खो बैठे।

बाल गंगाधर तिलक से बढ़कर इस समय हमारी टूटी-फूटी नाव का खिवैया कौन था। भारी तूफान, भयंकर मँझधार में, हमें अपनी दृढ़ता, तपस्या, धीरता और वीरता से पार का संदेश देने, उसकी कल्पना नेत्रों के सामने फेरने, बैठते हृदयों को उठाने और उठे हुए हृदयों को आगे बढ़ाने वाला उनसे बढ़कर नहीं, उनके समान ही और कहाँ है? जब आँधियाँ चलती थीं और अँधेरी निशा ने देश भर पर अपनी काली चादर डाल रखी थी, जब निराशा एवं विवशता का अखंड राज्य था तथा साँस लेना तक खतरनाक समझा जाता था।

विदेशी सत्ता के कारण जिस समय अपने और अपने मन का विचार स्वप्न सम हो गया था, मानसिक वृत्तियाँ धँसती-धँसती इतने नीचे पहुँच गई थीं कि अपने शरीर और अपनी चीज को अपनी कहना भी पाप समझा जाता था, तब ह्रास और विनाश के उस वायुमंडल का भेदन करती हुई एक आत्मा,

कर्मण्यता की एक मूर्ति उदय हुई, जिसने मुर्दा देश के सामने संजीवन संदेश उपस्थित किया। उसने दलितों को बतलाया कि वे भी मनुष्य हैं और कायरों को बतलाया कि उनमें भी वीरता निहित है। खाली उपदेशों से काम न चला। सुंदर उपदेशों की पहले ही क्या कमी थी?

अब स्वर्ण ने तप-तपकर दिखला दिया कि खरापन इसे कहते हैं और खरेपन की चमक यह है, तब उनकी आँखें तक खुल गईं, जिन्होंने किसी भी वस्तु के न देखने के लिए अपनी आँख सदा के लिए बंद कर ली थी। तिलक की कठिन तपस्या और प्रबल त्याग ही ने देश में प्राण संचार किया। उनका जेल जाना और फिर भी निर्भीक होकर अपना काम करते रहना, चारों ओर आक्रमणों के निशाने बनना, और तो भी अटल बने रहना, आफतें सहना और उनके कारण उद्देश्य-सिद्धि के पथ से तनिक भी विचलित न होना, एक ऐसा बलिदान था, जिससे देश के मोह का पाप कटे बिना न रहा, और अंत में, निरंतर किए गए इस संग्राम से तथा अनीति और अन्याय के विरुद्ध इस संग्राम के ठानने वाले की कार्य कुशलता, कुशाग्रता, तत्परता और दूरदर्शिता से आज देश को यह दिन देखना नसीब हुआ, देश में सर्वत्र व्याप्त निर्जनता में, उस समय अकेला एक ही कंठ बोल रहा था, एक ही आत्मा चल-फिर रही थी।

आज असंख्य आत्माएँ उसका काम कर रही हैं, उसके संदेश पर चल रही हैं। सौभाग्य था देश का, कि तिलक ने इस मार्ग को ग्रहण किया। वे किसी भी मार्ग पर चल कर अग्रणी हो सकते थे। वे प्रसिद्ध शिक्षक हो सकते थे, प्रसिद्ध फर्ग्यूसन कॉलेज की नींव उन्होंने डाली थी। वे विश्व विख्यात लेखक और विद्वान् हो सकते थे। 'केसरी' के विद्वान् संपादक, वेदों के भारी पंडित, कैद की दशा तक में वेदों और गीता पर अत्यंत विचारपूर्ण ग्रंथों के लेखक तिलक के लिए यह कठिन बात न थी। वे खूब धन कमाने वाले वकील हो सकते थे। जस्टिस डावर के सामने 21 घंटे तक अपने ही मामले पर बहुत जबरदस्त बहस करके उन्होंने अपनी कानूनी योग्यता का पूर्ण परिचय दिया था।

देश की लगन और देशवासियों की हीन दशा तथा पराधीनता ने उनके स्वाधीनचेता मन को किसी करवट चैन न लेने दिया। उन्होंने जो कुछ किया, जिस ढंग से किया, उससे यह मालूम होता है कि वे भारतवर्ष की उन विलुप्त शक्तियों के अवतार थे, जो प्रभुता और अधिकार की अस्वाभाविक अठखेलियों का विरोध करने के लिए तुली हुई थीं। वे भारतवर्ष की आधुनिक राष्ट्रीयता

के जन्मदाता थे। वे उसके पोषक थे। वे उसके रक्षक थे। उसके निमित्त वे अन्यायियों से लड़े और लड़े अपने देशभाइयों से। खूब लड़े, इंच-इंच लड़े और अंत में चोटें खाते तथा आफत सहते हुए भी विजय उनके हाथ रही। देश की बागडोर ऐसे हाथों में गई जिन्हें समाज ने आगे नहीं बढ़ाया, जिन्हें तोड़ने में सरकार ने कोई कसर नहीं की, जिनमें धन नहीं था, और जिनमें पहले जन भी नहीं था।

देश ने तिलक को सिर-आँखों पर बैठाया और उनकी वह कद्र की जो शताब्दियों से उसने किसी की नहीं की थी। उसे मानो अपना खोया हुआ अधिनायक मिला। अपढ़-कुपढ़ लोगों तक के लिए तिलक का नाम मोहन मंत्र था। जिस समय उन्हें छह वर्ष की कैद हुई, बंबई भर के मजदूर बिगड़ उठे। उपद्रव हो गया। अनेक जानें गईं। गहरी दुर्घटना हो गई, परंतु उससे उस अधिकार की थाह मिलती है, जो तिलक को लोगों के हृदयों तक पर प्राप्त था। इस कैद पर बाबू सुरेंद्रनाथ बनर्जी तक ने कांग्रेस में कहा था, ''मेरा हृदय उस कैदखाने के चक्कर काटता है, जहाँ तिलक हैं और जिनके लिए आज देश भर आँसू बहा रहा है।''

ऐसी आत्मा थी वह, जो विगत शनिवार की रात को संसार से उठ गई और जिसके शोक से यह देश अत्यंत व्यथित है। समय कठिन है और उसकी बातें और भी कठिन। प्रत्येक आदमी को अंत में जाना है। तिलक भी जाते ही, परंतु इस समय उनका जाना देश के लिए, जिसे वे सबसे ज़्यादा प्यार करते थे, और जिस पर उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर दिया था, बहुत बुरा हुआ। उनकी महत्ता और उनकी आवश्यकता देश भर को खून के आँसू रुला रही है। लोग रोएँगे और बहुत दिनों तक रोएँगे, परंतु शोकाश्रु की अंजलि अपने इस देवता के चरणों में बहुत अच्छी भेंट नहीं।

हमारे देवता के जीवन की घटनाएँ आँसू बहाने का संदेश नहीं देतीं, जिन अवसरों पर, नेत्रों का धर्म था कि आँसू गिराएँ, उन पर भी प्लेग के आरंभ के दिनों में 20 वर्ष के युवा पुत्र की दाहक्रिया करके श्मशान से लौटते ही बिना कुछ भी विचलित हुए 'केसरी' का अग्रलेख लिखना! हमारे देवता के नेत्रों ने आँसू नहीं टपकाए।

इस बीमारी की कठिन अवस्था में बेहोशी के दूर होने पर, अपने आसपास मित्रों को अत्यंत चिंतित देखकर भी जिस आत्मा ने हँसी-मजाक कर लोगों को

आश्वासन दिया हो और जो इंच-इंच रोग से उसी प्रकार लड़ा हो, जिस प्रकार अन्याय और अत्याचार से, उसका तर्पण आँसुओं से नहीं, हृदयों की भेंट से होना चाहिए। स्मारक बनेंगे और यदि आज विदेशियों द्वारा रचित देश के इतिहास में तो वह होगा ही, परंतु इन स्मारकों से भी बढ़कर होगा, यह काम कि देश के युवक और युवतियाँ तिलक के पद-चिह्नों पर चलने का व्रत धारण करें। वे धन कमाने की लालसा छोड़ें, आराम और तकलीफ का खयाल पास न फटकने दें और श्रद्धा के साथ, माता के कल्याण के लिए, माता की संतति तक माता के उद्धार का संदेश दृढ़ता और निर्भीकता के साथ पहुँचाएँ, जैसे कि तिलक ने पहुँचाया। यदि ऐसा हो, तो देश की अंतरात्मा में तिलक का सच्चा स्मारक बन जाए और देश के लिए सदा कष्ट झेलने वाली तिलक की आत्मा को भी सच्ची शांति प्राप्त हो।

'प्रताप' 9 अगस्त, 1920

●

हाथी की फाँसी

(कहानी)

कुछ दिन से नवाब साहब के मुसाहिबों को कुछ हाथ मारने का नया अवसर नहीं मिला था। नवाब साहब थे पुराने ढंग के रईस। राज्य तो बाप-दादे खो चुके थे, अच्छा वसीक़ा मिलता था। उनकी 'इशरत मंज़िल' कोठी अब भी किसी साधारण राजमहल से कम न थी। नदी-किनारे वह विशाल अट्टालिका चाँदनी रात में ऐसी शोभा देती थी, मानो ताजमहल का एक टुकड़ा उस स्थल पर लाकर खड़ा कर दिया गया हो। बाहर से उसकी शोभा जैसी थी, भीतर से भी वह वैसी ही थी। नवाब साहब को आराइश का बहुत ख़याल रहता था। उस पर बहुत रुपया ख़र्च करते थे और या फिर खर्च करते चारों ओर मुसाहिबों की बातों पर। उम्र ढल चुकी थी, जवानी के शौक़ न थे, किंतु इन शौक़ों पर जो ख़र्च होता, उससे कहीं अधिक यारों की बेसिर-पैर की बातों पर आए दिन हो जाया करता था। नित्य नए किस्से उनके सामने खड़े रहते थे। पिछला किस्सा यहाँ कह देना बेजा न होगा। यारों ने कुछ सलाह की और दूसरे दिन सबेरे कोर्निश एवं आदाब के तथा मिज़ाजपुर्सी के बाद लगे वे नवाब साहब की तारीफ़ में ज़मीन व आसमान के कुलाबे एक करने। यासीन मियाँ ने एक बात कही, तो सैय्यद नजमुद्दीन ने उस पर हाशिया चढ़ाया। हाफ़िजजी ने उस पर और रंग तेज़ किया। अंत में मुन्ने मिर्ज़ा ने नवाब साहब की दीनपरस्ती पर सिर हिलाते हुए कहा, ''खुदाबंद, कल रात को मैंने जो सपना देखा, उससे तो यही जी चाहता है कि हुज़ूर के क़दमों पर निसार हो जाऊँ और जिंदगी भर इन पाक क़दमों को छोड़कर कहीं जाने का नाम न लूँ।''

यारों ने बड़े शौक़ से पूछा, ''मिर्ज़ा साहब, क्या ख़्वाब था? ज़रा हम भी तो सुनें।'' मुन्ने मिर्ज़ा, ''क्या कहूँ, उसका जितना ख़याल करता हूँ, उतना दिल पाक जज्बात से पुर और मसर्रत से उछलने लगता है। नींद टूट जाने के बाद भी यही जी चाहा कि अभी ख़्वाब को देखता रहूँ। अल्लाह! अल्लाह! हुज़ूर के कदमों को बोसा दूँ और जिंदगी भर हुज़ूर की जूतियाँ सीधी करता रहूँ। क्या ख़्वाब था, कितना मुबारक! कितना पाक!''

मियाँ यासीन, ''भई, कुछ कहोगे भी?''

मुन्ने मिर्ज़ा, ''उस ख़्वाब के महज़ ख़याल से वज्द में आ जाता हूँ। जी चाहता है कि क्या पाऊँ और हुज़ूर को सिर काट करके लुटा दूँ।''

नवाब साहब, ''मिर्ज़ाजी, आखिर ख़्वाब भी तो बतलाइए। आपने क्या देखा? उसे भी तो सुनें।''

मुन्ने मिर्जा—''हाँ-हाँ, हुज़ूर, ज़रूर-ज़रूर उसे सुनाता हूँ। रात को दस बजे जो सोया था, तो तीन का घंटा बज रहा था, उस वक़्त आँख खुली। मैंने सोचा, अभी तो सबेरा होने में बहुत देर है, फिर चारपाई पर पड़ा रहा। कुछ यादे-इलाही में मसरूफ़ था कि आँख झपक गई। ख़्वाब क्या देखता हूँ, कि मेरे कंधे पर पर जम आए हैं और मैं उड़ रहा हूँ। उड़ता-उड़ता मक्का शरीफ में पहुँच गया। पहले काबे के चारों तरफ़ चक्कर लगाता रहा। आस-पास के पुरनूर नज़ारे से जब दिल सेर हो गया, तब मैंने भीतर क़दम रखा। देखता हूँ कि एक बड़ा लंबा-चौड़ा मैदान है, उसमें बहुत से बड़े-बड़े बुजुर्गवार एक सफेद फर्श पर बैठे हुए हैं, आपस में कुछ बातचीत कर रहे हैं और कुछ ऐसा मालूम हुआ कि दुनिया में इस वक़्त पाक रूहों में उनके मुतल्लिक कुछ ज़िक्र था। इतने में क्या देखता हूँ कि वे सब उठकर खड़े हो गए और कतार बाँधने लगे। ख़ाक न समझा कि माजरा क्या है? मैं उन लोगों के पीछे की कतार के पीछे खड़ा हो गया। वे सब नमाज़ पढ़ने लगे। मैं कुछ चकरा सा गया था। एक साहब ने मुझे इशारा किया कि तू भी नमाज़ में शामिल हो। मैं फौरन ही शामिल हो गया। पहली रकात के बाद मैंने जो सिर उठाकर आगे देखा, तो मेरे ताज्जुब का कोई ठिकाना न रहा। देखता क्या हूँ कि सब नमाज़ियों के आगे पेश इमाम की जगह पर हुज़ूर नवाब साहब हैं और वे ही नमाज़ पढ़ा रहे हैं। उस वक़्त ख़यालात का एक अजब दरिया मौज़जन था। सब नमाज़ पढ़ रहे थे और इबादत में मसरूफ थे, मगर मैं था कि इस

ख़याल में कि हुज़ूर वाला यहाँ कहाँ, मैं तो आपको घर छोड़ आया था। हुज़ूर यहाँ कैसे और कब पहुँचे और किस तरह इन पाक बुजुर्गों के घर इमाम हो गए? पता नहीं कितनी देर तक मैं उसी ख़याल में गलता पेचाँ रहा। मेरा ध्यान उस वक़्त टूटा, जब मेरे कान में यह आवाज पड़ी, 'ऐ नेकबख्त, देखता नहीं, ये सब दुनिया की पाक रूहें हैं और जो बुजुर्ग इनके पेश इमाम हैं वह इस वक़्त दुनिया में सबसे ज़्यादा दीनदार और अल्लाहताला का प्यारा है।' मैंने जब नज़र उठाई, तो देखता क्या हूँ कि सामने की रूहें गायब हैं और मेरे पास खड़े हुए एक बड़ी भारी सफेद दाढ़ी वाले बुजुर्ग मुझसे ये अलफ़ाज़ फ़रमा रहे हैं। मैं बहुत आजिज़ी से आदाब बजा लाने के लिए झुका। झुकते ही कुछ शोर हुआ। आँख खुल गई। देखता हूँ कि अपनी चारपाई पर पड़ा हूँ और बाहर मुर्ग कुकड़-कूँ, कुकड़-कूँ बोल रहा है। बिस्तरे से उठ पड़ा। खुदा को सिज़दा करके मैंने दिल में कहा, 'मेरे मालिक का यह रुतबा, इसका तो मुझ नाकिस-उल-अक़्ल को कभी ख़याल भी न हुआ था।' उस वक़्त से खुशी से दिल बाग़-बाग़ है। मियाँ यासीन, तुम्हीं कहो, यह क्या कम खुशनसीबी है कि हम लोग हुज़ूर ऐसे नेकनीयत और पाक इंसान की खिदमतगुज़ारी में हैं, जिनको दुनिया के बड़े-बड़े बुजुर्ग तक अपना सदीर मानते हैं।''

मियाँ यासीन, ''वल्लाह, आँखें खुल गईं। तुम्हारा ख़्वाब क्या है, हम गुनाहों में फँसे हुए लोगों के लिए हुर्मे-वसीरत है। तुम्हें आज यक़ीन हुआ कि हुज़ूर के अंदर की दुनिया बड़ी भारी होती है।''

हाफ़िज़जी, ''सच है, सच है। हुज़ूर की पाकीज़गी और दीनदारी का इससे बढ़कर और सबूत ही क्या हो सकता है कि दुनिया के बड़े-बड़े बुजुर्ग हुज़ूर की सरपरस्ती के लिए फिरेंगे।''

सैयद साहब ने कहा, ''दुनिया में हुज़ूर से बढ़कर दीनदार कौन है? मक्का मुकद्दस में बड़े-बड़े बुजुर्गों की पेशइमामी का हासिल होना कोई मामूली बात नहीं। हुज़ूर की ख़ुदा-परस्ती हफ्त-अकालीम में अपना असर रखती है। बड़े-बड़े औलियाओं को जो बात नसीब नहीं हुई, वह हुज़ूर को नसीब हुई है। इससे बढ़कर ख़ुशक़िस्मती और क्या हो सकती है? मैं तो एक अदना आदमी हूँ, हुज़ूर के क़दमों पर हमेशा निसार रहता हूँ, मगर इस वक़्त अगर ख़ुदा ने ज़र दिया होता, तो इस खुशी में लुटा देता और कम-से-कम आज के दिन तो शहर भर के किसी मोहताज को भूखा न रहने देता।''

हाथी की फाँसी

नवाब साहब, ''मिर्ज़ाजी, क्या सचमुच रात को मैं मक्के शरीफ़ में पहुँच गया था? तुम्हें धोखा हो गया होगा। तुमने किसी और को देखा होगा तथा समझ गए होगे कि नवाब हैं। आँखों को अकसर धोखा हो जाता है।''

मुन्ने मिर्जा, ''हुज़ूर, मैंने तो ख़्वाब की बात कही है, मगर ख़्वाब बड़े मारके के हुआ करते हैं। ख़ासकर सुबह का देखा हुआ। फिर इस ख्वाब की ताबीर तो हुज़ूर किसी से भी पूछें तो वह यही कहेगा कि हुज़ूर के कदम चूम लेने चाहिए और हुज़ूर पर सब कुछ लुटा देना चाहिए।''

यासीन मियाँ, ''सच है हुज़ूर, यह ख़्वाब ऐसा ही है। मैं तो हुज़ूर को पहले ही से पहुँचा हुआ समझता रहा हूँ। मुझे तो हुज़ूर की ज़ात पर जो अक़ीदा है, उसे किस तरह ज़ाहिर करूँ? कलेजा चीरकर अगर देखा जाए तो हुज़ूर देखेंगे कि वह हुज़ूर की अक़ीदत से रँगा हुआ है, और जब से मैंने इस ख्वाब को सुना है, तब से यही जी चाहता है कि इस खुशी में तन के कपड़े तक उतारकर गरीब को दे डालूँ।''

नवाब साहब, ''तुम क्यों करोगे! गरीबों के लिए जो कुछ कहो, वह हो जाए। अच्छा, खज़ांची को बुलाओ। एक हज़ार रुपए ले लो और आज इसी खुशी में मोहताजों को कोठी के सामने, वह जो चाहें, उन्हें दोनों वक़्त खिला दो।''

दोपहर से लेकर रात तक नवाब साहब की कोठी के सामने बहुत से गरीब मोहताज जमा थे। उनको खाना दिया गया, किसी को पेट भर और किसी को अधपेट। किसी को चना-चबेना और किसी को पूड़ी-कचौड़ी।

वे सब निपटा दिए गए। शेष रक़म मुसाहिबों और नौकर-चाकरों ने चुपचाप घोट ली। नवाब साहब ने समझा, मोहताजों को खूब मिला और उनका पुण्य और भी बढ़ा। मुसाहिबों ने सोचा कि अच्छा मूर्ख बनाया और दूसरे अवसर की घात में रहने लगे।

नवाब साहब की महफ़िल जमी थी। मुसाहिब लोग क़रीने से अदब के साथ बैठे हुए थे। नवाब साहब मसनद लगाए लखनऊ की बढ़िया खुशबूदार तंबाकू वाले हुक्के की लंबी सटक को मुँह में लगाए यारों की खुशगप्पियाँ सुन रहे थे। कभी-कभी बीच में खुद भी कुछ इरशाद कर दिया करते थे। पिछले सफ़र का ज़िक्र था। नवाब साहब और उनके हाली-मुहाली बंबई गए थे। पहले बंबई की खूबसूरत इमारतों, उसकी शानदार सड़कों, चौपाटी, जहाजों

आदि का ज़िक्र होता रहा और फिर उसके बाद जी.आई.पी.आर. की बढ़िया गाड़ियों की तारीफ़ होती रही। बीच में नवाब साहब ने फरमाया, ''वल्लाह! रेल भी कितने आराम की चीज़ है। अजी, यह किसने बनाई और कब से बनी है?'

मुन्ने मिर्जा, ''हुज़ूर, ठेकेदारों ने बनाई है। बहुत दिन हुए तब बनी थी।''

हाफिज़, ''ठेकेदार बनाएँ अपना सिर! हुज़ूर, फिरंगियों ने रेल चलाई। उनके दिमाग से रेल निकली।''

मियाँ यासीन, ''हुज़ूर, इन्हें नहीं मालूम। रोम के सुल्तान ने सबसे पहले रेल चलाई। रोम के सुल्तानों से बढ़कर दुनिया में कोई बादशाह नहीं। फिरंगी उसके सामने क्या हैं? फिरंगियों की इस पोशाक को आपने गौर से मुलाहिज़ा फरमाया है।''

नवाब, ''क्यों? क्या बात है?''

मियाँ यासीन, ''इनकी पतलून अपने साथ एक तवारीखी वाकया रखती है। किसी जमाने में रोम के सुल्तान ने फिरंगियों को पकड़-पकड़कर गुलाम बनाया था और उनको यह पतलून इसलिए पहनाई कि हमेशा दस्त-बस्ता खड़े रहें।''

नवाब साहब, ''अच्छा, पतलून की ईजाद इसलिए हुई है?''

मियाँ यासीन, ''हाँ, हुज़ूर और ये रेलें जब पहले-पहले रोम के सुल्तान ने चलाईं, तब उनसे यह काम नहीं लिया जाता था, जो इस वक़्त लिया जाता है।''

नवाब साहब, ''तो उनसे क्या काम लिया जाता था?''

मियाँ यासीन, ''हुज़ूर, हज़रते सुल्तान उस वक़्त इसे अपनी मुअज़्ज़िज़ रिआया की शान के ख़िलाफ समझते थे कि उसका कोई फ़र्द रेल पर सवार हो। रोम की लाइंतहा सल्तनत का कोई भी इज़्ज़जतदार आदमी रेल पर सवार नहीं हुआ करता था। रेलों पर फिरंगियों के ज़रिए शहरों का कूड़ा-करकट और मैला ढोकर बाहर जंगल में फेंका जाया करता था। यह तो अब कुछ दिनों से फिरंगियों ने रेल के भाप में मलका हासिल कर लिया है और उसे सजाकर उससे आदमियों की सवारी का काम लेने लगे। लेकिन हुज़ूर, अब भी रोम की वसीह सल्तनत में अरब, हबश, तातार, ईरान, इराक, कराकश वगैरह दुनिया के बड़े-बड़े मुल्कों में रेल में किसी भले आदमी का सवार होना बहुत मनहूस समझा जाता है।''

हाथी की फाँसी

नवाब साहब, ''क्यों जी, अब इन फिरंगियों ने रेल को बहुत फरोग दे डाला है।''

हरचरन भाट पीछे बैठे हुए थे। उन्होंने चुप रहना उचित न समझा। वे कुछ देर से कुछ सोच रहे थे। इस बार मियाँ यासीन या और कोई नवाब साहब की बात का कोई उत्तर देने के लिए ज़बाँ हिलाए, उससे पहले ही रायजी ने कहा, ''हुज़ूर, फिरंगियों ने तरक़्क़ी की तो ज़रूर, मगर काली माई की मर्जी के बिना रेल का पहिया घूम नहीं सकता। रेल जब अपने स्थान से चलती है, तब सबसे पहले काली मइया के नाम पर इंजन के सामने एक काला बकरा काटा जाता है और उसके खून का टीका इंजन के माथे पर लगाया जाता है। अगर ऐसा न हो, तो रेल टस-से-मस न हो।''

सैयद नजमुद्दीन से न रहा गया। वे बीच में ही रायजी की बात काटकर बोले, ''हुज़ूर, ये रायजी हैं पूरे चोंच। क्या बात लाए हैं! कालीजी के लिए बकरा कटता है और इंजन के माथे पर टीका लगाया जाता है। बूढ़े हो रहे हो, लेकिन रहे निरे बुद्धू ही। इंजन भाप के ज़ोर से चलता है। उसके लिए न काली माई के बकरे की ज़रूरत है और न गोरी माई की बिल्ली की। हुज़ूर, यह सब अक़्ल का करिश्मा है। रोम और ईरान से इस अक़्ल का सिलसिला शुरू हुआ। फिरंगियों ने तो नक़ल की, लेकिन ख़ुदा की क़सम, ऐसी नक़ल की कि इस वक़्त उनकी दुनिया भर में धूम है। इस वक़्त तो इस मुल्क में जिधर देखो उधर फिरंगी और उसकी अक़्ल के नज़ारे नज़र आते हैं। हाँ, हुज़ूर, अब बहुत देर हो गई है। मैं एक ख़बर और गोश-गुज़ार करना चाहता हूँ। कहीं भूल न जाऊँ, इसलिए फौरन ही कह देना ज़रूरी समझता हूँ। परसों अपने शहर में एक बड़ा अजीब वाक़या होने वाला है।''

नवाब साहब (बहुत जल्दी से), ''वह क्या? वह क्या है? ख़ैरियत तो है?''

सैयद नजमुद्दीन, ''जी हुज़ूर, सब ख़ैरियत है। घबराने की कोई भी बात नहीं। सुबह पागल हाथी को फाँसी हो जाएगी। बड़े-बड़े रईस जानेवाले हैं।''

नवाब साहब, ''अच्छा! रईस लोग जा रहे हैं, तो हम भी चलेंगे। दारोगा को हुक्म दो कि तैयारी करे। पाँच बजे बहुत अँधेरा रहता है। जाड़े के दिन हैं। वक़्त बहुत खराब है।''

सैयद, ''ये फिरंगी बड़े चलते-पुर्जे होते हैं उन्होंने यह वक्त जानबूझकर रखा, जिससे लोग पहुँच न सकें और इस दिलचस्प तमाशे को न देख सकें।''

नवाब, ''खैर, कोई हर्ज नहीं। हम लोग चलेंगे। बावर्ची पहले से पहुँच जाए और खाना तैयार रखे। दारोगा वहाँ आराम का पूरा इंतज़ाम रखे।''

मुन्ने मियाँ, ''जी, जाड़ा बहुत है। हम लोग, कोई बात नहीं, जहाँ हुज़ूर हों, वहाँ हम ख़ादिमों का पहुँचना हर तरह लाज़िमी है। अगर जाड़े से कुछ तकलीफ··''

नवाब, ''नहीं जी, जाड़े से तकलीफ क्यों हो। दारोगा, इन लोगों को कश्मीर के दुशाले की जोड़ियाँ दे देना और वहाँ आराम करने का सब बंदोबस्त कर रखना।''

नवाब साहब को रात को बहुत देर तक नींद नहीं आई। हाथी की फाँसी के लिए छोटे-बड़े सभी को, बेगम साहिबा को, जब मनाया तब वे भी तैयार हो गईं। बाँदी, मामा और मुग़ल चाकर, मुंशी और मुसाहिब भी कमर-बस्ता थे। हर सामान की तैयारी का कहना ही क्या! शाम ही से झूलन पीर के मैदान में ख़ास तौर से आराइश की गई। बेगम साहिबा और उनकी सहेलियों के लिए अलग अच्छा प्रबंध था। मुसाहिबों को शाम ही वे बढ़िया दुशाले मिल गए। उन्हें ओढ़कर वे नवाब साहब को, ज़मींदारों को सलाम करने पहुँचे। दुआएँ देते हुए कहने लगे कि हुज़ूर जब तक ज़मीन और आसमान क़ायम है, तब तक हुज़ूर का इक़बाल क़ायम रहे। नवाब साहब मुसाहिबों की तारीफ से बहुत खुश हुए। सैयद नजमुद्दीन ने बहुत विनय के साथ प्रार्थना की, ''हुज़ूर, ग़ुलामज़ादे की तबीयत बहुत ख़राब है। बुखार आज तीन दिन से नहीं उतरा है। अगर इजाज़त हो तो बंदा दरे-दौलत पर हाजिर होने के बजाए सीधे मैदान में पहुँच जाए।'' नवाब साहब ने इजाज़त दे दी और सैय्यद ने नवाब साहब को झुककर सलाम किया। दस बजे रात नवाब साहब आराम के लिए तशरीफ ले गए। हुक्म हुआ कि ठीक चार बजे सबेरे चलना होगा, गाड़ियाँ और पालकियाँ तैयार रहें और मैदान में पहले ही आराम तथा नाश्ते का बंदोबस्त रहे। कुछ इस इंतजाम में और कुछ नई बात को देखने के इश्तयाक़ में उस दिन नवाब साहब की कोठी में बहुत से लोगों को नींद नहीं आई। तीन बजे रात ही में कोठी के सामने सवारी गाड़ियाँ और पालकियाँ लगने लगीं। चार बजे नवाब साहब और बेगम साहिबा को जगा दिया गया। तैयार होते-होते कुछ समय लग गया। तब भी पाँच बजे से पहले ही सब लोग सवारियों पर

सवार हो गए और यात्रा शुरू हो गई। मैदान शहर से तीन मील दूर था। खूब सर्दी का मौसम और उस पर अँधेरी रात। लोग सर्दी से अकड़े जाते थे। पालकियों के कहारों तक का बुरा हाल था, किंतु क़दम बढ़ाए जाते थे। साढ़े पाँच बजे करीब मैदान की अमराई में पहुँचे। सब लोग खेमों में जाकर अँगीठियों से सेंकने लगे। मैदान में अँधेरा था। कहीं न कोई आदमी दिखाई देता था और न किसी का शोर ही था। नवाब साहब ने फरमाया, ''हम लोग बहुत पहले आ गए। यहाँ तो अभी कोई भी नहीं आया।''

''और कोई आता भी कैसे? कितनी सर्दी है, कितना अँधेरा था!'' मुन्ने मिर्ज़ा ने हाँ में हाँ मिलाई और कहा, ''हुज़ूर इतने सबेरे कौन आ सकता है? यह तो हुज़ूर ही का काम था। हुज़ूर रोज चार बजे सबेरे यादे इलाही में मसरूफ हो जाते हैं, इसलिए हुज़ूर के लिए कोई नई बात नहीं।''

यासीन मिर्ज़ा ने कहा, ''सच है, हुज़ूर को जगाने की ज़रूरत ही न पड़ी। जब चौकीदार ने आया से अर्ज़ किया कि हुज़ूर को जगा दो, तो आया ने जवाब दिया कि हुज़ूर पहले से ही जाग रहे है, यादे-इलाही में मसरूफ़ हैं, याद-दिहानी किए देती हूँ।''

हाफिज़जी भी पीछे नहीं रहने वाले थे। वे बोले, ''हुज़ूर का यह क़ायदा कुछ आज ही का नहीं हैं। मेरे चाचा कहा करते थे कि हुज़ूर छुटपन से ही चार बजे सुबह से यादे-इलाही में मसरूफ़ हो जाते थे। मेरे चाचा कहते थे कि एक बार का ज़िक्र है कि हुज़ूर आधी रात तक जागने की वजह से चार बजे न जाग सके। पाँच बजे नींद टूटी, तब आपको बहुत अफ़सोस हुआ। आप नौकर पर बहुत नाराज़ हुए कि तूने चार बजे जगाया क्यों नहीं? फिर उस दिन आप दिन-भर यादे-खुदा में मसरूफ़ रहे और जिस नौकर को गफ़लत की वजह से आपने डाँट बतलाई, थी, वह तीसरे दिन ऐसा बीमार पड़ा कि महीने भर के बाद चारपाई से उठ सका।''

नवाब साहब ने फ़रमाया, ''अभी हाथी की फाँसी में देरी मालूम होती है। कुछ धूप निकल आए, तब लुत्फ भी आएगा। उस वक़्त तक हम लोग चाय और नाश्ते से भी फ़रागत पा जाएँगे। नमाज़ के बाद इन कामों को कर डालना चाहिए।''

सब लोगों ने नमाज़ पढ़ी। जो महीने में एक बार भी नमाज़ की एक रकात न पढ़ते थे, वे भी इस समय बड़ी खूबी के साथ नमाज़ पढ़ रहे थे। नमाज खत्म होने के बाद दस्तरख़ान बिछा, गरम-गरम बढ़िया जाफ़रानी चाय आई। मेवे,

कबाब व कोफ्ते और दूसरे लज़ीज़ सामान रखे गए। बेगम साहिबा का अलग इंतजाम था और नवाब साहब का अलग। खाते-पीते सात बजे। सूर्योदय हुआ। धूप फैल चली। नवाब साहब रफ़ीकों के साथ बाहर निकले। उन्होंने देखा कि मैदान खाली पड़ा है, दो-चार आदमियों के सिवा, जो इधर-उधर जा रहे थे, दूर-दूर तक किसी का पता नहीं है। न कहीं हाथी दिखाई देता है और न कोई हुजूम ही। सैय्यद नजमुद्दीन का भी पता नहीं था। उसकी बहुत तलाश की गई, मगर कहीं भी उसका नामोनिशान न मिला। लोग इधर-उधर गए। मुसाहिबों ने दौड़ लगाई। नवाब साहब ने भी आँख फाड़-फाड़कर सब तरफ देखा। बेगम साहिबा और उनकी सहेलियों तथा नौकरानियों ने भी चिकों के भीतर से बहुत कुछ झाँका, परंतु न हाथी दिखाई दिया और न भीड़ ही। बहुत देर तक इंतज़ार रहा। सात के साढ़े सात बजे, साढ़े सात के आठ बजे और आठ के साढ़े आठ, परंतु कहीं कोई ऐसी बात नज़र न आई, जिससे यह समझा जाता कि मैदान में हाथी क्या, लोमड़ी को ही फाँसी होने वाली है। किसी राहगीर से जब पूछा गया कि भई, हाथी को फाँसी कब होगी, तब उसने पूछने वाले की तरफ देखा और फिर आगे का रास्ता नापा। मगर पूछने वाले साहब हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गए तो उसने झींककर यही उत्तर दिया कि कहीं घास तो नहीं चर गए? तो? अंत में बहुत इंतज़ार के बाद नवाब साहब ने झल्लाकर हुक्म दिया कि सवारियाँ तैयार हों, हम वापस जाएँगे।

उस दिन नवाब साहब बहुत नाराज रहे। किसी की हिम्मत न थी कि उनसे कुछ कहता। सैय्यद नजमुद्दीन पर तो वे बहुत बिगड़े। तीसरे पहर वे आकर अपने बाहरी कमरे में बैठे। थोड़ी देर बाद वे दिखाई दिए। आकर ज़मींदोज़ सलाम करके बैठ गए। नवाब साहब देखते ही उन पर बरस पड़े। बोले, ''तुम बड़े नामाकूल हो। यह क्या हरकत की थी? हमें कितनी तकलीफ़ हुई और बेगम साहिबा कितनी परेशान हुईं! तुमने इस तरह का चकमा क्यों दिया? दूर हो मेरी आँखों के सामने से, नमक हराम कहीं का!'' सैय्यद नजमुद्दीन ने बहुत आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि ''हुज़ूर, ख़ता मुआफ हो। मैं समझा नहीं इस ग़ुलाम से आज तक ज़र्रा बराबर भी नमकहरामी हुई हो, तो जो चोर की सज़ा सो इसकी सज़ा। हुज़ूर की नाराज़गी मेरे लिए क़हरे खुदा से कम नहीं। ख़ता हो, तो सज़ा मिले, मगर हुज़ूर नाराज़ न हों।''

नवाब साहब, ''शरम नहीं आती, कितना धोखा दिया। क्या बात गढ़ी कि

हाथी को फाँसी होगी। हज़ारों आदमी तमाशा देखने आएँगे। इतनी रात में, इतनी सर्दी में हम लोग इतनी दूर गए। वहाँ हाथी और हुजूम क्या, तुम्हारी शक्ल तक न दिखलाई दी। बड़े नामाकूल हो। बस, अब इसी में ख़ैरियत है कि तुम यहाँ से चले जाओ और हरगिज़ कभी अपनी सूरत न दिखलाओ।''

सैय्यद नजमुद्दीन हाथ बाँधकर बोले, ''हुज़ूर, मेरी ज़रा सी ग़लती नहीं। अगर ग़लत हो तो गरदन-ज़दनी के क़ाबिल समझा जाऊँ । मैं ठीक पौने पाँच बजे मैदान में पहुँचा। उस वक्त फाँसी की तैयारी हो चुकी थी। फाँसी की टिकटी खड़ी थी। मशालों की रोशनी हो रही थी। बहुत तो नहीं, लेकिन पाँच सौ से ज्यादा आदमी वहाँ जमा थे।''

नवाब साहब, ''झूठ-झूठ! मुझे तो आदमी क्या, चिड़िया भी न दिखाई दी।''

सैय्यद, ''हुजूर, जांबख्शी हो, मेरी बात सुन लीजिए और फिर अगर मेरी ख़ता हो तो मुँह काला करके व गधे पर सवार कराया जाकर शहर-बदर कर दिया जाऊँ।''

नवाब साहब, ''अच्छा, कहो।''

सैय्यद, ''जी, तो मैं जिस वक़्त पहुँचा उस वक़्त फाँसी होने की पूरी तैयारी हो चुकी थी। मेरे पहुँचने से मुश्किल से कोई पाँच मिनट के बाद ही हाथी लाया गया। उसके पैरों में मोटी-मोटी लोहे की ज़ंजीरें पड़ी हुई थीं। उसके चारों तरफ 109 तिलंगे थे, जिनके हाथों में बहुत पैने बल्लम थे। धीरे-धीरे हाथी टिकटी पर लाया गया। उसके गले में फाँसी का फंदा छोड़ा गया। फिर दो फिरंगी आए। टिकटी के पास एक पहिएदार मशीन रखी हुई थी, जिसमें फाँसी का रस्सा लिपटा हुआ था। एक फिरंगी मशीन के पास खड़ा हो गया और दूसरा हाथ में घड़ी लेकर सामने। ज्यों ही पाँच के घंटे पर मुँगरी पड़ी, त्यों ही घड़ीवाले फिरंगी ने ज़ोर से कहा, 'वन'। उसके वन कहते ही सब चुपचाप खड़े हो गए। उसने फिर कहा, 'टू' और उसके बाद ही उसने कहा, 'थ्री'। उसका तीन कहना था कि मशीन के पास खड़े फिरंगी ने कुछ इशारा किया और मशीन घूमने लगी। इधर मशीन घूमने लगी, उधर हाथी की गरदन ऊपर उठने लगी और दम की दम में वह फड़फड़ाता हुआ ऊपर लटक गया। उसकी जान निकलने में मुश्किल से एक मिनट लगा। यह सब काम पाँच बजकर एक मिनट पर खत्म हो गया।''

नवाब, ''क्या कहा, पाँच बजकर एक मिनट पर?''

सैय्यद, ''जी हाँ, हुजूर, फिरंगी लोग वक्त के बड़े पाबंद होते हैं। इसलिए हमेशा अपने पास घड़ी रखते हैं। क्या मजाल जो वक़्त मुकर्रर करें, उससे उनका काम एक पल के लिए इधर से उधर हो जाए।''

नवाब साहब (मुसाहिबों से), ''हम लोग किस वक़्त पहुँचे थे?''

मुन्ने मिर्जा, ''हुजूर, हम लोग साढ़े पाँच के बाद पहुँचे होंगे।''

सैय्यद (जल्दी से), ''तो बात यह है। हुजूर तो साढ़े पाँच बजे पहुँचे। उस वक़्त तक तो सबकुछ ख़त्म हो चुका था। हुजूर देखते तो क्या देखते, लोग तो उस समय तक अपने-अपने घर तक जा चुके थे और मैदान साफ हो गया होगा।''

नवाब साहब, ''क्या हाथी की लाश को भी इतनी जल्द उठा ले गए।'' सैय्यद, ''हुजूर, गड्ढा खुदा तैयार था। इधर हाथी मरा, उधर उसे घसीटकर गड्ढे में डाल दिया। पाँच मिनट में उसे तोप दिया गया।''

नवाब, ''तुम ठहर जाते। हम लोगों का इंतज़ार करते।''

सैयद, ''हुजूर, मैंने मैदान छान डाला और जब मैंने देखा कि हुजूर तशरीफ नहीं लाए, तब यह समझ करके कि सर्दी की वजह से हुजूर ने आने का इरादा तर्क कर दिया होगा, मैं वापस चल दिया। ग़ुलामजादे की हालत की वजह से सुबह को हकीमजी के यहाँ पहुँचना था। उसकी दवा-दारू से दोपहर को जाकर फुर्सत मिली। बस, अब खाना खाकर इधर ही आ रहा हूँ।''

नवाब साहब, ''तो तुमने हाथी को फाँसी पर चढ़ते अपनी आँखों से देखा?''

सैय्यद, ''हुजूर, ख़ुदा की कसम, इन्हीं, आँखों से देखा। अजब वाकया था। ज़िंदगी भर नहीं भूलूँगा। क़लक इस बात का है कि हुजूर वक़्त से न पहुँचे।''

नवाब, ''लेकिन ऐसी भी क्या जल्दी थी, जरा सबेरा होने देते, तब उसे फाँसी देते।''

सैय्यद, ''हुजूर, फिरंगियों के काम ऐसे ही होते हैं। वे अपने कामों को चाहे जलजला आए और चाहे बिजली गिरे, एक मिनट भी इधर-उधर नहीं होने देते।''



'हाथी की फाँसी' : एक यथार्थ

गिरिराज किशोर

'हाथी की फाँसी' कहा जाता है कि गणेशशंकर विद्यार्थीजी की एकमात्र उपलब्ध कहानी है। मेरे दिमाग़ में यह सवाल बार-बार घूमता रहा कि एकमात्र कहानी क्यों है? कहानी भाषा और तकनीक की दृष्टि से चुस्त-दुरुस्त है। जब कोई कहानीकार इतनी अच्छी कहानी लिखने की योग्यता रखता है, तो उसने एक ही कहानी क्यों लिखी? अगर लिखी तो जरूर उसके पहले कुछ कहानियाँ लिखकर मश्क की गई होगी। अगर ऐसा है, तो मश्क के दौरान जो कहानियाँ लिखी गई होगी उन्हें भी होना चाहिए। वे कहाँ हैं? गुलेरीजी की दो कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। 'उसने कहा था' कहानी तो कहा जाता है, उनकी जिंदगी के नज़दीक की कहानी है। लेकिन 'हाथी की फाँसी' पढ़कर यह नहीं लगता कि यह कहानी गणेशजी की ज़िंदगी से जुड़ी हुई कहानी है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि जिस ज़िंदगी से वे जुड़े हुए थे, उसमें इस तरह के नवाबों और मुसाहिबों की कोई गुंजाइश नज़र नहीं आती। दूसरे, हाथी को फाँसी दिए जाने का कोई उपयुक्त तर्क या कारण कहानी में उपलब्ध नहीं है। विद्यार्थीजी साहित्य के मिज़ाज़ को समझने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने 'लॉ मिज़रेबल' जैसे क्लासिक का अनुवाद किया था। इसलिए वे यह तो समझते ही थे कि साहित्य जहाँ भावना और संवेदना का क्षेत्र है, वहाँ तर्क को नज़रअंदाज़ करना कठिन होता है। फिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? मेरे खयाल से या तो यह कहानी किसी इलाक़ाई लोककथानुमा क़िस्से पर आधारित है। अवध के नवाबों व जागीरदारों के बारे में इस तरह के कहानी-क़िस्से बहुत प्रचलित थे। खुद वाजिदअली शाह के बारे में थे। मैंने स्वयं 'काठ की तोप'

नाटक इसी तरह के नवाबों संबंधी क़िस्से को आधार बनाकर लिखा है।

दूसरे, मुझे लगता है कि उन्होंने इस कहानी में फैंटेसी का इस्तेमाल किया है। फैंटेसी के नाम पर बहुत सी माफियाँ हो जाती हैं। तीसरे, यह तत्कालीन सामंती समाज की अव्यावहारिकता पर एक व्यंग्य है। उस ज़माने में सामंती समाज पर हाथ आज़माना लेखकों का खास शगल था। वे उस पर सीधे टिप्पणी करने में तो झिझकते थे, लेकिन साहित्यिक विधाओं के माध्यम से दिल की खलिश निकालते थे, उदाहरण के लिए 'और मुग़लों ने सल्तनत बख्श दी', 'दो बाँके', 'अकबरी लोटा' वगैरह। मैं इस कहानी को भी उसी श्रेणी में रखना चाहूँगा।

वह ज़माना खुशामदपसंदी और दरबारदारी का था। नवाब लोग एक मेक-बिलीव दुनिया में रहना इसलिए पसंद करते थे कि उन्हें यथार्थ का सामना न करना पड़े। यह काम दरबारी बखूबी करते थे। जैसे एक कहावत है कि नवाब साहब ने अपने दरबारियों को परखने के लिए थाल भरकर बैंगन मँगवाए और तारीफ़ करनी शुरू की, क्या गोल और खुशनुमा बैंगन हैं। दरबारियों ने दो क़दम आगे बढ़कर तारीफ़ की। नवाब साहब ने बात बदलकर उन्हें लंबे और बदसूरत कहना शुरू कर दिया। उन्होंने कहा, जिसके खेत में इतने मनहूस बैंगन पैदा होते हैं कि हुज़ूर की तबियत में कोफ़्त पैदा करें उस किसान को सज़ा-ए-मौत दे देनी चाहिए। नवाब ने कहा कि मैं इन्हें गोल कह रहा था तो आप लोग इन्हें हीरे के टुकड़े कह रहे थे, जब मैंने नापसंदगी ज़ाहिर की तो आप लोग किसान को सज़ा-ए-मौत देने पर आमादा हो गए। एक बोला, हुज़ूर जाँबख्शी हो तो अर्ज़ करें, हम बैंगनों के नहीं, सरकार के ग़ुलाम हैं।

मुझे लगता है ग़ुलामी की उस मानसिकता को इस कहानी में बयान करके उस ज़माने की ग़ुलामी को उजागर करके विद्यार्थीजी ने आगाह किया है, यह असल जिंदगी नहीं है। नवाब कितने खुदगर्ज़ और कमअक्ल थे कि वे अंग्रेज़ों के खातिर पिट्ठुओं की चाल इसलिए नहीं समझना चाहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि ताक़तवर अंग्रेज़ जो रेल चला सकता है वह उन लोगों की जिंदगी भी बदल सकता है। यहाँ तक कि वह हाथी जैसे जानवर को फाँसी पर चढ़ा सकता है, जबकि सामान्य बुद्धि से भी यह बात विश्वास करने योग्य नहीं।

सवाल है, वह हाथी कौन? हिंदुस्तान है या आजादी के वे आंदोलन हैं जो हुकूमत-ए-बर्तानिया से हाथी की तरह पूरे दमख़म से टक्कर ले रहे हैं।

'हाथी की फाँसी' : एक यथार्थ

चूँकि सब रईस उस हाथी की फाँसी का जश्न देखने जा रहे हैं, जो न होना है और न होगा, इसलिए नवाब साहब भी लाव-लश्कर के साथ जाने पर रज़ामंद हो गए। मुसाहिब नवाब को ग़लत पैराए पर डालकर यानी उन्हें अल्ला का बंदा सपने के जरिए साबित करके और हाथी की फाँसी का काल्पनिक नजारा पेश करके पैसा भी ऐंठ रहे हैं और अंग्रेज़ों के इस हुनर की तारीफ़ करके मुतमईन भी कर रहे हैं। एक आदमी को बिगड़ैल हाथी द्वारा मार दिए जाने पर ब्रिटिश हुकूमत, भारतेंदु के नाटक 'अँधेर नगरी' की तर्ज़ पर बकरी की जगह हाथी को जेल में बंद कर देती है और फाँसी चढ़ाने का फैसला भी कर देती है। उस ज़माने में विद्यार्थीजी जैसा स्वतंत्रचेता व्यक्ति यह कहानी लिखता है, तो वह नवाबों की और उनके मुसाहिबों की मूर्खता की कहानी नहीं लिखेगा।

एक आदमी का हाथी द्वारा मारा जाना ज़रूर उस वक्त की जंग-ए-आज़ादी के माहौल से ताल्लुक़ रखता है। बेहतर तो यह होता कि लेखक इस संदर्भ का स्पष्ट संकेत करता। पूरी कहानी पाठकों की मशक्कत के लिए न छोड़ता। उस वक़्त तथाकथित आतंकवादी अंग्रेज़ों को मार रहे थे। अगर यह पता लगाया जाए कि यह कहानी किस सन् में लिखी गई और क्या उस वक़्त किसी आतंकवादी ने किसी अंग्रेज़ को मारा था, तो इस कहानी का तिलिस्म किसी हद तक शायद सुलझ जाए, लेकिन इतना तो साफ है कि अंग्रेज़ उस वक़्त उन हमलों से डरे हुए थे। एक हाथी रात-दिन उनका पीछा कर रहा था। हिंसक आंदोलन द्वारा भी, अहिंसक धरनों आदि के ज़रिए से भी। स्वाभाविक है कि हाथी को फाँसी देने की मज़ाकिया परिकल्पना उन दिनों प्रचलित रही होगी। मुझे स्मरण है, इस तरह का एक कार्टून गांधी को लेकर दक्षिण अफ्रीका के एक अखबार में छपा देखा था कि हाथी को फाँसी दी जा रही है। यह बात यहाँ कहाँ तक लागू होती है, यह कहना मुश्किल है, लेकिन लेखक की ज़िंदगी से जोड़कर देखने पर यह ज़रूर लगता है कि आजादी के आंदोलन को फाँसी चढ़ाकर निजात पाने का तसव्वुर अंग्रेजों के चाटुकार जरूर करते रहे होंगे। चूँकि लेखक जानता है कि ऐसा मुमकिन नहीं, तो वह इस झूठ को भी अपनी तरह उजागर करता है। जिस मुसाहिब ने यह पूरा जाल बुना था वह अपने झूठ को छिपाने के लिए एक झूठ और बुनता है कि हाथी को फाँसी दी गई और एक आधा घंटे के अंदर हाथी

को दफन कर दिया गया। ऐसा होता था कि शहीदों को फाँसी देकर वहीं जला या दफन कर दिया जाता था, ताकि लोग विद्रोह न कर दें। हाथी को दफ़न करने की घटना उससे मेल खाती है।

एक बात और है कि विद्यार्थीजी हिंदू जहालत पर भी चोट करने से नहीं चूकते। एक हिंदू मुसाहिब काली का जिक्र करके इस वैज्ञानिक सत्य को झुठलाने की कोशिश करता है कि रेल भाप से चलती है। इसका मतलब है कि लेखक यथार्थ से अपने को जोड़े है। इस कहानी का यथार्थ भी कुछ ऐसा ही है। आज भी सच्चाई और ईमानदारी के हाथी को फाँसी चढ़ाने की कोशिश है।



प्रताप*

"आज अपने हृदय में नई-नई आशाओं को धारण करके और अपने उद्देश्यों पर पूरा विश्वास रखकर 'प्रताप' कर्मक्षेत्र में आता है। समस्त मानव जाति का कल्याण हमारा परमोद्देश्य है। और इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक बहुत बड़ा और बहुत जरूरी साधन हम भारतवर्ष की उन्नति को समझते हैं। उन्नति से हमारा अभिप्राय देश की कृषि, व्यापार, विद्या, कला, वैभव, मान, बल, सदाचार और सच्चरित्रता की वृद्धि से है। भारत को इस उन्नतावस्था तक पहुँचाने के लिए असंख्य उद्योगों, कार्यों और क्रियाओं की आवश्यकता है। इनमें से मुख्यत: राष्ट्रीय एकता, सुव्यवस्थित, सार्वजनिक और सर्वांगपूर्ण शिक्षा का प्रचार, प्रजा का हित और भला करने वाली सुप्रबंध और सुशासन की युद्ध-नीति का राजकार्यों में प्रयोग, सामाजिक कुरीतियों का निवारण तथा आत्मावलंबन और आत्म-शासन में दृढ़ निष्ठा है। हम इन्हीं सिद्धांतों और साधनों को अपनी लेखनी का लक्ष्य बनाएँगे। हम अपनी प्राचीन सभ्यता एवं जातीय गौरव की प्रशंसा करने में किसी से पीछे न रहेंगे और अपने पूजनीय पुरुषों के साहित्य, दर्शन, विज्ञान तथा धर्म-भाव का यश सदैव गाएँगे, किंतु अपनी जातीय निर्बलताओं व सामाजिक कुसंस्कारों तथा दोषों को प्रकट करने में हम कभी बनावटी जोश या मसलहत-वक्त से काम न लेंगे, क्योंकि हमारा विश्वास है कि मिथ्या अभिमान जातियों के सर्वनाश का कारण होता है। किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी, हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी। सांप्रदायिक और व्यक्तिगत झगड़ों से 'प्रताप' सदा अलग रहने की

---

*'प्रताप' का प्रथम संपादकीय

कोशिश करेगा। उसका जन्म किसी विशेष सभा, संस्था, जाति या मत के पालन-पोषण, रक्षण या विरोध के लिए नहीं हुआ, किंतु उसका मत स्वतंत्र विचार और उसका धर्म सत्य होगा। मनुष्य की उन्नति भी सत्य की जीत के साथ बंधी है। इसीलिए सत्य को दबाना हम महापाप समझेंगे, उसके प्रचार और प्रकाश को महापुण्य! हम जानते हैं कि हमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और इसके लिए बड़े भारी साहस तथा आत्मबल की आवश्यकता है। हमें यह भी अच्छी तरह मालूम है कि हमारा जन्म निर्बलता, पराधीनता एवं अल्पज्ञता के वायुमंडल में हुआ है, तो भी हमारे हृदय में सत्य की सेवा करने के लिए आगे बढ़ने की इच्छा है, हमें अपने उद्‌देश्य की सच्चाई तथा अच्छाई का अटल विश्वास है, इसलिए हमें अंत में इस शुभ और कठिन कार्य में सफलता मिलने की आशा है। लेकिन जिस दिन हमारी आत्मा इतनी निर्बल हो जाए कि हम अपने प्यारे आदर्श से डिग जाएँ, जान-बूझकर असत्य के पक्षपाती बनने की बेशर्मी करें, और उदारता, स्वतंत्रता और निष्पक्षता को छोड़ देने की भीरुता दिखाएँ, वह दिन हमारे जीवन का सबसे अभागा दिन होगा और हम चाहते हैं कि हमारी उस नैतिक मृत्यु के साथ-ही-साथ हमारे जीवन का भी अंत हो जाए!''

9 नवंबर, 1913



प्रताप

दयानंद शताब्दी

आज से सौ वर्ष पहले इस देश में स्वामी दयानंद का जन्म हुआ था। आज देश भर के आर्यसमाजी इस अवसर को धूमधाम के साथ मथुरा में मना रहे हैं। वहाँ बड़ी तैयारियाँ हैं। देश भर के बड़े-बड़े आर्यसमाजी और अन्य लोग तो वहाँ एकत्र होंगे ही, अफ्रीका, बर्मा, मलाया, मारिशस आदि से भी आर्यसमाजी सज्जन इस शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धा की अंजलि स्वामी दयानंद की स्मृति-वेदी पर चढ़ाने के लिए वहाँ पहुँचेंगे। जो लोग आर्यसमाज के क्षेत्र के भीतर नहीं हैं, किंतु जो इस देश के कल्याण के इच्छुक हैं और जो हिंदू समाज का भला चाहते हैं उनके लिए भी यह अवसर एक विशेष महत्त्व रखता है। हमारा आर्यसमाज के सिद्धांतों व बातों से चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, परंतु आर्यसमाज की सजीवता एवं प्रबलता तथा उसके प्रवर्तक स्वामी दयानंद के महान् पुरुष और देश में ज्योति और जागृति के फैलाने वाले होने में हमें कोई संदेह नहीं हो सकता। हिंदुओं की बहुत हीन दशा थी। उस समय उनके अंदर अपने भूत और भविष्य के प्रति अविश्वास का भाव भर गया था, तथा वर्तमान के संबंध में तो वे बहुत कुछ अपने को मिट्टी के ढेर से अधिक सजीव न समझते थे। उस ढेर को जो चाहता सो ठुकराता, और जो चाहता था बिखराता व तोड़ता-फोड़ता। अजब बेबसी का जमाना था। मिलकर सोचने, साहस के साथ काम लेने, दूसरों के सामने सीधे दृष्टि रख सकने की बात ही न थी। दूर-दूर तक फैले हुए छोटे-छोटे कुछ दीपक थे, परंतु ऐसा एक भी प्रकाश स्तंभ न था जो हिंदू-समाज के लुटे-पुटे और भटके बटोही के टूटे हुए हृदयों को ढाढ़स और बल देता। अपने समय में हिंदू समाज के लिए आक्रमण और कुवाक्यों की वर्षा के नीचे काम करते हुए भी, स्वामी

दयानंद अटल टेकरी पर स्थित ऐसे प्रबल प्रकाश स्तंभ सिद्ध हुए कि छिटकी हुई नावों को उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ तथा अपने ऊपर होनेवाले आक्रमणों से बचने के लिए उन्हें मजबूत शिरस्त्राण मिला। उत्तरी भारत में आर्यसमाज के संगठन ने संगठन के मंत्र और उसके गुण के ज्ञान को यहाँ के साधारण हिंदुओं में फैलाया। यहाँ गलित गाँवों में नवीन रक्त का संचार हुआ और शरीर के टुकड़े गिर-गिरकर शरीर को गलाने से रुकने लगे। वातावरण में बड़ा परिवर्तन हुआ। विचार करने की शैली ही बदल गई, अविश्वास और भय के बादल छिन्न-भिन्न हो गए। आर्य सामाजिक जीवन ने देश की प्रगतिशील शक्ति को स्वाधीनता और स्वराज्य तक के विचारों की पूजा के लिए एक अच्छा मार्ग बनाना आरंभ कर दिया। संसार के अत्यंत प्राचीन सुसभ्य और सुसंस्कृतियों से परिपूर्ण समाज को अधोगति से रोकने के साथ ही स्वामी दयानंद के उद्योग ने देश में स्वाधीनता की लालसा का युग भी बहुत कुछ उदय किया। स्वामी दयानंद की इस पुण्य कृति को हिंदू नहीं भूल सकते और जब स्वाधीनता का सूर्य पूर्ण रूप से इस धरती पर अपनी रश्मियाँ फैलाएगा, उस समय भारतवर्ष के प्रत्येक समुदाय के लोग, वे चाहे इस समय स्वामी दयानंद, आर्यसमाज और सत्यार्थ प्रकाश को बुरा-भला कहते हों, उस महान् पुरुष को भारतवर्ष के भविष्य निर्माताओं की श्रेणी में रखना और उसकी स्मृति के सामने अपना सिर आदर से झुकाना अपना धर्म समझेंगे।

'प्रताप', 16 फरवरी, 1925



दयानंद शताब्दी

अफगान हमले का भय

कुछ लोगों के मन में यह भय है कि यदि अंग्रेज इस देश से हट जाएँ, तो काबुल वाले चढ़ आएँगे तथा भारतवर्ष की छीछालेदर करेंगे, और इस देश के मुसलमान काबुल वालों के साथ होकर इस देश की छाती पर और भी कोदों दलेंगे। अंग्रेजी इतिहासकारों ने अपने इतिहासों में इस प्रकार के अफगान हमलों के हौवे का बड़ा भयंकर चित्र खींचा है। मार्सडन का कहना है कि भारतवर्ष तो सदा अफगानिस्तान की ओर से आने वाली जातियों से पद-दलित रहा और अब यह पद-दलन केवल उस समय तक न हो सकेगा, जब तक शरीर व मन से सुदृढ़ अंग्रेज़ अपनी प्रचंड सेना के साथ इस देश में विराजमान हैं। हाल में अफगानिस्तान के एक समाचार-पत्र में छपा था कि काबुल वाले भारतवर्ष पर कभी हमला नहीं करेंगे, इसलिए हिंदुस्तान वालों को अफगान लोगों पर कोई संदेह नहीं करना चाहिए। अफगान लोग तो स्वयं यह चाहते हैं कि हिंदुस्तान आज़ाद हो, सबल हो, सुखी हो। काबुली पत्र की ये बातें इस देश के मुसलमान पत्रों में उद्धृत हुई थीं और उनको बहुत महत्त्व दिया गया था। कुछ मुसलमान पत्रों ने कहा था कि अब तो हिंदुओं को मुसलमानों तथा काबुल वालों पर अविश्वास न करना चाहिए, कुछ ने यह भी कहा कि यदि अब भी हिंदुओं की आँखें नहीं खुलतीं और उनके मन में बात नहीं पैठती, तो यह उनकी आँखों और दिल का दोष है, दूसरों का इसमें कोई दोष नहीं। हमारी राय से, न दोष हिंदुओं का है और न इस देश के मुसलमानों या काबुल वालों का ही। काबुली हमले का हौवा तो यों ही रच दिया गया है। पराधीनता के वायुमंडल में पलने और बढ़ने वाले हम लोगों ने अपने मन व मस्तिष्क को इतना कमज़ोर बना दिया है कि इस दशा में हमें जो आदमी जैसा भी खयाल पकड़ा देता है, उसे ही हम अपने गले से उसी प्रकार

चिपटाए फिरते हैं, जैसे नादान बच्चे लकड़ी और कपड़े के गुड्डों को। यदि काबुल की ओर से भारतवर्ष पर आक्रमण हुए हैं और उनका आरंभ अनंत भूतकाल तक के अंधकार में लीन दिखाई देता है, तो भारतवर्ष का काबुल और अफगानिस्तान पर प्रभुत्व भी बहुत पहले से, कम-से-कम ऐतिहासिक रूप से बौद्धकाल से लेकर अभी तक तो स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। चंद्रगुप्त और अशोक का राज्य काबुल की हदों को कहीं पार कर गया था। अकबर के समय में मानसिंह के राजपूतों ने काबुल पर अपनी विजय-पताका फहराई थी, औरंगजेब के समय में यशवंत सिंह काबुल के गवर्नर थे। पंजाब-केसरी महाराज रणजीत सिंह के सेनापति हरिसिंह नलवा ने काबुल को अभी सौ वर्ष पहले फतह किया था। इसलिए, स्वार्थी इतिहासकारों तथा राजनीतिज्ञों और डींग मारने वालों की बातों के कारण भयभीत होने एवं स्थिर बुद्धिता छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं। समय पड़ने पर, हम काबुल क्या, संसार की किसी भी शक्ति से निपट लेंगे। हाँ, इस बंधन की अवस्था में, हमारे लिए प्रहार के लिए उठाया हुआ तिनका भी तलवार से कम नहीं। स्वाधीन 32 करोड़ व्यक्तियों की ताक़त से वर्तमान भारतवर्ष के पराधीन तथा निर्बल लोगों के दिल, दिमाग और ताकत का कोई मुकाबला नहीं। रह गई भारतीय मुसलमानों के काबुल वालों से मिलकर देश का नाश कराने की बात, हम मानते हैं कि इस प्रकार का विचार मुसलमानों के एक गिरोह में मौजूद है। डॉ. किचलू के पत्र 'तंज़ीम' ने इस खयाल को ज़ाहिर किया था कि यदि मुसलमानों के साथ हिंदू इंसाफ नहीं करेंगे अर्थात् टुकड़ों के बँटवारे में ज़्यादा हुज्जत करेंगे और मुसलमानों को भरपूर नौकरियाँ व मेंबरियाँ मिलने नहीं देंगे, तो इसका यह लाज़िमी नतीजा होगा कि मुसलमान अपने अधिकारों की रक्षा के लिए दूसरा द्वार ताकें, अर्थात् मौका पड़ने पर अफगानों का साथ दें। इस प्रकार का विचार वर्तमान पराधीन अवस्था का अनिवार्य परिणाम है। आज़ाद हो जाने पर, देश का कोई मुसलमान इस ज़लील खयाल को मन में लाएगा ही नहीं, वह अपनी आज़ादी को काबुल की गुलामी की तौक के बदले नहीं बेचेगा। आज़ादी के प्राप्त होने पर तो एक ऐसे युग का इस देश में आविर्भाव होगा, जिसमें यह घोर तिरस्कार के योग्य बात समझी जाएगी कि भारतवर्ष का कोई भी व्यक्ति अपने देश की स्वाधीनता के विरुद्ध किसी दूसरे देश को सहायता करने का विचार तक अपने हृदय में लाए। देश आज़ाद उस समय हो सकेगा, जब देश में विविध समुदायों का एक-दूसरे पर विश्वास बढ़ जाएगा। विश्वास बढ़ने का चिह्न यह होगा कि, न हिंदुओं को

मुसलमानों से देशद्रोह का डर रहे और न मुसलमानों को किसी यथार्थ या कल्पित असुविधा को दूर कराने के लिए बाहर वालों के साथी बनने की चिंता। इस अवस्था के पैदा करने के लिए साहस और देश के भविष्य पर विचार की आवश्यकता है। 23 करोड़ हिंदुओं के अंदर क्यों न यह साहस हो कि बाहर के आक्रमणकारियों के साथ यदि मुसलमान मिल भी जाएँ, तो भी हम बाहर वालों के दाँत खट्टे करके छोड़ेंगे और उन्हें इस भूमि पर से भगाए बिना कदापि चैन न लेंगे। सात करोड़ मुसलमानों के अंदर यह भाव क्यों न जगे कि हिंदू तादाद में ज्यादा होते हुए भी हमें कुचल नहीं सकते, देश की आज़ादी का विचार उन्हें ऐसा मूर्ख नहीं बनाएगा और, यदि वे मूर्ख बने तो हममें इतनी ताक़त है कि बिना किसी विदेशी की मदद के, हम अच्छी तरह से लड़कर, इन गुमराह और ना-इंसाफी पर तुले हुए देश-भाइयों से आपस ही में खूब लड़कर इन्हें इंसाफ करने के लिए मजबूर कर देंगे।

'प्रताप', 16 फरवरी, 1925



लक्ष्य से दूर

हम अपने लक्ष्य से दूर हटते जा रहे हैं। देश की आज़ादी का सवाल हमारे सामने है। कुछ समय पहले अधिकांश कार्यकर्ताओं को रात-दिन उसी की धुन थी, परंतु इस समय वे शिथिल हैं। शिथिल ही हों, सो नहीं, क्योंकि अधिक परिश्रम के साथ कुछ समय तक काम कर लेने के पश्चात् कुछ शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक सा है, किंतु वे भ्रम में भी पड़े हुए हैं, क्योंकि देश की स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर उनका ध्यान इस समय उतना नहीं है तथा उनमें से बहुतों की शक्तियाँ इधर-उधर और किसी-किसी दशा में तो हानिकारक दिशाओं तक में लगी रही हैं। हम सब इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि देश के साधारण आदमी जब तक मिल-जुलकर इस योग्य न बनेंगे कि वे अपने बल को जानने लगें तथा अत्याचार, अन्याय को मिटाने के लिए उस बल का संयत प्रयोग करने लगें, तब तक जिन सत्ताओं ने हमारी बाढ़ रोक रखी है, वे पीछे नहीं हटेंगी और हमारे हाथ-पैर नहीं खुलेंगे।

साधारण आदमी की शक्तियों के संगठन की आवश्यकता न केवल इसलिए है कि उसके बल पर हमें देश के वर्तमान हाकिमों के हाथों से शक्तियाँ छीननी हैं, बल्कि उसकी आवश्यकता सबसे अधिक इसलिए भी है कि देश में जो स्वराज्य आगे चलकर स्थापित हो, वह सच्चे अर्थ में 'स्वराज्य' हो और उससे देश के इने-गिने आदमियों ही को लाभ न हो, उससे देश के साधारण से साधारण मनुष्य तक को विकास का पूरा अवसर मिले, परंतु इस अमोघ शक्ति की उपासना तथा उसकी प्राप्ति की ओर से इस समय लोगों का ध्यान बेतरह हटता जाता है। असहयोग की समाप्ति हो चुकी है। जो लोग अपने को अपरिवर्तनवादी दल का कहते हैं, वे भी बदल चुके। कम-से-कम उन्होंने

असहयोग तो छोड़ ही दिया। इस समय वे चरखा और खद्दर ही पर बहुत जोर देते हैं। काम दोनों बहुत अच्छे हैं, परंतु वे ही सब कुछ नहीं हैं, उनका महान् क्षेत्र देहातों में कहा जाता है। उन्हें देहात के आदमियों का त्राता कहा जाता है। यह बात भी ठीक है, परंतु देश के अधिकांश गाँव अभी तक अछूते पड़े हुए हैं। उनमें न उन्हें सबल बनाने वाला कोई काम है और न इस प्रकार का कोई काम करने वाला ही। इस प्रकार देश के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक करोड़ों व्यक्ति गाँवों में ऐसे पड़े हुए हैं, जो समेटे और समझाए जाएँ, तो देश की बड़ी भारी पूँजी और बड़ी भारी शक्ति बन जाएँ। वे वैसे नहीं बनते, तो फिर बनते हैं गले के बोझ, अत्याचार के शिकार और अत्याचारियों के हाथ की कठपुतली। अपरिवर्तनवादी शांति के बड़े उपासक हैं, उनका काम शांतिपूर्ण और उनका ढंग भी शांति से आच्छादित है। देश की इस अमूल्य संपत्ति को अपने हाथों में उठा लेने के लिए वे शांति की महा थाती को किसी हड़बड़ाहट की भेंट नहीं चढ़ाना चाहते। हमारे स्वराजी देश भाई शांति के उतने उपासक नहीं, इसी से घबड़ा कर चपलता के साथ, उन्होंने कदम आगे बढ़ाया, परंतु इस समय उनका जो बुरा हाल है उसे देखकर तरस आता है। नमक की खान में जा गिरे हैं और नमक के ढोके बन गए हैं। गए थे सरकार की नाक में दम करने के लिए, द्वैध शासन के अंजर-पंजर ढीले करके उसे मृत्यु-शय्या पर लिटा देने के लिए, परंतु इस समय स्वयं अपने अस्तित्व को बुरी तरह मिटा रहे हैं। मध्य प्रदेश के स्वराजी डॉ. मुन्जे, मि. राघवेंद्रराय आदि आज से बहुत पहले मंत्रिपद और सहयोग-प्रति-सहयोग नीति की ओर झुके हुए थे। उनकी रोक-थाम बहुत की गई। बाग बहुत कड़ी रखी गई, परंतु अब इस समय वे धम्म से जाल में गिरते दिखाई दे रहे हैं। बंगाल में द्वैध शासन का विध्वंस कर देने की घोषणा की गई थी, परंतु जिन्होंने समझा था कि हमने हाकिमों के इस खिलौने को कब्र में दबाते हुए, अपने हाथों से उस पर खाक डाल दी है, वही मंत्री बनने के लिए ललक रहे हैं, स्वराज्य कैम्प में एक खासी खलबली है और लोलुपता उनके कदमों को भी लड़खड़ा रही है। हवा का रुख तो बहुत पहले से बदल चुका था। वह बदल चुका था उसी समय से जब पं. मोतीलाल ने टाटा कंपनी के लोहे के व्यवसाय में मदद देने के लिए सरकार का साथ दिया और ब्रिटिश गायना से आए हुए इस देश के आदमियों को कुलीगीरी के लिए फाँसने की इच्छा रखने वाले

डेपुटेशन के सरकारी भोज में शिरकत फरमाई थी। बंगाल में भी बहुत पहले से रंग पलट चला था। स्वराज्य दल ने सरकार के सामने छोटी-छोटी शर्तें रखना आरंभ कर दिया था। आप राजनीतिक कैदियों को छोड़ दीजिए, आप बंगाल-ऑर्डिनेंस को उठा लीजिए, आप अमुक सुधार योजना के अनुसार काम करा दीजिए। ये क्या बात थी? क्या इन कामों के हो जाने से द्वैध शासन का अंत हो जाता? वर्तमान शासन-पद्धति का रूप बदल जाता? और शासन के उस पलटे हुए रूप में जनता की ध्वनि प्रतिध्वनित होती हुई दिखाई देती? होता कुछ भी नहीं, परंतु बाहर से लोगों को बिगड़ी बात का बना हुआ रूप दिखाने भर को यह ढंग अच्छा था। संक्षेप में स्वराज्य दल के सारे ऐंच-पेंच बेकार गए तथा अब वह वर्तमान शासकों के सामने कहीं पर दंड-प्रणाम कर रहा है और कहीं पर निराशा से भरी थोड़ी-बहुत लड़ाई लड़ रहा है। और, यह सब है परिणाम उस कार्यप्रणाली का, जिससे हमारे कार्यकर्ता अपने व्यक्तित्व, अपनी योग्यता, अपनी वाग्मिता का भरोसा तो बेहद करते हैं, परंतु उन्हें देश के महान् भविष्य और देश के करोड़ों व्यक्तियों की गुप्त और अविकसित शक्ति का भरोसा बहुत कम है। उनमें से कुछ के मन में यह बात भी अत्यंत बल के साथ काम करती हुई मालूम पड़ती है कि हमारे शासक अत्यंत बलवान हैं, हम उन्हें नहीं हटा सकते, वे सिर पर सवार रहेंगे ही, इसलिए अपने सिर को चट्टान से टकराने से क्या फायदा? जो इस विचार के हैं उनसे हमें कुछ भी नहीं कहना, परंतु जिन कार्यकर्ताओं के मन में इस विश्वास का अणुमात्र भी हो कि देश का साधारण आदमी घास-फूस से अधिक महत्त्व की वस्तु है, घास-फूस में लगी हुई आग तो केवल विनाश का काम कर सकती है, परंतु इस साधारण आदमी के कलेजे में दहक पड़ने वाली ज्वाला देश के घर-घर में प्रकाश पहुँचा सकती है और इस प्रकार अन्याय व अत्याचार के घोर अंधकार के लिए कोई गुंजाइश नहीं रख सकती, वे दया करके, अपनी दृष्टि अपने ऊपर से तथा अपने आस-पास की अवस्था से हटाकर देश के दूर-दूर स्थलों तक भी फेंकना सीखें। कॉउंसिल में आपके प्रस्ताव पास ही हो जाएँ तो क्या? आप सरकारी आय-व्यय के लेखे को ठोकर भी मार दें, तो उससे क्या? हमारे हाकिम कच्चे खिलाड़ी नहीं। उन्होंने फुसलाने को, दम-दिलासा देने को, कॉउंसिलों के नाम की बहस-मुबाहसा करने वाली समितियाँ खोल दी हैं। जाइए, वहाँ खूब व्याख्यान दीजिए, चुटकियाँ काटिए और नाराजगी

दिखाइए। कभी नाखुश हों, तो कभी-कभी, ढंग से, आप खुश भी कर दिए जाएँगे। आप समझते हैं कि आपको जो करना था, वह आप कर चुके। हमारे हाकिम समझते हैं कि अच्छा बेवकूफ बनाया। आप अधिक बिगड़ जाएँ, तो आप बिगाड़ ही क्या लेंगे? हमारे हाकिम जानते हैं कि इस जाल में घसीट लाने से बहुत लाभ हुआ है, खरी-खोटी सुननी पड़ती है, इससे अपना बिगड़ता ही क्या है, ये उपद्रवी लोग तो इस काम में फँसकर साधारण आदमी से दूर हो गए। इसलिए अब ये दूर तक आग फैलाने के काबिल नहीं रहे और यह भी हुआ कि साधारण आदमी के संसर्ग में रहने से जितने ये बलवान थे, उतने बलवान भी न रहे। प्रत्येक सरकारी आदमी इस बात को भली-भाँति समझता है। वह समझता है कि यदि मि. पटेल धमकी देते हैं कि सरकार रेलवे-बोर्ड का बेजा खर्च यदि बढ़ा देगी और प्रजा के हित का कोई खयाल नहीं रखेगी तो प्रजा ऐसा आंदोलन करेगी कि सरकार की नाक में दम हो जाएगा, तो इस धमकी में तनिक भी सार नहीं है। यह पूरी हो ही नहीं सकती। इन लोगों को साधारण प्रजा से अलग कर इन्हें शिमला और देहली के सोने के पिंजड़ों में चहकने की सुविधा देकर हमने इनके हाथ-पैर बाँध दिए हैं, ये चीखें चाहे जितना, कर ये कुछ नहीं सकते। हम अत्यंत नम्रता के साथ अपने इस प्रकार के देश-भाइयों से पूछते हैं कि हमने चित्र का जो रुख आपके सामने पेश किया है, क्या वह गलत है? हमारा नम्र निवेदन है कि हमारे कार्यकर्ता शक्ति के स्रोत साधारण जनता से दूर न हटते जाएँ। उन्हें अपने व्यक्तित्व, अपनी योग्यता और अपने रटे हुए शब्द-आदर्शों का मोह अधिक पथ-भ्रष्ट न करे, वे देश की आजादी के स्पष्ट लक्ष्य से दूर न होते जाएँ। साधारण आदमियों की सामूहिक शक्ति के विकास और उसके संगठन के बिना हम अपने लक्ष्य को कदापि प्राप्त न कर सकेंगे। यह विकास और संगठन देश के झोंपड़ों के लिए काम करने ही से हो सकता है। जब गाँव का गरीब आदमी देखेगा, आपके उद्योग से उसके बेगार के कष्ट दूर हो गए, उस पर पुलिस एवं जमींदार के अत्याचार कम हो गए, उस पर बीमारियों व आपत्तियों के प्रहार कम हो गए, तो वह आपके आदेश के अनुसार देश के कल्याण के लिए अपनी भावनाएँ तथा शक्तियाँ श्रद्धा और प्रेम के साथ अर्पित कर देगा। उस अपार बल को पाकर आप देश के शासकों ही का क्या, किसी का भी मुकाबला कर सकेंगे। ऐसे बड़े शुभ और आवश्यक काम को छोड़कर कॉउंसिल

और सहयोग प्रति सहयोग के साधारण काम में देश के कार्यकर्ताओं का बल क्यों लगे? हमारे मॉडरेट देश-भाई, हमारे सर तेजबहादुर, मि. चिंतामणि और पं. कुँजरू इस काम को कहीं अच्छी तरह सँभाल सकते हैं, हमारे अधिक क्रियाशील आदमी उस काम में लग कर तथा इस बड़े काम से अलग रहकर लक्ष्य से दूर क्यों हटते जाएँ!

'प्रताप', 2 मार्च, 1925



लक्ष्य से दूर

हिंदुओं की कूपमंडूकता

हिंदुओं की शिथिलता देखकर हृदय में व्यथा होती है। कितना बड़ा समुदाय है! कितनी शक्तियाँ उसमें निहित हैं! कितनी बड़ी पूँजी उसके पास है! परंतु सब बेकार! उनकी वह दुर्दशा है जो न देखी और न सुनी ही, दिल व दिमाग पर निर्जीविता का राज्य है। अंग-प्रत्यंग टूक-टूक होते जाते हैं। पहाड़ की सी विपत्तियाँ सिर पर मँडराती हैं, परंतु उन्हें कुछ दिखाई ही नहीं देता। घटनाएँ भयंकर रूप धारण करके खोपड़ी को चकनाचूर करने के लिए आगे बढ़ती आती हैं, परंतु हमारे बुद्धि-विशारदों की समझ में कुछ आता ही नहीं, यही समझे बैठे हैं कि कहीं कुछ भी नहीं होता। और यदि कुछ हो भी रहा है, तो वह सब अनुकूल ही हो रहा है और आगे भी जो कुछ होगा वह भी क्या मजाल कि हमारे प्रतिकूल हो जाए। मूर्खों का स्वर्ग है, जिसमें ये बुद्धि निधान विचरण करते हैं। इनकी दशा को देखकर यदि कोई यह कहे कि इन्हें पक्षाघात हो गया है, तो बेजा न होगा और कोई यह समझे कि अब इनके संसार में रह सकने के दिन समाप्त हो गए, तब भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिस घटना पर हमारे मन में ये भाव इस समय उठ रहे हैं, वह है वह वातावरण जिसके नीचे कलकत्ता में हिंदू महासभा का अधिवेशन हुआ। आरंभ से ही कुछ लोग उठे—कुछ धर्म-ध्वजाधारी मारवाड़ी सज्जन! उन्हें बड़ा कष्ट हुआ था, उन्हें धर्म रसातल में जाता हुआ दिखाई दे रहा था, क्योंकि हिंदू सभा ने दलित हिंदुओं को भी मनुष्यों की श्रेणी में रखने का साहस किया था। उन्हें यह पसंद न था कि कलकत्ता की पवित्र भूमि में हिंदू सभा का यह अधिवेशन हो या यह कहिए कि उन्हें यह पसंद न था कि जो सभा हिंदू सभा कहलाए, वह दलित लोगों की हिमायत करने की हिम्मत करे, परंतु इन बेचारों के मन की न हुई।

हिंदू सभा का अधिवेशन हुआ। उसके स्वागत का भार आचार्य पी.सी. राय पर था, जो बेचारे वैसे तो साधुता की चलती-फिरती मूर्ति से हैं, परंतु हमारे धर्म-प्राण सज्जनों की दृष्टि में कुंद हैं, ऐसे कि उन्हें ठीक-ठीक हिंदू नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर महासभा के अध्यक्ष लाला लाजपतराय भी कुछ इसी प्रकार के प्राणी थे। कलकत्ता की धर्म-कसौटी पर तो वे भी खरे नहीं उतर सकते, न मालूम किन-किन देशों का जल पी चुके। और कहाँ-कहाँ तथा क्या-क्या खा चुके। अधिवेशन में लोग पहुँचे भी खूब। प्रस्ताव भी बहुत से पास हुए। परंतु दब-दबकर। मोटी-मोटी बातें ही तय हुई। जिनकी दृष्टि देश भर की गति की ओर है, जो यह देख रहे हैं कि दूसरे समुदाय कितना बढ़ते चले जाते हैं, और जो देखते हैं कि सामाजिक संगठन एवं कल्याण के लिए संसार के अन्य देशों में क्या किया जा रहा है और वहाँ मनुष्य को छोटे-छोटे बंधनों से निकालकर उसे सुखी बनाने के कैसे-कैसे आयोजन हो रहे हैं, वे तो हिंदू सभा के इस प्रयास को देखकर यही कहेंगे कि जो कुछ हुआ, वह कुछ भी नहीं के बराबर है। इस युग में ये समझदार लोग बड़े उत्साह के साथ बैठकर इस बात को तय कर रहे हैं कि जो लोग मनुष्य के नाम से ही पुकारे जाते हैं, परंतु जो अपने पूर्व पापों के संचय के कारण भारतवर्ष में उत्पन्न हुए और इस देश में उत्पन्न होकर, उत्पन्न नहीं हुए उच्च जातियों में तथा ईसाई एवं मुसलमान के यहाँ, बदकिस्मती से उत्पन्न हुए हिंदुओं की नीची जातियों में, उन्हें पानी के लिए कुओं पर चढ़ने दिया जाए या नहीं, देवदर्शन के लिए देवता के चरणों में श्रद्धा की अंजलि चढ़ाने के लिए, मंदिर की परिधि के भीतर पैर रखने दिया जाए या नहीं? बडे-बड़े दिमाग वाले इन बातों पर विचार करते रहे, और बीच-बीच में इस भय से कि कहीं आकाश टूटकर पृथ्वी पर न आ गिरे, दूसरे से कहते जाते थे, "शांति के साथ आगे बढ़ें, जल्दी न करें, नहीं तो काम बिगड़ जाएगा।" जैसे-तैसे करके, अपने मन को संतोष देने के लिए तथा इसलिए कि दूसरों के भी आँसू पुछ जाएँ, हिंदू जाति के दिग्गजों ने कुछ बातें तय कीं। समस्त कार्यवाही एक ऐसी मानसिक अवस्था का परिचय देती है जिसका पोर-पोर जंजीरों से कसा हुआ है या जिसका एक-एक कण वायु के ताजे झकोरों को झेलने से झिझकता है, किंतु कूपमंडूकता की हद तो उस समय हुई, जब इधर हिंदू सभा के अधिवेशन का अंत हो रहा था, उधर उसी समय विशुद्धानंद विद्यालय में बिगड़े हुए मारवाड़ी सज्जनों ने पं. दीनदयालु

हिंदुओं की कूपमंडूकता

विद्यावाचस्पति और उनके विद्वान् पुत्र की संरक्षता में हिंदू सभा पर सनातन धर्मावलंबियों के अविश्वास का प्रस्ताव पास किया। इनकी समझ से मानो हिंदू सभा के इस अधिवेशन में युगांतर उपस्थित कर देनेवाली बातें हो गई थीं। इसी कारण आज तक हिंदू सभा के बड़े भारी कर्णधार कहे जानेवाले पं. दीनदयालुजी को हिंदू सभा के विरोध में जोर लगाने की आवश्यकता आ पड़ी। इस विरोध का यथार्थ नेतृत्व पं. दीनदयालुजी को प्राप्त है, या 'हिंदू संसार' के कुँवर गणेश सिंहजी को या दरभंगा के महाराज को, जिनकी थैलियाँ इस समय वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के कार्य के लिए खुली हुई हैं या उन मारवाड़ी सज्जनों को जो पहले ही से बिगड़े बैठे थे और जिन्हें इस समय पं. दीनदयालु जैसे दिग्गज साथी मिल गए, यह अभी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। हिंदू सभा के अधिवेशन में हिंदू संगठन के लिए कुछ रुपया जमा हुआ था। विशुद्धानंद विद्यालय में जो यज्ञ हुआ उसमें भी कुछ रुपया सनातन धर्म की रक्षा के लिए इकट्ठा हुआ। ब्राह्मण कुल भूषण पं. दीनदयालुजी ने कहा, धन इकट्ठा कर डालो, बस धर्म रक्षा के लिए प्राण मैं लगा दूँगा। धन के बिना धर्म की रक्षा हो ही नहीं सकती। जो ब्राह्मण धर्म की रक्षा के लिए त्याग और तपस्या का अस्त्र अपने हाथों में धारण किया करते थे, वे इस समय धनपतियों की मान-रक्षा तथा उनका मन रखने के लिए धर्म का नाम लेकर चाँदी की टिकियों से खेलना ही त्याग और तपस्या समझते हैं। सनातन धर्म के इन रक्षकों का यह विरोध इस बात को स्पष्ट रूप से देश भर के सामने रखता है कि देश के इतने बड़े भारी समुदाय के हित के लिए, यदि कोई छोटी-से-छोटी नई बात का निश्चय भर किया जाए, तो उसका विरोध कैसे-कैसे सुशिक्षित और प्रभावशाली लोग किस प्रकार करने के लिए तुल बैठते हैं। वे धर्म की रक्षा के नाम पर उसका विरोध करते हैं, किंतु धर्म की रक्षा का ख्याल लोगों में है कहाँ? यह विरोध होता है या तो पड़े हुए स्वभाव व पुरानी परिपाटी के कारण या फिर होता है बहती गंगा में हाथ धोने और स्वार्थवश अपने को अधिक प्रतिष्ठित और दूसरों को हेय एवं तुच्छ बनाए रखने के लिए। वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा की दुहाइयाँ दी जाती हैं, परंतु वर्णाश्रम-धर्म है कहाँ? कितने लोग आश्रमों का पालन करते हैं? कितने लोग अपने वर्ण-धर्म के अनुसार कार्य करते हैं? यदि इस समय कोई ऐसी व्यवस्था हो सके जो बल के साथ में जहाँ जिसका स्थान है, वर्ण की श्रेणी में वहाँ उसे बैठा सके-केवल जन्म के कारण ही नहीं, गुण

के कारण भी, तो इस समय जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दिखाई पड़ते हैं, उनमें से अधिकांश हमारे दलित भाइयों से भी नीचे बैठाए जाने के योग्य सिद्ध होंगे। वे उँगलियों पर गिने जा सकेंगे। दरभंगा-नरेश व्यापारी होने के कारण वैश्यों की श्रेणी में बैठे दिखाई देंगे और उनके धर्मोपदेशक पैसे वालों के इशारे पर नाचने के कारण शूद्रों की श्रेणी में। ऐसे अवसरों पर वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा की दुहाई देना अपने को धोखा देना है और साथ ही दूसरों को भी। अछूतों के संबंध में यदि हिंदू सभा ने एक हलका सा कदम आगे बढ़ाया भी, तो इससे बिगड़े हुए वर्णाश्रम का और अधिक क्या बिगड़ जाएगा? यथार्थ में हिंदू सभा के इस निश्चय के अनुसार काम होने पर यदि किसी का सबसे अधिक भला होगा, तो वह होगा सनातनधर्मियों ही का क्योंकि लड़के और लड़कियाँ भगाई जाती हैं, तो सनातनधर्मियों ही की, और नीच जाति के आदमी हिंदू समाज से बाहर जाते हैं, तो वे जाते हैं सनातन धर्म की सीमा ही से। हिंदुओं का और कोई भी समुदाय चुपचाप इतनी चोटें नहीं खाता, जितनी सनातनधर्मी अपने अज्ञान और निर्बलता के कारण प्रतिदिन खाते हैं। इस पर भी ये सनातनधर्मी दिग्गज हिंदू सभा के विरुद्ध अपना असंतोष प्रकट करते हैं। कितनी उलटी समझ है। हिंदू सभा केवल सनातनधर्मियों की सभा नहीं है। हिंदुओं के अन्य संप्रदायों का भी उसमें समावेश है। इसलिए सनातनधर्मी यह चाहें भी, क्योंकि हिंदू सभा उनके हाथों ही का खिलौना रहे। यदि हिसाब लगाया भी जा सके, तो सनातनधर्मियों ही में इस प्रकार के आदमियों की संख्या निश्चयात्मक रूप से बहुत अधिक निकलेगी, जो उस दलितोद्धार के पक्ष में होगी, जिसे हमारे ये धर्म-दिग्गज सनातन धर्म का ह्रास मानते हैं। लगभग सभी शूद्र जिनकी तादाद अधिक है और जिन्हें सनातन धर्म की परिधि में समझा भी जाता है, विशुद्धानंद विद्यालय में विचारवान धर्म रक्षकों के विरुद्ध बैठेंगे। हिंदू जाति के कल्याण के भाव से प्रेरित होकर हम अपना यह विनम्र निवेदन अपने समस्त हिंदू पाठकों की सेवा में पहुँचाते हैं कि जैसा ढंग इस समय है वह अधिक समय तक नहीं चल सकता। जो लोग इस समय 'दलित' कहे जाते हैं, वे इस दशा में नहीं रह सकते। कुछ काल के पश्चात् उनका रुख बदलेगा। इस समय श्रीयुत नृसिंह चिंतामणि केलकर के कथनानुसार 2000 हिंदू प्रति सप्ताह ईसाई होते हैं। मुसलमान भी धड़ाधड़ हो रहे हैं। यह सब होता है नीच जातियों में से। यदि हिंदुओं की शिथिलता घटी नहीं, और उनमें

हिंदुओं की कूपमंडूकता

न्याय का भाव जागा नहीं, तो छोटी जातियों के सब लोग जो आज हिंदू जाति के अंग हैं उससे कट-कटकर अलग जा पड़ेंगे, ईसाई या मुसलमान हो जाएँगे। हम ईसाइयत या इस्लाम को बुरा नहीं समझते। यदि कोई हिंदू, धर्म के लिए (आत्मा की प्यास के लिए-सं.) मुसलमान या ईसाई होना चाहे, तो हम उसे कदापि बुरा न कहेंगे, परंतु दलितों का ईसाई या मुसलमान होना धर्म के लिए नहीं होगा। वे ईसाई या मुसलमान होंगे, हिंदू समाज द्वारा दलित होने के कारण। हिंदू लड़के या लड़कियों को फुसला और बहकाकर भगाया जाना व उनका दूसरे धर्मों में प्रवेश कराया जाना, घृणित और निकृष्ट काम है, परंतु उससे भी अधिक भयंकर और नैतिक पतन की ओर ले जाने वाला काम है दलितों का दलन तथा विधवाओं की दुर्दशा। तलवार की नोक से आप उन्हें ढकेलते हैं। आत्मा की प्यास बुझाने के लिए कोई कहीं जाए, इसमें बुराई क्या! परंतु आत्मा का प्रत्येक कण दहल उठता है इस भीषण अवस्था को देखकर कि साधारण से साधारण सांसारिक सुविधाओं के लिए इस देश के लाखों स्त्री-पुरुषों को अपने जन्म के वातावरण को छोड़ना पड़े तथा ऐसी परिस्थितियों में चला जाना पड़े, जहाँ से वे अपने पहले के साथियों के प्रति शत्रुता एवं विरोध के सिवा और कोई स्नेह-भाव रख ही न सकें। हिंदू समाज के किसी-किसी स्थल में बड़ी विषमता है, विष का राज्य है, ऐसा विष जो गला घोटता और दृष्टि मारता है, जो अपने को पराया ही नहीं, अपना शत्रु तक बना देता है, जो स्वाभाविकता को अस्वाभाविकता का रूप देता तथा स्वाभाविक दोषों के लिए क्रूर दंडों के लिए आयोजन करने का भार, अधिकांश में प्रपंच व आडंबर करने वालों के हाथों में देता है! इस अवस्था की भीषणता और भी अधिक बढ़ जाने के पहले ही यदि समझदार हिंदू इस परिस्थिति पर अच्छी तरह सोच-समझ लें और कोई साहसयुक्त निर्णय करके उसके अनुसार अपना जीवित पग आगे बढ़ा दें, तो अब भी बिगड़ी हुई बात सँभल जाए तथा इस देश में हिंदुओं की रक्षा के साथ ही बहुत सी भयंकर भावनाओं का अंत हो जाए। यदि सनातनधर्मी दलितों के उद्धार के प्रश्न में धर्म की हानि मानते हैं, वे समझते हैं कि पूर्वजन्म के पापों के कारण लोग नीच जाति में उत्पन्न होते हैं और अच्छा कर्म करेंगे, तो आगे चलकर अच्छी जाति में उत्पन्न होंगे, इसलिए वे वहीं पड़े रहें जहाँ पड़े हैं, तो हिंदुओं के दूसरे संप्रदाय क्यों अंधे बने रहें! वे क्यों न इन लोगों को अपने में मिलाने के लिए आगे बढ़ें? परंतु यह कहते हम हिचकते हैं, क्योंकि

आर्यसमाजी जाति-पाँत के झंझटों और जनेऊ की पवित्रता तथा वर्ण की दलदल में बहुत फँसे हुए हैं। वे बेचारे जोर मारते हैं, परंतु उलझनें उन्हें पीछे घसीट ला डालती हैं तथा दलित लोगों में से जो उनके पास पहुँचते, उन्हें श्रेष्ठ वर्ण के बनने और जनेऊ धारण करने की हवस व्यर्थ ही बेतरह तंग किया करती है। आवश्यकता तो ऐसे रास्ते की है जो इतना चौड़ा हो कि मि. नायर को, जो मद्रासी हिंदू हैं और जो वहाँ के अत्याचारों से तंग आकर मुसलमान बनने जा रहे हैं तथा म. गांधी को भी इस लाभ के प्रशस्त पथ की दावत दे रहे हैं, वे तक यह कह उठें कि इसके समान चौड़ाई कहीं है ही नहीं। हमारे भक्ति-मार्ग में यह बात है। सिखों का मार्ग भी प्रशस्त है। वहाँ भी श्रेणियों के भीतर श्रेणियाँ नहीं हैं। यदि हिंदुओं के इस प्रकार के समुदाय आगे बढ़ें, जैसा कि यदि वे जीवित रहना चाहते हैं, तो ये उनका आगे बढ़ना अनिवार्य सा हो जाएगा, तो फिर सनातनधर्मी कम-से-कम यही करें कि अपनी ऊँची जातियों को गले से लगाए रहें और इन समुदायों के पथ के बाधक न बनें। वे दिलों में इतनी गुंजाइश ही पैदा कर लें कि हिंदू सभा ऐसी संस्थाओं में दूसरे हिंदुओं के साथ हिंदुत्व और देश-कल्याण के नाम पर हँसी-खुशी के साथ, हाथ मिलाए हुए ही चल सके।

'प्रताप', 20 अप्रैल, 1925



हिंदुओं की कूपमंडूकता

आदि हिंदू आंदोलन

इस ओर, उत्तरी भारत में, एक नए आंदोलन का जन्म हुआ है। उसे हम 'आदि हिंदू आंदोलन' के नाम से पुकार सकते हैं। उसका उद्देश्य यह है कि हिंदुओं में जो लोग नीच जाति के समझे जाते हैं और इसलिए समाज के अनेक क्षेत्रों में आगे नहीं बढ़ पाते, उनके विकास एवं उन्नति के लिए उनका पृथक् संगठन किया जाए। दक्षिणी भारत और महाराष्ट्र में इस प्रकार का कुछ काम हुआ है। वहाँ ब्राह्मण और अब्राह्मण दो दल पैदा हो गए हैं। अब्राह्मण ब्राह्मण से बिलकुल अलग और ब्राह्मण अब्राह्मणों से कोसों दूर। अभी तक उत्तरी भारत में भेद की यह रेखा नहीं खिंची थी। अब यहाँ भी इसका जन्म हुआ है, देहली से लेकर कानपुर तक यह नई रेखा खिंच सी गई और आगे भी खिंचती ही जाएगी। आगरा, इटावा और कानपुर जिले में कुछ लोग इस दिशा में काम कर रहे हैं। काम अधिकतर चमारों ही में हो रहा है। स्वामी हरिहरानंद उर्फ अछूतानंद नाम के एक सज्जन इधर इस काम के प्रधान सूत्रधार हैं। कुछ लोग कहते हैं, स्वामीजी पहले चमार थे, फिर ईसाई हुए और फिर शुद्ध होकर इस आंदोलन के कर्ता-धर्ता बने। लोग यह भी कहते हैं कि वे अधिकारियों से मिले हुए हैं और उनके इशारे व सहायता पर हिंदुओं में फूट डाल रहे हैं, तथा नीच जातियों को ऊँची जातियों से लड़ा रहे हैं। पता नहीं इन सब बातों में कितनी सच्चाई है। सच्चाई हो भी तो इससे इस आंदोलन के गुण और दोष में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसलिए हमें व्यक्तिगत बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है ही नहीं। हमें आंदोलन की आवश्यकता, अनावश्यकता और उसकी भली एवं बुरी दिशाओं ही पर विचार करना चाहिए। इस बात को कौन अच्छा नहीं कहेगा कि जो लोग अभी तक दबे पड़े हुए हैं और देश के लिए बोझ के

सदृश हैं, वे अब उठें तथा अपने पैरों पर खड़े होकर देश के आगे बढ़ने में मददगार बनें। यदि चमार, धानुक, मेहतर आदि नाम से पुकारे जानेवाले लोग अपनी दशा सुधारने के लिए उद्योग करते हैं, शिक्षा-प्रचार, साफ रहने व इज्जत के साथ रहने की अभिलाषा करते हैं, और जो घृणा एवं उदासीनता उनके प्रति अन्य लोग दिखाते हैं उसे वे बुरा मानते हैं, तो हम कहेंगे यह सब अच्छा है और इसके लिए जो लोग प्रयत्न कर रहे हैं, वे समस्त देश-हितैषियों की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं, परंतु कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनके संबंध में हमारी प्रार्थना उनसे यही है कि वे सोच-समझकर काम लें, और अनीति से अनीति मेटने का प्रयत्न न करें। भूतकाल की क्रूरता की कहानियाँ याद करके उन पर अब दाँत पीसना व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक तक है। किसी समय में की गई अनीति सदैव अनीति ही के नाम से पुकारी जाएगी, परंतु जिन पर अनीति हो, वे यथार्थ में, उसे अनीति उसी समय से समझते हैं, जब से वे उसे बुरा मानने लगते हैं। इसी प्रकार शूद्रों पर प्राचीनकाल में जो अन्याय हुआ, वह अन्याय है, परंतु इस समय यदि शूद्र लोग उस अन्याय पर रोष करें, तो वह बहुत ठीक नहीं। इस समय तो यही समझना ठीक होगा कि पुरानी बातें पुराने समय के साथ गईं। इस समय जो बातें हैं, उन्हीं पर सोचने और समझने की आवश्यकता है। अन्याय करने वाला अकेला ही दोषी नहीं होता, उसके साथ दोषी वह भी है जिस पर अन्याय हो, क्योंकि वह अपनी दुर्बलता से अन्याय करने वालों को अन्याय का अवसर देता है। यदि प्राचीनकाल के लोग अन्यायी भी हों, तो इसका दोष उन पर भी, जिन पर अन्याय हुआ। दोष और पाप के पुराने हिसाब की जाँच-पड़ताल में सिर मारने की अपेक्षा अच्छा तो यही है कि जो अन्याय इस समय हो रहे हैं उन्हीं पर विचार तथा उनके उन्मूलन का प्रयत्न किया जाए। पुराने हिसाबों की जाँच-पड़ताल में न केवल कटुता ही बढ़ने का डर है, भ्रम फैलाने वाली बातों के फैल जाने का भी बहुत डर है। आदि हिंदू आंदोलन के कार्यकर्ता अपने को आदि हिंदू कहते हैं। वे कहते हैं कि इस देश के बाहर से आर्यों ने आकर इस देश के निवासियों को दबा डाला और हमें अपना गुलाम बना लिया। वे कहते हैं, जानवरों से बदतर रखकर म्लेच्छ, चांडाल, दस्यु, दैत्य, दानव, राक्षस, असुर आदि नाम रखकर हमें सताया। तब इन अत्याचारियों के दमन के लिए पश्चिम से आँधी की भाँति मुसलमानों का दल बादल आया, पापियों

की गरदनें काटी गईं, जनेऊ तोड़े गए, जिन मंदिरों में शूद्र, अछूत, घुसने नहीं पाते थे वे ढाए गए, अन्याय से पैदा धन लूटा गया, उनकी औरतें-बच्चे गजनी के बाजारों में टके-टके को लौंडी-गुलाम की तरह बेचे गए। यह सब अछूतों पर किए गए, जुल्म का फल न था, तो हे भगवान! कौन से पाप की सजा थी? इन विचारों में निःसंदेह कटुता है और जैसी दशा है उससे इस कटुता का होना अस्वाभाविक भी नहीं, परंतु रोष इतना तो न बढ़े कि अनर्थ के उत्तर में अपने हाथों से अनर्थ होने लगे। आदि हिंदू आंदोलन के कार्यकर्ताओं की विज्ञप्ति से जो वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं, वे इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओं की बेदर्दी के साथ की गई तोड़-फोड़ के नाम से भी पुकारे जा सकते हैं। अच्छा हो, इतिहास की इतनी गहरी और पुरानी खंदक में गोते न लगाए जाएँ। मौजूदा हालत ही ऊँची जातियों के अन्याय सिद्ध करने के लिए क्या कम है? यदि हर तरह से यह मान लिया जाए कि इस देश में आर्य लोग बाहर से आए थे, तो भी यह साबित कर सकना कि आर्यों का एक बड़ा हिस्सा शूद्रों में शामिल नहीं हो गया और इस देश में इस समय ऐसे लोग अधिक संख्या में मौजूद हैं जिनका रक्त इतना शुद्ध है कि वे बेखटके इस देश के आदि निवासी कहे जा सकते हैं, असंभव है। प्राचीनकाल में यहाँ नीच जातियाँ दबी पड़ी थीं, परंतु किस देश में वे ऐसी न थीं? कहाँ, गुलामी न थी? कहाँ ऊँच और नीच का भेद न था? कहाँ जन्म से लोग बड़े न माने जाते थे? कहाँ उच्च जातियों का रक्त अत्यंत शुद्ध न माना जाता था? जिन अंग्रेजों की उदारता का बखान करते हुए आदि हिंदू आंदोलन के कार्यकर्ता नहीं अघाते, वे ही अभी-अभी कुछ वर्षों के पहले तक गुलामी की प्रथा को मानने वाले थे और इस समय भी वे और अन्य गोरे देश वाले, संसार के काले-भूरे आदमियों को अल्ला मियाँ के यहाँ से अपनी गुलामी के पट्टे में बँधा हुआ मानते हैं। मुसलमानों की चढ़ाई और हिंदुओं की स्वाधीनता के नाश का कारण अछूतों के प्रति किया गया अन्याय भी हो सकता है, परंतु यही केवल एक कारण नहीं है। बौद्ध धर्म के कारण, जिसने जाति-पाति तोड़कर चांडाल तक को ब्राह्मण की पंक्ति में ला बैठाया, हिंदुओं का नीच जातियों के प्रति किया गया अन्याय आप से आप कुछ हलका पड़ गया था। मुसलमानों के हमले के पहले और उसके बाद भी हिंदुओं में इस प्रकार के अनेक संप्रदाय और समुदाय आप-से-आप उत्पन्न हो गए, जिन्होंने वर्ण-धर्म को नहीं माना

और भक्ति का मार्ग खोलकर समाज में सबको समान रूप से स्थान दिया। इस समय भी इस प्रकार के अनेक संप्रदाय मौजूद हैं। हिंदुओं का नीच से नीच व्यक्ति प्राचीन एवं आधुनिक काल के हिंदुओं और उनके अन्यायों की याद करके उन पर गालियों की वर्षा करने तथा सदा इस संदेह से कि उच्च जाति के हिंदू यदि हमारे उत्थान के लिए कुछ करते हैं, तो करते हैं कुछ मतलब से, अपने चित्त को व्यथित रखने की अपेक्षा उन संप्रदायों के प्रशस्त मार्ग से लाभ उठावें। इस गिरी हुई अवस्था में भी प्रशस्त हिंदू समाज में सुविधाओं की उतनी कमी नहीं है, जितनी कि दृढ़ता के साथ उनसे लाभ उठाने की इच्छा की। आदि हिंदू आंदोलन के कार्यकर्ता दो दिशाओं की ओर बार-बार दृष्टि फेंकते हैं। एक तो मुसलमान तथा ईसाई समाज की ओर और दूसरी गवर्नमेंट की तरफ। यदि उनमें से कुछ लोग ईसाई और मुसलमान होना चाहते हैं, तो हमें इससे अधिक कोई आपत्ति नहीं है कि यदि यथार्थ में उनकी आत्मा को इस्लाम और ईसाइयत से शांति मिलती है, तो वे खुशी से ईसाई व मुसलमान हो जाएँ और यदि वे सुविधाओं के लिए ईसाई और मुसलमान होना चाहते हैं, तो हम कहेंगे कि वे बड़ी भूल करते हैं। वे थोड़ा सा उद्योग करें, हिंदू समाज ही में उन्हें सब उचित और आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हो जाएँगी, और केवल सुविधाओं के लिए दूसरे संप्रदायों की शरण ग्रहण करना चरित्र-शून्यता को प्रबल होने देना है; और बढ़ने देना है। देश-हित के विरुद्ध उन भावनाओं का जो कि इस समय मुसलमान और ईसाई समाज में भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध पड़ रही हैं। सरकार की मेहरबानी की भीख माँगते फिरना, मूर्खता है। कुछ आदमियों के ऊँचे पदों के पा जाने से या कॉउंसिलों में सरकारी कृपा की बदौलत कुछ स्थान प्राप्त कर लेने से, जाति के करोड़ों आदमियों का कोई भला न होगा और जो दो-चार आदमी इस प्रकार लाभ उठाएँगे, वे अपने को बलवान बनाए रखने के लिए तथा जाति के ना-समझ आदमियों को अपनी मुट्ठी में रखने एवं अपने मतलब के हल करने के लिए, उनके जोश से काम लेने के लिए, देश के अन्य समुदायों से उन्हें सदा लड़ाते, अपनी जाति को सदा भड़काते और देश की जड़ पर सदा कुल्हाड़ी चलाते रहेंगे।

'प्रताप', 27 अप्रैल, 1925

•

आदि हिंदू आंदोलन

अंग्रेजी डींग

"भारतीय समस्या के संबंध में खास बात यह है कि आज से सदियों पहले हम (अंग्रेज) भारतवर्ष में इसलिए पहुँचे कि अपनी तलवार की तेज धार के बल से उन झगड़ों को मिटा दें, जो भारतीय सभ्यता का विनाश कर रहे थे। हम इसी आधार पर भारतवर्ष गए और इसी आधार पर हम भारतवर्ष पर इस समय अधिकार किए हुए हैं। यह सत्य है कि यदि आज हम भारतवर्ष को छोड़ दें, तो भारतवर्ष में हत्याओं और उत्पातों का वैसा ही राज्य हो जाए जैसा कि क्लाइव के समय में था। समय ने जो भार अंग्रेजों पर डाल दिया है उसके प्रतिष्ठापूर्वक निभाने के संबंध में प्रत्येक अंग्रेज का, चाहे वह किसी दल का हो, इसके सिवा दूसरा कोई भी मत नहीं हो सकता।"

ये भारत-सचिव लॉर्ड बरकेनहेड के शब्द हैं। 30 जून को एक भोज में लॉर्ड बरकेनहेड ने इन शब्दों का उच्चारण किया। समाचार भेजने वाली अंग्रेज कंपनी ने इन शब्दों को तुरंत तार द्वारा इस देश में भेज दिया। प्रत्येक समझदार भारतवासी इन शब्दों पर विचार करे। ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो विजयी सिकंदर या नेपोलियन अपने ऊँचे आसन से विजित लोगों की ओर मुँह करके बोल रहा है।

हम गड़े मुरदों को उखाड़ना पसंद नहीं करते। हम जातीय संघर्ष की पुरानी कथा को लेकर बैठ जाना भी आवश्यक नहीं समझते। अंग्रेजों को हम बुरा नहीं समझते। हम उनकी जाति को एक बड़ी जाति मानते हैं। वे वीर हैं, बुद्धिमान हैं, उद्योगी हैं और व्यवहार-चतुर हैं, किंतु हमारे चित्त पर उनके इन गुणों की ऐसी कोई धाक नहीं छा गई कि उनकी बुरी बातों को भी हम अच्छी कहने लगें, और जब वे डींग मारते हों और हमें अकारण ही हेय समझते हों, तो हम उनकी हाँ में हाँ मिलाएँ।

सदियों पहले अंग्रेज इस देश में अपने पड़तले में तलवारें डालकर नहीं आए थे। वे पोटलियाँ बाँधकर आए थे, जिनमें शीशे, कंघे, हल्दी-धनियाँ आदि मसाले की चीजें बँधी हुई थीं और जिन्हें वे इस देश की गलियों में घूम-घूमकर बेचते फिरते थे। क्षत्रिय नहीं, वे वैश्य बनकर इस देश में आए थे। तलवार का जोर दिखाने नहीं, भारत की स्वर्ण भूमि से कुछ सोना-चाँदी लेकर अपनी उदर-दरी भरने आए थे। यह ठीक है कि यहाँ क्लाइव के समय में उत्पात होते थे और बड़ी अशांति थी। यदि ऐसा न होता, तो इस समय इस देश पर अंग्रेजी शासन होता भी नहीं। यह देश सदा उत्पातों का स्थान नहीं रहा। बड़े-बड़े साम्राज्य यहाँ थे और उनमें से एक मुगल साम्राज्य भी था, जिसके समय में यूरोप वाले इस देश में आए थे और जिसके सम्राटों के चरणों में लॉर्ड बरकेनहेड के तलवारबंद अंग्रेज अपने सिर झुकाना गौरव की बात समझते थे तथा जिसके फरमान तक के स्वागत के लिए वे सैकड़ों तोपों की सलामी देना व सैकड़ों मील आगे बढ़ना अपना कर्तव्य समझते थे। इस देश में उत्पात होते थे, किंतु किस देश में उत्पात नहीं हुए और आगे नहीं हो सकेंगे? यदि एक समय में उत्पात हुए तो क्या सदा होते रहते? यदि अंग्रेज न आते, तो क्या वे आज तक बंद ही न होते? लड़कों की सी बातें करने या लोगों की आँखों में धूल डालने से इतिहास और समय की यथार्थ गति के ज्ञान पर परदा नहीं पड़ सकता। कहा जा रहा है कि क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स ने इस देश की सभ्यता की रक्षा की, परंतु उनकी और उनके साथियों ने जो क्रूर करतूतें कीं उनसे देश हड़पे जा सके थे, उन पर अंग्रेजी झंडा गाड़ा जा सका था, सभ्यता या उसका त्राण तो उससे कोसों दूर की बात थी। लॉर्ड बरकेनहेड प्रत्येक अंग्रेज को भारतवर्ष के लिए खुदाई फौजदार मानते हैं। वे समझते हैं कि यदि आज अंग्रेज इस देश में न रहें, तो इस देश पर आफत का पहाड़ ढा जाए और इसलिए प्रत्येक अंग्रेज इस धरोहर की ईमानदारी के साथ रक्षा करेगा। यह कोरी डींग है। किसी के न रहने से संसार के कामों में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता। यदि अंग्रेज यहाँ से चले जाएँ, तो भारतवर्ष पर गाज नहीं फट पड़ेगी। उत्पात सदा होते न रहेंगे। कोई देश किसी दूसरे देश की धरोहर नहीं हुआ करता। ईश्वर एक देश का पट्टा दूसरे देश को लिखकर नहीं दे दिया करता। भारतवर्ष का भार अंग्रेजों को कहीं बाकायदा सौंपा नहीं गया था, अचानक उन्हें इतना बड़ा देश पड़ा सा मिल गया था।

'प्रताप', 6 जुलाई, 1925

•

अंग्रेजी डींग

प्रांत के लिए भयंकर समय

इस प्रांत पर इस समय एक काली घटा छाई हुई है। प्रांत के कितने ही मुख्य-मुख्य कांग्रेस कार्यकर्ता अचानक गिरफ्तार किए जा चुके हैं। हर रोज गिरफ्तारी की खबरें आ रही हैं। पता नहीं कि कब तक गिरफ्तारियों का ताँता लगा रहे, यह भी नहीं मालूम कि किन-किन लोगों को गिरफ्तार किया जाएगा। फिर गिरफ्तारियों का जो ढंग है उसे देखकर इस प्रांत का कोई भी कांग्रेस कार्यकर्ता अपने को इस समय एक मिनट के लिए भी धर-पकड़ से सुरक्षित नहीं समझ सकता। जो लोग पकड़े गए हैं, वे क्यों पकड़े गए, इसका अभी तक कोई ठीक-ठीक पता नहीं, अंदाजे लगाए जा रहे हैं। गिरफ्तारी के वारंटों पर फौजदारी कानून की दो दफाओं का उल्लेख है। एक तो दफा-396 और दूसरी दफा-120। दफा-396 डाका और हत्या पर लागू है और दफा-120 जुर्म की साजिश करने या षड्यंत्र रचने पर। 9 अगस्त को लखनऊ के पास एक रेलवे गाड़ी लूटी गई थी। लूटने वालों ने उस गाड़ी से जानेवाले सरकारी खजाने को लूटा था। उनकी गोली से एक मुसाफिर की जान भी गई थी। लोगों का अनुमान है कि इन गिरफ्तारियों का इस रेल वाले डाके की घटना से संबंध है। वारंट के ऊपर मुकदमे का नाम इस प्रकार दिया गया—बादशाह बनाम रामप्रसाद और दूसरे लोग। यह रामप्रसाद कौन है, यह कब गिरफ्तार हुआ, उस पर कौन सा कसूर स्पष्ट शब्दों में लगाया गया और इस समय वह किस जेल में है। इसका हमें कोई पता नहीं। संक्षेप में हम इन गिरफ्तार हुए आदमियों के कसूर को नहीं जानते। हम जो कुछ जानते हैं वह केवल इतना ही है कि प्रांत में धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई हैं और अभी तक उनका ताँता नहीं टूटा। गिरफ्तार हुए लोगों में ऐसे आदमियों की तादाद ज्यादा है जो कांग्रेसमैन हैं या

कांग्रेस के खास काम करनेवाले हैं और उनके वारंटों पर जिन दफाओं का उल्लेख है वे दफाएँ बहुत भयंकर हैं और उनका संबंध अत्यंत नीच कामों से है। अवस्था बहुत भयंकर है। प्रांत के जितने विचारशील लोग हैं वे सब इस अवस्था की भयंकरता को अनुभव कर रहे होंगे। एक पत्रकार की हैसियत से हमारा यह कर्तव्य है कि इस भीषण अवस्था के संबंध में हम अपने हृदय के भावों को अपने पाठकों के सामने रखें। गिरफ्तार हुए कांग्रेस कार्यकर्ताओं में से बहुतों को हम अच्छी तरह जानते हैं। वे सुशिक्षित हैं, उज्ज्वल चरित्र के हैं। त्यागी और देशभक्त हैं, धन कमाने के फेर में पड़ते, तो आज रुपयों की राशि में बैठे दिखाई देते। उनमें से कुछ तो साधुता और सात्विकता की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं कि आदर और श्रद्धा से हमारा सिर उनके चरणों की ओर झुकता है। उन सब लोगों की कार्य-पद्धति सदा स्पष्ट, खुली और शुद्ध रही है। ओछे ढंगों से काम लेना उन्होंने कभी जाना ही नहीं। हत्या और लूट तो ऐसी बातें हैं जिनका इस प्रकार के विशुद्ध आचरणों से कोई संपर्क हो ही नहीं सकता। प्रांत के लाखों आदमियों के बीच में वे सदा काम करते रहे। हजारों आदमियों के साथ उनका संपर्क था। जो उनके संसर्ग में आए, जैसे कि हम आए, वे कैसे भीषण अवसर पर उन बंदीगृह में पड़े हुए भाइयों की ओर अपनी संवेदना की भावना भेजे बिना रह सकते हैं। हम जानते हैं कि उनके ऊपर बहुत कड़ी दफाएँ लगाई गई हैं। किंतु कड़ी दफाओं का कड़ापन यदि हमें अपने स्वाभाविक धर्म से विचलित कर दे, जिन्हें हम प्यार करते हैं, जिनका हम आदर करते हैं, उनका प्यार और आदर हमारे हृदय से मिटा दें, तो फिर हम मनुष्य न रहें, पशु हो जाएँ, मानवता और कृतज्ञता के भावों की हत्या करके कृतघ्नता की मूर्ति बन जाएँ। आगे क्या होगा, उस पर हम कुछ नहीं कहना चाहते, किंतु इस समय अधिकारी जो कुछ कर रहे हैं उस पर हमें कुछ कहना है। पकड़-धकड़ का जो ढंग है उसमें बड़ी निरंकुशता है। निरंकुशता की व्याख्या हम इस समय नहीं करना चाहते। हमारा विश्वास है कि इस पद्धति पर आगे चलकर अधिकारियों को स्वयं लज्जित होना पड़ेगा। गिरफ्तारी के बाद जो कुछ हो रहा है वह सबके लिए, केवल अधिकारियों के ही लिए नहीं, किंतु साधारण जनता, समाचार-पत्रों, कार्यकर्ताओं सभी के लिए बहुत ज्यादा लज्जाजनक है। अधिकारियों का यह दोष अक्षम्य है कि वे ठीक-ठीक बतलाते ही नहीं कि प्रांत के इतने आदमी क्यों पकड़े

गए? केवल दफाओं से तो कुछ मालूम नहीं होता। जमानत के लिए दरख्वास्तें दी गई हैं। उन पर जो कार्यवाही हुई, वह हास्यास्पद है। लखीमपुर में श्रीयुत हरनाम सुंदरलाल के लिए जमानत की दरख्वास्त दी गई। मजिस्ट्रेट ने कह दिया कि हमारे यहाँ का मामला नहीं है। लखनऊ की अदालत में दरख्वास्त दो। लखनऊ की अदालत को जब दरख्वास्त दी गई, तब उत्तर मिला, हम इस मामले में कुछ जानते ही नहीं। यह कितना अच्छा प्रबंध है। जेल में इन लोगों को कैदियों के कपड़े दिए गए हैं और पैरों में बेड़ी डाल दी गई हैं। पकड़ते समय कहीं-कहीं उनके हाथों में हथकड़ियाँ भी डाली गई थीं। किसी-किसी के यहाँ की तलाशी क्या हुई, मानो डाका पड़ा। पुलिस कपड़े-लत्ते और स्त्रियों के गहने तक उतरवा ले गई। श्रीयुत शीतला सहायजी के साथ यही व्यवहार हुआ। 'आज' का संवाददाता तो यहाँ तक कहता है कि श्रीयुत शीतला सहायजी के बच्चों के शरीर पर जो कपड़ा था वही बचा, बाकी कपड़े और स्त्रियों के गहने श्रीयुत शीतला सहायजी के साथ पुलिस उठा ले गईं। कानपुर में श्रीयुत सुरेशचंद्र भट्टाचार्य के भी सब कपड़े पुलिस ले गई। अन्य कई लोगों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार हुआ है। जेल में ये लोग अलग तनहाई की कोठरियों में रखे गए हैं और कह दिया गया कि 10 अक्तूबर तक उनसे कोई भी मिलने नहीं पाएगा। अधिकारियों के इस ढंग की हम तीव्र निंदा करते हैं। जिस ढंग से वे काम कर रहे हैं, वह बहुत ओछा और क्रूर है। उनको अपने इस ढंग पर लज्जा आएगी या नहीं, इसकी हमें अधिक चिंता नहीं है, किंतु हमें इस बात की चिंता अवश्य है कि हमारा ढंग भी यदि अधिकारियों के ढंग से अधिक ओछा और घृणित नहीं है, तो उससे किसी प्रकार कम भी नहीं। पीपल की डाल फट जाने पर हममें सनसनी पैदा हो जाती है। ताजिए की खपच्ची टूट जाने पर हममें शहीद होने की चुलबुलाहट पैदा होती, आरती और अजान के झगड़ों में हम खून सुखाते व खून गिराते फिरते हैं, किंतु ऐसे अवसर पर जब कि हमारे ऊपर इस प्रकार की आफत छाई हुई हो, जब अधिकारियों की कार्य-पद्धति में इतनी निरंकुशता एवं क्रूरता हो, तब हम तथा हमारे समाचार-पत्र इस अवस्था पर कोई विशेष ध्यान ही न दें और उसी प्रकार चलते जाएँ, मानो कोई विशेष बात हुई ही नहीं, यह सब हम सबके लिए बहुत लज्जा, कलंक और दुःख की बात है। केवल जनता ही उदासीन नहीं है। समाचार-पत्र तक उदासीन हैं। उन्होंने इन गिरफ्तारियों पर कोई गहरी दृष्टि

डालने की अभी जरूरत ही नहीं समझी।

एक और भी दिशा है। इस ओर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। इन गिरफ्तारियों का एक असर यह भी होगा कि कांग्रेस के कार्यकर्ता भयभीत हो जाएँ और वे अपने काम को छोड़ बैठें। अधिकारीगण या पुलिस वाले केवल लोगों को भयभीत करने के लिए गिरफ्तारियों को धड़ाधड़ कर रहे हैं, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। लोगों को भयभीत करने के लिए अधिक सुलभ, किंतु कम भयंकर ढंग से भी काम लिया जा सकता था, किंतु इस बात से किसे इनकार हो सकता है कि इन गिरफ्तारियों का यह असर भी होगा कि लोग डरें, कांग्रेस से दूर भागें और हमारे पैर पीछे पड़ने लगें। प्रांत के प्रत्येक कांग्रेस कार्यकर्ता को इस बुरे असर से अपने स्थान को बचाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए। म्यूनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों के चुनाव सिर पर हैं। प्रांत में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होने वाला है। कांग्रेस कार्यकर्ता इस सिर पर छाई हुई घटा से तनिक भी विचलित न हों, धीरता और साहस के साथ काम करें, और अपने साथियों से कराएँ, उनकी तथा उनके साथियों की तादाद हर जगह माकूल है। देश के कल्याण के नाम पर यह संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जाएगी। इन वीरों का अविचलित भाव रंग लाएगा। आई हुई घटाएँ शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाएँगी और अंधकार का नाश करती हुईं सूर्य-रश्मियाँ देश के प्रांगण में अपना उज्ज्वल प्रकाश फैलाती हुई दिखाई देंगी।

इन पंक्तियों के लिख चुकने के पश्चात् हमें श्रीयुत शीतला सहाय की जमानत की कार्यवाही का हाल मिला। उससे यह साफ हो गया कि ये गिरफ्तारियाँ काकोरी के रेलवे-डाक के संबंध ही में हुई हैं। हम आशा करते हैं, जो लोग निर्दोष हैं, वे अधिक काल तक बेड़ियों में जकड़े नहीं रहेंगे।

'प्रताप', 5 अक्तूबर, 1925



प्रांत के लिए भयंकर समय

होलकर का सिंहासन त्याग

अंत में इंदौर के महाराज तुकोजीराव ने विगत सप्ताह राज सिंहासन का त्याग कर दिया। उनके लिए लॉर्ड रेडिंग ने दो ही मार्ग छोड़े थे या तो वे एक कमीशन के सामने इस बात की सफाई पेश करें कि बाबला हत्याकांड में उनका कितना हाथ था या फिर राज सिंहासन को छोड़ दें। तीसरा कोई रास्ता नहीं था। महाराज तुकोजीराव ने सोच-विचार कर दूसरा रास्ता पसंद किया। कहते हैं, उनके सामने दो प्रकार की रायें पेश की गई थीं। उनके कानूनी सलाहकारों ने, जिनमें सर तेजबहादुर सप्रू और सर शिवस्वामी अय्यर जैसे दिग्गजों के नाम भी लिये जाते हैं, राय दी कि कमीशन स्वीकार किया जाए और उसके सामने सफाई दी जाए, अंत में अवश्य जीत होगी। होलकर महाराज के आस-पास के लोगों ने सलाह दी कि कमीशन स्वीकार करना ठीक न होगा, क्योंकि हर तरह से महाराज को जलील करने की तैयारी है। महाराज ने कमीशन को अस्वीकार करते और सिंहासन छोड़ते हुए जो बात कही वह यद्यपि ऐसे लोगों को ठीक नहीं जँचती, जो हर हालत में बकले का उधेड़ा जाना ही पसंद करते हैं, किंतु वह है ऐसी कि उस पर देश भर का ध्यान अच्छी तरह से जाना चाहिए। इंदौर राज्य और ब्रिटिश सरकार में जो संधि है, उसके अनुसार इस प्रकार का कमीशन नियत नहीं हो सकता। गवर्नर जनरल ने कमीशन को नियत करते समय नए गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट की देशी राज्य संबंधी नई व्यवस्था की ओर इशारा किया है। आज के आठ वर्ष पहले जब इस नई व्यवस्था का प्रस्फुटन हुआ था, महाराज होलकर ने उठकर स्पष्ट रूप से विरोध किया था। इस समय भी महाराज तुकोजी उस बात पर अड़े हुए हैं, और इस बात के होते हुए भी कि लोगों को यह समझने का मौका मिलेगा कि महाराज होलकर

इस प्रकार अपने दोष को छिपाते हैं, उन्होंने कमीशन को अस्वीकार करना और अपने सिर से राजमुकुट उतार देना ही उचित समझा। महाराज तुकोजीराव के इन गिरे दिनों की इस कला में एक चित्ताकर्षक छवि अवश्य है। हम महाराज को दूध का धुला नहीं समझते। उनकी अय्याशी ने उनके गुणों को ढक लिया था, कूड़े के ढेर ने ज्योति की चमक को मूँद दिया था, इसीलिए उन पर यह आपदा आई, किंतु उन्हें जो बुरे दिन देखने पड़े, अपने देश और अपनी प्रजा के सामने जितना लज्जित होना पड़ा, जो मानसिक कष्ट सहना पड़ा, हम समझते हैं कि यह उनके लिए पर्याप्त दंड है। जो लोग अब भी उन पर दाँत पीसते हैं उनमें मनुष्यता की अपेक्षा पशुता अधिक है। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ब्रिटिश न्याय की दुहाई देता है। यह उसका पक्षपात है। न्याय न भौगोलिक सीमा में बंद है और न जातीय सीमाओं ही में। रूस, जर्मनी, इटली या भारतवर्ष में उसका रूप अलग-अलग नहीं हुआ करता। अंग्रेज केवल अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमाने के लिए ब्रिटिश न्याय की डींग मारने के अभ्यासी हो गए हैं। न्यायमूर्ति लॉर्ड रेडिंग की जो शैली इस अवसर पर या अन्यान्य बहुत से अवसरों पर रही है, यदि यथार्थ में वह न्याय-शैली के नाम से पुकारी जा सकती है, तो पता नहीं पक्षपात और मतलब साधने की नीति किसे कहा जा सकेगा? नाभा के सिंहासनच्युत महाराज रिपुदमन सिंह ने हाल में एक पत्र में एक ऐसे राजा का हाल लिखा है, जिसने अपने एक रिश्तेदार को मरवाकर उसकी स्त्री अपने घर में डाल ली और जो अत्याचार तथा बदमाशी में बे-तरह आगे बढ़ा हुआ है। देश में इस प्रकार के बहुत से राजा और बहुत से धनी हैं। इनकी ओर लॉर्ड रेडिंग की न्याय-बुद्धि या अंग्रेजी रंग का न्याय क्यों नहीं ध्यान देता? हम पहले कह चुके हैं और फिर भी उस बात को यहाँ दोहराते हैं कि महाराज तुकोजीराव तो इस चक्की में इसलिए पिस गए कि अय्याशी में पड़ जाने पर भी उन्होंने पैतृक साहस नहीं छोड़ा, ब्रिटिश शासकों की खुशामद नहीं की, और लॉर्ड रेडिंग के सामने जितना ये चाहते थे, उतना नीचे नहीं झुके। जिस समय महाराज तुकोजीराव राज्य के पूरे मालिक थे, उनके हाथों में पूरी शक्तियाँ थीं, वे जो चाहते सो कर सकते थे, उस समय उनके कुछ कामों पर हमें उनकी मुखालिफत करनी पड़ी। आज वे विपत्ति में हैं। उन पर प्रहार हो रहे हैं। उनके बुरे दिनों पर उनका मजाक उड़ाया जा रहा है और न्याय की डींग मारी जाती है। इस समय इन आततायी

आक्रमणों के विरुद्ध हम साधारण आदमी की हैसियत से अपनी सहानुभूति उस मानीजन और उसके दबे हुए दिनों के साथ प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

राजाओं का अधिकार है प्रजा पर शासन करना और ब्रिटिश गवर्नमेंट का अधिकार है जब आवश्यकता समझे तब कमीशन नियत करना तथा राजाओं को कठपुतलियों की तरह इधर से उधर कर देना। क्या प्रजा का भी अधिकार है? या उसका अधिकार केवल इतना ही है कि जब राजा मदांध हो, तब वह राजा की बातें सहे और जब राजा न रहे या वह ब्रिटिश गवर्नमेंट का कोप-भागी हो जाए, तो दान की बछिया की भाँति कान पकड़कर इधर से उधर और उधर से इधर की जाती रहे? ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति इस मामले में बहुत दूषित है। इसी नीति के कारण राजाओं में विलासिता है और राज्यों में कुशासन। यहाँ की प्रजा आगे बढ़ने ही नहीं पाती। यदि प्रजा अधिकारयुक्त हो और राजा का प्रजा के साथ मिलकर चलना आवश्यक हो, तो राजा अति न करने पाए। ब्रिटिश गवर्नमेंट की नीति के कारण राजा अपने शरीर, अपने मन, अपनी प्रजा और उसके धन पर अति करने के लिए स्वच्छंद है। वह इन मामलों में जो चाहे सो करे। वह परतंत्र है, केवल इस मामले में कि वह ब्रिटिश सरकार के स्थापित किए गए देवताओं की इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करे और सदा उनकी श्रद्धा के साथ पूजा करता रहे। यदि प्रजा को अधिकार हो, तो राजा से अति भी न हो, और उसे ब्रिटिश सरकार के हाथ का इस प्रकार खिलौना भी न बनना पड़े। क्या देशी नरेश इस बात पर ध्यान देंगे? क्या वे नाभा और इंदौर की दशा से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे? क्या वे साहस के साथ अपनी प्रजा को पूरे अधिकार देंगे?

'प्रताप', 14 मार्च, 1926



क्या हिंदुओं का नाश होगा?

हिंदुओं के सामने जीवन-मरण की समस्या है। इस समस्या की वे उपेक्षा नहीं कर सकते। हिंदुओं में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो आगे की बातों को नहीं देखते या नहीं देखना चाहते। सुझाने पर वे कहते हैं कि आगे कहीं कोई भी खतरा नहीं है या यदि कोई बात है भी तो क्या परवाह। हमने बड़ी-बड़ी औरंगजेबी और नादिरशाहियाँ देख ली हैं, उनसे यदि हमारा कुछ नहीं बिगड़ा तो इन बातों से जो छोटी-मोटी हैं और उतनी भीषण नहीं हैं, हमारा क्या बिगड़ेगा, यह भ्रम है। इस भ्रम ने आँखों वालों की भी आँखें बंद कर रखी हैं, पहले भी बहुत कुछ बिगड़ा है और अब भी बहुत बिगड़ रहा है। अब समय अधिक भयंकर है। पहले तलवार की धार से काम होता था, उसका मुकाबला हो सकता था। अब जो काट होती है, वह गहरी है और असभ्य है। नीचे-ही-नीचे हिंदू संस्कृति में सुरंग लग रही है। हिंदुओं की निर्बलता पर दूसरों के धावे हो रहे हैं। उससे वे बेजा लाभ उठा रहे हैं। हिंदू संस्कृति का इस प्रकार का नाश साधारण बात नहीं है। उसका असर बहुत दूर तक पड़ रहा है। अन्य सब विभागों में जो कुछ पड़ रहा है, यदि उस पर हम अधिक ध्यान न दें और केवल अपने सांसारिक लाभ ही का विचार करें, केवल देश की राजनीतिक स्वाधीनता ही का प्रश्न अपने सामने रखें, तो भी हम हिंदू संस्कृति की निर्बलता और उसके विनाश में देश की बहुत बड़ी हानि, दासता के दिन बढ़ते हुए, देखते हैं। हिंदुओं का ह्रास हिंदुस्तान का ह्रास है। वह ह्रास है उन समस्त भावनाओं का, जो इस देश के अस्तित्व और उसकी महत्ता की सबसे अधिक बलयुक्त और तेजस्वी संपदा हैं। रूढ़ि-पूजा-परिपाटी से चिपटे रहने और आगे की बात न सोचने की भयंकर आदत एवं अपने ह्रास-युग तथा मुसलमान शासन-समय में अनेकानेक कारणों से

स्वीकार कर ली जानेवाली बहुत सी अनुचित प्रणालियों के कारण हिंदुओं की इस समय जो विगलित और शिथिल दशा है, वह बहुत भयंकर है। आँख बंद करके बैठ जाने से उसकी भयंकरता कम न हो जाएगी। प्राचीन काल में बने हुए शास्त्रों और स्मृतियों में यदि इस समय की बातों व घावों का कोई स्पष्ट तथा अचूक इलाज नहीं मिलता और इसलिए समय के अनुसार पग बढ़ाने के लिए यदि लोग तैयार नहीं होते, तो समय उनकी प्रतीक्षा करते हुए एक ही स्थान पर उनकी बुद्धि और गति के सामने टिका नहीं रहेगा। हिंदुओं के युग-धर्म भूल जाने या उससे भ्रष्ट हो जाने के कारण समय अपना धर्म नहीं भूल जाएगा। वह आगे ही बढ़ता जाएगा। उसकी चक्की के नीचे फिर चाहे सुसंस्कृति के संस्थापक हिंदू पड़ें और चाहे प्रारंभिक दशा में पड़े हुए अफ्रीका के जुलू लोग, वे सब पिसते जाएँगे।

देहली में हिंदू महासभा का जो अधिवेशन हुआ, जिसमें हिंदुओं के अच्छे से अच्छे हृदय और अच्छे से अच्छे दिमाग उपस्थित थे, उसमें हिंदुओं की वर्तमान समस्याओं के समझने तथा सुलझाने के लिए यथार्थ में पूरे साहस एवं समाज के हित की व्यापक दृष्टि से काम नहीं लिया गया। आरंभ में बहुत शोर था। बड़ी धूम थी, किंतु इस शोर और धूम में क्षत्रियता का हिस्सा बहुत अधिक था। हिंदुओं के हित की बात जबान पर थी, किंतु बहुतों के मन में खयाल कुछ और ही था। कॉउंसिलों ने हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर रखी है। हमारे बहुत से काम करनेवाले आदमी अधिकार-लिप्सा के शिकार हो चुके हैं, सरकारी संस्थाओं की चमक उन्हें रिझा रही है, जातीय अखाड़ों की सीढ़ी सहज में उस अट्टालिका तक उन्हे पहुँचा सकती है, इसीलिए उसी साज में वे अपनी शक्तियाँ लगाते दिखाई देते हैं। हिंदू महासभा के इस अधिवेशन के संबंध में भी धूमधाम का एक कारण यही था। इसीलिए हिंदुत्व के प्रेम ने उन्हें जो हिलना ही नहीं जानते थे और जो हिलने से इनकार करते थे, अपनी गद्दी तथा अपने आराम को छोड़कर हिंदू महासभा की हलचल में हिला-मिला दिया। किंतु इस मामले में लाला लाजपतराय और अन्य विचारशील हिंदुओं की प्रेरणा से हिंदू सभा ने जिस शैली का निश्चय किया है, वह यदि अत्यंत निर्दोष नहीं है, तो भी हिंदुओं के संदेहों को शांत करने तथा देश के पथ में बाधा न छोड़ने वाली है और इस उलझी हुई समस्या के इस प्रकार सुलझाने पर महासभा के कर्णधार यथार्थ में देश भर के बधाई के पात्र हैं, किंतु अन्य दो दिशाओं में जो कुछ

हुआ वह न होने के बराबर है और इन अवसरों पर कुछ लोगों ने जो ढंग अख्त्यार किया वह निंदनीय है। हिंदू समाज में इस समय दो बड़े घुन लगे हुए हैं, एक तो अछूत तत्त्व और दूसरा जबरदस्ती का वैधव्य। इन दोनों के कारण अन्य संप्रदाय के लोग हिंदू समाज का मांस नोचते जा रहे हैं और इन्हीं दोनों कारणों से हिंदुओं का जबरदस्त ह्रास होता जा रहा है। हिंदू-मुसलमान वैमनस्य का यदि सबसे बड़ा कोई कारण है, तो यही दो बातें हैं। पड़े हुए लावारिस माल पर किसकी नजर नहीं गड़ती? और उसे यदि कोई उठा लेता है, तो क्या बुरा करता है? हिंदुओं के अछूत कहे जानेवाले लोगों और बहुत सी विधवाओं की दशा बिलकुल लावारिस माल की तरह है। यदि दूसरे उन्हें उठाए लिये जाते हैं, तो यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है कि आप उनकी सँभाल तो करें नहीं और उठा ले जाने वालों पर बिगड़ें तथा उन पर दाँत पीसें। 'अछूतों' की संख्या 6 करोड़ के लगभग है। जब तक वे राम और कृष्ण का नाम लेते हैं, जब तक वे रामायण तथा गीता को अपना कहते हैं, जब तक वे गंगा व गौ का आदर करते हैं, जब तक वे हिंदू संस्कृति के सामने श्रद्धा से अपना मस्तक झुकाए हैं, तब तक तो पं. दीनदयालु और उनके समान सनातनधर्मी उनसे कोसों दूर रहेंगे, उन्हें देव-दर्शन नहीं करने देंगे, उन्हें कुओं पर पानी नहीं भरने देंगे, उन्हें समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं देंगे, किंतु जहाँ चोटी कटाकर, मुसलमान, ईसाई बनकर राम और कृष्ण, गीता था रामायण, गंगा व गौ के शत्रु बने, बस, वे श्रेष्ठ मनुष्य बन गए, फिर पं. दीनदयालु और उनके साथी मन में उनके प्रति चाहे जो भाव रखें, किंतु बाहर उनके साथ विनय और शील ही से काम लेंगे और अपने बराबर ही बैठने के लिए स्थान देंगे। यह कैसा दुराग्रह है? महासभा ने इन भाइयों के संबंध में जो प्रस्ताव पास किया यद्यपि वह बहुत साधारण है, तो भी सनातन धर्म के नाम पर गर्व करनेवाले कुछ लोगों को वह सहन नहीं हुआ और उन्होंने महासभा के पंडाल में ऊधम मचाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। समय की लहर प्रबल है। सनातनधर्मी हिंदू भी समाज की अवस्था और आवश्यकता को भली-भाँति अनुभव कर चले हैं। इसलिए इन उत्पात-शूरों के किए-कराए कुछ भी न हुआ। यह कितने परिताप की बात है कि पं. दीनदयालु और स्वामी दयानंद जैसे विचारशील व्यक्ति ऐसी बड़ी समस्या के संबंध में एक भी पग आगे बढ़ने के लिए

न हों व धर्म और कर्म के नाम पर कम समझ तथा धर्म-भीरु भाइयों को समय की सबसे बड़ी आवश्यकता को अनुभव न करने दें। इस प्रकार की घटनाओं पर जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तब हृदय में पीड़ा सी अनुभव होती है और यह मालूम पड़ता है कि मानो हिंदू जाति उस बेहोश आदमी के समान है जिसके हाथ-पैर कटते जाते हों या पोर-पोर गलकर गिरता जाता हो तथा जिसे अपने इस विनाश की सुध-बुध तक न हो।

दूसरी समस्या थी विधवाओं की। इस देश में पिछली गणना के अनुसार लगभग सवा दो करोड़ विधवाएँ हैं। 15-16 लाख विधवाएँ तो ऐसी हैं जो बाल विधवा के नाम से पुकारी जा सकती हैं। देश के बहुत से हिस्सों में इनके साथ बड़ा क्रूर व्यवहार होता है। जिस तपस्या की आशा आप महान् आत्माओं से कर सकते हैं, वह जबरदस्ती उनसे कराई जाती है जिन्होंने न दुनिया देखी और न तपस्या के महत्त्व ही को समझा। दयालुता का आगार हिंदू हृदय समय-समय पर इन विधवाओं के संबंध में पाषाण से भी अधिक कठोर हो जाता है। कठोरता, त्रास, अपमान आदि का नतीजा यह होता है कि हजारों हिंदू युवतियाँ जो अपने को नहीं सँभाल सकतीं, यथार्थ में भीषण परिस्थितियों के कारण जो नहीं सँभल सकतीं, वे हिंदू समाज से प्रति वर्ष निकाली जाती हैं या निकल जाने पर विवश की जाती हैं। मुसलमानों या ईसाइयों को बदनाम करना हमारे लिए अत्यंत सहज काम है। उससे क्षणिक लाभ भी है। लोग जोश में आते हैं, हिंदू धर्म की दुहाइयाँ देने लगते हैं, किंतु सच्ची बात यह है कि मुसलमान या ईसाइयों का कसूर तो उसका शतांश भी नहीं, जो हम धर्म-ध्वजाधारी हिंदुओं का है। साधारण विधवाओं के प्रति जो क्रूरता समाज में प्रदर्शित की जाती है, पता नहीं क्यों उसे देखकर दयालु हिंदुओं का दयाभाव नहीं जगता। बंगाल के पत्रों में नित्य इस प्रकार के अत्याचार की घटनाएँ छपती हैं। कोई सप्ताह नहीं जाता, जब किसी हिंदू विधवा युवती को पहले आततायियों के कब्जे में पड़ना और फिर धर्मभ्रष्ट होना नहीं पड़ता। हृदय इतने कठोर क्यों हैं जो इन समाचारों से नहीं हिलते? क्या इस अत्याचार के दुष्परिणाम से हिंदू समाज परिचित नहीं है? बंगाल की सेन्सस रिपोर्ट देख लीजिए। गत 50 वर्षों के अंदर हिंदुओं की वह संख्या जो 75 फीसदी के करीब थी, आज घटकर केवल 45 फीसदी रह गई है। रटी हुई बात के समान ऐसे अवसर पर धर्म

की दुहाइयाँ दी जाती हैं। धर्म पतितों के त्राण में है या भोले स्त्री-पुरुषों को पाप-पंथ और अधर्म-पंथ में ढकेलने में? सतयुग की दुहाई दी जाती है। आचरण की शुद्धता का नाम लिया जाता है और सो भी उनके द्वारा जो कलियुग में हैं तथा कल कृत्यों से कलुषित हैं, उनके द्वारा जो अधर्म से विषाक्त वातावरण में विचरण करते हैं और जिन्हें स्वयं अधर्म करते हुए कभी प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। देहली की हिंदू महासभा में हिंदू विधवाओं के भीषण प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता तक अनुभव न की गई, क्योंकि भय था कि इस प्रश्न के उपस्थित होने पर इस समय के धार्मिक हिंदुओं के धर्म का आसन हिल जाएगा। हिंदुओं के मौत और जिंदगी के इन दोनों सवालों पर विचार करने में महासभा ने जिस कमजोरी का परिचय दिया है, उससे यह प्रश्न हमारे सामने बड़े बल के साथ उपस्थित होता है कि हमारे विचार और काम करने का यह ढंग ठीक भी है या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मन समझाने के लिए हम सूखे वृक्षों को सींच तो रहे हों, किंतु वृक्ष की जड़ में पानी डालने की अपेक्षा हम अंधे बनकर उसके पत्तों पर पानी डाल रहे हों? कहीं ऐसा तो नहीं है कि मूल चीज के बचाने की अपेक्षा हमारा ध्यान इस भय से कि कुछ लोग नाराज न हो जाएँ, अनावश्यक चीजों की रक्षा ही में लग रहा हो, कहीं आगे बढ़ने के नाम पर हम पीछे तो नहीं हट रहे, और हिंदू समाज के कल्याण की व्यापक दृष्टि रखने की अपेक्षा कहीं हम केवल किसी एक संप्रदाय या उस संप्रदाय की दुहाई देने वालों के संतोष और शांति के विचार ही में तो नहीं फँस गए? हिंदू जाति का कल्याण किस बात में है, किन रूढ़ियों के मिटाने और किन रीतियों के चलाने में है, इस पर हिंदू महासभा में साहस के साथ काम करना तो दूर रहा, साहस के साथ विचार तक नहीं किया जाता। जब साहस और स्पष्टता के साथ विचार करने की नौबत आती है, तो तत्काल यह बात सामने आ जाती है कि सनातनधर्मी और उनके नेता इस प्रकार के कार्यक्रम से नाराज हो जाएँगे। यह अवस्था शोचनीय है। विचार केवल सनातनधर्मी और उनके नेताओं का नहीं होना चाहिए। हिंदुओं के कल्याण के संबंध में जब विचार हो, तब वह तो समस्त हिंदुओं की सब दशाओं को सामने रखकर और इसके बाद आगे बढ़ने के लिए जो कुछ तय हो तथा जिसका तय करना हिंदुओं का कल्याण चाहने वाले प्रत्येक समुदाय का कर्तव्य है, उसका पालन करना सब

समुदाय अपना कर्तव्य समझें। फिर कोई यह न कहे कि यह निर्णय हमारे मत के विरुद्ध हुआ, इसलिए हम उसका पालन नहीं करेंगे। यदि हिंदुओं के संगठन का यह आधार रहा और साहस तथा दूरदर्शिता के साथ हमने अपनी आवश्यक समस्याओं को हल किया, तो विनाश के कराल गाल से हम बच जाएँगे, अन्यथा वर्तमान ढंग हमें विनाश से न बचाएगा।

'प्रताप', 21 मार्च, 1926



कलकत्ता की गुंडेशाही

इधर कई साल से कलकत्ता के इस उपद्रव से बढ़कर देश में कोई दूसरा उपद्रव नहीं हुआ। लॉर्ड इरविन का यह खूनी स्वागत है। इस देश के आदमी इस ज़माने में भी अपने मज़हबी पागलपन के लिए बदनाम हैं। हमारे मालिक कहा करते हैं कि यदि हम न रहें, तो हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे का गला काट लें। अंग्रेजों के चले जाने पर क्या होगा, इसे तो ईश्वर ही जाने, किंतु उनके रहने पर भी क्या नहीं होता, इसे हम भी जानते हैं। फोर्ट विलियम किले पर अंग्रेज़ी झंडा उसी प्रकार लहरा रहा था, अंग्रेज़ी शक्ति इस देश में वैसी ही प्रबल थी, अंग्रेज़ी फौजों की संगीनों पर न तो जंग चढ़ा था और न उनकी तोपों के मुँह बंद हो गए थे, किंतु अंग्रेज़ी साम्राज्य के लंदन छोड़कर, सबसे बड़े विशाल नगर में दिन-दहाड़े सड़कों पर चलते हुए आदमी मारे गए, बाज़ार लूटे गए, मंदिर और मसजिदें लूटी गईं, गुंडों का शहर भर पर राज्य रहा और मालूम पड़ता था कि सर्वत्र नादिरशाही फैली हुई थी। अंग्रेजी सुशासन का कैसा अच्छा नमूना है। अंग्रेजी व्यवस्था और शांति की रक्षा का यह कैसा अच्छा प्रदर्शन है! पुलिस के थाने के सिर पर आदमियों की हत्याएँ हों, किंतु हमारे रक्षक खड़े-खड़े सबकुछ देखें और अपने हाथ की छोटी-से-छोटी उँगली तक न हिलाएँ। साधारण समय में देश में शांति का राज्य दिखाई पड़ता है। कहीं इस प्रकार की लूटमार नहीं दिखाई देती। यथार्थ में यह शांति सुव्यवस्था का फल नहीं है। लोग मुरदा हैं, इसलिए शांत हैं। मशीन है, जो चलती जा रही है और घड़ी की तरह चलते जाना ही उसका काम रह गया है। उसकी इस चाल का श्रेय मिलता है शासकों को, उनकी सुव्यवस्था की प्रशंसा होती है। वे भी अपने मुँह अपनी तारीफ करते नहीं अघाते। इस तारीफ से उन्होंने संसार भर

पर यह धाक जमा ली है कि भारतवर्ष में बड़ी सुव्यवस्था है। इस तारीफ से उन्होंने इस देश के अकर्मण्य लोगों के हृदय पर यह छाप लगा दी है कि यदि हमने तुम्हारे ऊपर से अपनी सुव्यवस्था की छत्रच्छाया हटाई, यदि हम यहाँ से हटे, तो तुम मरे। अच्छा जादू है, और खूब चला। कलकत्ता की सी घटनाओं से यह जादू टूटेगा। इस काली घटा में यही उज्ज्वल रेखा है।

ताली एक हाथ से नहीं बजा करती। घटनाएँ एकदम नहीं होतीं। बहुत सी बातें इकट्ठा होती रहती हैं। एकदम जब उनका उभाड़ होता है, तब लोग उन्हें देखते हैं। इस उपद्रव के मसाले बहुत दिनों से जमा हो रहे थे, कलकत्ता ही में नहीं, देश भर में। हिंदू कमज़ोर है, हज़ारों श्रेणियाँ उनके शरीर को खंड-खंड किए हुए हैं। ये श्रेणियाँ बल के साथ उन्हें न आगे बढ़ने देती हैं और न प्रहारों का मुकाबला करने ही। मुसलमानों का जातीय संगठन अच्छा है। इसका आधार मज़बूत है। वे टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे हुए नहीं हैं। प्रत्येक मुसलमान, छोटे से छोटा भी समाज में स्थान रखता है और समझता है कि जब मेरे ऊपर आफत आएगी, तब मेरे इसलामी भाई, समाज तथा धर्म के नाते मेरा साथ अवश्य देंगे। कुछ काल पहले तक हिंदू अपनी कमज़ोरी से मार खाते रहे। मुसलमान अपने संगठन के कारण हिंदुओं की इस कमज़ोरी से लाभ उठाते रहे।

हिंदू इतने बेहोश थे कि उन्हें पता ही न था कि उनकी कमज़ोरी से लाभ उठाया जा रहा है। मुसलमानों में भी कुछ इस प्रकार का खयाल था कि जो लावारिस माल आँखों के सामने पड़ा हुआ है उस पर प्रभुत्व होना हमारा स्वाभाविक अधिकार है। इधर अनेक कारणों से हिंदुओं ने अधिक कमज़ोर बनने से इनकार कर दिया। वे अपने कटे-फटे अंगों को टटोलने लगे। वे अपने उस माल का जो अभी तक लावारिस की तरह पड़ा था हिसाब-किताब लेने लगे। इस चेतना के कारण हिंदू मुसलमानों से टकराने लगे। हिंदुओं में इस क्रांति को देखकर मुसलमान सशंकित हैं। जिस प्रकार अचानक रात के अंधकार में कहीं से किसी शकल के निकल पड़ने पर लोगों के मन में आतंक छा जाता है, उसी प्रकार हिंदुओं की इस नव-चेतना से मुसलमानों के मन में एक प्रकार का आतंक सा छा गया है। उनके कितने ही मनसूबों पर भी धक्का लग रहा है। वे अरब और अफगानिस्तान का स्वप्न देख सकते हैं। हिंदुओं की यह नई चेतना उनके इस विकार का ज़बरदस्त प्रतिकार स्वरूप

है। यह कदम-कदम पर मुसलमानों की परदेशभक्ति का पूरा विरोध करती है। दोनों ओर से प्रहार हैं। लावारिस क्षेत्र पर से अधिकार हटाया जा रहा है। परदेश-भक्ति को देशद्रोह सिद्ध किया जा रहा है। मुसलमानों को इन प्रहारों की आशंका न थी। उनके लिए ये दोनों बातें, कम-से-कम पहली बात तो बिलकुल नई विपदा है, किंतु वे इस नई समस्या के मुकाबले में हतबुद्धि नहीं हो गए। दूर-दूर तक वे भी अपनी बुद्धि दौड़ा रहे हैं। उनमें से बहुतों के दिमाग़ में मुसलमानी साम्राज्य का स्वप्न है। बहुत से इस विचार के हैं कि किसी प्रकार भी मुसलमानों की जितनी अधिक तादाद बढ़ाई जा सके, बढ़ा ली जाए। राजनीति के पासे फेंकने वाले कॉउंसिलों और नौकरियों पर इस प्रकार अधिकार जमा लेना चाहते हैं कि चित भी मेरी और पट्ट भी मेरी।

नए-नए अधिकारों की रचना भी की जा रही है और उनमें से एक है यह कि मसजिदों के सामने कोई जुलूस बाजा बजाते न निकले। मुसलमानों का यह नया अधिकार इस समय इतने जोरों पर है कि गाँव-गाँव में यह रोग फैल रहा है। हमने कानपुर में यह देखा कि रामलीला का जुलूस जिस समय निकला, उस समय कई मसजिदों के पास मामूली लड़कों ने उसे यह कह रोकना चाहा कि मसजिद के सामने बाजा बंद कर दो। अभी कानपुर-चौक में एक मंदिर में रात को कथा हुआ करती थी। रमज़ान में रात को मुसलमान गाते-बजाते निकलने लगे हैं। एक दिन इसी प्रकार के गाने-बजानेवाले एक दल ने मंदिर वालों को कथा पढ़ने से रोका। दल गाता-बजाता निकल रहा था, इसलिए हिंदुओं की कथा रुकनी चाहिए, किंतु कथा वाले हिंदुओं की समझ में यह दलील आई ही नहीं। इस प्रकार की बातें मुसलमान राज्यकाल में भी नहीं हुआ करती थीं। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य में और फर्रुखसियर से लेकर अंतिम मुगल बादशाह तक मुगल साम्राज्य में सदा गो-हत्या नहीं होने पाती थी। पूजा-पाठ की तो कभी कोई रुकावट ही न थी, किंतु इस समय के मुसलमान अधिक मज़हबी प्राणी हो गए हैं। वे बात-बात पर मज़हबी अड़ंगा लगाना आवश्यक मानते हैं। उनकी यह आवश्यकता मिट भी जाए, किंतु उसका मिटने देना न तो अधिकारियों को इष्ट है और न कुछ मुसलमान नेताओं ही को, दोनों को इसमें लाभ है। अधिकारियों को शासन में सुविधा मिलती है, नेताओं को नेता बने रहने में।

कलकत्ता में जो कुछ हुआ, वह बहुत घृणित है। वह कुत्सित इसलिए

भी है कि उसके साथ धर्म का नाम घसीटा गया। ज़बरदस्ती झगड़ा मोल लेना, लोगों को मारना-पीटना, छुरे भोंक देना, हत्या कर देना, दुकान लूट लेना, मंदिर तोड़ देना, मसजिदें जला देना, औरतों पर हाथ छोड़ना, निहत्थों को सताना यदि धर्म है, यदि यह दीन है तो ऐसे धर्म या दीन को कोसों से नमस्कार। यदि ये बातें धर्म की, दीन की हैं, तो दुनिया में पाप की बातें और क्या हैं? लोग जिस प्रकार लड़े उसमें पशुता थी, कायरता भी। लड़ाई बुरी चीज नहीं है। हम यह भी मानते हैं कि उससे लाभ भी है।

यदि हिंदू-मुसलमानों के दिलों में गुबार भरा हुआ है, तो वे खुलकर अच्छी तरह लड़ लें और अपने मन की निकाल लें, किंतु इस ढंग से लुक-छिपकर नहीं, अँधेरे-उजेले में छापा मारकर नहीं, निहत्थों पर धावा बोलकर नहीं, पूजास्थानों को भ्रष्ट करके नहीं, लुटेरों की भाँति दुकानें लूटकर नहीं, वीरों की भाँति अखाड़े में आ जाएँ और मर्दाने दाँव-पेंच से दुनिया के सामने अपनी सारी कसरें निकाल लें। इससे बड़ा लाभ होगा। दिल धुल जाएँगे। इधर और उधर दोनों तरफ के वीर लोग मित्र हो जाएँगे, दोनों ओर के गुंडों व बदमाशों को दब जाना पड़ेगा, उन्हें फिर धर्म-रक्षक और गाज़ी बनने का मौका न मिलेगा। देश में भी भलमनसाहत का राज्य हो जाएगा और लोग व्यर्थ की लड़ाइयाँ छोड़कर उन लड़ाइयों के लड़ने में अपनी शक्तियाँ लगाएँगे, जिनमें लगाने की ज़रूरत है।

जो कुछ कलकत्ता में हुआ, बुरा हुआ, किंतु हम स्पष्ट कहेंगे कि सब हालतों में बहुत बुरा नहीं हुआ। लोगों ने जिस प्रकार मिलकर मंदिर और मसजिद की रक्षा की, सिखों ने जिस प्रकार काली के मंदिर पर पहरा दिया, मंदिर पर आक्रमण करनेवाले गुंडे जिस प्रकार भगाए गए, भले मानसों ने जिस प्रकार हिंदू-मुसलमान भेद त्याग करके परिवारों की रक्षा की, यह सब अच्छा हुआ तथा ऐसे काले अवसरों पर इनका होना कुछ आशाजनक है। गुंडों की करतूतों से भी कुछ फायदा होगा। लोग गुंडों तथा भले आदमियों में जो अंतर है, उसे समझेंगे और यदि इस प्रकार भले आदमियों ने अपना संगठन करना आवश्यक समझा, तो आगे चलकर गुंडेशाही से बचाव हो सकेगा। कलकत्ता में जो कुछ हुआ वह इस कांड का अंतिम अध्याय नहीं है। अभी जो लक्षण है, उससे इसी प्रकार के कांड अनेक स्थलों पर अवश्य होंगे। लोगों को अधिकारियों की मदद की आशा छोड़ देनी चाहिए। उन्हें आत्म-रक्षा के लिए खुद ही तैयार

रहना चाहिए। मुसलमान भले आदमी भी इस बात को भली-भाँति समझ लें कि अभी तक गुंडापन मुसलमान गुंडों ही की तरफ से हुआ करता था, किंतु अब इस मुसलमान फिरके ने हिंदुओं में भी अपनी बिरादरी पैदा कर ली है। हमें इसका खेद है कि हिंदुओं में ऐसे लोग पैदा हो चले जो दूसरों के पूजा-स्थानों को भ्रष्ट कर देना बुरा ही नहीं, कहीं-कहीं आवश्यक तक समझते हैं। जमाने ने हिंदुओं में ऐसे प्राणी पैदा किए। हिंदुओं की न तो संस्कृति यह बात सिखाती है और न उनके धर्म का कोई भी अंग उन्हें इस प्रकार की शिक्षा देता है। हिंदुओं के इस दल को कमजोर करने का उपाय केवल यही है कि मुसलमान नेता अपनी गुंडा-पार्टी को दबाएँ। यदि वह दबी, तो ये सहज में दब जाएँगे और यदि वह न दबी, तो ऐसा मालूम पड़ता है कि देश को अभी बहुत समय तक अंग्रेजी शांति एवं सुव्यवस्था की छत्रच्छाया में बहुत से ऐसे काले दिन देखने पड़ेंगे, जिनमें हिंदू भले आदमियों को जैसी तकलीफ होगी वैसी ही तकलीफ मुसलमान भले आदमियों को भी होगी।

'प्रताप', 11 अप्रैल, 1926

□

सरकारी वर्ण-व्यवस्था

हिंदुओं की वर्तमान वर्ण-व्यवस्था अत्यंत कठोर और निर्दय है। जो जहाँ पैदा हुआ, वह वहीं जकड़ गया। न आगे बढ़ सकता है और न पीछे ही खिसक सकता है। ऊँची जाति में जन्म लीजिए और सदा ऊँचे कहलाइए, चाहे आपके कर्म कैसे ही हों। नीच जाति के नाम से पुकारी जानेवाली श्रेणियों में यदि पैदा हुए, तो चाहे सत्कार्य कीजिए और चाहे तपस्या, इस जन्म में तो समाज में आदर का स्थान मिलेगा ही नहीं, दूसरे जन्म में जाकर आप जो चाहे सो हों। इसी अन्याय के कारण इस समय बहुत सी जातियाँ अपना स्थान और वर्ण बदल रही हैं। कहीं क्षत्रियत्व पर धावा है और कहीं ब्राह्मणत्व पर। यह न आश्चर्य की बात है और न खेद की। प्रत्येक व्यक्ति समाज में प्रतिष्ठा चाहता है। यदि उसे एक स्थान पर सम्मान प्राप्त न होगा, तब वह उसे छोड़कर उस स्थान पर पहुँचने की कोशिश करेगा जहाँ उसे सम्मान मिले। यदि वह आज तक अपनी अप्रतिष्ठा को अनुभव नहीं करता था, तो वह आवश्यक नहीं है कि आगे चलकर भी वह उसे अनुभव न करे और फिर उद्धार पाने का यत्न न करे, किंतु यहाँ पर हिंदुओं की इस जाति-पाँति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। विचार करने के लिए जो बात है वह यह कि हमारे विदेशी हाकिमों ने भी, जो अपने आचार-विचार के अनुसार जाति-पाँति को नहीं मानते और जिनका इस बात का भी दावा है कि अपने व्यवहार में जाति-पाँति के भेद से काम नहीं लेते, हिंदुओं की भाँति बहुत सी जाति-पाँति की रचना कर रखी है। व्यापार, सेना और सरकारी नौकरियों के संबंध में वे जो भेद-भाव रखते हैं, वह बहुत मशहूर है। उस पर बहुत कुछ कहा-सुना और लिखा-पढ़ा जा चुका है। इन कलयुगी विश्वामित्रों ने अपना जगत्-जाल और भी अधिक दूर तक फैलाया है। उन्होंने रचना की है एक नई 'कृषक जाति' की। कई प्रांतों

में कानून बने हुए हैं कि केवल वही लोग जमीन खरीद सकेंगे जो 'किसानी पेशा' वाले होंगे। पंजाब और सिंध में इस प्रकार का कानून आज लगभग 25 वर्ष से रायज है। बुंदेलखंड में भी इसी प्रकार का एक क़ानून है। सरकारी परिभाषा के अनुसार हिंदुओं की कुछ जातियाँ तो किसानी पेशा वाली हैं या वे इस धंधे को कर सकती हैं और शेष जातियाँ इस पेशे को न करती हैं और न कर सकती हैं और इसलिए न वे ज़मीन खरीद सकती हैं, न ज़मींदार व किसान बन सकती हैं। ब्राह्मण कदाचित् हिंदुओं की इन जातियों के भाग्य का निपटारा न कर सके थे। उन्होंने इस बीसवीं शताब्दी में इन विदेशी हाकिमों के द्वारा करने के लिए, इस काम को बाकी छोड़ दिया था!

कहा यह जाता है कि इन क़ानूनों की रचना इसलिए की गई कि कहीं ऐसा न हो कि गरीब किसान कर्ज़ की खातिर अपनी सारी भूमि महाजनों के हाथों में पहुँचा दें और इस प्रकार खेती का काम करनेवाले के हाथों से तो भूमि निकल जाए तथा सूद खाने वाले या कलम चलाने वालों के हाथों में वह पहुँच जाए। किसानों की रक्षा के नाम पर इस अंग्रेज़ी वर्ण-व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ, किंतु उससे न तो किसानों की रक्षा हुई और न हुआ उनका कल्याण। देश को जो हानि पहुँच रही है वह अलग है। किसानों को कर्ज़ अब भी लेना पड़ता है। उन्हें अपनी जमीन अब भी बेचनी पड़ती है। पहले उनकी ज़मीन के ग्राहक अधिक थे। अब इन क़ानूनों के मारे वे कम रह गए, क्योंकि वही लोग ज़मीन खरीद सकते हैं जो हाकिमों की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'किसानी धंधा करनेवाले' कहे जा सकते हैं। इसका फल यह होता है कि जो लोग ज़मीन बेचते हैं उन्हें पहले के से दाम नहीं मिलते। बहुधा सस्ते दामों पर अच्छी ज़मीनें निकल जाया करती हैं। हिंदू बहुत घाटे में रहते हैं, मुसलमान और ईसाई तो सभी किसानी धंधा करनेवाले माने जाते हैं। कल तक जो मुसलमान चूड़ी बेचता था आज वह ज़मीन खरीद करके ज़मींदार और किसान बन सकता है। जो ईसाई कल तक बाइबिलें बेचता था उसे भी यही हक हासिल है, किंतु हिंदू वैश्य और कायस्थ और भी बहुत सी जातियाँ पंजाब, सिंध और बुंदेलखंड में नई वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'किसानी धंधे' के लिए अछूत मान लिये जाने के कारण जमीन को छू नहीं सकतीं। इस प्रकार हमारे प्रभुओं ने किसानी पेशे को जन्मजात बना दिया। कोई नया आदमी इस कूँचे में इन स्थानों में पैर ही नहीं रख सकता।

सरकारी वर्ण-व्यवस्था

जिस प्रकार हिंदू वर्ण-व्यवस्था में अनेक दिल्लगियाँ देखी जा सकती हैं वैसे ही मज़े की बातें इस अंग्रेज़ी वर्ण-व्यवस्था में आप देख सकते हैं। काबुल, ईरान या अरब का मुसलमान पंजाब में आए और वह किसान समझ लिया जाएगा तथा उसे भूमि की प्राप्ति का अधिकार प्राप्त होगा, किंतु पंजाब, सिंध व बुंदेलखंड ही में जन्म लेने वाले लाखों आदमी किसानी के धंधे से जीविका पैदा करने की इच्छा रखने पर भी किसान नहीं बन सकते। हिंदुओं की वर्ण-व्यवस्था में तो इस समय वह ज़ोर भी नहीं, अपने-अपने घरों में सब बैठे हुए हैं, किंतु बाहर किसी की कुछ नहीं चलती, किंतु मनुस्मृति का स्थान इस समय अंग्रेज़ी-स्मृति को प्राप्त है और यह स्मृति इस समय उतनी ही ज़ोरदार है जितनी कि मनुस्मृति अपने समय में रही होगी।

सिंध में हाल में इस क़ानून के असर की सरकारी तहकीकात हुई थी। जाँच एक अंग्रेज और एक मुसलमान अफसर ने की थी। उनकी राय इस कानून के खिलाफ है। वे इसे किसानों और सर्वसाधारण के लिए हानिकारक बतलाते हैं। उनका कहना यह भी है कि हज़ारों किसान व ज़मींदार इस प्रकार के पैदा हो गए हैं जो नई व्यवस्था के अनुसार 'किसान' बने और उसी के कारण वे सस्ते दामों पर जमीन खरीद सके, किंतु यथार्थ में उनका किसानी के धंधे से उतना ही संबंध है जितना कि शेर की गर्जना का पहाड़ से ज्वाला निकलने से। ये नकली किसान शहरों में व्यापार, नौकरियाँ, वकालत, डॉक्टरी आदि काम करते हैं। जिस प्रकार की बाँट खेती-किसानी के काम में हुई है, उसी प्रकार की बाँट सेना की नौकरियों के संबंध में भी है। हम ऊँची नौकरियों की तरफ इशारा नहीं करते। वे तो हिंदुस्तानियों के लिए हैं ही नहीं, क्योंकि हिंदुस्तानियों में हमारे प्रभुओं की समझ के अनुसार अभी तक सादी करने का शऊर नहीं है और इस सहूर के सीखने के लिए अभी बहुत मेहनत तथा बहुत समय की ज़रूरत है। हम तो साधारण सिपाही पद की बात कर रहे हैं। इस पद को भी देश का हर एक आदमी नहीं पा सकता। पुलिस में भी हर एक आदमी भरती नहीं हो सकता।

हमारे प्रभुओं की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार इस देश में दो प्रकार के आदमी हैं। एक तो सैनिक श्रेणी के और दूसरे असैनिक श्रेणी के, इसलिए जो लोग असैनिक श्रेणी के हैं, वे केवल हिंदू ही हैं, वे सेना और पुलिस में भरती नहीं किए जा सकते। हम मानते हैं कि कुछ लोग ऐसे होते हैं कि आरंभ

में किसी काम को नहीं कर सकते, किंतु हम यह नहीं मानते कि दुनिया में कोई भी समुदाय ऐसा है जो किसी काम को कभी नहीं कर सकता। संसार का इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है कि लोग ऐसे समुदायों से ऊपर उठे जो बिलकुल निकम्मे समझे जाते थे और बढ़कर अपने देश या संसार भर के आकाश में सूर्य व चंद्र की तरह चमके।

जो बात अत्यंत कठोर हिंदू वर्ण-व्यवस्था ने न की थी वही अंग्रेज़ी वर्ण-व्यवस्था ने कर दिखाई। हिंदू समय तक में जो लोग बहुत छोटे समझे जाते थे, उन्हें भी किसी-न-किसी अवसर पर आगे बढ़कर कदम मारने का मौका मिल ही जाता था। उन तक में राजा और सेना-नायक हुए हैं, किंतु आज इस बीसवीं शताब्दी में उदारता और विश्वबंधुता की छाया तले, अंग्रेज़ी शासन ने एक ऐसी वर्ण-व्यवस्था रच डाली है जिसकी दीवारें इतनी ऊँची हैं कि उसके पवित्र अंतरतम में वे लोग जो एक बार 'अछूत' करार दे दिए गए, कभी पैर रख ही नहीं सकते। नवीनता के आवरण में अन्याय, मूर्खता और स्वार्थ का यह ढका हुआ रूप है। हम इसकी शिकायत करते हैं और हम अनुभव करते हैं कि आगे का इतिहासकार इस रचना का वैसा ही तिरस्कार करेगा जैसा कि हम इस समय कर रहे हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं कि हम यह भी अनुभव करते हैं कि हमारे ही किए पापों का यह फल है और जैसे हमने अपने करोड़ों भाइयों को बाँधा व दबाया तथा उसके लिए अब तक अनेक मनोहारिणी दलीलें पेश करते हैं वैसे ही हम भी असंख्य रीतियों से बाँधे एवं दबाए जा रहे हैं और हमारे इन बंधनों के अनेक सुंदर कारण हमारे तथा संसार भर के सामने पेश किए जाते हैं।

'प्रताप', 13 फरवरी, 1927



मूर्खता का अखंड राज्य

छोटे बच्चों की तरह हम सोचते हैं। उन्हीं की तरह हम काम करते हैं। इस समय बहुत दूर की बात नहीं कहना चाहते। पाठकों के सामने कोई व्यापक समस्या भी पेश नहीं करते। एक बहुत ही साधारण सी बात पर उनका ध्यान खींचना है। इसी सप्ताह बकरीद हुई थी। बकरीद बहुत बड़ा त्योहार है। देश के सात करोड़ आदमियों का हर्ष दिवस है। उनकी धर्म-पुस्तकों में उसका बड़ा माहात्म्य है। उस दिन वे परमात्मा के नाम पर कुरबानी करते हैं। कुरबानी उस चीज़ की जिसे वे बहुत प्यार करते हैं। आज सदियों से यह त्योहार इस देश में मनाया जाता है। इस अवसर पर वे खूब खुश होते हैं और परम पिता के चरणों पर अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए मिलकर नमाज़ पढ़ना अपना कर्तव्य मानते हैं। थोड़ा-बहुत जो इतिहास हमारे पास है, थोड़ा-बहुत जो प्रामाणिक हाल हमें बादशाही तथा नवाबी ज़माने का मालूम है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उस समय भी, जबकि मुसलमानों की इस देश में चलती थी, बकरीद का त्योहार ऐसा न था जैसा वह इस समय है। उस समय तो वह खुशी की तिथि थी। कम-से-कम चिंता और आकुलता का पर्व तो न थी, जैसी कि वह आजकल है। इस समय तो बकरीद का आना प्लेग या हैजे के समान है। बहुत पहले से शोर उठ पड़ता है। हाकिम भी तैयारी करते हैं। अपनी तोप-बंदूक सँभालते हैं। रास्तों पर मोरचे लगाए जाते हैं। सवारों की गश्त से सड़कें रौंदी जाती हैं। चौराहे-चौराहे पर मंदिर और मसजिद पर पहरे लगते हैं। तलवार की छाया में दूसरों का खून सुखाते और अपना पर्व मनाने वालों को भी शांति के सुख से वंचित रखते हुए यह त्योहार देश के इस छोर से उस छोर तक मनाया जाता है। उसकी

समाप्ति के पश्चात् समाचार-पत्र बड़ी उत्सुकता से देखे जाते हैं। लोग एक-दूसरे से पूछते हैं कि कहीं झगड़ा तो नहीं हुआ? इस प्रकार बकरीद क्या आती है, एक आँधी आती है, एक भूकंप आता है, जिसके आने के बाद सभी लोग अपने-अपने सिरों के ऊपर की छत को देखते हैं कि वह वहीं तो है या नहीं जहाँ वह पहले थी? हम बकरीद की तौहीन नहीं करते। हम उसे खूनी त्योहार नहीं समझते। हम उसके भीतर जो तत्त्व निहित है उसको ऊँचा मानते हैं। हम यह भी देख रहे हैं कि जो व्यग्रता बकरीद के समय पर रहती है अब मसजिद और बाजे के प्रश्न के कारण लगभग सभी बड़े त्योहारों पर उसी प्रकार की आकुलता का राज्य रहने लगा है। ऐसा भासित होता है कि थोड़े ही दिनों के पश्चात् शायद होली और दशहरा इस चिंता के क्षेत्र में बकरीद से भी बाजी मार ले जाएँगे। इस समय हमने बकरीद का उल्लेख केवल इसलिए किया कि अभी कल ही उसकी निकासी हुई है, जो बातें इधर और उधर से उसके संबंध में आई हैं, उनका गहरा असर हमारे मन पर है। हमें यह देखकर बहुत दुःख होता है कि लोगों ने समझदारी से काम लेना छोड़ दिया है। वे गहराई से किसी बात पर विचार ही नहीं करते। लड़कों की तरह चीखते-चिल्लाते हैं। उन्हीं की तरह रोते और जिद करते हैं। उन्हीं की तरह डरते और भागते हैं। उन्हीं की तरह बहकावे और फुसलावे में आ जाते हैं। दानापुर को छोड़कर बकरीद सलामती से गुजरी। जहाँ सलामती भी रही, वहाँ भी जो बातें सुनने में आई हैं, उनसे यह प्रकट नहीं होता कि हमारे आदमी तनिक भी समझदार और साहसी हैं। काशी में कहीं किसी ने गोमांस डाल दिया, बस तहलका मच गया। ऐसा ही गुरदासपुर में हुआ। प्रयाग में किसी ने गप उड़ा दी कि पास के एक गाँव में उपद्रव हो गया। बस लोग परेशान हो उठे। इसी प्रकार कलकत्ता में किसी ने गप हाँक दी, बस हड़कंप मच गया। पानीपत के मुसलमान ऐंठे रहे, उन्होंने ईद नहीं मनाई। देहली में अमन तो रहा, किंतु अब लोगों के हृदय सुलग रहे हैं। हमारे हाकिम बड़े खिलाड़ी हैं। पहले तो उन्होंने कह दिया कि जो रास्ते वर्जित करार दे दिए गए उन्हें छोड़ बाकी जहाँ से चाहो वहाँ से कुर्बानी की गाय निकाल ले जाओ, किंतु कुर्बानी से कुछ पहले ही हुजूर का हुक्म पलट गया। दो रास्ते बंद कर दिए गए। इस पर मुसलमान बिगड़े हुए हैं। उनके बिगड़ने में जो कमी है उसे मौलाना मोहम्मद अली साहब अपने अखबार 'हमदर्द' में

पूरी कर रहे हैं। मौलाना का दिल इस समय देहली के कुछ रास्तों से गाय के जुलूस निकालने का हक ज़ब्त हो जाने पर उतना ही बेक़रार है जितना कि इस देश की स्वाधीनता का दम भरने वाली संस्था कांग्रेस के किसी प्रेसिडेंट का देश की आज़ादी का हक जब्त करने पर होना चाहिए। वे इस ग़म में अपनी कलम का हाथ उन हिंदू स्त्रियों तक पर बड़ी भद्रता के साथ, बार-बार साफ करना बुरा नहीं समझते जो एक डेपूटेशन के पुरुषों के साथ हाकिमों के चरणों में इस प्रार्थना को लेकर पहुँची थीं कि हमारी गली से कुर्बानी की गाय का जुलूस न निकले। अंत में यह गली बचा दी गई, किंतु इस कीमत पर कि उधर मुसलमान और नए मुल्ला मौलाना मोहम्मद अली ज़हर उगल रहे हैं और इधर इस जीत पर जो हिंदू खुश हैं उनकी बेवकूफी इतनी बड़ी और भयंकर है कि उस पर जितना रोया जाए उतना ही थोड़ा। लाखों गायें हर साल देश में कट जाती हैं। हम आँखों के सामने उनका क्रय-विक्रय देखते हैं। हम आँखों के सामने गायों के स्लाटर-हाउसों (हत्यागारों) को आकाश में अपनी ध्वजा उड़ाते हुए सदा देखा करते हैं। हम जानते हैं कि लाखों गायें प्रति वर्ष गोरी फौज के पेट रूपी गड्ढे को पाटने के लिए कसाई के छुरे के तले जाया करती हैं, किंतु कभी भूलकर भी हम इस हत्याकांड के विरुद्ध अपनी उँगली तक नहीं उठाते। आज तक यह नहीं सुना गया कि गायों के किसी फौजी स्लाटर-हाउस पर हिंदुओं का कोई हमला हुआ, किंतु बकरीद के दिन हमारी गोभक्ति उबल पड़ती है। ज़बरदस्तों से हम जीतते नहीं। अपने-अपने ही से, निहत्थे और बेवकूफ पड़ोसियों पर अपनी गोरक्षा की शेखी झाड़ने के लिए हम टूट पड़ा करते हैं। औंधी अक्ल का कैसा अच्छा नमूना है। एक ओर तो एक शुभ अवसर पर बहुत से मूर्ख देश-भाई भलेमानसों का रंग-ढंग छोड़कर कसाई का बाना धारण करते हैं। जिस अवसर पर उन्हें खुश होना और ढंग से दुनिया को खुश करना चाहिए उस पर वे गरीब जानवर के रक्त से हाथ रँगने व अपने पड़ोसियों की अत्यंत कोमल भावनाओं को पैरों से कुचलने की तैयारी करते हैं, दूसरी ओर हिंदुओं की गोरक्षा की भावना है, जो कहीं मूर्खता एवं मक्कारी का बाना धारण करके और कहीं हाकिमों की खुशामद की चादर ओढ़ कर आगे बढ़ती और अपनी क्रूरता का नाटक खेलती है। यह सब अत्यंत दूषित है। यह सब अत्यंत अदूरदर्शिता, पाप और नासमझी से भरा हुआ है। हमने अपने देशवासियों को बच्चों के समान सोचने

और काम करने वाला कहा है, किंतु बालकों की लीला तथा इस क्रीड़ा में जो समानता है वह केवल इतनी ही है कि जिस प्रकार बच्चे खाँड के टुकड़ों के मोह से घर की अच्छी से अच्छी वस्तु भी इधर-उधर फेंक देते हैं, जिस प्रकार चमकदार शीशों के टुकड़ों पर मुग्ध हो करके वे हीरा-जवाहरात को कुछ नहीं समझते, उसी प्रकार छोटे-छोटे झगड़ों में पड़कर हमारे देश-निवासियों ने जीवन की बड़ी बातों और मूल तत्त्वों को बिसरा रखा है। विदेशी शासक तो यही चाहेंगे। हम यदि इंग्लैंड पर शासक होते, तो अपने कब्ज़े को उस पर कायम रखने के लिए हम यही चाहते कि अंग्रेज लोग बेवकूफी के साथ गिरजे की ईंट और सलीब की लकड़ी पर एक-दूसरे का गला काटते रहें और देश की आज़ादी के सवाल पर उनका ध्यान कभी न जाए। हमारे शासक भी इनसान हैं। वे भी इस इच्छा से ऊपर नहीं हो सकते। आप कब्रों के लिए लड़िए, बकरी की टाँग व गाय के सिर के लिए लड़िए, ताजिया, खपाची तथा पीपल की टहनी के लिए लड़िए और खूब लड़िए, एक-दूसरे का सिर फोड़िए, सदा एक-दूसरे पर उछाल मारने के लिए तैयार रहिए, इन्सानियत छोड़कर सदा हैवानियत का जामा पहने रहिए तथा अपनी इस हैवानियत को कायम रखने और इसको बढ़ाने के लिए जितनी मदद चाहिए वह शासकों से लीजिए। मनुष्य बिजली के इंजन के समान है। उसकी शक्तियाँ काम चाहती हैं। वे अच्छे कामों में लगती हैं और बुरे कामों में भी, जिधर का उन्हें रास्ता मिल जाए। बड़ी सड़क आपके लिए बंद है। उसकी ओर तो आपका ध्यान तक नहीं जाता। गलियों के जाल में आप फँसे हुए हैं। इसी भूल-भुलैया में आप चक्कर काटते रहे हैं। किंतु कब तक ऐसा होगा? कब तक बड़े मार्ग का विस्मरण रहेगा? कब तक गला काटने का काम चलता रहेगा? कब तक मूर्खताओं का अखंड राज्य रहेगा? कब तक आज़ादी जो देश और जातियों के उचित साहस, उचित बुद्धि, तथा उचित उद्यमशीलता का चिह्न स्वरूप है हमसे दूर होगी? क्या हम आज़ाद होते तो ऐसे ही होते? क्या उस समय हम कब्रों और पीपल की टहनी ही पर गले काटते होते? क्या उस समय भी हम मक्कारों और कसाइयों का रूप धारण किए हुए एक-दूसरे की गरदन रेतते फिरते? क्या होता उस समय? यह कि हमारे वीर योद्धा सरहद या विदेशियों के लिए उस शूर-वीरता को अड़ाते जो आज अपने भाइयों की गरदनें नापने और अधिकारियों के चरणों के चूमने की बाजी मारने में लगाई जाती है? हमारे क्रियाशील वाणिज्य-

व्यवसायी दुनिया के देशों में हमारा वाणिज्य फैलाते या आज खूनी खेल में बेवकूफी का फाग खेलते? हमारे युवक संसार भर घूमते, संसार की समस्त विभूतियों से लाभ उठाते, अपना ज्ञान बढ़ाते, राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि के क्षेत्र में अपने देश की पताका संसार भर में उड़ाते, साहस और स्फूर्ति की मूर्ति बनते या इस सड़े पनाले में रेंगते हुए एक-दूसरे को निगल जानेवाले कीड़े बनते? विचारिए तथा देखिए, क्या होता उस समय और, यदि हम मूर्खता के अखंड राज्य में इस समय लीन न हों, तो क्या करना चाहिए हमें?

'प्रताप', 19 जून, 1927



मनचेरशा, अवारी और उनका प्रजातंत्र

1926 का नवंबर मास था। नागपुर के सत्याग्रह आश्रम में इन पंक्तियों के लेखक ने नागपुर के वर्तमान संग्राम के संचालक पारसी युवक श्रीयुत अवारी को पहले-पहल देखा था। दोपहर का समय था। एक अँगीठी के सामने एक बलिष्ठ और तेजस्वी युवक एक मोटी सी रोटी बना रहा था। पैरों में जाँघिया था, शरीर पर कोई कपड़ा न था। चेहरे पर घनी गोल दाढ़ी थी। मुख-मंडल पर सात्विकता की छाप थी। मालूम हुआ कि यही सज्जन अवारी हैं, बातें हुईं। नाम तो बहुत पहले से सुना हुआ था। नागपुर के झंडा-सत्याग्रह के समय ही अवारी की दृढ़ता ने उसके नाम को आगे उछाल दिया था, परंतु बातों से मालूम पड़ा कि आदमी उससे कहीं अधिक गहरा है, जितना कि वह ऊपर से दिखाई देता है।

ऊपरी ढंग भी कम आकर्षक न था। उससे भी विशेषता का कम परिचय न मिलता था। सूरत-शक्ल ही ऐसी थी कि आदमी उसकी ओर आप-से-आप खिंचता था। सादगी ऐसी कि मोह लेने वाली। मालूम हुआ, एक रोट बनता है और उसी से एक दिन नहीं, दो-दो दिन का काम चला लिया जाता है। भोजन भर की जरूरत है, स्वाद की नहीं और भोजन भी चाहे दो-दो, चार-चार दिन न मिले और जब मिले, तब चाहे कच्चे दानों, भुंजे चनों, सूखी रोटी, किसी रूप का। यही हाल पोशाक का था। एक जाँघिया और एक कुरता बहुत है। गरमी तथा सर्दी, पानी एवं लू से शरीर का कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। कोसों कड़ाके की धूप में चला जाए, कँपाने वाली शीत के दिनों अचल बना रहे। वर्षा तो ऐसों की लौंडी ही सिद्ध हुआ करती है।

किंतु इस ऊपरी आन-बान से भी बढ़कर थी उसकी गहराई। इस सीधे-

सादे आदमी के ह्रदय में इतनी गहराई थी कि बड़े-बड़े गोते लगाने वाले उसकी थाह न पाते। उस प्रदेश में घोर मंथन हो रहा था। समुद्र मंथन की भाँति उससे भी रत्नों के निकालने का आयोजन हो रहा था। एक बड़ा भारी विचार, एक बड़े भारी कार्य की तैयारी, उस विशाल मनस्विता की क्रीड़ा क्रोड़ पर नृत्य सा कर रही थी। आप उस कर्मवीर के पास बैठते, बातें करते। कुछ अपनी कहते और कुछ उसकी सुनते तथा आपको उस दबे हुए नहीं, उस छिपे विचार-भंडार-क्रियाशीलता के छलक-छलक पड़ने वाले उस पुंज का पता लगे बिना न रहता। अवारी के मन में प्रजातंत्र की सुंदर कल्पना, उसका चैन न लेने देने वाला चित्र, उसके लिए कुछ करने, कुछ आरंभ कर देने की लगन पूरे बल के साथ विराजमान थी। आप पूछते और वह बतलाता। अपना ह्रदय खोलकर आपके सामने रख देता बड़ी सरलता के साथ और साथ ही बड़े ही आत्मविश्वास के साथ। इसलिए नहीं कि उसे यह मंजूर था कि आपको अलिफ-लैला का किस्सा सुनाए या सुंदर स्वर्ग की कल्पना आपके मानस-पट पर अंकित करके आपके चित्त को थोड़ी देर के लिए हरा-भरा कर दे और न इसलिए ही कि उसे अपने पैर कमजोर मालूम होते थे, और आपका सहारा चाहता था, और न इसलिए ही कि उसे अपनी बुद्धि का भरोसा न था, आपसे आपकी तीव्र और अनुभव से पकी बुद्धि की सहायता चाहता था, किंतु केवल इसलिए कि आप पृच्छक थे और वह आपके सवालों का उत्तर देना उचित समझता था। और इसलिए कि आपको उत्सुकता थी और एक पूर्ण सदाशय व्यक्ति की भाँति, निःस्वार्थ और सरल बुद्धि बालकों के समान उसे छल-कपट से काम लेना नहीं आता, और एक चौथाई बात कहकर वह तीन-चौथाई अपने पेट में रखना नहीं जानता।

उसकी बातों का सुनना एक अत्यंत मधुर कल्पना-संसार के क्षेत्र में विचरण करने के समान था। अंग्रेजी राज्य का पूरा बहिष्कार हो। उसका संपर्क भी न हो। उसकी सत्ता की हम हर तरह पूरी स्पष्टता के साथ उपेक्षा करें। हमारे मन पर से उसकी धाक उठ जाए। हमारे शरीर पर उनकी परछाईं न पड़ने पाए। कहीं लंबी-चौड़ी भूमि का टुकड़ा हो, उस पर राष्ट्रीय तिरंगा झंडा गाड़ दिया जाए। उस पर भारतीय प्रजातंत्र की स्थापना कर दी जाए। भारतीय प्रजातंत्र के लिए संग्राम में प्राण की बाजी लगा देनेवाले योद्धा उसी क्षेत्र में अपनी झोंपड़ी बनाएँ। वहीं रहें, और वहीं का मोटा-झोटा पहनें तथा वहीं की रूखी-सूखी खाएँ। अंग्रेज़ी पैसे से मतलब नहीं, अंग्रेज़ी डाक से मतलब नहीं, अंग्रेजी रेल से मतलब नहीं,

अंग्रेज़ी व्यापार से मतलब नहीं, प्रजातंत्र का शासन-विधान ही दूसरा। उसका कानून-कायदा ही दूसरा। उसका चलन-सिक्का ही दूसरा। उसकी दीवानी और फौजदारी ही दूसरी। 'यूनियन जैक' उसके लिए कुछ नहीं, देहली के वायसराय और इंग्लैंड के राजा उसके लिए कुछ नहीं। उसके लिए तो उसके ही आदमी, उसी के व्यवस्थापक, उसी के संचालक, उसी के नियम। अपना एक बिलकुल ही अलग अस्तित्व, छोटा हो तो भी क्या परवाह? नगण्य हो तो भी क्या हर्ज? कौन सी वस्तु पहले बड़ी थी? कौन बीज से बड़ा नहीं हुआ? लोग हँसेंगे, हँसें। पहले कौन सा नया काम हँसा नहीं गया, किंतु नए काम पुराने हो गए और वे हँसियाँ पुरानी होकर क्या अपने नएपन में ही कुम्हड़बतियों की भाँति मुरझा नहीं गईं? सख्तियाँ होंगी। पहाड़ लुढ़काए जाएँगे। बिजलियाँ ढहाई जाएँगी। किंतु दुनिया का कौन सा बड़ा काम निर्विघ्न और ऐशो-आराम के साथ हुआ? विपत्तियों और बाधाओं की संतारिणी छाया तले ही कल के दिन झंझावात से दशों दिशाओं को हिला सकने वाले आकाशचुंबी वृक्ष का आज के दिन छुई-मुई की भाँति नन्हें से, कोमल से पौधे के रूप में जन्म हुआ है। यदि संसार की आँधियाँ, उसका आतप, उसका शिशिर, सभी नन्हों का नाश कर सकता, तो संसार में 'महान्' नाम का शब्द ही क्यों बचने पाता?

ये विचार उस व्यक्ति के योग्य थे, जिसने प्रजातंत्र के सेनापति की हैसियत से नागपुर के मजिस्ट्रेट के सामने उतना स्पष्ट और वीरतापूर्ण वक्तव्य पेश किया। जो अवारी की दृढ़ता को पहले से जानते थे, वे भी समझते थे कि जो कुछ उसके मुँह से निकल रहा है उसका अर्थ है कि वह जो कुछ कहता है उस पर उसका परम विश्वास है और जो कुछ कहता है वह उसे करेगा, चाहे उसके प्राणों ही पर भले ही बन आए। उस व्यक्ति का चरित्र इस विश्वास का प्रबल आधार है। आज से पहले भी उसने जो कुछ कहा था उसे उसने पूरा ही करके छोड़ा था। वे बातें भी सरल न थीं। वह भी पहले कठिन थीं। वे भी पहले अपरिहार्य दिखाई देती थीं, किंतु उन सबको एक-एक करके उसी दृढ़ता के सामने झुकना पड़ा। सब पर उसकी विजय हुई। झंडा सत्याग्रह के दिनों जेल में दो बार उसे सत्याग्रह करना पड़ा। एक बार तो इसलिए कि खद्दर के सिवा और किसी वस्त्र को शरीर पर धारण नहीं किया जा सकता, इसलिए पहनने के लिए खद्दर दो। जेल में भला खद्दर कहाँ? जेलवाले बे-तरह बिगड़े। इधर अवारी ने भोजन छोड़ दिया। खूब तनातनी रही। 55 दिन तक संग्राम होता

रहा। अवारी ने वस्त्र ग्रहण नहीं किए। नंगा रहा। भूखा रहा। जेल वाले जबरदस्ती रबड़ की नली डालकर उसके पेट में कुछ दूध पहुँचाते। दंड भी मिलता था। पैरों में बेड़ियाँ थीं, हाथों में हथकड़ियाँ। कभी-कभी हथकड़ियों के सहारे दीवार खूँटी पर लटके हुए कोट की तरह लटका भी दिया जाता, किंतु अवारी अपनी बात से न टला। अंत में जेलवालों को थककर उसे खद्दर का वस्त्र देना पड़ा। अन्य कई अवसरों पर भी ऐसा ही हुआ। आगरा और देहली के किले देखने के लिए उसे सत्याग्रह करना पड़ा। उसने टिकट नहीं लिया। गोरा संतरी भीतर घुसने नहीं देता था। अवारी का कहना था कि ये किले हमारे हैं, हमारे बादशाहों ने बनवाए। हमें हक है कि हम इन्हें देखें, तुम बेज कब्जा किए हुए हो और यह तुम्हारा अन्याय है कि तुम मुझे अपनी ही चीज देखने नहीं देते। फाटक पर डट गया। जो आदमी या गाड़ी भीतर जाती उसके साथ वह भीतर रहता। गोली से मार दिए जाने की धमकी दी गई और तब सब कुछ बेकार हुआ, जब अंत में अवारी को रास्ता देना पड़ा। कहते रहे कि पागल है, किंतु इस समझदार पागल के पागलपन के सामने उन्हें सिर झुकाना पड़ा। नागपुर के अधिकारियों के साथ तो हुई खींचातानी नित्य की बात थी। अवारी और पुलिस वाले, अवारी और अधिकारी सदा एक-दूसरे के मुकाबले में रहते और अवारी की भीष्म-प्रतिज्ञा का रोब उसके विपक्षियों पर इतना था कि वे वहाँ उस प्रकार रास्ता दे दिया करते थे जिस प्रकार छूटे हुए साँड़ों को बस्ती में दे दिया जाया करता है।

लोग कहेंगे कि वह स्वप्न देखने वाला है, किंतु स्वप्न तो सभी बड़ों ने देखा। आजकल के आदमियों ने, आज से पहले डी-वेलरा और कमाल पाशा, लेनिन तथा सनयातसेन ने भी स्वप्न देखा था। आज के बहुत से स्वप्न तो कल सत्य होते देखे गए हैं। लोग कहेंगे कि वह पागल है।

लोगों का यह तर्क उनकी व्यावहारिक बुद्धिमत्ता का परिचायक है, किंतु महात्मा गांधी भी पहले पागल थे और जितने लोग ऐसी कोई बात कहते हैं, जो केवल साधारण बातों ही को समझ सकने वालों की साधारण समझ में नहीं आतीं, वे आज से पहले भी पागल के नाम से पुकारे गए। एक प्रकार के लोग और भी हैं। वे कहते हैं, बातें अच्छी हैं, किंतु उसके लिए समय ठीक नहीं है। कहते हैं, जमीन तैयार नहीं है, पहले से उसे कुछ तैयार कर लेने की जरूरत थी। वे आयरलैंड की ओर उँगली उठाते हैं। कहते हैं कि प्रजातंत्र

के आंदोलन का सफल होना और न होना बात दूसरी है, किंतु वह ज़ोर वहीं पकड़ता है जहाँ के लोग छोटे तथा बड़े, बूढ़े एवं बच्चे, स्त्री व पुरुष सभी के हृदय क्षेत्र कुछ ऊँचे उठे हुए हों और वे अधिकारियों की मार से आहत अपने भाइयों के हृदय पर नमक छिड़कने वाले न हों, उन्हें धक्के न मारते हों और ज़रूरत पड़े तो उन्हें अपने हृदय में छिपाते हों। बात पते की है, किंतु तो भी अवारी के व्यक्तित्व, उसके विचार और कार्य की कम-से-कम उपेक्षा तो नहीं की जा सकती। अवारी की मूर्खता की अपेक्षा, क्या देखने वालों की नज़रों में, उसका देश-प्रेम अधिक नहीं समा सकता? ऐसा नहीं हो सकता कि हम अपनी बुद्धिमत्ता की बदौलत जिस परवशता से पूर्ण और विकास का पूर्णरूपेण संहार करनेवाले वायुमंडल में जिंदा रहना, चलते चलना, खाते जाना और कच्चे-बच्चे पैदा करते जाना असहनीय, असंभव और अधिक असुखकर अनुभव न करते हों उसी को हमारा दूसरा भाई, हमारा एक भाई जिसका नाम अवारी है, अत्यंत असंभव और असहनीय समझे। जिसे हम बुद्धिमत्ता समझते हों उसे वह चेतना-शून्यता माने। जिसे हम चले चलना मानते हों उसे वह नाटकीय जीवन गिने। अवारी और उनके से 'असहिष्णु' देशभक्त को ठीक-ठीक समझने तथा अपनी समझदारी के उद्रेक में बिलकुल न बह जाने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी बुद्धि आज़ादी की चाह की एक ऐसी अवस्था के अस्तित्व को भी स्वीकार कर लेने की कृपा करे, जो किसी शर्त पर भी वर्तमान अवस्था से सुलहनामा करने के लिए तैयार नहीं है। कुछ, थोड़े से बुद्धिमान शायद इस अवस्था को असंभव मानें और शायद वे उसे बेवकूफी का एक पलटा हुआ रूप मानें, किंतु जहाँ अक्ल के साथ सहृदयता होगी, जहाँ आदर्श-प्रेम के लिए जीना तथा मरना कुछ भी भला समझा जाता होगा, वहाँ इस प्रकार से जान देनेवाले किसी का उपहास कभी न होगा।

कांग्रेस अब क्या करेगी? नागपुर सत्याग्रह की उसे जाँच करनी है। अधिकारी कहते हैं कि अवारी अहिंसात्मक नहीं, वह रक्तपात का संदेश-दाता है। यह गलत है, अवारी इस मामले में महात्मा गांधी का पक्का चेला है। उसके बम, तलवार मारने के लिए नहीं हैं। वह उन्हें केवल अपने अधिकार के रूप में रखता है, उसकी स्कीम में किसी को मारने-पीटने की गुंजाइश नहीं है। बड़े-बड़े अपराधी तक तोते-मैना की भाँति पिजड़े में बंद किए जाएँगे। उसने हथियारों के रखने की सीधी सी बात पा ली है। वह कहता है, तुम

मना करते हो, हम नहीं मानते, हमारा अधिकार है, किंतु कांग्रेस का या और किसी का यह समझना कि हथियारों का यह प्रदर्शन केवल बंगाल के नज़रबंदों के कारण है, एक बड़ी भारी भूल होगी। यह तो अनेक कारणों में से केवल एक है। इन्हीं अनेक कारणों से अवारी के मतानुसार अंग्रेजों का इस देश पर राज करने का अधिकार नहीं रहा और इसीलिए अवारी ने अपना 'प्रजातंत्र' आंदोलन चलाया। स्पष्ट शब्दों में अवारी भारतवर्ष के लिए स्वतंत्र प्रजातंत्र का पोषक है। उसका यह आंदोलन केवल बंगाली नज़रबंदों की रिहाई के लिए नहीं है। इन नज़रबंदों के लिए नागपुर नगर में तलवार लेकर चलने के माने कुछ भी नहीं होते। यह तो 'मारूँ घुटना, फूटे आँख' वाली बात होगी। नज़रबंदी का प्रबल विरोध बंगाल ही में प्रबल रूप से हो सकता है। नागपुर में उसकी जड़ नीचे तक नहीं जा सकती। नागपुर के अवारी संग्राम का उद्देश्य तो कुछ और ही है। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में, वह, चाहे वह इस समय न चल सके, चाहे वह इस समय इतना दब जाए कि पता ही न लगे कि उस प्रकार की किसी गति का कभी कोई जन्म हुआ भी, किंतु आगे आने वालों के लिए वह एक नए युग के आविर्भाव सदृश होगा। जेल में यदि अवारी मर गया, कोई आश्चर्य नहीं, वह दृढ़-प्रतिज्ञ है ही, उसने खाना-पीना छोड़ रखा ही है। अधिकारी भी पहले से अधिक पाषाण-हृदय हो गए हैं। बंगाल जेल कमेटी की रिपोर्ट ने उन्हें और भी संगदिल तथा शेरदिल बना दिया है। यदि वह मर गया तो हानि होगी, किंतु लकीर और भी गहरी खिंच जाएगी तथा मेक्स्वनी की आत्मा ने आयरलैंड में आग लगा दी, तो अवारी की आत्मा यदि आज नहीं, तो कल वही काम यहाँ करेगी।

'प्रताप', 19 जून, 1927

●

ऊँचे पहाड़ों के अंचल में-1

जेल के कैदी जेल को जेल और जेल के बाहर के स्थान को 'दुनिया' के नाम से पुकारते हैं। इसी प्रकार पहाड़ में रहने वाले लोग अपने देश को 'पहाड़' और नीचे के देश को 'देश' के नाम से पुकारते हैं या यों कहिए कि जो स्थल उनकी दृष्टि से 'देश' के नाम से पुकारे जाने योग्य है उसमें पहाड़ नहीं होना चाहिए। हमारे प्रांत में नैनीताल के लिए देश और पहाड़ की सीमा अलग-अलग बँट जाती है। प्रांत की ग्रीष्म राजधानी होने के कारण नैनीताल की इतनी ख्याति है। पहाड़ के बहुत से लोग उसे गुण में बहुत बढ़ा-चढ़ा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। अलमोड़ा के किसी आदमी से बातचीत कीजिए, वह यही कहेगा कि यह अंग्रेजों की परख है, नहीं तो कहाँ अलमोड़ा और कहाँ नैनीताल। अलमोड़ा की जलवायु तथा पहाड़ों को वह दिव्य कहेगा और नैनीताल की उन चीजों को बहुत साधारण बतलाएगा। नैनीताल समुद्र तल से लगभग साढ़े छह हजार फुट ऊँचा है। अलमोड़ा इतना ऊँचा नहीं। एक मित्र का कहना है, अलमोड़ा साढ़े पाँच हजार फुट ही ऊँचा है, किंतु अलमोड़ा का नागरिक इस बात से अपने नगर की हार मानने के लिए तैयार न होगा। वह छूटते ही कहेगा कि इन्हें पर्वतों पर यह घमंड, नैनीताल की पहाड़ियाँ कच्ची और बोदी हैं, बरसात में गिरती-पड़ती और जान की ग्राहक बनी रहती हैं। बात बहुत कुछ सच भी है। आँधी-पानी में नैनीताल की पहाड़ियाँ टूटा-फूटा करती हैं। जून के तीसरे सप्ताह में दो-तीन दिन खूब पानी गिरा। सड़कों पर पहाड़ियों के ढोके टूट-टूटकर आ गिरे। रास्ता तक रुक गया। यदि किसी राह चलते पर ये ढोंके गिरते, संतोष की बात इतनी ही है कि यहाँ राह चलना उतना नहीं होता जितना देश के रास्तों में होता है, तो बेचारे बटोही की खैरियत न होती।

मस्तानी चाल से आराम के साथ चलने वाली रूहेलखंड-कुमायूँ रेलवे की रेलगाड़ी यात्री को बहुत प्रातःकाल अपने अंतिम स्टेशन काठगोदाम पर पहुँचा देती है। आधी रात को बरेली स्टेशन की चपटी भूमि तथा उसकी चहल-पहल में आप अपना बिस्तरा आप से आप रिजर्व्ड रहने वाली तीसरे दर्जे की सीट पर बिछा लीजिए और यदि आप रेल पर सो सकें तो बस सबेरे चिड़ियों के चहचहाने एवं भगवान अंशुमाली की लालिमा के उदय के साथ ही आरब्योपाख्यान (अरबी + उपाख्यान) के अलादीन के चिराग द्वारा किए गए आश्चर्य-कांड के सदृश, एक दृश्य आँख खोलते ही सामने आ जाएगा। ट्रेन से सिर निकालते ही मालूम पड़ेगा कि ऊँचे पहाड़ों की गोद में आ गए। मानो उनके लंबे हाथ आह्वान के लिए बढ़कर सामने से अगल-बगल की ओर फैल गए। चपटी जमीन से उठकर फैली हुई ऊँची शिखाओं पर दृष्टि का पड़ना हृदय और नेत्रों के आह्लाद का एक चमत्कारपूर्ण सामान प्रदान करता है। स्टेशन से बाहर होते ही सामने मोटर और लारियाँ दिखाई देती हैं। आज से 9-10 वर्ष पहले यदि आप इसी यात्रा के लिए आते, तो आपको इतनी मोटर और लारियाँ न दिखाई देती और न सब लोग 15 मील के रास्ते को छोड़कर मोटर के 22 मील के रास्ते से नैनीताल जाया करते थे। वीरचट्टी तक तो एक ही रास्ता था, लगभग 13 मील तक। उसके बाद मोटर वाले नौ मील के रास्ते को पकड़ते थे और दूसरे प्रकार के यात्री कच्चे रास्ते को जो सीधा था, केवल दो-ढाई मील था, किंतु था कुछ ऊँची चढ़ाई पर। पहले काठगोदाम पर ताँगे-इक्के और कुली काफी तादाद में मिला करते थे। अब, वहाँ उनका नाम भी नहीं मिलता। पहाड़ी कुली ईमानदारी के पुतले थे और अब भी, देश के आदमियों की इतनी सोहबत पा चुकने के पश्चात् भी, उनका हृदय अभी तक बहुत नहीं बिगड़ा है। पहले तो यह हालत थी कि आप अपना कीमती-से-कीमती सामान उन्हें दे दीजिए, जहाँ उसे पहुँचना होता उसका पता लिखकर दे दीजिए, बस इतना ही काफी होता, आप निश्चिंतता से चलिए। धीरे-धीरे भारी बोझ को लाद कर पहाड़ की सीधी ऊँचाई को पार करता हुआ यह भारवाहक अधिक-से-अधिक संख्या तक आपका समस्त सामान आपके ठिकाने पर ज्यों का त्यों पहुँचा देगा। अतीत काल से चले आनेवाले उसके इस काम और इस आचरण को देखकर और इस समय भी जहाँ मोटर और लारियों ने अपना धुआँ और अपने साथ ही अपना दुराचार नहीं पहुँचाया है,

वहाँ अब भी सतयुगी बदरी-केदार से लेकर मसूरी के कलियुगी मार्ग तक पहाड़ी मजदूर का वही सतयुगी रंग-ढंग है। उसे देखकर आप यही कहेंगे कि ईमानदारी की यह कितनी सजीव मशीन है। कहते हैं कि पहाड़ों में सर्वत्र सदाचार का यही पैमाना है। इस पैमाने में कहीं-कहीं घुन लग गया है और वह लगा है नीचे से जाकर अपनी कलुषता के रंग में पहाड़ियों को रँगने वाले नीचे के आदमियों द्वारा।

मोटरों तथा लारियों से यात्रा तय तो होती है बहुत सुविधा के साथ और कम समय में, किंतु यदि संसार के सारे कामों की कीमत आने-पाई एवं घंटों व मिनटों ही के भाव से कूती न जाए, तब तो यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इन मोटर और लारियों ने देश को जो हानि पहुँचाई सो तो पहुँचाई ही, हमारे पहाड़ों को उन्होंने बहुत भारी हानि पहुँचाई। नि:संदेह यात्रा जल्द कट जाती है। एक आदमी पर उतना खर्च नहीं पड़ता। दो रुपए में 22 मील की यात्रा आनंद से कर लीजिए, किंतु यह भी तो देखिए कि कितनों के मुँह का ग्रास छिन गया। एक दिशा की ओर और भी संकेत किया जाता है। मोटर और लारियों के प्रवेश ने पहाड़ों में कुटिल वर्ग के कुछ बड़े ही अनर्थकारी लोगों को उस सीधे-सादे प्रदेश में लूटने, खाने तथा व्यभिचार करने के लिए खुला छोड़ दिया है, किंतु इस हानि के संबंध में यदि आप यही समझ लें कि मोटर और लारियाँ न चलतीं तो भी वह होती ही। 16 आना न होती, तो 15 आने से कम भी न होती, किंतु तो भी दूसरी हानि और बड़ी हानि है, बहुत से गरीब आदमियों के मुँह से रोटियों के छिन जाने की। कितने ताँगे और इक्के वाले थे, कितने टट्टू वाले और कुली थे। मेरे पास कोई निश्चित अंक नहीं, किंतु इन लोगों की तादाद कई सौ तक पहुँचती थी। एक-एक आदमी के पीछे एक-एक परिवार था, ताँगे के बाने बनाने वाले लोहार और बढ़ई थे। घोड़ों के नालबंद थे। इस प्रकार हजारों का पेट चलता था। सब नहीं, तो करीब-करीब अधिकांश मोटर लारी की माया के सामने उड़न-छू हो गए। उनका पता नहीं, मोटर लारी इनी-गिनी कुछ तो कानपुर की अंग्रेज कंपनी ब्रिटिश इंडिया कॉरपोरेशन की हैं और कुछ देशी और पहाड़ी लोगों की, जिनमें मुश्किल से सौ-डेढ़ सौ आदमी ही लगे हुए हैं। उनका लाभ भी दस-पाँच आदमियों को मिलने वाला। देश में यदि मोटर और लारियाँ बनती हों, तो भी कुछ संतोष हो कि इस प्रकार कुछ आदमियों का पेट कारखाने से तो चलता ही है, किंतु यह भी

कहाँ! यहाँ तो मोटर और लारी के नाम पर जितने रुपए अलग हुए वे सदा के लिए अलग हुए। सात समुद्र पार इंग्लैंड व अमेरिका जा पहुँचे और उनसे अपने आदमियों का नाता सदा के लिए टूटा।

पहाड़ की शान देखते ही बन पड़ती है। हमारे लिए वे नई चीज हैं और उनके लिए हमारी आँखें नई चीज हैं। नीचे के आदमी और विशेषतया, देहात के आदमी जिनकी दृष्टि के सामने सदा चौपट भूमि रहती है, जिन्हें बाग-बगीचे चाहे जितने दिखाई दें और गंगा तथा यमुना की धारें चाहे जितना मन मोहती रहें, किंतु कभी ऊँचे टीले और गहरी खाइयों, आकाशचुंबी गगन-चोटी और पाताल तक मुँह बाए हुए घाटियों के देखने का अवसर कभी नसीब ही नहीं होता, उनके लिए तो यह सब नया-ही-नया है। आकाश का सिरा जोड़ने वाले पहाड़ी 'नोक' से सफेद लकीर की शकल में खिंचे हुए आते झरने की उस तेज धारा से लेकर जो आकर नीचे घाटी में उतर जानेवाले जल-स्रोत का जीवन-अंग बन जाती है और चलने वाले हारे-थके प्यासे पथिक के कलेजे को शीतल तथा उसके श्रम को हर तरह हरने वाली है, उससे लेकर चारों ओर की आँखों को रिझाने वाली हरियाली और छोटे-बड़े, टेढ़े-सीधे, तने हुए व झुके हुए अगणित वृक्षों तक सभी नए-ही-नए हैं। तने हुए सीधे चीड़ के वृक्षों के अनंत समूह एवं पंक्तियाँ और एक कोने से निकलकर एकदम किसी विशाल पर्वत की ऊँची चोटी का सामने आ जाना तथा पार्श्व में गहरी, जहाँ तक आँख जाए वहाँ तक का पता न देनेवाली, किसी गहरी खंदक का निकल पड़ना, मन पर एक ऐसे विचित्र रोमांचकारी हर्ष का प्रादुर्भाव करता है कि थोड़ी देर के लिए तो साधारण आदमी तन की सुध-बुध बिसर जाए। पहाड़ी दृश्य की निर्जनतायुक्त यह भैरव-विशालता शुष्क हृदय तक में कविता का स्रोत बहा सकती है। हिमालय की यह प्रारंभिक सूत्रावली ही जब इतनी सुंदर और मनोहारिणी है, तो आगे का कहना ही क्या। इस वैभव को देखकर मन सद्प्रेरणाओं से और उल्लास से जितनी उड़ान मारता है, पहाड़ी प्रदेश की दशा को देखकर उसे उतने ही नीचे भी आना पड़ता है। अकुलाकर कह उठता है कि तुम इतने ऊँचे होते हुए भी आज इतने नीचे, इतने दीन क्यों? पहाड़ों के आदमियों को देखिए। दीनता उनके मुख-मंडल से टपकती है। उनके कामों और उनकी गति से वह चुई पड़ती है। इतना दबा हुआ कलेजा क्यों? इतनी दबी हुई गति क्यों? यही नहीं, पहाड़ों के निवासियों की दूर तक यही दशा है। कहते हैं,

शिमला की पहाड़ियों के लोगों का भी यही हाल है। और कश्मीर के सुंदरता के टुकड़ों की भी यही बुरी दशा है। सभी दबे हुए हैं और सभी पशु समान हाँके जा सकते हैं। घोर दरिद्रता ने उन्हें पीस ही रखा है। शताब्दियों की दासता और पराधीनता भी उन्हें मनुष्य से कीड़े बनने के लिए विवश किए हुए है। पराधीनता एकांगी नहीं होती। वह चौमुखी बनकर देशों और जातियों को हड़पती है। सब तरफ की पराधीनता ने पहाड़ वालों को पेट के बल पर रेंगने वाला बना दिया। जब इनकी इस दीन अवस्था पर ध्यान जाता है और जब ऊँचे उठे हुए पर्वत-शिखरों पर उनके वर्तमान वैभव तथा उनके द्वारा बैठाए जा सकने वाले आतंक पर विचार जाता है, तब मन यही पूछने के लिए विवश होता है कि इस प्रदेश ने अपना शिवाजी क्यों नहीं पैदा किया? पश्चिमी घाट के छोटे-छोटे टीलों ने जंगल की आग की तरह बढ़ती हुई बादशाही सत्ता और उनके भारी भविष्य की रक्षा के लिए अपने उत्साह और शौर्य के पुतले के रूप में शिवाजी के अस्तित्व को ऊपर उठा दिया, जिसने किले मारे, और मैदान मारे, दो फतह किए तथा साम्राज्य की बुनियाद डाली और यह सबकुछ किया अपने छोटे-छोटे पर्वतों की आड़ में, उनकी सहायता से, उनके दर्रे और वृक्षों की सहायता से। तब फिर ऐसा ही काम, हिमालय के उच्च शृंगों के आधारशिला के प्रदेश में क्यों नहीं हुआ? यहाँ के ऊँचे शृंगों पर से शत्रुओं की सेनाओं के मार्ग रोकने के लिए पत्थर के ढोके क्यों नहीं गिराए गए? क्यों नहीं उनका रास्ता रोका गया? क्यों नहीं उन्हें खंदकों में ऐसे गड्ढों में जो आज तक मुँह बाए पसरे हुए हैं और जिनकी क्षुधा अभी तक नहीं मिटी, उन्हें गिराया गया? क्यों नहीं उनमें शिवाजी, दुर्गादास, राणा प्रताप और तात्या टोपे की तरह वीर पैदा हुए? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता। पर्वत की ये चोटियाँ इन्हें सुनती हैं, गुनती हैं और मूक रहती हैं। राह चलता यात्री यदि उनसे ये प्रश्न बारंबार करता है, तो ऊँची चोटियों से उसकी वाणी टकराकर केवल प्रतिध्वनि हो उठती है और भासित होता है कि मानो मुँह चिढ़ाती सी हैं।

'प्रताप', 17 जुलाई, 1927



ऊँचे पहाड़ों के अंचल में-1

ऊँचे पहाड़ों के अंचल में-2

लगभग 11 बजे रात को नैनीताल नगर की अट्टालिका के बीच के खंड में बैठे हुए, कई पहाड़ी मित्र प्रदेश की सामाजिक और आर्थिक अवस्था पर विचार कर रहे थे, बाहर सन्नाटा था। केवल पीछे बहने वाले नाले की कल-कल ध्वनि इस सन्नाटे को भंग करती थी। भीतर वाद-विवाद का जोर था। वह पक्ष जो पहाड़ों में अधिक बुराई न पाता था, परास्त होता जाता था। मुक्त कंठ से अपनी हीन दशा पर आँसू बहाने वाले उन्हें कदम-कदम पर दबाते जाते थे। हम देश वाले श्रोता थे। देश में कुरीतियों तथा कुकर्मों की कमी नहीं है, किंतु पहाड़ों की दशा, ऐसा मालूम होता है, और भी गिरी हुई है। दरिद्रता का वहाँ बहुत जोर है। गरमी ही के दिनों में कुछ कमाई हो जाती है। जाड़े में तो सिकुड़ना और ठिठुरना ही होता है। खेती की कमी है। व्यापार और व्यवसाय है ही नहीं। दो काम यहाँ खूब हो सकते हैं। एक तो फलों की खेती और दूसरे ऊन का व्यवसाय, किंतु दरिद्रता व सीधेपन ने पहाड़ियों को इधर बढ़ने ही नहीं दिया। फल की खेती का अधिकांश गोरे लोगों के हाथों में है। उन्होंने पहाड़ी प्रदेश में लंबी-चौड़ी जमीनें ले रखी हैं। उनमें उनके बड़े-बड़े बगीचे हैं, जिनमें फल होते हैं और बाजारों में जाकर बिकते हैं। ऊन का काम कुछ तो होता है, किंतु उसके लिए बहुत व्यापक क्षेत्र है। पहाड़ों में इतनी प्राकृतिक विभूति और पहाड़ी लोगों के अंदर इतनी अधखुली शक्ति अभी दबी पड़ी है कि थोड़े ही समय में उद्योग द्वारा वे स्विट्जरलैंड के सदृश इतने सुखी एवं संपत्तिवान हो सकते हैं कि उनके ऐश्वर्य पर सभी का मन ललकने लगे।

अति की दरिद्रता, अति की धनाढ्यता ही पापों का मूल है। पहाड़ों में जो कुछ मन को बहुत बुरा लगने वाला मिलता है, उसका जन्म अति की दरिद्रता

के कारण ही है। बहुत वर्ष हुए एक दुर्भिक्ष के समय गढ़वाल का वर्णन लिखते हुए कांगड़ी के गुरुकुल के एक स्नातक ने बड़े भोलेपन के साथ, 'सद्धर्मप्रचारक' में कहा था कि यहाँ तो लड़कियाँ पेड़ के पके फल की भाँति हैं, हाथ बढ़ाइए और तोड़ लीजिए। इस बात पर उस समय कुछ कोलाहल भी मचा था, किंतु यही बात किसी-न-किसी रूप में अभी तक कही और सुनी जाती है, किंतु भला और बुरा दोनों कहाँ नहीं हैं? किसी जगह नितांत बुरा-ही-बुरा देखना कुछ अपनी तबियत की प्रतिछाया देखना है। प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की ने ऐसे ही लोगों के लिए कहा है कि विदेशों में जाने पर, जो जैसा होता है, वह वैसी ही चीजों को ढूँढ़ने और देखने लग जाता है। क्या पहाड़ों के बाहर पैसे के बल पर उतना ही दुराचार नहीं होता? पहाड़ों की नायक जाति बहुत बदनाम है। उनकी लड़कियाँ वेश्या का पेशा करती हैं। वे समझती हैं और उनकी जाति के पुरुष भी यही समझते हैं कि विधि ने उनकी रचना ही इस काम के लिए की है। वे किन्नरी हैं, अप्सरा हैं—पहले देवलोक-वासियों की सेवा करती थीं, अब भूलोक वालों की। समाज की पुरानी व्यवस्था ने उन्हें अपने क्षेत्र में एक स्थान दे रखा था। न तो वे कोई और काम करती थीं, और न दूसरी स्त्रियाँ उनके काम को। वे अपने को 'क्षत्रिय' कहती हैं। उनके अपने आचार-विचार हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि मनुष्य की विकार-वृत्ति ऐसे अनिवार्य और बलवान वेग के अच्छे नियंत्रण के लिए यह यथा-संभव स्पष्ट, सुरक्षित और आपदा-शून्य व्यवस्था सी है। अब समाज-सुधारक पैदा हो गए हैं। कहते हैं, नायकों की इस बात को उड़ा देने के लिए कानूनों की रचना भी होने वाली है। संभव है नायक और नायिकाएँ समाप्त हो जाएँ, परंतु उनका स्थान समाप्त नहीं होने का। इसीलिए तो पहाड़ की अन्य जातियों में भी यही दुराचार उसी प्रकार देखने में आता है जैसे 'देश' में दिखाई देता है।

'डोम' पहाड़ों में बहुत व्यापक शब्द है। उसमें अनेक छोटी-छोटी जातियाँ शामिल हैं। वे सब अछूत समझी जाती हैं। पहाड़ के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उन्हें पास नहीं फटकने देते। एक बार पूछने पर मालूम हुआ कि जितने 'शिल्पकार' हैं जैसे बढ़ई, ठठेर आदि वे भी अछूत ही माने जाते हैं। हाथ से परिश्रम करके न केवल अपना पेट भरने, किंतु बड़े आदमियों के लिए सात-खंडों का भवन खड़ा करनेवाले लोगों की यह दुर्गति हिंदुओं के इस भयंकर पतन का एक बहुत बड़ा कारण है, किंतु अब भी आँखें नहीं खुलतीं। पहाड़ों में तो और भी दुर्दशा

है। इन छोटी जातियों में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है। हाथ-पैर वैसे ही, नाक-कान वैसे ही, सुडौलता में भी कमी नहीं, और लावण्य भी कहीं अच्छे स्वास्थ्य के कारण और कहीं प्रकृति की देन से फटा पड़ता है, परंतु ऊँच-नीच का भेद पहाड़ी खाइयों से भी गहरा है, जो किसी प्रकार भी पार नहीं होता, एक ही प्रदेश के कुछ प्राणियों को इधर रखता है और कुछ को उधर। अलग ही रहें तो भी अधिक हानि नहीं। वह तो होता यह है कि बड़े छोटों को धक्के मारते हैं। लालकुआँ से लेकर काशीपुर तक एक पहाड़ी क्षत्रिय से बातें होती रहीं। जहाँ उसने यह खुशी की बात सुनाई कि पहाड़ों में क्षत्रिय और वैश्यों में विवाह-संबंध हो जाया करता है। उसने कई उदाहरण दिए-वहाँ वह छोटी जातियों और विशेषतया डोमों को 'साले' ही शुभ नाम से बार-बार याद करता रहा। 'भाई' वे भी तो अपने ही भाई हैं। यह वाक्य उसे नहीं रुचा। उसकी कुलीनता इन 'सालों' के साथ बराबरी के लिए तैयार न थी। ये 'साले' केवल उसके मजदूर ही बनकर रह सकते थे। कोई 'बहनोई' इन 'सालों' का किसान तक बन जाना पसंद नहीं करता।

जाति-पाँति और धनाधिकार की प्रभुता से दबे हुए 'डोम' पहाड़ों के अनाथ हैं। वे शिखा धारण करते हैं। राम और कृष्ण का नाम लेते हैं। हिंदुओं की सी उनकी वेश-भूषा है, किंतु हिंदुओं की उच्च जातियों का अभिमान उन्हें अपना मानने और उन्हें आगे बढ़ने के लिए रास्ता देने के लिए तैयार नहीं है। एक अत्यंत सभ्य और सहृदय पहाड़ी सज्जन से जब यह कहा गया कि अमुक लड़की को दो मुसलमान पकड़ ले गए। उसे उन्होंने जबरदस्ती भ्रष्ट किया, बड़ी मुश्किल से एक हिंदू युवक ने उनको पकड़ा, ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन सुनने में आती हैं, आपको उद्योग करना चाहिए ऐसा अनाचार न हो, तो उसके मुँह से यह वाक्य निकला और लेखक को ऐसा भासित होता है कि यह वाक्य अनजाने में एकदम निकल पड़ा कि अजी वह लड़की नीच जाति की होगी। मैंने तो उसी दिन एक अत्यंत शिक्षित आदमी के मुँह से जाना कि नीच जाति की लड़की की कोई इज्जत नहीं और वह तो लावारिस माल है। हम कई आदमी उस रात को उसी नैनीताल अट्टालिका में 'पहाड़' की सामाजिक विषमता पर चर्चा कर रहे थे। रोटी और पूड़ी, छूत-छात की व्याख्या हो रही है। इस भारतीय महा-विज्ञान के पहाड़ी संस्करण में भात बहुत छूतदार वस्तु है, उसके बाद रोटी और उसके बाद पूड़ी, किंतु सब हालतों में पहाड़ी ब्राह्मण किसी दूसरे

का छुआ हुआ कदापि न खाएगा। डोम की छाया तक से परहेज। दार्शनिक तबियत के एक सुशिक्षित पहाड़ी ब्राह्मण युवक ने बड़ी गंभीरता से फरमाया कि ब्राह्मणों की इस प्रभुता पर किसी को आश्चर्य ही क्यों हो। जो लोग पददलित हैं, वे इसी योग्य हैं। ब्राह्मण यदि आज शीर्ष स्थान पर हैं तो उनके वहाँ होने का हक उनकी योग्यता और बल के आधार पर स्थित है। कैसी भोली बात है। और साथ ही कैसी बहकी हुई भी। ब्राह्मण इस समय शीर्ष स्थान पर हैं? इस देश में तो शीर्ष स्थान अंग्रेजों का है, जिनके जूते के बक्सुए अधिकांश ब्राह्मण से लेकर सब कोई जीवन के सब क्षेत्रों में सदैव खोलने के लिए तैयार रहते हैं। तबेले में लतिहाव करते हुए यदि ऊँची जाति के लोग छोटी जाति के लोगों को आज पैरों तले कुचल सकते हैं, तो न तो यह उनके बल का प्रदर्शन है और न उनकी सुरुचि और समझ ही है।

डोमों का दलन और दरिद्रता द्वारा पहाड़ों में हिंदुओं के भयंकर सर्वनाश की तैयारी हो रही है। गरीबी के कारण उनकी बहुत सी स्त्रियाँ खुल्लम-खुल्ला वेश्यावृत्ति अख्तियार करती जा रही हैं। देश के दुराचारी पैसे के बल पर उन्हें कुमार्ग की ओर ले जाते हैं। वे सीधी-सादी होती हैं। बातों और पैसों के फेर में आ जाती हैं। नीचे से कुमार्गी लोगों का एक बड़ा भारी दल पहाड़ों पर जा जमा है। इनमें छोटे दर्जे के मुसलमानों की तादाद बहुत अधिक है। वे इन स्त्रियों को खूब फुसलाते हैं। आज आप जिस मुरगी बेचने वाले को बिना बीवी के देखें, कुछ दिन बाद ही वह बीवी वाला हो जाता है और कुछ दिन बाद उसके बाल-बच्चे खेलते दिखाई देते हैं। डोम पुरुष भी इसे बुरा नहीं मानते। उनके अंदर, उपेक्षा और धक्के सहते-सहते हिंदू होने का कोई विशेष अभिमान ही बाकी नहीं रहा। पहाड़ों की सड़कों को बनाने वालों में अब बहुत से काबुली दिखाई पड़ते हैं। आप राह चलते देखिए कि सड़क बनाने वाला काबुली पहाड़ी कुली स्त्री से, जो डलिया भर-भरकर इधर से उधर लेकर आती जाती है, हँसी-मजाक करता है, हद को पार कर जाता है, उसके आस-पास के पहाड़ी मजदूरों को इस प्रकार एक पहाड़ी स्त्री का छेड़ा जाना और अंत में उसका बहका लिया जाना तक इतना भी बुरा नहीं लगता कि उनके माथे पर उसके कारण सिकुड़न तक पड़े। ऊँची जाति के पहाड़ी तो अपनी कुलीनता पर खुश हैं। उन्हें इधर ध्यान देने की फुरसत कहाँ? स्त्रियों का तो वे भी अच्छा शिकार खेलते हैं। बहु-विवाह पद्धति उनमें बहुत जोरों पर है। एक-एक आदमी कई-कई विवाह

कर सकता है। इससे बहुत लाभ हैं। स्त्रियों के रूप में सस्ते मजदूर मिल जाते हैं। पतिराम आराम करते हैं। उनकी दो या तीन या चार स्त्रियाँ खेती के काम से लेकर मीलों दूर से लकड़ी लाने और भोजन बनाने और बच्चों के लालन-पालन के काम में पिसी रहती हैं, इसीलिए तो परमात्मा ने इन स्त्रियों को बनाया है! उच्चता का अभिमान निर्दयता और निर्ममता भी उत्पन्न कर देता है। पत्नियों पर अत्याचार होता है। वे घर से निकाल तक दी जाती हैं।

'प्रताप', 17 जुलाई, 1927



गुलाम देश की राजनीति

इस समय हमारा देश किधर जा रहा है, इसे उसके बड़े-बड़े संचालक भी भली-भाँति जानते हैं, इसमें संदेह है। अंधों की सभाओं और अँधेरी रात की सी दशा है। जिसे जिधर राह मिलती है, उधर ही टटोलता बढ़ता जा रहा है। जिसे कुछ दिखाई भी देता है वह स्वयं तो गलत रास्ते पर चलता ही है, दूसरों को भी उस पर घसीटे लिए जाता है। जिन बातों का कोई महत्त्व न होना चाहिए, उन्हें चारों ओर से इतना महत्त्व दिया जा रहा है कि यह आश्चर्य होता है कि जो लोग देश की समस्याओं के सुलझाने का दम भरते हैं वे उन्हें समझते या सच्चाई के साथ उन्हें सुलझाने के लिए भी तैयार हैं या नहीं! इस समय शिमला की वह कॉन्फ्रेंस हमारी दृष्टि के सामने है, जो देश में एकता और शांति की स्थापना के लिए जन्मी थी, जिसे भूपाल की बेगम साहिबा, वहाँ के नए नवाब साहब और अलवर के श्रीमान महाप्रभु ने आशीर्वाद दिया था तथा जिसकी कार्यवाही में बहुत ईश प्रार्थना करके दैवीय शक्तियों से मदद चाही गई थी। काम आरंभ हुआ था पहाड़ खोदने का। खोदते-खोदते कुरबानी और बाजे के रूप में एक चुहिया हाथ आई। सभी लोग उसकी पूँछ में अटक गए तथा झटके खा-खाकर इतनी दूर जा गिरे कि न अब तक उस एकता-सम्मेलन का कहीं कोई पता है और न एकता और शांति की स्थापना ही का। हाथ झुलाते लोग जमा हुए थे और बादल के टुकड़ों की भाँति तीन-तेरह हो गए। देश भर के सामने कुरबानी और बाजा रख गए। यही देश की सबसे बड़ी समस्या है! इसी के हल से इस देश का उद्धार होगा! इस बीसवीं शताब्दी में दुनिया के स्वतंत्र देश अपने आदमियों के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिए कला और विज्ञान की तहों को खोलते हैं। किसी को चिंता

है कि देश भर से रोग और शोक मिटा दिए जाएँ, तो किसी को धुन है कि अपने किसी भी व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास में किसी प्रकार की कसर न रह जाए। व्यापार से पृथ्वी मंडल की चप्पा-चप्पा जमीन छानी जा रही है, व्योमयानों से आकाश मथा जा रहा है। पृथ्वी कोली जा रही है, धवलागिरि के ऊँचे से ऊँचे, शृंग पताकाएँ फहराई जा रही हैं। कहीं उद्योग हो रहा है कि करोड़ों को इने-गिने न दबा सकें और कहीं शक्तियाँ बढ़ रही हैं कि परायों को उठाकर दूर फेंक दिया जाए, किंतु इस अभागे देश में इस बीसवीं शताब्दी में कला एवं विज्ञान के उदय के इन दिनों में गिरे हुओं के उत्थान और दबे हुओं के उद्धार के इस युग में हमारे समझदारों की बुद्धि तथा बल देशभक्ति की कसमें खाता हुआ देश का परम कल्याण चाहता हुआ बाजा व कुरबानी के कँटीले वृक्ष में जा अटकता है। बस यही उसका सातवाँ आसमान है, यही उसका परम ध्येय है। यही उसका कल्पवृक्ष है। यदि आज यह देश स्वतंत्र होता, यदि आज यहाँ के आदमी स्वाधीन मनुष्यों की भाँति संसार में बड़े व्यापार करते, अपनी रक्षा के लिए सैन्य संचालन और हवा पर फतह पाने के लिए वायुयानों पर उड़ते हुए आकाशी मार्गों को पार करते तो क्या उस समय बाजार और कुरबानी उतनी ही महत्त्व की चीज होती जितना कि आज उन्हें बनाया जा रहा है? और क्या कल जब यह देश स्वाधीन हो जाएगा, जैसा कि वह अवश्य होगा, तो क्या कुरबानी और बाजे के प्रश्न देश के विकास, व्यापार, कला, विज्ञान, धन, बल आदि के प्रश्नों के पास कोई स्थान पा सकेंगे।

जो अंधे हैं, उनसे कुछ नहीं कहना है, किंतु जिन लोगों को सूझते होने का विश्वास है उनसे हमारा अत्यंत विनय के साथ, किंतु अत्यंत स्पष्टता के साथ यह प्रश्न है कि क्या आप इन समस्याओं के संबंध में सच्चाई के साथ बातों के यथार्थ स्वरूप को देखते हैं या देखने के लिए तैयार हैं? बाजा और कुरबानी, नौकरी एवं मेंबरी, शुद्धि तथा तबलीग यही इस देश की इस समय राजनीति है। हमारे समस्त नागरिक जीवन को इन बातों से छा दिया है। तनिक आगे बढ़िए, और आपको इनसे टक्कर लेनी पड़ती है। कोई हर्ज नहीं यदि नई समस्याएँ देश में उठ पड़ें। हमें साहस के साथ उन समस्त समस्याओं का निर्णय करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए, जो हमारे जीवन-क्षेत्र में आगे आएँ, किंतु बाजा और कुरबानी, नौकरी एवं मेंबरी, शुद्धि तथा तबलीग तो यथार्थ में देश की विकट समस्याएँ नहीं हैं, उन्हें तो लोगों ने बढ़ा-बढ़ाकर भयंकर बना

रखा है। रोना तो यह है कि जिन लोगों को यह चाहिए था कि वे हिम्मत से आगे बढ़ते, स्पष्ट शब्दों में यह कहते कि हम अपनी राष्ट्रीय समस्याओं में, हम अपनी राजनीति में इन दकियानूसी बातों को कभी कोई स्थान नहीं देंगे, फिर उनके इस बात के कहने पर स्वार्थी और दकियानूसी लोगों के जो प्रहार होते, उन्हें हँसते-हँसते अपनी छाती पर झेलते, उन्हीं लोगों ने अपने पैर पीछे रख दिए और कमजोरी के साथ पास के थोड़े से लाभ के लिए या इधर या उधर के कुछ आदमियों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने इन दकियानूसी एवं मूर्खतापूर्ण बातों को देश की समस्या में इतना ऊँचा स्थान दे दिया, इस प्रकार देश की आत्मा को कुचल दिया, उसकी आगामी संतति को और भी नीचे गड्ढे में ढकेल दिया।

बाजा दीनदारों के कानों में गड़ता है। शंख उनके उस ध्यान को बिखेर देता है जो वे पाक परवरदिगार के कदमों में लगाते हैं। ध्यान छोड़कर उनका मन क्रोध से पागल हो उठता है। कितना अच्छा ध्यान है, कितनी अच्छी खुदापरस्ती है! इससे अच्छा हो यदि खुदा के ये मानने वाले उसकी परिस्तिश की जगह पर डंडे और छुरे की परिस्तिश करें। मोटर निकले, ट्राम निकले, गोरों की फौज ढोल बजाती निकले, तब तो खुदा के इन बंदों के कान पर जूँ भी न रेंगे, किंतु विवाह का बाजा बजे, रामलीला का जुलूस निकले, आरती का शंख बजे तो दीनदारों के दिलों में मानो खुदा का नहीं, शैतान का राज्य हो जाता है। कुरबानी का भी यही हाल है। 364 दिन लाखों की तादाद में गायें गोरी सेना के लिए काटी जाएँ, तब तक तो धर्मरक्षकों का खून जोश में कतई न आए, किंतु एक दिन बकरीद पर कुरबानी हो, तो धर्म का ज्वार-भाटा आ जाए और धर्मरक्षक महोदय खून बहा ही कर धर्म की रक्षा कर सकें। यही ढकोसलेबाजी तथा कुरबानी के समय होने वाली बेवकूफी ही हमारी इस समय की सबसे बड़ी राजनीति है और इसी की रक्षा के लिए हमारे बड़े-बड़े दिमाग तक परेशान हैं।

जो बात कहीं दुनिया में नहीं होती, वह हमारे यहाँ होती है। मजहब का सिक्का अब किसी भी आजाद देश में नहीं चलता। अब तो वह टर्की, ईरान और अरब तक में नहीं चलता। अब तो काबुल तक में उसका खात्मा हो रहा है। अब कहीं भी केवल मजहब के कारण किसी को किसी स्वतंत्र देश में कोई शासन संबंधी सुविधा प्राप्त नहीं होती, किंतु इस देश में सरकारी

नौकरियाँ और मेंबरियाँ तक मजहबी सार्टिफिकेट के आधार पर बँटने लगी हैं। इस बँटवारे के लिए लोग अकाल के भुखमरों की तरह आपस में लड़ते-मरते हैं। छोटी से छोटी सरकारी नौकरियों के लिए इतना छटपटाना शायद ही किसी दूसरे देश में देखने को मिले। जो देश व्यवसायी हैं, जिनका व्यापार फैला हुआ है, जो चतुर और चैतन्य हैं, वे तो अपने बच्चों को स्वतंत्र व्यवसाय छोड़कर नौकरी में कभी लगाते ही नहीं, किंतु इस देश में तो ऐसा मालूम होता है कि बच्चे के पैदा होते ही उसे नौकरी का चाव घुट्टी में घोलकर पिला दिया जाता है। लोगों की नीयतों में इतना फितूर है कि बँटवारे में साधारण ईमानदारी से भी काम लेने के लिए तैयार नहीं। जहाँ तक बने, पैर पसारते जाओ। ईमानदारी से मिले या बेईमानी से, लेते जाओ, इसी नीति का पालन हो रहा है और दिल्लगी यह है कि ऐसा करते जाते हैं, देशप्रेम और देश पूजा की सौ-सौ कसमें भी एक-एक साँस में खाते जाते हैं।

शुद्धि और तबलीग एक-दूसरे को जवाब हैं। कलमा यदि फैल सकता है, तो गीता के श्लोकों के कुप्रचार का रास्ता न्यायत: कैसे रोका जा सकता है। किंतु दोनों तरफ खींचातानी हो रही है। धर्म के सौदे होते हैं और दीन बेचा जाता है। इस युग में कोई व्यक्ति केवल तिलक-मुद्रा छोड़कर या दाढ़ी मुड़वाकर सत्य की खोज में फलीभूत हो सकता है, यह बात हमारी मोटी बुद्धि में नहीं आती। जिसका जिधर जी चाहे और जिसके जिधर मित्र व हितैषी हों, वह उधर चला जाए। शुद्धि और तबलीग का यह लाभ तो समझ में आता है, किंतु इसके आगे यदि उनसे आध्यात्मिक कल्याण का दृश्य आँखों के सामने पेश किया जाए, तो हमें कहना पड़ेगा कि यह धोखा है। शुद्धि और तबलीग के इसी धोखे के कारण इस देश में एक ऐसा दल तैयार हो गया है जिसने धर्म या दीन बदलना अपना पेशा बना लिया है। इस दल के व्यक्ति को कभी आप हिंदू से मुसलमान होते हुए देखेंगे। जब वहाँ कोरमा और पुलाव की कमी हो जाएगी, जो कि दस-पाँच दिन बाद हो ही जाया करती है, तब धर्म का यह जिज्ञासु आर्यधर्म के अमृतकुंड से अमृत लेने आ जाएगा। शुद्धि उसे कुछ दिन हलवा-पूड़ी देगी तथा उसके बाद फिर हक के इस मुतलाशी को और कोई ठिकाना ढूँढ़ना पड़ेगा। ईसा की सूली की तलाश से लेकर संग-ए-अस्वद और वैदिक ऋचाओं की खोज में परेशान फिरने वाले इस प्रकार के प्राणियों की संख्या अब कम नहीं है, यदि हमारी बुद्धि का यही हाल रहा, तो ये

धर्म व्यवसायी दिन दूने और रात चौगुने बढ़ेंगे।

आँखों का यह माड़ा कैसे कटे? नकली बातों से असली बातों को हम कैसे अलग करें? हमारे जीवन की जड़ में जो विषैली बेल लिपट गई है उसे हम कैसे काटकर अलग करें? धर्म के नाम पर इस देश में अधर्म का जो महाराज्य होता जा रहा है, वह कैसे दूर हो? शारीरिक रोगों के कारण शरीर जर्जर हो रहे हैं। लाखों छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे देश के चमकते हुए सूर्य को भलीभाँति देखने के पहले मिट्टी में मिल जाते हैं। देश के लाखों होनहार स्त्री-पुरुष स्वास्थ्य-शून्य बने, आलस्य और मूर्खता में सने, ढकोसलों को हृदय से चिपटाए, हर तरह की गुलामी को गले से लगाए इस देश के लिए भार-समान हो रहे हैं। देश के करोड़ों लोग जन-जीवन की आशाओं से शून्य, कठपुतली की तरह नाचने वाले और कीड़े-मकोड़ों की तरह मर जानेवाले बने हुए हैं। यह दशा कैसे पलटे? कैसे इन लोगों में प्राण आएँ और आए शक्ति? कैसे ये लोग मूर्ख-भावनाओं के चंगुल से छूटें? कैसे उनकी बुद्धि में यह विकास हो कि भले और बुरे की परख कर सकें? कैसे वे देश की छाती पर बैठी हुई इस मूढ़-कल्पना का विध्वंस कर सकें कि इस बीसवी शताब्दी में पीपल की टहनी एवं ताजिये की खपाची, आरती और नमाज, शंख व बाजा, नौकरी तथा मेंबरी, दीन मोहम्मद से रामदीन और रामदीन से दीन मोहम्मद हो जाने को देश के क्रियात्मक जीवन में प्रत्येक विभाग पर आच्छादित नहीं हो जाना चाहिए? किस प्रकार उनके हृदयों में यह भावना उदय हो कि जीवन में इतना ही नहीं है, इससे भी अधिक बड़ा धर्म है, धर्म के लिए इससे भी अधिक बड़ी भयंकर और खूँखार लड़ाई लड़नी है?

एक मित्र कहते हैं कि धर्म के ह्रास से हम इतने छोटे हो गए, इसलिए धर्म के मूल तत्त्वों का प्रचार होने दो। सभी धर्मों में अच्छी बाते हैं। उनका प्रचार हो। लोग सब धर्मों का आदर करना सीखें और तब देश में सुख, शांति और न्याय का राज हो जाएगा। बात अच्छी लगती है। पहले तो सब लोगों में इतनी उदारता उत्पन्न कर देना कठिन है। यदि वह हो भी सके, तो उसके लिए बहुत समय चाहिए। फिर इसका क्या ठिकाना कि धर्म के नाम पर जो शैतान मनुष्यों के हृदय में घुसा बैठा है, वह समय-समय पर उभड़ नहीं पड़ेगा? धर्म और दीन को तो अब नागरिक जीवन से पूरी छुट्टी मिलनी चाहिए। धर्म एवं दीन मनुष्यों के आत्मा और परमात्मा के संबंध के नाम रहें। उस संबंध से जो सद्भावना उदय

हो उसके प्रयोग को भी आप धर्म, दीन के नाम से पुकार लीजिए, किंतु देश के निवासियों के पारस्परिक व्यवहार और उनके जीवन के सांसारिक विभागों के प्रस्फुरण, विकास के मार्ग में धर्म और दीन के नाम से जो पाबंदियाँ, रुकावटें पग-पग पर पड़ती हैं उनके लिए अब देश के नागरिक जीवन के क्षेत्र में कोई गुंजाइश नहीं रखी जा सकती। दीन और धर्म के नाम पर पशुता व तुच्छता का खूब प्रदर्शन हो चुका, अब उनके नाम पर, उनके अनुशासन पर इस देश के आदमियों के जीवन के संचालन का निर्भर करना महज जड़ता का काम होगा। नागरिक जीवन में जितनी मानसिक और सामाजिक स्वाधीनता व्यक्ति के कल्याण के लिए उसे दी जानी चाहिए वह उसे बराबर मिले। उसमें न बाजा बाधा दे और न नमाज, न शुद्धि रुकावट डाले और न तबलीग।

यह कौन करे? क्या आजकल के महारथी? उनमें से अधिकांश हो बीते। कसौटी पर कसे जाकर वे हलके और खोटे पाए गए। उनमें हिम्मत नहीं। उनमें सच की आग नहीं। उनमें किसी बात की लगन नहीं। वे समय के सेवक हैं। वृक्ष के पके फल हैं, जो गिरने के लिए केवल कुछ समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनकी दृष्टि साफ नहीं। पुरानेपन तथा कमजोरी ने उन्हें यथार्थ बातों का सीधा और सच्चा रूप देखने से रोक रखा है। संसार की आशा साधारण जनों पर है। भारतवर्ष संसार से बाहर नहीं है। उसकी भी आशा यदि वह कहीं हो सकती है, तो अपने गिरे, पड़े, झोंपड़ों में रहने वाले अविद्या तथा उपेक्षा की मार सहने वाले, दरिद्रता और अज्ञान में दबाए जानेवाले करोड़ों प्राणियों के ऊपर हो सकती है। राह चलते हुए आदमी, कब तक तुम महज मशीन बने रहोगे? कब तक तुम कठपुतली की तरह नाचोगे? कब तक तुम अपने भले-बुरे को न सोचोगे? यथार्थ में क्या बाजे से तुम्हारा खुदा नाराज हो जाता है? क्या यथार्थ में कुरबानी के विरोध से तुम गोरक्षा कर लेते हो? क्या यथार्थ में तुम्हीं को सरकारी नौकरी के रूप में डिप्युटी कलक्टरी मिलने वाली है? क्या यथार्थ में ही कॉउंसिल या बोर्ड के मेंबर बनने वाले हो? क्या अब हिंदू राज्य है या मुसलमान राज्य है, जो मनुष्य बनने की अपेक्षा तुम्हें दाढ़ी मुड़ाने या चुटिया कटाने की जरूरत ज्यादा महसूस होती है? जरा सोचो और समझो, जो तमाशा हो रहा है वह तुम्हारे लिए तनिक भी लाभदायक नहीं है। तुम्हारी शक्तियों का दुरुपयोग किया जा रहा है तथा तुम्हें दासता की बेड़ियों में और भी अधिक बाँधा जा रहा है। जिस प्रकार यूरोप एवं अमेरिका में धनपति अपने

मजदूरों की मेहनत की कमाई लूटते हैं, जिस प्रकार देशभक्ति के नाम पर यूरोपीय धनवान गरीब आदमी को अपना गुलाम बनाए हुए हैं, उसी प्रकार, ठीक उसी प्रकार तुम्हारी धर्म और दीन की भक्ति से इस समय तुम्हारे देश के बहुत से चलते-पुरजे लोग बहुत बेजा फायदा उठा रहे हैं। तुम्हारे मजहबी जोश को वे उभाड़ते हैं, और उससे वे अपना उल्लू सीधा करते हैं। दंगों में तुम पकड़े जाते हो और तुम्हीं सजा पाते हो। तुम्हारे बच्चे दर-दर की ठोकरें खाते हैं, थोड़े से लोग जो तुम्हें उभाड़ते हैं, तुम्हारे मुखिया बनकर स्वयं लाभ उठाते और मौज मारते हैं। इस अधर्म के विरुद्ध तुम अपनी आवाज कब उठाओगे? दीन और धर्म के सौदागरों के चकमे में न आओ। स्वर्ग और नरक, बहिश्त तथा दोज़ख के झूठे किस्सों में मत बहको। दुनिया नरक है और दुनिया ही बहिश्त। किसी मज़हब का होने से न कोई म्लेच्छ होता है और न कोई काफिर। किसी मज़हब के मानने से न कोई बलवान होता है और न कोई निर्बल। बहको मत। तुम मनुष्य बनो। मनुष्य बनते ही तुम्हें धोखे में डालने वाले काई की तरह फट जाएँगे, तुम्हारे लिए प्यार-पथ, तुम्हारे देश के लिए शांति-वीथि और तुम्हारे भविष्य के लिए जाज्वल्य भाग्योदय छोड़ जाएँगे।

'प्रताप', 2 अप्रैल, 1927



गुलाम देश की राजनीति

एक ही रास्ता

भारतवर्ष के लिए एक ही रास्ता है, और वह यह कि इंग्लैंड से वह अलग हो जाए। उसी में उसका कल्याण है और इंग्लैंड का भी कल्याण है। भारतवर्ष में स्वाधीनता का भाव पैदा हो ही गया है। वह शांत नहीं रह सकता। वह उस समय तक चैन नहीं ले सकता जब तक अपने जीवन के विकास के सारे स्रोत वह अपने हाथों में न कर ले।

हम लोगों को कागजी स्वराज्य—मसविदा बनाने के झंझट में न पड़कर सीधे गाँवों की ओर मुड़ना चाहिए। हिंदू-मुसलिम वैमनस्य दूर करने का एकमात्र यही तरीका है कि ग्राम संगठन के काम को हाथ में लेकर बिना भेदभाव के भारत के दीन किसानों की सेवा की जाए। उसी तरह शहरों की मिलों में काम करनेवाले लाखों मजदूरों के संगठन की भी आवश्यकता है। किसानों और मजदूरों का युग आ गया है। थोथी राजनीति से अब काम न चलेगा।

भविष्य किसानों और मजदूरों के हाथ में है। जो संस्था भविष्य में कृषक-मजदूर सेवा से वंचित रहेगी वह शक्तिहीन और निकम्मी सिद्ध होगी।

मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ, फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमीदारों की, धनवानों की हो या ऊँची जातियों की।

'प्रताप' 27 मार्च, 1928



खंड-5

उनके पत्र

उनके पत्र

विश्व इतिहास में भारत का स्वतंत्रता संग्राम अपने आप में अनूठा है, लगभग एक शताब्दी का अंतराल समेटे यह लड़ाई लड़ी गई, दो मोरचों पर–एक तो विदेशी शासन के विरुद्ध और दूसरी देश में व्याप्त कुप्रथाओं-कुरीतियों के विरुद्ध। दोनों ही मोरचों के अपने-अपने उन्नायक रहे हैं, परंतु गांधी और गणेश जैसी कुछ स्वनामधन्य विभूतियाँ सामाजिक व राजनैतिक दोनों मोरचों पर एक साथ जूझीं। सद्प्रयासों का प्रतिरूप है, ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों का दस्तावेज है– उनके कतिपय पत्रों को सहेजे-समेटे यह पत्र खंड।

इन पत्रों में कहीं कोई दिखावा नहीं, कोई शब्दाडंबर नहीं, शैली सीधी, सरस, किंतु कथ्य बेजोड़। एक-एक पंक्ति, बल्कि शब्द-शब्द से जैसे झाँकती सी गणेश की गंभीर मुखाकृति, जैसे आवाहन करती हुई कि उठो, आगे बढ़ो, कुछ करने का मन बनाओ।



इनमें गणेशजी की जीवन दृष्टि अपनी संपूर्णता में उजागर होती दिखाई पड़ती है।

योगेश श्रीवास्तव

युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व

उनके पत्र

बनारसीदास चतुर्वेदी	01.05.1926
बाबूराव विष्णु पराड़कर	19.05.1926
बाबूराव विष्णु पराड़कर	24.05.1926
बाबूराव विष्णु पराड़कर	31.05.1926
बनारसीदास चतुर्वेदी	01.06.1926
बाबूराव विष्णु पराड़कर	28.06.1926
गुलाब चंद हरडा	02.12.1926
गुलाब चंद हरडा	10.12.1926
गुलाब चंद हरडा	25.10.1927
बनारसीदास चतुर्वेदी	19.11.1927
मैथिलीशरण गुप्त	04.02.1928
बनारसीदास चतुर्वेदी	09.02.1928
डॉ. वृंदावनलाल वर्मा	01.03.1928
डॉ. वृंदावनलाल वर्मा	10.04.1928
बनारसीदास चतुर्वेदी	10.10.1928
माखनलाल चतुर्वेदी	04.02.1930
बनारसीदास चतुर्वेदी	04.02.1930
कुँवर सुरेश सिंह	17.04.1930
बाबूराव विष्णु पराड़कर	03.05.1930
पुत्री कृष्णा देवी	अगस्त 1930
माखनलाल चतुर्वेदी	27.11.1930
पुत्र हरिशंकर विद्यार्थी	01.12.1930
पुत्र हरिशंकर विद्यार्थी	09.12.1930
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'	--
पूजनीया माँ	--
इंदुमती गोयनका	25.03.1931

पत्रों में अभिव्यक्त गणेशजी

अंकिता श्रीवास्तव

''हिंदी साहित्य में पत्रों को अभी विधा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, पर साहित्यकार अपने साहित्य से हटकर पत्रों के माध्यम से जितना खुलता है, वह उसके साहित्य को समझने में बहुत सहायक होता है।'' यह अभिमत है श्री मुकुंद द्विवेदी का और सच भी है। पत्रों को नितांत वैयक्तिक मानकर उनके रख-रखाव और अध्ययन पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, परंतु जैसे-जैसे व्यक्तियों का मूल्य बढ़ा, जागरूकता बढ़ी, उन्हें संकलित-संरक्षित करने का प्रयास भी हुआ। वर्तमान में लगभग 5000 पृष्ठों का पत्र साहित्य हिंदी में प्रकाशित हो चुका है। पं. नेहरू कृत 'विश्व इतिहास की झलक' जैसी सुप्रसिद्ध पुस्तक उनके द्वारा जेल से बेटी इंदिरा को लिखे पत्रों के कथ्य (कंटेट) से तैयार हो गई।

गणेशजी अद्‌भुत व्यक्तित्व के धनी थे, विचारशील और संवेदनशील। उनके पत्रों में तत्कालीन भारत की राजनीतिक-सामाजिक, आर्थिक स्थिति, पत्रकारिता की दशा, अंग्रेजों की क्षुद्र मानसिकता, उनकी स्वयं की साहित्यिक अभिरुचि एवं सूझबूझ, चारित्रिक दृढ़ता, शैक्षिक वातावरण आदि का सम्यक् दिग्दर्शन होता है।

'प्रताप' की खस्ताहाली में भी वे लेखकों-पत्रकारों की लेखन-सामर्थ्य पहचानकर उनकी सहायता को तत्पर दिखाई पड़ते हैं। वे लेखन को अंशकालिक व्यसन न मानकर, उसमें पर्याप्त तैयारी और गांभीर्य के पक्षधर हैं। संकलित पत्र यह भी प्रदर्शित करते हैं कि लेखनी का उपयोग निंदापरक व छिछले कार्यों में नहीं होना चाहिए। बगैर ग्लैमर और विज्ञापन छापे, आदर्शोन्मुख पत्र-पत्रिकाएँ

तब भी संकटग्रस्त थीं, ऐसा आभासित होता है।

जनप्रतिनिधियों के चुनाव के बारे में उनका आकलन कितना प्रासंगिक है, जब वे कहते हैं, ''मैं हिंदू-मुसलमानों के झगड़े का मूल कारण इलेक्शन को समझता हूँ और कॉउंसिल में जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता।'' (पत्र श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को दिनांकित 01.06.1926) गणेशजी के पत्रों में संप्रेषण में साफगोई, निर्भीकता, ईमानदारी (जिसमें एक-एक पैसे का लिखित हिसाब), मित्रों के छोटे-छोटे व दैनंदिन कार्यों के प्रति निष्ठा व समर्पण देखते बनता है।

'गढ़ कुंडार' यशस्वी उपन्यासकार वृंदावन लाल वर्मा की अमर कृति है, इस पर उनके विचार (01.03.1928 के पत्र में) द्रष्टव्य हैं, ''···क्षत्रिय और हिंदू भाव और मुसलमान वैभव के संघर्षण पर, अब भी कुछ अधिक रंग देने की आवश्यकता है। पांडे का चरित्र बहुत गूढ़ है। उसे और स्पष्ट होना चाहिए। आत्मानंद और भी अधिक Inspiring सिद्ध होना चाहिए। खंगारों में मदांधता की मात्रा उतनी होनी चाहिए जितनी यदुवंश में अस्त होते समय थी···।'' वर्तमान स्वनामधन्य मुखापेक्षी समालोचक इससे सीख ले सकते हैं।

वे निरंतर संकटों से घिरे हैं, होली में भी घर नहीं पहुँच पाएँगे, बाद में पहुँचेंगे भी, तो बस सबसे मिल-जुलकर अपने को पुलिस को सौंप देने की योजना है। द्रष्टव्य—अग्रज शिवव्रत नारायण को लिखा पत्र (03.03.1923)—''मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि इस संकट से मुझे कोई विशेष लाभ होगा।'' अर्थात् अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं होता, प्रत्येक स्थिति को परमात्मा का प्रसाद मानकर ही ग्रहण करना चाहिए।

हम वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था को निरंतर कोसते रहते हैं, परंतु ये उसी व्यवस्था का सातत्य और विस्तार है, जिसे विद्यार्थीजी कुछ यूँ देख पाए थे, ''आजकल की शिक्षा एकांगी है। युवक व्यावहारिक ज्ञान से कोरे होते हैं।''

एक और बेजोड़ पत्र है, जो कलक्टर, कानपुर को 04.10.1921 को संबोधित है। यह पत्र एक अकेले विद्यार्थीजी तो क्या, प्रकारांतर से समग्र भारतीय स्वाभिमान को उसकी संपूर्णता में प्रकट करता है। स्वातंत्र्य-समर-बाँकुरों की क्या मनःस्थिति थी, चाहे वे गणेशजी हों या आजाद, भगत सिंह हों या बिस्मिल या मृत्यु का आलिंगन करनेवाले अन्य तमाम ज्ञात-अज्ञात दीवाने, सभी की भावना का वास्तविक परिचायक है। कतिपय अंश द्रष्टव्य—''जब तक मैं मुचलके

और जमानतों से बँधा हुआ हूँ, तब तक मैं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे इस पत्र को मेरे 23.05.1921 को दिए गए मुचलकों को रद्द करने के लिए प्रार्थना-पत्र समझें। मुचलके के रद्द होने से दोनों जमानतें अपने आप रद्द हो जाएँगी।...देश की वर्तमान हालत में अपने को अपमानित समझते हुए दफा-108 से बँधे रहने से जेल में रहना कहीं अच्छा समझता हूँ।''

25 मार्च, 1931 का पत्र एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसे उन्होंने आत्मोत्सर्ग से मात्र कुछ घंटों पूर्व लिखा। यह पत्र स्पष्ट बताता है कि तत्कालीन हिंदू-मुसलिम दंगा और कुछ नहीं, बल्कि 23 मार्च, 1931 को लाहौर में भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दिए जाने के विरोध स्वरूप क्रांति के गढ़ कानपुर में संभावित विद्रोह को रोकने की एक सरकारी साजिश थी, जिसमें सरकारी मशीनरी द्वारा प्रायोजित मारामारी में कई दिन धू-धूकर जलता रहा यह शहर और जिसकी भेंट चढ़ गया हमारा प्रिय नायक, प्रातः स्मरणीय गणेशशंकर विद्यार्थी! (द्रष्टव्य-श्रीमती इंदु गोयनका को लिखित पत्र दिनांक 25.03.1931)।

''पुलिस का ढंग बहुत निंदनीय है। अधिकारी चाहते हैं कि लोग अच्छी तरह से निपट लें। पुलिस खड़ी-खड़ी देखा करती है...यह दंगा तो कल ही समाप्त हो जाता, यदि अधिकारी तनिक भी साथ देते। मैंने अपनी आँखों से अधिकारियों की इस उपेक्षा को देखा है।... अधिकारियों को तो यह ईश्वरदत्त अवसर प्राप्त हुआ है।''

यहाँ संकलित पत्र उनके संपूर्ण पत्रों का एक अंश मात्र हैं, फिर भी इन पत्रों से गणेशजी के चरित्र की आंतरिक संरचना प्रकट होती है।

●

गणेशजी के पत्र और उनका महत्त्व

बनारसीदास चतुर्वेदी

यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रद्धेय गणेशजी ने कितने ही युवकों को लेखक बनाया था और लेखकों को पत्रकार। उन्होंने एक बार अपने संपादक मित्र से कहा था, ''यह क्या बात है जी कि तुम्हारे पत्र को काम करते हुए इतने दिन हो गए और तुम अभी तक एक भी अच्छा लेखक नहीं बना पाए।'' इस विषय में गणेशजी अपने सुयोग्य गुरु द्विवेदीजी के सुयोग्य शिष्य थे। 'प्रताप' के वायुमंडल में बने और पनपे हुए कवियों, लेखकों तथा संपादकों की संख्या काफी बड़ी है।

हिंदी पत्रकारों का जीवन कितना संकटमय होता है, यह भुक्त-भोगी ही जानते हैं। ऐसे संकट के समय वह किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ता है, पर हिंदी संपादकों में कितने ऐसे हैं जो सहानुभूतिपूर्ण उत्तर भी दे सकें, आर्थिक सहायता देना या दिलाना तो दूर की बात है और दरअसल आर्थिक सहायता तो एक गौण चीज है। सहानुभूति के भूखे कष्टपीड़ित पत्रकार को Appreciation की या दाद की जितनी जरूरत है, उतनी किसी दूसरी चीज की नहीं। वह अपने कष्टों को संतोषपूर्वक सहन कर सकता है, यदि उसे विश्वास दिला दिया जाए कि उसके जीवन का भी कुछ उपयोग है। गणेशजी एक सफल पत्रकार थे, मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे और सबसे बढ़कर बात यह है कि वे एक सहृदय मनुष्य थे। अपने संकटग्रस्त पत्रकार बंधुओं की इस प्रकार सहायता करना कि उनके आत्म-सम्मान को किसी प्रकार की ठेस न पहुँचने पाए, वे खूब जानते थे।

नवंबर, 1920 में मैंने एक पत्र अपने विषय में उन्हें लिख भेजा। 1915

और 1920 के बीच में उनसे घनिष्ठ परिचय हो चुका था, इस कारण यह हिम्मत पड़ी। उन्होंने इस पत्र का जो उत्तर भेजा, वह इतना उत्साहप्रद था कि उसे मैंने सर्टिफिकेट के लिफाफे में रख छोड़ा। उसके कुछ अंश उद्धृत करता हूँ। (प्रारंभ की प्रशंसात्मक पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं)—

प्रियवर चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आपका कृपापत्र[1] प्राप्त हुआ। आपने जो कुछ लिखा वह मुझे हृदय से स्वीकार है। 'प्रताप' आपका है। आप वैसे कहें तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणों में अर्पित हो जाएँ। Charity की बात नहीं। ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना अपना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्य-सिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक 'प्रताप' 23 तारीख से निकलने लगेगा। आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंक में एक बात पूरी हो जाए। आप हर मास 10, 12, 15 तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, 'प्रताप' उसे आपके चरणों में रखेगा।

हमने अभी यह तय किया कि जिन लेखकों से हम दैनिक में लिखवाएँगे उन्हें एक रुपया कॉलम देंगे, परंतु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी। योग्य सेवा का आदेश दें।

आपका

ग.शं. विद्यार्थी

महीने में 25-26 दिन निकलने वाले दैनिक पत्र में 10, 12, 15 लेख छापने का वचन देना और साथ ही यह भी कह देना कि अपने लेख का मूल्य भी अपनी इच्छानुसार लगा लो, कितनी भारी सहायता थी। यद्यपि इस सहायता का उपयोग करने का मौका ही नहीं आया, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं रही थी, पर आज भी उस संतोष का स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है, जो उपर्युक्त पत्र के मिलने पर प्राप्त हुआ था।

---

1. इससे आगे दो पंक्तियाँ गणेशजी ने चतुर्वेदीजी की सेवा की सराहना में लिखीं जो पत्र के मूल पाठ में हैं। देखिए संदर्भ पत्र दिनांक 19.11.1927।

अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी गणेशजी अपने पत्रकार बंधुओं का बराबर खयाल रखते थे। किन-किन कठिनाइयों में उन्हें काम करना पड़ता था, उसका अनुमान उनके एक पत्र के निम्नलिखित अंश से किया जा सकता है—

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आप बहुत नाराज होंगे। आप लंबे पत्र भेजते हैं, मैं ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देता। क्या करूँ, मुझे काम की अधिकता की शिकायत नहीं है, मुझे शिकायत इस बात की है कि मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ। यदि मैं 24 घंटा काम कर सकता, तो आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छूटा हुआ है। घर की चिंताओं से घर के बाहर निकलते ही छूट जाता हूँ। दोनों ओर खाई है। आज पाँच रात से बराबर जगकर दो बच्चों की, जिन्हें निमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिन को जब कार्यालय में आता हूँ, तो 'प्रताप' के कार्यों में नहीं, दूसरे काम की बाढ़ में बह जाता हूँ। हालत उस तिनके सी है जो तेज बहाव में ठहर नहीं पाता और बहता ही चला जाता है। खैर, यह तो आत्मकथा है, और इतनी लंबी-चौड़ी है कि कई पत्रों में भी समाप्त नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे आदमी से आप अधिक आशा न कीजिए। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताह से 'प्रताप' ही में कुछ नहीं लिख पाया। बाहर के किसी सज्जन के लिए लिखूँगा, तो आपके लिए सबसे पहले लिखूँगा।

आपका

ग.शं.विद्यार्थी

इस प्रकार व्यस्त रहने पर भी उन्हें यह बात नहीं भूलती थी कि उनका अमुक पत्रकार बंधु संकट में है, उसे कहीं काम पर लगाना है। उनका 14.04.27 का एक पत्र यहाँ उद्धृत किया जाता है—

प्रिय चतुर्वेदीजी

वंदे!

आप प्रयाग के मेजर वसु और उनके पाणिनि ऑफिस को अवश्य जानते

होंगे। मेजर साहब की दस-बारह हजार पुस्तकें हैं। वे Indian Academy नाम की एक संस्था बनाना चाहते हैं, जहाँ कुछ विद्वान् बैठकर भारतीय इतिहास के रिसर्च का काम करें। मेजर साहब के पास इस काम के लिए बहुत मसाला है। वे अपनी किताबें, कुछ जमीन और कुछ रुपया देना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि कोई इस काम को उठा लेवे और कई सज्जनों की एक कमेटी बन जाए, जो आवश्यक फंड का प्रबंध कर ले। सुंदरलालजी तथा मेरी दृष्टि आप पर पड़ी। क्या आप प्रयाग में रह कर इस काम को आगे बढ़ा सकते हैं? फंड की कमी न रहेगी, यदि कोई एक आदमी भी जुटने वाला मिल जाए। मेजर बूढ़े आदमी हैं, वे कुछ लिखने का काम कर और करा सकते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं। यदि आपको सुविधा हो, तो इलाहाबाद जाकर मेजर बसु और सुंदरलालजी से मिल लीजिए। इसमें जो खर्च होगा, मैं दूँगा। उत्तर शीघ्र दीजिएगा। आशा है, आप सानंद होंगे।

आपका

ग.शं. विद्यार्थी

जब गणेशजी कानपुर से कॉउंसिल के चुनाव के लिए खड़े किए गए, तो मैंने उनकी सेवा में एक पत्र भेजा।[1] इस पत्र का आशय यह था कि आप जैसे Mass-minded आदमी चुनाव के दलदल में क्यों फँस रहे हैं, यह बात मेरी समझ में नहीं आती। इस पत्र का जो विस्तृत उत्तर आया उसे मैं ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता हूँ—

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आपका कृपा-पत्र मिला। मैं गत सप्ताह से छुट्टी पर हूँ, इसलिए आपके पत्र का उत्तर तुरंत न दे सका। आपने जो आशंका प्रकट की है, वह ठीक है। मैं कॉउंसिल में जाना लाभदायक नहीं समझता। वहाँ का वायुमंडल बहुत विषैला है और कॉउंसिल से देश या साधारण आदमियों को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूँ कि इसमें से जो लोग कॉउंसिल में

1. देखिए पत्र, दिनांक 01.06.1926।

जाएँगे, उनकी और अधिक ख्वारी होगी और वे और भी नीचे जाएँगे। कानपुर कांग्रेस ने अपने ऊपर इलेक्शन का काम लेकर देश को बहुत हानि पहुँचाई। मैं कॉउंसिल में कतई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूत से बचा रहूँ। यहाँ का हाल यह है कि कानपुर में जान तो है और लोग साहस और जोश में भी हैं, किंतु उनके पास···कॉउंसिल-युद्ध के लिए उपयुक्त बलिदान नहीं है। डॉ. मुरारीलाल और डॉ. जवाहरलाल डेढ़-डेढ़ वर्ष के लिए सजायाब होने के कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक आदमी ऐसा दिखाई देता हूँ, जिसे लेकर वे कानपुर के एक ऐसे आदमी के मुकाबले में सफलता की आशा करते हैं जो लाट साहब से हाथ मिलाने की ख्वाहिश पूरी करने के लिए 50,000 रुपया खर्च करने के लिए तैयार हैं और जो रुपए के बल पर कानपुर के वोटों को अपने हाथों में करने का दम भरता है। कांग्रेस कमेटी ने एकमत से मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो ही विरोधी थे, मैं और बालकृष्ण। उसके बाद यह बात प्रांतीय कमेटी की कॉउंसिल के सामने गई। मैंने स्पष्ट रूप से लिखकर भेजा कि मुझे माफ कीजिए, किंतु इस विनय पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसी को आपने पत्रों में देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूँ, किंतु देवी की उपासना करनेवाले बलिदान के लिए मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अंतिम निर्णय के लिए दस दिन की मोहलत माँग ली है, जो 10 जून को समाप्त होगी। मेरे सामने विचारने की यह बात है कि यदि मैं बलिदान होने के लिए राजी नहीं होता, तो यहाँ के पुराने कार्यकर्ता कांग्रेस से इस्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेस की प्रतिष्ठा जाते हुए नहीं देखना चाहते। बार-बार कांग्रेस की प्रतिष्ठा की दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूँ कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी कॉउंसिल की उपयोगिता पर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण सा अंतर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टी में दिखाई दे रहा है वह इलेक्शन के बाद न रह जाएगा। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं हिंदू-मुसलमानों के झगड़े का मूल कारण इलेक्शन आदि को समझता हूँ और कॉउंसिल में जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रों से राय माँगी है। आप भी अपनी राय देने की कृपा करें।

10 जून तक कुछ निर्णय कर सकूँगा। चतुर्वेदीजी इस संकट में मैं आप ऐसे मित्रों की संवेदना का अधिकारी हूँ। मैं अपने सहयोगियों से शुष्क व्यवहार इसलिए भी नहीं कर सकता कि हमारे आपस के संबंध सदा बहुत कोमल रहे हैं। आशा है, आप सानंद होंगे।[1]

आपका

ग.शं. विद्यार्थी

मेरा विचार बहुत दिनों से पूज्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवन-चरित्र के लिखने का था, पर इसके लिए उनकी सेवा में महीने-दो महीने रहने की आवश्यकता थी। समय तो मेरे पास था, पर साधन नहीं थे।

किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। बहुत दिनों बाद यों ही मैंने गणेशजी को भेजे एक पत्र में अपने इस पुराने विचार का जिक्र कर दिया। इस पर 04.02.30 उन्होंने जो पत्र लिखा, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है—

कानपुर

4-2-30

'आपने द्विवेदीजी के पत्र की नकल भेजकर मेरी धारणा को और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहले से बहुत कोमल भावनाओं का व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी से छोटी अनुकंपा को नहीं भूलते और अपने निकट के आदमियों को इतना चाहते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपर से उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूर का आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने वह अवसर बुरा छोड़ा। दो-चार सौ रुपए की तो कोई बात नहीं है। अब भी मैं तैयार हूँ। आप ऐसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आप जानते हैं कि 'जानसन' बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक बॉसवेल न बनता। आप पूज्य द्विवेदीजी के पास कुछ दिन रह जाइए। संभव है वे अभी जिएँ, किंतु किसी के जीने के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आने वाली संतति उन गुणों की कथा

1. पत्र का मूल पाठ देखिए पत्र सं. 23, दिनांक 01.06.1926।

सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके बॉसवेल बन जाइए। जो खर्च पड़े, उसका जिम्मेदार मैं। आपके पास भी कामों की कमी नहीं है, किंतु दो-तीन बार में आप कुछ सप्ताहों का समय निकाल सकते हैं। आशा है, आप मेरी प्रार्थना पर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।"[1]

आपका

ग.शं. विद्यार्थी

मैं ऐसे सपूतों को जानता हूँ जो अपने पिता की स्मृतिरक्षा के लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। बड़े परिश्रम के साथ मैंने एक साहित्य-सेवी का जीवन-चरित्र लिखने का विचार किया, तो उसके पुत्र बजाए कुछ मसाला भेजने के मुझसे मेरे नोट ही वापस माँगने लगे। दूसरे महानुभाव बिना कुछ खर्च किए जीवन-चरित्र लिखाने की फिक्र में हैं। विचारणीय बात यह भी है कि ये दोनों सज्जन खूब खाते-पीते खुशोखुर्रम हैं, पर पिता का सच्चा श्राद्ध करने के लिए न उनके पास पैसा है और न समय। इनकी तुलना कीजिए गणेशजी की उदारता से, जो आर्थिक संकट में रहते हुए भी चार सौ रुपए तक केवल इसीलिए खर्च करने को तैयार थे कि उनके गुरु पूज्य द्विवेदीजी का चरित्र लिखा जाए। एक बार श्रद्धेय गणेशजी ने मुझे बहुत समझाया और कहा Self Sacrifice (आत्मत्याग) और Suicide (आत्मघात) ये दोनों अलग चीज हैं। अपने लेखों के लिए पुरस्कार लिया करें और बहुत दिनों तक उन्होंने 'प्रताप' से पाँच रुपया प्रति पृष्ठ के हिसाब से पुरस्कार दिया भी।

गणेशजी की इस प्रकार की कृपा केवल मुझी पर रही हो, सो बात नहीं। अनेक लेखक आज उनकी कृपाओं का स्मरण कर आँसू बहाते हैं। अभी उस दिन एक पत्रकार ने कहा, ''मैं एक सज्जन से मिलने आगरे गया हुआ था। रेल से वापस आने के लिए पैसे पास थे नहीं और उन महाशय···से माँगने में संकोच हुआ, इसीलिए पैदल ही चल पड़ा। रास्ते में एक महाशय मिल गए, जो गणेशजी के और मेरे दोनों के परिचित थे। उन्होंने बातचीत में पूछा तो मैंने कारण बतला दिया। उन्होंने यह बात कहीं गणेशजी से जाकर कह दी। बस, गणेशजी ने तुरंत ही पचास रुपए का मनीऑर्डर भेज दिया और लिखा, ''तुम

1. इस पत्र का संपूर्ण पाठ इसी खंड के पत्र, दिनांक 04.02.1930 में है।

भी अजीब आदमी हो! भला अपनों से इतना संकोच! हमें रूखी-सूखी खाने को मिलती है, तो हम तुम बाँटकर खा लेंगे।'' पत्र में शब्द ठीक-ठीक ये नहीं थे, पर आशय यही था। मैं अपनी इस भूल पर कि मैंने उस आदमी से यह बात क्यों कही, बड़ा लज्जित हुआ।

हमारे पड़ोसी एक दूसरे पत्रकार कहते हैं, ''मुझे एक अत्यंत आवश्यक घरेलू कार्य के लिए दो सौ रुपए की जरूरत थी। कहीं से मिलने की सुविधा नहीं। गणेशजी के पास गया। 'प्रताप' कार्यालय में भी उस दिन रुपए नहीं थे। गणेशजी ने अपने एक साथी को बुलाकर कहा, ''देखो जी मेरी जिम्मेदारी पर दो सौ रुपए अमुक दुकान से लाकर इनको दे दो। इनका काम चलने दो, फिर पीछे देखा जाएगा।''

सत्याग्रह आश्रम की बात है। लड़के को तेज बुखार आ गया था। मैं घबरा गया। डॉक्टर चार-पाँच मील पर रहते थे। बंधुवर हरिभाऊ उपाध्याय के पास गया। वे लेख लिखने में अत्यंत व्यस्त थे। ज्यों ही मैंने जिक्र किया, उन्होंने तुरंत ही कलम रख दी और साथ चल दिए। डॉक्टर लाए। लड़का स्वस्थ हो गया। मैंने हरिभाऊजी से कहा, ''आप उस दिन फौरन ही मेरे साथ चल दिए, इससे मुझे बड़ा हर्ष हुआ।'' उन्होंने कहा, ''यह बात मैंने गणेशजी से सीखी। चाहे जैसा जरूरी काम वे कर रहे हों, पर यदि उन्हें यह मालूम हो जाए कि किसी बीमार के लिए उनकी सेवा की जरूरत है, तो वे तुरंत अपना काम छोड़कर उस बीमार का काम करते हैं।''

सन् 1924 के प्रारंभ मे पूर्वी अफ्रीका जाते समय जहाज के डेक पर यात्रा कर रहा था। श्रीमती सरोजिनी देवी ऊपर फर्स्ट क्लास में थीं। समुद्री बीमारी Sea-Sickness के मारे नाकों दम था। चारों ओर स्त्री-पुरुष कै कर रहे थे। मेरे लिए यह प्रथम बार की समुद्र-यात्रा थी, इसलिए और भी घबड़ा रहा था। उस समय गणेशजी जेल में थे। उनकी याद आ गई। मित्र ऐंड्रयूज का स्मरण हुआ। दिल में सोचा कि क्या ही अच्छा होता, यदि दुनिया में मि. ऐंड्रयूज और गणेशजी जैसे सहृदय व्यक्ति बहुत से होते। अपने मन को शांत करने के लिए उसी समय गणेशजी का एक छोटा सा स्केच अंग्रेजी में लिखा। केनिया की राजधानी नैरोबी पहुँचकर मैंने पहला काम यह किया कि टाइप

करके उस स्केच की एक प्रति 'लीडर' को भेज दी। यह लेख 'लीडर' के 21 फरवरी, सन् 1924 के अंक में प्रकाशित हुआ। उस लेख के दो वाक्य-खंड निम्नलिखित हैं—

'प्रताप' के उस प्रभाव के पीछे क्या है? गणेशशंकर विद्यार्थी का व्यक्तित्व। अपने व्यवहार में वे बिलकुल कृत्रिमता नहीं रखते, उनका हृदय गरीबों के लिए द्रवीभूत हो जाता है और उनके मुखमंडल से उनके दीर्घ कष्ट सहन और पारदर्शी सच्चाई की आभा छिटकती है। वह गणेशशंकर विद्यार्थी के व्यक्तित्व का अपना आकर्षण है। उन्होंने बहुत कष्ट उठाए हैं, अनेकों मुसीबतों का सामना किया है और उनके जीवन में असंख्य दुःखप्रद दिवस तथा चिंताकुल रजनी व्यतीत हुई है। उन्हें तीन बार जेल भेजा जा चुका है और कष्ट सहिष्णुता में उनका रिकॉर्ड अद्वितीय है।

स्वार्थ-भावना से रहित दरिद्र-नारायण की सेवा के सिवा जिसकी कोई दूसरी आकांक्षा नहीं और जिसमें अदम्य साहस है अत्याचार तथा अन्याय का विरोध करने का, चाहे फिर वे अत्याचार किसी की ओर से क्यों न हों, पूँजीपतियों या सरकार की ओर से अथवा अनियंत्रित मानस-समूह द्वारा, ऐसे 'प्रताप' के योद्धा संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी भारत की भावी शक्तिशाली पत्रकारिता के प्रतिनिधि हैं।''

गणेशजी हास्यप्रिय भी खूब थे और उनसे हँसी-मजाक भी खूब होता था। गोरखपुर के हिंदी साहित्य सम्मेलन में वे प्रधान थे। जब उनका स्वागत हो चुका, तो मिलने पर उन्होंने पूछा, ''अरे भाई, तुमने यह क्या घासलेट का झगड़ा खड़ा कर दिया?''[1]

मैंने कहा, ''एक औरत थी। उसने नया गहना (कंगन) बनवाया। किसी ने पूछा भी नहीं बस, उसने अपनी झोंपड़ी में आग लगा दी और हाथ उठा-उठाकर आग बुझाने के लिए चिल्लाने लगी। लोग बुझाने आए। एक ने पूछा तुमने यह गहना कब बनवाया? उस औरत ने कहा, 'अगर यह बात तुम पहले ही पूछ लेते, तो इस झोंपड़ी में आग क्यों लगाती?' आप पहले से ही हमारा समर्थन करते, तो यह घासलेट आंदोलन क्यों खड़ा होता?''

यह सुनकर गणेशजी खूब खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले, ''अच्छा समझ गए। यह तुम्हारी Personal vanity (व्यक्तिगत अहंकार) है।''

सम्मेलन में गणेशजी के सभापति होने से यही प्रतीत होता था कि

सम्मेलन अपना ही है। उनको जब कुछ गौरव प्राप्त होता था, तो उसे वे मानो अपने

---

1. 'विशाल भारत' (1928-30 मध्य) में उग्रजी की पुस्तक 'चाकलेट' के स्तर व सुरुचि पर विवाद हुआ था, इसे श्री चतुर्वेदी ने 'घासलेट' साहित्य कहा था।

साथियों में बाँट देते थे। गोरखपुर सम्मेलन में उनके साथियों को यह प्रतीत होता था मानो हम ही सभापति हैं, पर गणेशजी अपने कार्य में या नियंत्रण में शिथिलता बिलकुल नहीं आने देते थे। बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन' तथा शिवनारायणजी इत्यादि को उन्होंने खासी डाँट लगाई। मैं भी उनसे झगड़ पड़ा और मुझे भी फटकार सुननी पड़ी।

गणेशजी के साथी जब आपस में मिलते तो प्रायः उनकी चर्चा होती। उनके गुण-दोषों की विवेचना होती। एक बार मैंने कहा, ''यदि मुझ पर कोई संकट आए, तो गणेशजी पहले आदमी होंगे, जो मेरी सहायता करेंगे, पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि गणेशजी की सहायता में वह भोलापन नहीं है, जो सत्यनारायण में था।'' वे सज्जन बोले, ''ठीक है, पर गणेशजी को एक संस्था का संचालन करना पड़ता है। यदि वे सत्यनारायण होते, तो न संस्था का संचालन कर पाते और न हम लोगों की सहायता।''

आज गणेशजी अपनी गौरवमय मृत्यु से उस उच्च स्थान को पहुँच गए हैं, जहाँ उनके सैकड़ों साथियों का, हम सबका जन्म-जन्मांतर में भी पहुँचना असंभव है।

उस दीनबंधु के लिए किसान रो रहे थे। कौन उनकी उदर-ज्वाला को शांत करने के लिए स्वयं आग में कूद पड़ेगा? मजदूर पछता रहे थे, कौन उन पीड़ितों का संगठन करेगा? मवेशीखाने से भी बदतर देशी राज्यों के निवासी अश्रुपात कर रहे थे, कौन उन मूक पशुओं को वाणी प्रदान करेगा? ग्रामीण अध्यापक रुदन कर रहे थे, कौन उनका दुखड़ा सुनेगा और सुनाएगा? राजनीतिक कार्यकर्ता रो रहे थे, कौन उन्हें आश्रय देकर स्वयं आफत में फँसेगा? कौन उनके कंधे-से-कंधा मिलाकर स्वतंत्रता-संग्राम में चलेगा? और एक कोने में पड़े हुए उनके कुछ पत्रकार-बंधु भी अपने को निराश्रित पाकर चुपचाप चार आँसू बहा रहा थे। आपातकाल में कौन उन्हें सहारा देगा, जिससे वे दिल खोलकर बात कहेंगे, किसे वे अपना बड़ा भाई समझेंगे और कौन छोटे भाइयों का इतना खयाल रखेगा?

गणेशजी के पत्र

देश में बहुत से पत्रकार हुए हैं और होंगे। प्रभावशाली व्यक्तियों की भी कमी नहीं। लीडर भी बहुत से हैं, शायद जरूरत से ज्यादा, पर गणेशजी जैसा पत्रकारों का सखा उनके संकट का सहारा, दूसरा नहीं मिला। इस जीवन में मिलने की आशा भी नहीं।



पं. महादेव भट्ट[1] के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
03.08.1914

प्रियवर वंदे!

मैं नहीं जानता कि किन शब्दों में मैं आपसे आपकी इस घोर क्षति में सहानुभूति प्रकट करूँ। एक स्वतंत्र विचार वाले महान् पुरुष के स्वर्गवास पर सांसारिक लल्लो-चप्पो से काम लेना उस महान् पुरुष का अपमान करना है। आप ही की क्षति नहीं, क्षति सार्वजनिक है, परंतु केवल संतोष के और कुछ हाथ नहीं। परमपिता उनकी आत्मा को शांति दें और आपको धैर्य।

आपको शीघ्र पत्र लिखना आपके शोकपूर्ण हृदय को और भी शोकाकुल बनाना था, इसलिए देरी से पत्र लिख रहा हूँ।

योग्य सेवा लिखें—

आपका विनीत
गणेशशंकर विद्यार्थी

●

1. महान् लेखक एवं पं. बालकृष्ण भट्ट के (20.07.1914) देहावसान पर उनके पुत्र को लिखा गया पत्र 'हिंदी प्रदीप' (1877–1910) के लिए था।

श्री जगमोहन 'विकसित' के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
10.07.1915

प्रिय महाशय,

आपका पत्र मिला। हो सके, तो आप 21 जुलाई से आइए। यदि ठीक न हो, तो आप 15 ही से आ सकते हैं।

भवदीय
ग. श. वि.

श्रीयुत जगमोहन 'विकसित',
अध्यापक
शिवराजपुर
Shivarajpore
(Cawnpore)



श्री महावीर प्रसाद पोद्दार के नाम—

'प्रताप' कार्यालय
06.12.1915

प्रिय भाई पोद्दारजी,

वंदे!

···दशरथजी के विषय में हमारा निश्चय यह है—वे यहाँ आ जाएँ। काम हमारे यहाँ मेहनत का है—यह तो आप, हम और दशरथजी सभी जानते हैं। इसलिए हमें इस बात के देखने की आवश्यकता है कि अपनी योग्यता और श्रमशीलता के मुकाबले में दशरथजी हमारे काम को अधिक तो नहीं पाते···यदि हम देखेंगे कि काम उनकी शक्तियों से अधिक है, या उनके और हमारे मिजाजों में बहुत अंतर है, तो अपने स्नेह को दूर किए बिना ही हम दोनों एक-दूसरे से नमस्कार कर लेंगे।

···मैं ऐसा अवसर आने देना नहीं चाहता कि अपने एक हितैषी (अर्थात् दशरथजी) के बुरे तथा उनकी सहानुभूति से वंचित हो जाऊँ। यदि हम पहले ही स्पष्टता से काम लेंगे, तो संभव है कि दशरथजी और हम लोगों का मन न मिले, परंतु इस कारण हम दोनों पक्ष एक-दूसरे के अशुभ-चिंतक न बन सकेंगे।

भवदीय
ग. शं. विद्यार्थी

●

टिप्पणी :
पोद्दारजी की गणेशजी से मित्रता थी। उन्होंने ही गोरखपुर में 'प्रताप' की एजेंसी ली थी। उन्होंने द्विवेदीजी की सिफारिश की थी, जो घरवालों से छुपकर 'प्रताप' में नौकरी के लिए दिसंबर 1915 में आए। दशरथ प्रसाद द्विवेदी (1891-1961) ने 1916 से 1929 ई. तक 'प्रताप' में पत्रकारिता सीखकर गोरखपुर के स्वतंत्रता आंदोलन के साथ 'स्वदेश' पत्र का संपादन किया। 'स्वदेश' की पत्रकारिता पर गणेशजी की छाप थी। वे 10 वर्ष जेल में रहे तथा सांसद बने।

सैय्यद अमीर अली 'मीर' साहब के नाम प्रेषित पत्र का एक अंश—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
26.02.1918

प्रिय श्री मीर साहब!

मैं सीधे ढंग से अपनी राय लिखता हूँ। मुझे उर्दू और हिंदी में कोई अंतर नहीं मालूम पड़ता। दोनों का व्याकरण एक सा है और साधारण शब्दावली में भी कोई विशेष अंतर नहीं। फारसी का प्रभाव बोलने की भाषा पर पहले ही पड़ रहा था। इसलिए उत्तरी भारत की भाषा में फारसीपन है। पूर्व में जाइए तो आपको संस्कृतमयी भाषा मिलेगी, परंतु राजनीतिक दृष्टि और राष्ट्रभाषा के विचार से हमें बहुत ज्यादा फारसी या संस्कृत शब्दों से भरी हुई होने से बचना पड़ेगा। फिर उस समय लिपिभेद होना बुरा नहीं। साथ ही मैं साहित्य में उर्दू का और ढंग का होना और हिंदी का और ढंग का होना भी चिंता की बात नहीं समझता—फिर बहुत ही कम लोगों (केवल हिंदी को जानकर उर्दू को कोसने वालों) को पता है कि उर्दू का साहित्य कैसा है? मालूम नहीं कि आपने उर्दू साहित्य का अवलोकन किया या नहीं? परंतु जिन विचारशील मित्रों ने उसे पढ़ा है, वे उसकी तारीफ करते हैं। वे कहते हैं कि आधुनिक बातों पर उर्दू का साहित्य अधिक बड़ा है। वे यहाँ तक कहते सुने गए हैं कि यदि हिंदी लेखक उर्दू साहित्य का कुछ अध्ययन कर लिया करें, तो उनकी लेखन-शैली में सरलता और मुहावरों का अच्छा प्रवेश हो जाए। यदि, ऐसा नहीं, उर्दू सचमुच गिरी और शून्य भाषा है, तो उस पर व्यंग्यों की बौछार करने में शक्तियों के खोने से लाभ? कुछ भी हो, लक्ष्य को देखकर निशाना मारने की आवश्यकता है, अंधे होकर नहीं। जैसा हमारे कुछ साथी कर रहे हैं।*

आपका
गणेशशंकर विद्यार्थी

●

*स्वभाषा-प्रेम के कारण कतिपय हिंदी भक्त (हमारे कुछ साथी का संकेत) उर्दू को सांप्रदायिक दृष्टि से देखते थे, उसके शब्दों को चुन-चुनकर प्रयोग कर रहे थे। गणेशजी मानते थे कि राष्ट्रभाषा हिंदी को दोनों की अधिकता यानी फारसी या संस्कृत शब्दों से भरी हुई होने से बचाना है। वे स्वयं ऐसी ही भाषा लिखवाते और लिखते थे। उर्दू की पत्रिका 'जमाना' के संपादक मुंशी दयानारायण निगम उनके सुहृद थे। इनकी भाषा नीति के वे प्रशंसक रहे थे।

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
11.09.1918

प्रिय चतुर्वेदीजी वंदे!

आपकी भेजी हुई पुस्तक (प्रवासी भारतवासी*) प्राप्त हुई। निस्संदेह यह पुस्तक अपने ढंग की एक रही और भारतवासियों का उससे बहुत कल्याण होगा। उसके लिए मैं आपको हृदय से बधाई देता हूँ। अभी तक मैंने उसे पढ़ा नहीं है, क्योंकि समय ही नहीं मिला। कल रात ही को बंबई से लौटा हूँ। तो भी समझता हूँ कि जो लोग पढ़ेंगे उन्हें इस विषय पर इतना मालूम हो जाएगा कि उनके हृदय के कपाट खुल जाएँगे। आपने देशवासियों की तो सेवा की ही है, हिंदी साहित्य के एक अंग को भी पूरा किया है। साहित्य की दृष्टि से भी आपकी यह कृति बड़ी भारी है और चिरकाल तक हिंदी संसार को आपका ऋणी रखेगी। इसके लिए मैं फिर आपको बधाई देता हूँ।

मैं उसे पढूँगा और 'प्रताप' में कुछ लिखूँगा भी। मालवीयजी के प्रस्ताव पर भी लिखूँगा। मि. एंड्रयूज से 'राष्ट्रीय अंक' के लिए प्रवासी भारतवासियों पर कुछ अवश्य लिखवाइए।

योग्य सेवा लिखें।

भवदीय
ग. शं. विद्यार्थी

●

'प्रवासी भारतवासी' 1918 में प्रकाशित हुई थी। चतुर्वेदीजी ने प्रवासी भारतीयों पर कई पुस्तकें लिखीं तथा फिजी आदि की यात्राओं के विवरण छापे। इन गिरमिटियों 'शर्तबंद कुली', प्रवासी भारतीयों की दशा पर दीनबंधु एंड्रयूज ने अंग्रेजी में लिखा। मैथिलीशरण ने 'किसान' काव्य रचा। गांधीजी ने सरकार को अल्टीमेटम दिया, तब 1 जनवरी, 1920 से यह प्रथा बंद हुई। 'प्रताप' ने 1913-20 तक खूब लेख छापे— एंड्रयूज का जिक्र ऐसे ही लेख के लिए है।

जज, सेशंस कोर्ट, मैनपुरी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
दिनांक 26.10.1919

जज
सेशंस कोर्ट, मैनपुरी
महोदय,

पत्रवाहक, मिस्टर शिवचरनलाल शर्मा हमारे समाचार-पत्र 'प्रताप' के विशेष संवाददाता हैं। उन्हें आपकी अदालत में षड्यंत्र केस* की रिपोर्ट लेने के लिए भेजा जा रहा है। हम आपके अत्यंत आभारी होंगे, यदि आप उनको ऐसी परिस्थितियों में संवाददाताओं को दी जानेवाली सुविधाएँ प्रदान करें।

हम हैं महोदय
आपके परम
आज्ञाकारी सेवक
गणेशशंकर विद्यार्थी
संपादक 'प्रताप'



*मैनपुरी षड्यंत्र केस 1919 में चला था। इसके 80 मुजरिमों में मुकुंदीलाल को काला-पानी हुआ, गेंदालाल जेल से भाग निकले और बिस्मिल फरार रहे थे। इनकी संस्था का नाम 'मातृवेदी' था। इस मुकदमे के कुछ कैदी गणेशजी को लखनऊ में मिले थे, जिनसे बड़ा कठोर यातनापूर्ण व्यवहार जेलर करता था।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के नाम—

कानपुर
27.01.1920

प्रिय महोदय,

वंदे!

मैं आपकी सेवा में एक प्रार्थना के साथ पहुँचता हूँ। बिजौलिया का मामला* टेढ़ा होता जाता है। अमृतसर में आप लोगों ने वहाँ की दशा की जाँच के लिए एक कमीशन बैठाना तय किया था। अभी तक पता नहीं कि कमीशन अपना काम कब से प्रारंभ करेगा? आप भी कमीशन के एक सदस्य हैं। क्या आप बिजौलिया की दशा पर दया करके इस मामले में शीघ्र ही आगे पग बढ़ाने की कृपा करेंगे? यदि कमीशन काम पर बैठ जाए, तो इस बात का जिम्मा मेरे ऊपर रहा कि उसकी बातें प्रतिदिन तार द्वारा पत्रों में पहुँचती रहें। कृपा करके, शीघ्र काम प्रारंभ कीजिए और कोठारीजी को इसके लिए तैयार कीजिए। आपके उत्तर की प्रतीक्षा है।

विनीत
ग.शं. विद्यार्थी

●

---

*गणेशजी ने 'प्रताप' के माध्यम से देश के भीतर गुलामी-दर-गुलामी को काटकर जनता को देशी राज्यों के उत्पीड़न से बचाया, ग्वालियर से भिन्न एक मामला बिजौलिया का था। इस पर गणेशजी के दो संपादकीय 'बिजौलिया' दिनांक 23.02.1920 तथा 'बिजौलिया पर काले बादल' दिनांक 14.06.1920 तथा उपर्युक्त भवानीदयालजी को संबोधित पत्र मिलते हैं। बिजौलिया मेवाड़ राज्य का एक ठिकाना था जिसमें फी कुँआँ 100 सरे फी खेत 65 गन्ने, फेफड़े, होले दाग्याँ आदि नामों की 150 लागतों और बेगारों से किसान बेहाल थे। किसानों ने हताश होकर खेती छोड़ दी। तो उनके 400 वयस्कों को कैद कर दिया गया। औरतें-बच्चे अनाथ हो गए। कुछ किसानों ने कांग्रेस पार्टी के अमृतसर अधिवेशन 1919 में गुहार लगाई तो कांग्रेस ने तीन सदस्यों का जाँच कमीशन भेजा। पत्र में संदर्भित संन्यासीजी इसके सदस्य थे। जनता को भ्रम मे डालने के लिए दरबार ने दूसरा कमीशन कृष्णकांत मालवीय का बनाया, परंतु उसकी रिपोर्ट भी खुलासा नहीं की गई। तब गणेशजी ने लेख छापे।

सरदार वीरपाल सिंह* के नाम—

'प्रताप' ऑफिस, कानपुर
20.01.1921

सरदार वीरपाल सिंह, एम.एल.सी.,
ताल्लुकेदार, रायबरेली।

सर,

हमको आपकी नोटिस प्राप्त हुई। आपने यह पूछा है कि हम आपसे क्षमायाचना करें तथा जो हमने संपादकीय दिनांक 13 जनवरी, 1921 में विचार प्रकट किए हैं, उन्हें वापस ले लें। उसके उत्तर में हम आपको सूचित कर रहे हैं कि जो कुछ हमने लिखा है, हम पूरी तौर से न्याय पथ पर हैं। हमारे पास अपने विचारों की पुष्टि में पर्याप्त साक्ष्य हैं। हम आपसे फिर कहेंगे कि आप हमारे संपादकीय को, जिसका कि आपने उल्लेख किया है, दोबारा फिर पढ़ें। हम पूरी सामग्री आपके वकील के हाथ में—यदि समय आया तो न्यायालय में दे देंगे। इसे दूसरी नीति न समझिएगा। अभियोगों के संबंध में सच्चाई यह होगी कि जनता हमारा अखबार लेकर आपके दरवाजे पर चिल्लाएगी।

मैं समझता हूँ कि 'इंडिपेंडेंट' अखबार के पास समय रहते पर्याप्त तथ्य नहीं पहुँच पाए, जिससे उन्होंने माफी माँग ली है।

आपका सच्चा
गणेशशंकर विद्यार्थी
संपादक, प्रताप



*रायबरेली में गोली से मरे छह किसानों के शव मिले थे। इसका जिम्मेदार वीरपाल सिंह जमींदार था। 'प्रताप' में खबर छपी तो उसने गणेशजी और शिवनारायण मिश्र पर मुकदमा कर दिया, क्योंकि गणेशजी ने उक्त पत्रानुसार क्षमा नहीं माँगी। मानहानि के इस मुकदमे में गणेशजी और शिवनारायणजी को तीन-तीन माह की कैद व 500-500 रुपए का जुर्माना किया गया। इस मुकदमे में पं. जयकरननाथ मिश्र की कुशलता से जमानत देकर जेल से मुक्त हुए थे (30.07.1921), किंतु इससे वे मन-ही-मन विकल हुए और फिर जमानत खत्म कराकर जेल गए। इस मामले में मोतीलाल नेहरू के पत्र 'इंडिपेंडेंट' ने और सी.वाई. चिंतामणि के 'लीडर' ने माफी माँगी। प्रताप का दैनिक संस्करण बंद करना पड़ा था।

सुपरिंटेंडेंट, डिस्ट्रिक्ट जेल, लखनऊ के नाम—

डिस्ट्रिक्ट जेल, लखनऊ
27 सितंबर, 1921

सेवा में,
सुपरिंटेंडेंट,
डिस्ट्रिक्ट जेल, लखनऊ

महोदय,

हमें ज्ञात हुआ है कि हमारे लखनऊ के 12 साथियों को, जो पिछले दो सप्ताहों या कुछ अधिक समय से हमारे साथ इस जेल में रखे गए थे, कल सेंट्रल जेल[1] भेज दिया गया। हमें यह पता लगा कि कल प्रातःकाल तक उनके साथ यहाँ जैसा बर्ताव किया गया, वहाँ उनके साथ उससे भिन्न बर्ताव किया जा रहा है और वे सुविधाएँ जो उन लोगों को यहाँ दी गई थीं, वापस ले ली गई हैं। हम देख रहे हैं कि संयुक्त प्रांत के अधिकारी भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के संबंध में भेदनीति से काम लेने का प्रयत्न कर रहे हैं, क्योंकि एक ही अपराध के लिए हमारे साथी कार्यकर्ताओं को एक दिन से लेकर 18 मास तक भिन्न-भिन्न समय की सजा का दंड दिया गया है। कुछ को साधारण कारावास मिला है और दूसरों की प्रतिष्ठा सपरिश्रम कारावास द्वारा बढ़ाई गई है। कुछ इने-गिने लोगों के साथ विशिष्ट बर्ताव किया जाता है और कुछ लोगों के साथ इस प्रकार का बर्ताव किया जाता है कि जिसे केवल अमानुषिक बर्ताव कहा जा सकता है। आपने किन्हीं कारणों से, जिनका ज्ञान आप ही को हो सकता है, हमारी जेल मेन्युअल दिखाने की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। तथापि जेलर ने कल हमें दो सर्कुलर दिखा दिए हैं, जिनमें विचाराधीन कैदियों और साधारण कारावास का दंड पानेवाले कैदियों के साथ किए जानेवाले बर्ताव का वर्णन है। इन सर्कुलरों को देखकर हमें ज्ञात होता है कि जेल में विचाराधीन

1. लखनऊ में यह सेंट्रल जेल विशेष प्रकार के कैदियों के लिए थी। लखनऊ जेल पहुँचने पर गणेशजी को मैनपुरी षड्यंत्र केस के (1918-20) शिवचरण व रामनाथ गुर्टू मिले। गले में लकड़ी की तख्तियाँ लटकाए थे। इन्हें सामान्य कैदियों से भी नीचा खाना मिलता था, जो जानवर भी न खाते।

राजनीतिक कैदियों को उन साधारण सुविधाओं के देने से भी इनकार किया जाता है, जो नियमों के अनुसार उन्हें मिलनी चाहिए। हमारी समझ में नहीं आता कि संयुक्त प्रांत में राजनीतिक कैदियों के प्रति यह भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव किन विशेष कारणों के आधार पर किया जाता है। हम लोगों ने एक बार आपसे पहले भी कहा था कि हम लोगों को किसी प्रकार की ऐसी सुविधा की आवश्यकता या चाह नहीं है, जो हमारे अन्य साथी कार्यकर्ताओं को नहीं दी जाती। हम फिर इसी बात की ओर आपका और आपके द्वारा गवर्नमेंट का ध्यान आकर्षित करते हैं कि हम किसी ऐसी सुविधा और विशिष्ट बर्ताव की इच्छा नहीं रखते जो यहाँ या प्रांत के अन्य स्थानों में राजनीतिक कैदियों के साथ नहीं किए जाते। हम इस बात की शिकायत नहीं करते कि हममें से कुछ लोगों को कष्ट दिए जाते हैं। हम कठिनाइयों से बचने के लिए जेल में नहीं आए हैं। हम यहाँ अपने उद्‌देश्य के लिए, जो हमें प्यारा है और जो परमात्मा के अनुग्रह से बहुत शीघ्र सफल होगा, कष्ट सहने के लिए पूर्णतया तैयार होकर आए हैं। इसलिए, क्या आप कृपा करके शीघ्र ही हमारे साथ वही बर्ताव किए जाने का प्रबंध करेंगे जैसा कि हमारे साथी कार्यकर्ताओं के साथ किया जाता है। हम अपनी स्वराज्य सेना में किसी प्रकार की ऊँच-नीच, भेद-भाव मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

भवदीय

गणेशशंकर विद्यार्थी



जिला मजिस्ट्रेट, कानपुर के नाम—

04.10.1921

प्रिय महोदय,

23.05.1921 को मुझसे जाब्ता फौजदारी की दफा-108 के अनुसार पाँच-पाँच हजार की दो जमानतें और पाँच हजार के मुचलके* लिये गए थे। उस समय रायबरेली में मुंशी मकसूद अली की अदालत में मेरे ऊपर मानहानि का एक फौजदारी का मुकदमा चल रहा था। दफा-108 के अनुसार सरकार ने मेरे विरुद्ध जो काररवाई की, उसका रायबरेली के मामले से घनिष्ठ संबंध था।

रायबरेली में गोली चलाने के काम की 'प्रताप' ने, जिसका संपादन उस समय मैं करता था, तीव्र निंदा की थी। उन लेखों में अधिकारियों के अमानुषिक काम की घोर निंदा की गई थी और मानवीय जीवन को अधिक पवित्र तथा अधिक बहुमूल्य बताया गया था। मेरा विचार है कि उस समय सरकार ने जो काररवाई की, वह इसलिए की थी कि अधिकारी वर्ग की करतूतों का अधिक भंडा-फोड़ न हो सके, परंतु मेरा विचार है कि उस काम में सरकार को सफलता नहीं मिली। मुझे इतने दिन जेल से बाहर रखने के लिए मैं सरकार को धन्यवाद देता हूँ, परंतु देश की वर्तमान अवस्था अभी दूसरे कार्यक्षेत्र में मेरा आह्वान करती है। ऐसे समय प्रत्येक कर्तव्यपरायण भारतीय का अपने देश के प्रति कर्तव्य है कि वह इस प्रकार का आचरण करे, जिससे उसके देशवासियों के मन में डर पैदा करने के लिए और उन्हें पीछे हटाने के लिए सरकार जो करती है, वह कार्य विफल हो जाए। जब तक मैं मुचलके और जमानतों से बँधा हुआ हूँ, तब तक मैं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे इस पत्र को 23.05.1921 को दिए गए मुचलकों को रद्द कराने के लिए प्रार्थना-पत्र समझें। मुचलके के रद्द होने से दोनों जमानतें अपने आप रद्द हो जाएँगी। उसका जो परिणाम होगा उसे मैं भली-भाँति जानता हूँ कि इस बंधन से मैं जो स्वतंत्रता प्राप्त करूँगा, उसका अर्थ यह होगा कि मैं किसी जेल में

---

*रायबरेली मानहानि केस में गणेशजी व शिवनारायण मिश्र को 30.07.1921 को सजाएँ हुई थीं, किंतु वकील जयकरननाथ मिश्रा की चतुरता व मित्रों के दबाव में उन्हें जमानत स्वीकार करनी पड़ी, परंतु नैतिक रूप से दुःखी थे।

रखा जाऊँगा। मैं इसके लिए तैयार हूँ। देश की वर्तमान हालत में अपने को अपमानित समझते हुए दफा-108 से बँधे रहने से जेल में रहना कहीं अच्छा समझता हूँ!

आपका
गणेशशंकर विद्यार्थी



लाला सालिगराम बजाज के नाम—

डिस्ट्रिक्ट जेल, लखनऊ
15.01.1922

प्रियवर सालिगरामजी वंदे!

मैं अच्छी तरह हूँ। आशा है आप भी सकुशल होंगे। अभी पिछली बार जब शिवनारायण आए थे, तब कहते थे कि माताजी बहुत बीमार हैं। अब, उनका क्या हाल है? उनके हाल का पत्र अवश्य भेजना। अपने शरीर का पूरा ध्यान रखना और किसी अवसर पर भी लापरवाही न करना।

हकीमजी और मुन्ना बाबू से मेरा नमस्कार कह देना। डॉक्टर जवाहरलाल का कुछ हाल मिला हो, तो लिखना।

शेष सब कुशल है।

भवदीय
गणेशशंकर विद्यार्थी

लाला सालिगरामजी,
मालिक फर्म,
राम लाल बुलाकी दास,
गढ़ैया-लाठी मोहाल,
कानपुर।
(Cawnpore)

●

धर्मपत्नी श्रीमती चंद्रप्रकाश देवी के नाम—

3 मार्च, 1923 ई.

मेरी परम प्यारी प्रकाश,

कल तुम्हारा पत्र प्राप्त हुआ। तुमने जो कुछ लिखा है वह बिलकुल ठीक है। माफी माँगने से अच्छा यह है कि मौत हो जाए। तुम विश्वास रखो कि मैं बेइज्जती का काम नहीं करूँगा। तुम्हारी और बच्चों की बहुत चिंता है, परंतु तुम्हारा हृदय कितना अच्छा और ऊँचा है, उससे मेरे मन को बहुत संतोष हो रहा है। ईश्वर तुम्हारे मन को दृढ़ रखे, अगर तुम दृढ़ रहोगी, तो मेरा मन कभी न डिगेगा। मैं तुमसे कोई बात छिपाना नहीं चाहता।

मैं खुशी से तैयार हूँ। जो मुसीबत आ पड़ी है उसे हँसते-हँसते मैं झेल लूँगा। माखनलालजी के साथ मैं उनके घर जा रहा हूँ। होली वहीं करूँगा। होली के बाद दूज या तीज को मैं कानपुर पहुँचूँगा और उसी दिन दोपहर तक मैं अपने को पुलिस के हाथों में दे दूँगा। मैं सीधे ही अपने को पुलिस के हाथों में दे देता, मगर एक बार तुम लोगों को देख लेना धर्म समझता हूँ। देखो, ईश्वर और धर्म पर विश्वास रखो। आज कष्ट के दिन सिर पर हैं। कल सुख के दिन भी आएँगे। धर्म के लिए सहे जानेवाले कष्ट के दिनों के बाद जो दिन आएँगे, वे परमात्मा की कृपा से अच्छे सुख के दिन होंगे।

हरि, कृष्णा, विमला और ओंकार को हृदय से प्यार।

तुम्हारा
गणेशशंकर विद्यार्थी



अग्रज श्री शिवव्रत नारायण के नाम—

03.03.1923

पूज्य भाई साहब,

प्रणाम!

झाँसी से लिखे पत्र आपको मिल गए होंगे। (तदुपरांत यहाँ) चतुर्वेदीजी के साथ चला आया। यहाँ अच्छी तरह से हूँ। कोई कष्ट नहीं है। चतुर्वेदीजी की माता बड़े प्रेम से भोजन कराती हैं और उनके भाई सेवा करते हैं। आज होली का दिन है। आप लोगों को मेरी चिंता होगी, परंतु चिंता तनिक भी न कीजिएगा। यहाँ कोई कष्ट नहीं है और सबका व्यवहार घर का सा है। 5 तारीख को यहाँ से चलेंगे और 6 तारीख को सबेरे कानपुर पहुँचेंगे। घर पर पहुँच कर आप लोगों से मिल भी लेना है। हो सका, तो नहा-धोकर कुछ खा-पी भी लूँगा। उसके पश्चात् अपने को पुलिस के हाथों में दे देना है। उसी दिन फतेहपुर चले जाना होगा और 10-12 दिन के भीतर ही सब फैसला हो जाएगा। सजा कितनी होगी, सो नहीं कहा जा सकता। मेरा खयाल है कि एक वर्ष के लिए यह कष्ट सिर पर पड़ेगा। आप लोग मेरे दुर्बल शरीर के कारण चिंतित होंगे। आप इसकी चिंता न करें। मुझे कष्ट नहीं होगा। मैं आराम से रहूँगा। मुझे आराम पहुँचाने वाले सब जगह हैं और सबसे अधिक भरोसा ईश्वर का है। इस कष्ट का सहना आवश्यक हो गया है। यदि इस कष्ट के सहने से मैं अपना कदम पीछे हटाऊँगा, तो मेरा जीवन बड़ा कड़वा हो जाएगा। इसलिए, आप लोग ईश्वर पर भरोसा रखकर सहर्ष आज्ञा दीजिए। मुझे बाबूजी की चिंता है। बड़ा कठिन समय है। आप उन्हें धीरज दीजिएगा। आशा नहीं है कि वे इस चोट को सह सकें। आप चिंता न करें और घर वालों का भी परमात्मा पर भरोसा बँधाएँ। मनुष्य के जीवन में बहुधा संकट के समय आया करते हैं, परंतु वे सदा नहीं रहते। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि इस संकट में मुझे कोई विशेष लाभ होगा···अपने हृदय को तनिक भी न गिरने दीजिएगा। मुझे आशीर्वाद देते रहिए। अम्माँ को प्रणाम। बाबूजी को क्या लिखूँ। बच्चों को प्यार।

चरण सेवक

ग.शं. विद्यार्थी



जिला मजिस्ट्रेट, कानपुर के नाम—

'प्रताप' प्रेस, कानपुर
06 मार्च, 1923 ई.

प्रिय महाशय,

कुछ जरूरी अनिवार्य कामों से मैं बाहर गया था। आज सुबह लौटते ही मैंने सुना कि फतेहपुर के जिला मजिस्ट्रेट का वारंट मेरा रास्ता देख रहा है। ऐसी दशा में मैं आपको यह इत्तिला दे देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि आज चार बजे के लगभग आप जहाँ कहें, अपने को गिरफ्तार करा दूँ।

आपका
गणेशशंकर विद्यार्थी



22 मई, 1922 को जेल से मुक्त होकर गणेशजी कांग्रेस के स्कूल, कॉलेज, अदालत बहिष्कार के कार्यक्रम में जुट गए तथा गांधी जयंती के विशेष आयोजन शहर में कराए। आठ-नौ महीने की मेहनत से उन्होंने 3000 कांग्रेस स्वयंसेवक तैयार कर लिए। तिलक स्वराज्य फंड भी आया। कानपुर में राजनीतिक सम्मेलन हुआ। फतेहपुर भाषण के कारण उन पर मुकदमा चला। एक साल नैनी जेल में रहे (1923)।

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
02.09.1923

प्रियवर वंदे!

तार का उत्तर तार से दिया जा चुका है। हम लोग सानंद हैं।

बहुत साधारण सा दंगा था, जिसमें कायरता से काम दोनों तरफ से हुए। लोग बहुत कायर हैं। गप्पें बहुत हाँकते हैं। कल कमिश्नर आए थे। आज शांति है और बाजार खुल रहा है। कल तक बाजार बिलकुल खुल जाएगा।

आशा है, आप लोग सानंद होंगे।

विनीत
ग.शं. विद्यार्थी



श्री जयकृष्ण चतुर्वेदी के नाम -

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
19.01.1925

प्रिय महाशय,

वंदे!

आपका पत्र मुझे मिल गया। झाँसी के पास खनियाधाना नाम की एक रियासत है। बसई नाम का स्टेशन झाँसी और वीना के बीच में है। उसके राजा खलक सिंहजी के लड़के के लिए मास्टर की जरूरत है। मैं आपका पत्र उनके पास भेज देता हूँ। राजा साहब की स्वीकृति आते ही आपको सूचना दूँगा।

भवदीय
ग.शं. विद्यार्थी



श्री जयकृष्ण चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
31.01.1925

प्रिय जयकृष्णजी,

वंदे!

मैं आपकी सेवा में राजा खलक सिंहजी का पत्र भेजता हूँ। वे खनियाधाना नाम की सेंट्रल इंडिया की एक छोटी रियासत के अधिपति हैं। खनियाधाना झाँसी के पास है। जी.आई.पी. रेलवे के बसई स्टेशन से कुछ दूर है। बसई भी राजा साहब के राज्य में है। आप जब पहुँचना चाहें, तब की सूचना उनकी सेवा में सीधी भेज दें। राजा साहब बहुत देशभक्त हैं। हिंदी से उन्हें बहुत प्रेम है। अच्छा हो, यदि आप जाते समय मुझसे मिलते जाएँ।

आशा है, अब आपका शरीर अच्छा होगा।

भवदीय
ग.शं. विद्यार्थी



श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

'प्रताप' कार्यालय कानपुर
18.06.1925

मान्यवर पराड़करजी,

प्रणाम!

आपका कृपा पत्र प्राप्त हुआ। आपके कृपा भाव के लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। जिस पत्र के छपने पर 'चाँद'[1] वालों को अदालत में जाने की आवश्यकता अनुभव होती है, उसमें जितना अंश मुझे अनुचित भासित हुआ, उसका प्रतिकार मैं 'प्रताप' के दूसरे अंक में कर चुका। इसके अतिरिक्त इस समय कुछ भी करना मुझे आवश्यक नहीं मालूम पड़ता। संतान वृद्धि निरोध के प्रश्न पर मेरा कोई झगड़ा नहीं है, किंतु मेरा यह विचार है कि इस ज्ञान का प्रचार न चाहने वालों पर जो कटु प्रहार होते हैं, यदि वैसे ही कटु प्रहार वे लोग करें, तो दूसरे पक्ष के लोगों को बुरा न मानना चाहिए। और जहाँ तक किसी खुले प्रश्न पर खुले ढंग से, किंतु भद्रता के साथ बातें कहने और राय प्रकट करने का प्रश्न है, वहाँ तक मेरी साधारण समझ में तो यही बात आती है कि अपने विरुद्ध तक कटु बातों को छापने में हमें कोई हिचक न होनी चाहिए। इसलिए मेरी धारणा तो यह है कि 'चाँद' के उस लेख की आलोचना करनेवाले और भी अधिक तीव्र ढंग से लिखने के पूरे अधिकारी थे। संभव है मेरी धारणा गलत हो, किंतु इस प्रकार की गलतियों का सुधार अदालती फैसलों की ताकत से बाहर की चीज है।

---

1. संदर्भित पत्र 'चाँद' (स्थापना 1923) बहुचर्चित पत्र था। उसके 'मारवाड़ी' अंक की भी बड़ी चर्चा थी। इसका 'फाँसी अंक' राष्ट्रीय साहित्य की धरोहर माना गया है। 'मारवाड़ी' अंक में परिवार नियोजन (उस समय इसे संतान वृद्धि निरोध कहा गया था) के कतिपय शब्दों पर गणेशजी ने आपत्ति करते हुए लेख छापा। संशोधन भी छापा, परंतु वे अपने सिद्धांत से समझौता नहीं कर सकते थे। अत: सम्मान सहित पराड़करजी से उक्त निवेदन किया है। उसी से मिलता-जुलता प्रकरण 'तड़ातड़ ओझा' नाम के लेखक का है। जो 'प्रताप' की मर्यादा के प्रतिकूल रहने के कारण गणेशजी ने उसके प्रकाशन पर खेद प्रकाश किया था, जैसा बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे पत्र दिनांक 10.10.1928 से प्रकट होता है।

श्रीयुत सहगलजी को आप जो चाहें सो लिख दें। उन्होंने पं. हरिभाऊ उपाध्याय को कुछ लिखा है। इसीलिए उपाध्यायजी मुझे कई पत्र अब तक लिख चुके हैं। उनके लिखने पर मेरा ध्यान एक विशेष दिशा की ओर तो अवश्य गया। उन्होंने लिखा है कि सहगलजी का चित्त दुःखी हुआ, कम-से-कम इसका तो तुम्हें खयाल होना ही चाहिए। उपाध्यायजी की यह बात ठीक है। मैंने, यथार्थ में, सहगलजी के चित्त को दुखाने के लिए कुछ भी नहीं किया। इस बात तक के लिए कि उनका चित्त मेरे किसी उचित काम से दुख गया, मैं उनसे क्षमा की भिक्षा माँगता हूँ, किंतु जिस समय कि वे मेरे सिर पर अदालत, कानून और वकील की तोप का निशाना साधे बैठे हों और इधर और उधर से बराबर धमकियाँ दे रहे हों, मुझे उनके हृदय की व्यथा की अपेक्षा अपने हृदय की स्थिरता की रक्षा की अधिक चिंता है। और आप मानेंगे कि मेरी यह मानसिक वृत्ति स्वाभाविक है।

मेरी अंतिम प्रार्थना यही है कि आप इस झगड़े को अपने भाग्य पर छोड़िए। होने दीजिए, जो कुछ होने को है। मेरा विश्वास है कि जो कुछ होगा, वह बहुत ही अच्छा होगा। आशा है आप सानंद होंगे। यदि मेरे इस पत्र में आपको कोई भी बात ऐसी भासित हो जो अहम्मन्यतापूर्ण हो तो उसके लिए क्षमा कीजिए। मैं आपके सामने किसी प्रकार की धृष्टता नहीं कर सकता। आप मेरे गुरु तुल्य हैं।

अत्यंत विनय के
साथ

सेवक-गणेशशंकर विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
01.05.1926

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आप बहुत नाराज होंगे। आप लंबे-लंबे पत्र भेजते हैं और मैं ठीक-ठीक उत्तर भी नहीं देता। क्या करूँ, मुझे काम की अधिकता की शिकायत नहीं है, मुझे शिकायत इस बात की है कि मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ कि इतना कम काम कर पाता हूँ। यदि मैं 24 घंटे काम कर सकता, तो आलस्य न करता। इस समय तो घूमना तक छूटा हुआ है। घर की चिंताओं से घर के बाहर निकलते ही छूट जाता हूँ और बाहर से घर पहुँचते ही घर की चिंताओं से दब जाता हूँ। दोनों ओर खाई है। आज पाँच रात से बराबर जागकर दो बच्चों की, जिन्हें निमोनिया हो गया है, सेवा कर रहा हूँ और दिन को जब कार्यालय में आता हूँ तो 'प्रताप' के काम में नहीं, और कामों की बाढ़ में बह जाता हूँ। हालत उस तिनके की सी है, जो तेज बहाव से ठहर नहीं पाता और बहता ही चला जाता है। खैर, यह तो आत्मकथा है और इतनी लंबी-चौड़ी है कि कई पत्रों में समाप्त नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि ऐसे आदमी से आप अधिक आशा न कीजिए। लेख लिखना बहुत कठिन है। दो सप्ताह से 'प्रताप' में ही कुछ नहीं लिख पाया हूँ। बाहर के किसी सज्जन के लिए लिखूँगा तो आपके लिए सबसे पहले लिखूँगा। 'प्रताप' की पिछली कथा के फेर में न पड़िए। याद ही नहीं आता कि क्या हुआ और क्या नहीं हुआ। अभी कल की सी बात मालूम पड़ती है कि 'प्रताप' का जन्म हुआ। बीच में जो कुछ हुआ उसका विशेष खयाल नहीं होता। वह ऐसे ढंग का भी है कि सिवा मेरे उसके ऊपर दूसरा कोई अच्छा प्रकाश डाल ही नहीं सकता। मैं अभी ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हूँ। आपको जो कुछ अब तक इस विषय में समझ में आया हो उससे काम लीजिए। व्यर्थ की बातें इकट्ठा करने से आपके अब तक बँध चुकने वाले विचारों के रूप में कुछ बाधा पड़ जाने की आशंका मुझे है।

आशा है, आप सानंद हैं। मुझे दो-तीन मास के भीतर एक बार कलकत्ता पहुँचना है। क्या कोई प्रिंटिंग मशीन अच्छी हालत में बिकाऊ तो नहीं है?

आपका

ग.शं. विद्यार्थी



गणेशजी कामचलाऊ लेखन के विरुद्ध थे, पर्याप्त तैयारी और गांभीर्य के साथ ही कुछ भी लिखने को तत्पर होते थे।

श्रीचतुर्वेदी 1914 में गणेशजी के संपर्क में आए, तब से बारह साल तक कई जगह रहे, शांतिनिकेतन, साबरमती, फिजी आदि के बाद 1925 में 'विशाल भारत' के संपादक हुए थे—(जहाँ वे 1936 तक रहे) गणेशजी का यही संकेत है।

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

कानपुर
19.05.1926

मान्यवर पंडितजी,

प्रणाम!

…यदि कानपुर में काम करना तय पाएँ, तो यहाँ सब प्रबंध सुविधा के साथ हो जाएगा। यदि आप चाहेंगे कि यहाँ के कुछ सज्जन उस अवसर पर उपस्थित रहें, तो यहाँ पर ऐसे भले आदमियों की संख्या काफी मिल जाएगी। डॉ. मुरारीलाल इस काम के बड़े भारी अगुआ रह चुके हैं। आज से 15 वर्ष पहले उन्होंने अपनी बाल विधवा बहन का दूसरा विवाह कराया था। इस संबंध में जो सेवा मैं कर सकूँगा, उसके लिए आप निःसंकोच भाव से आज्ञा प्रदान कीजिए। यदि मुझसे कुछ भी बन पड़ा, तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। आपको इस सत्साहस के लिए अत्यंत आदर और प्रेम के साथ बधाई देते हुए।

आपका दास
ग.शं. विद्यार्थी



(1926 के काल में विधवा विवाह के कार्यों में गणेशजी की सहायता की भावना देखते बनती है व उनके समर्पित व निर्भीक व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।)

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
24.05.1926

मान्यवर पंडितजी,

प्रणाम!

आपका कृपा-पत्र प्राप्त हुआ। यहाँ मेरी खोज भी समाप्त हो गई। यहाँ के महाराष्ट्र ब्राह्मणों में कोई भी ऐसा आदमी नहीं मिला जो इस काम के लिए तैयार हो। आपने देवास पत्र भेजा है। अच्छा है, वहाँ से अथवा और कहीं से, कोई ब्राह्मण कर्मकांड के लिए मिल जाए। स्थान कानपुर ठीक है। यहाँ सब प्रबंध अत्यंत सुविधा के साथ हो जाएगा। लड़की के ठहरने का प्रबंध हो गया। यदि आप यही चाहें कि वे किसी महाराष्ट्र परिवार में ठहरें तो हम लोगों के साथी श्रीयुत गंगाधर गणेश जोग उन्हें अपने यहाँ सादर ठहराने के लिए प्रस्तुत हैं। जोग कांग्रेस वालेंटियर दल के, कांग्रेस के अवसर पर, अधिनायक थे। उनकी ताई दीक्षित से रिश्तेदारी है। ताई दीक्षित आपको भली-भाँति जानती हैं। ताईजी के पुत्र श्रीयुत कांतिचंद एम.ए. हैं। वे पंगु हैं। इस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रिसर्च स्कॉलर हैं। दूसरे पुत्र लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ते हैं। ताईजी की बड़ी पुत्री बाल विधवा थीं। उनका विवाह तीन-चार वर्ष हुए नागपुर में इस समय जो महाराष्ट्र सज्जन सेंट्रल जेल के सुपरिंटेंडेंट हैं, उनके साथ हुआ था। जोग और ताई दीक्षित के परिवार में बाई ठहर सकती हैं। दूसरा परिवार है डॉ. जवाहरलाल रोहतगी का। वे मेरे बड़े मित्रों में से हैं। उनके घर में उनकी पत्नी के अतिरिक्त चार सुशिक्षित पुत्रियाँ हैं। घर भर बहुत ही भले हैं। यदि आप यह पसंद करें कि बाई हम लोगों में ठहरें तो मैं डॉक्टर जवाहरलाल के यहाँ अच्छा से अच्छा प्रबंध करा दूँगा। आप पुरोहित के सिवा और किसी

बात की चिंता न करें। शेष सब कामों के ठीक-ठीक करने की जिम्मेदारी मेरे और मेरे मित्रों पर छोड़ दीजिए।

विनीत
ग.शं. विद्यार्थी



गणेशजी और उनके मित्र महिलाओं के पारंपरिक उत्पीड़न के प्रति पर्याप्त सजग थे। वे विधवा पुनर्विवाह के समर्थक थे। इसलिए जब पराड़करजी के पक्ष में काशी का समाज नहीं आया, गणेशजी आगे आए। आगे भी क्रम जारी रखा। उन्होंने अपने मित्र नवलकिशोर भरततिया द्वारा बाल विधवा विवाह की प्रशंसा में गीत लिखाए और सार्वजनिक स्वागत कराया (1927 ई.)।

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

कानपुर

31.05.1926

मान्यवर पंडितजी,

प्रणाम!

आपका पत्र मिला। कल यहाँ पं. हरि रामचंद्र दिवेकर के आने की खबर है। यदि वे आए, तो श्रीयुत जोग उनसे विवाह कृत्य करा देने के लिए कहेंगे। जोग का कहना है कि दिवेकर महोदय इस प्रांत में एक मास रहेंगे। इसलिए इस अवसर पर उन्हें बुलाकर उनसे कर्मकांड का काम करा लेना अधिक अच्छा होगा। आपकी क्या राय है?

विनीत

ग.शं. विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

01.06.1926

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आपका कृपा-पत्र मिला। मैं गत सप्ताह से छुट्टी पर हूँ, इसलिए आपके पत्र का उत्तर तुरंत न दे सका। आपने जो शंका प्रकट की है, वह ठीक है। मैं कॉउंसिल में जाना लाभदायक नहीं समझता। वहाँ का वायुमंडल बहुत विषैला है और कॉउंसिल से देश के साधारण आदमियों को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। इसके अतिरिक्त मैं यह भी देख रहा हूँ कि इसमें जो लोग कॉउंसिल में जाएँगे उनकी और अधिक ख्वारी होगी और वे और भी नीचे जाएँगे! कानपुर कांग्रेस ने अपने ऊपर इलेक्शन का काम लेकर देश को बहुत हानि पहुँचाई है। मैं कॉउंसिल में कतई नहीं जाना चाहता। अपना सौभाग्य समझूँगा, यदि इसकी छूत से बचा रहूँ। यहाँ का हाल यह है कि कानपुर में जान तो है और लोग साहस और जोश के भी हैं, किंतु उसके पास कॉउंसिल-युद्ध के लिए कोई उपयुक्त बलिदान नहीं है। डॉ. मुरारीलाल और डॉ. जवाहरलाल दोनों डेढ़-डेढ़ वर्ष के लिए सजायाब होने के कारण खड़े नहीं हो सकते। अब उनके लिए मैं ही एक ऐसा आदमी दिखाई देता हूँ, जिसे लेकर वे कानपुर के एक ऐसे आदमी के मुकाबले में सफलता की आशा करते हैं जो लाट साहब से हाथ मिलाने की ख्वाहिश पूरी करने के लिए पचास हजार रुपया खर्च करने का दम भरता है। कांग्रेस कमेटी ने एक मत से मेरा नाम रखा। मैंने इसका विरोध किया। हम दो ही विरोधी थे, मैं और बालकृष्ण। उसके बाद यह बात प्रांतीय कमेटी की कॉउंसिल के सामने गई। मैंने वहाँ स्पष्ट रूप से लिखकर भेजा कि मुझे माफ कीजिए, किंतु इस विनय पर कोई ध्यान नहीं दिया गया और वहाँ भी मेरा नाम रख दिया गया। उसे आपने पत्रों में देखा है। इसके बाद अब घरेलू युद्ध फिर छिड़ा हुआ है। मैं प्राण बचाता हूँ, किंतु देवी की उपासना करनेवाले बलिदान के लिए मुझे पकड़ते फिर रहे हैं। मैंने अंतिम निर्णय के लिए दस दिन की मोहलत माँग ली है, जो 10 जून को समाप्त होगी। मेरे विचारने की यह बात है कि यदि मैं बलिदान होने के लिए राजी नहीं होता, तो यहाँ के पुराने कार्यकर्ता कांग्रेस से इस्तीफा दे देंगे, क्योंकि वे कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेस

की प्रतिष्ठा को जाते नहीं देखना चाहते, बार-बार कांग्रेस की प्रतिष्ठा की दुहाई दी जा रही है। मैं यह बात पेश कर रहा हूँ कि मैं अपरिवर्तनवादी न होते हुए भी कॉउंसिल की उपयोगिता पर विश्वास नहीं करता और यह समझता हूँ कि जो बहुत साधारण सा अंतर इस समय स्वराजियों, प्रतिसहयोगियों और नेशनल पार्टियों में दिखाई दे रहा है वह इलेक्शन के बाद न रह जाएगा। मैं हिंदू-मुसलमानों के झगड़े का मूल कारण इलेक्शन को समझता हूँ, और कॉउंसिल में जाने के बाद आदमी देश और जनता के काम का नहीं रहता। मैंने कुछ बाहरी मित्रों से राय माँगी है। आप भी अपनी राय देने की कृपा करें। 10 जून तक कुछ निर्णय कर लूँगा। चतुर्वेदीजी, इस समय संकट में मैं आप जैसे मित्रों की संवेदना का अधिकारी हूँ।

मैं अपने सहयोगियों से शुष्क व्यवहार इसलिए भी नहीं कर सकता कि हमारे आपस के संबंध सदा बहुत कोमल रहे हैं।

आशा है, आप सानंद होंगे।

आपका

ग.शं. विद्यार्थी



श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
28.06.1926

मान्यवर पंडितजी,

प्रणाम!

आपका पत्र मिला। खुशी हुई। श्रीप्रकाशजी का अब क्या हाल है? कृपा कर उनके हाल की खबर एक बार और भेज दीजिए। आशा है, वे अच्छे होंगे। परम पिता उनको शीघ्र अच्छा करें। उनसे मेरा सप्रेम नमस्कार कह दीजिएगा।

मैं उस अवसर (विवाह) का हिसाब इस पत्र के साथ भेज रहा हूँ। मुझे जो खर्च याद आया, उसका ब्योरा है। यदि कहीं कोई भूल होगी, तो बहुत बड़ी कदापि न होगी।

आशा है, आप परिवार सहित सानंद होंगे।

प्राप्त—100 रुपए तार से, 13 रुपए बाई से ट्रंक के लिए, 50 रुपए चलते समय = 163 रुपए।

व्यय—हरिबाबू द्वारा खाने-पीने की व्यवस्था में 52।।)-, विधवाश्रम 25), ट्रंक 2।।), साबुन।।), ताँगा पहले दिन 1।।), तार काशी।।।), फूल 1), कहार 1), पंडित को 10), उनके शिष्य को 2), ताँगा (सुबह) 2), धोती जोड़ा पंडित को 4।।।), कटोरा और लोटा 2।।), खद्दर के जोड़े और दुपट्टे 15), फुटकर सामान 1।), योग 142।।) यह रकम मनीऑर्डर से कल भेजी जाएगी।

आपका दास
ग.शं. विद्यार्थी



श्री गुलाबचंद हरडा के नाम—

कानपुर कांग्रेस स्वागत समिति
02.12.1926

प्रिय हरडाजी,

वंदे!

आपके पत्र का उत्तर देने में देरी हुई, क्षमा कीजिए। इस बीच में मैं अधिकतर कानपुर से बाहर रहा। आपकी सहायता से कांग्रेस को बहुत लाभ होगा। आप 15 दिसंबर के बाद से कांग्रेस की समाप्ति तक पूरा समय कांग्रेस के लिए मुझे दीजिए। इस बीच में एक बार मुझसे मिल लेने की कृपा कीजिए। आपने टिकट व्यर्थ ही भेजा। उस तक से मैं आपको शीघ्र उत्तर न दे पाया। आशा है, आप सानंद होंगे।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी



श्री गुलाबचंद हरडा के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
10.12.1926

प्रिय गुलाबचंदजी,

वंदे!

आपका कृपा-पत्र प्राप्त हुआ। आपके कृपा-भाव के लिए मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। यह जानकर दुःख हुआ कि आपको कानपुर छोड़ देना पड़ा। क्या आपका आना-जाना अब कानपुर न हुआ करेगा। आशा है, आप अपने नए स्थान पर सानंद और सकुशल होंगे। मेरे योग्य काम की सूचना दीजिए।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी



श्री गुलाबचंद हरडा के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
25.10.1927

प्रिय गुलाबचंदजी,

वंदे!

आपका कृपा-पत्र मिला। पढ़कर चित्त को बहुत संतोष हुआ। ग्वालियर की उन्नति की छोटी-से-छोटी बात भी हृदय को बहुत आनंद देती है। ईश्वर ग्वालियर राज्य को देश का सर्वोत्तम भाग बनाएँ।

मैं आपके पत्र के अधिकांश को 'प्रताप' में दे दूँगा। साहित्य सम्मेलन के अवसर पर हो सका, तो अपने यहाँ से पं. बालकृष्णजी को भेज दूँगा। मेरी तबियत अच्छी नहीं है, इसके अतिरिक्त 29 अक्तूबर से एक सप्ताह तक कॉउंसिल की बैठक है। उसमें उपस्थित होने के लिए लखनऊ जाना पड़ेगा।

आप इस समय क्या कर रहे हैं? आप 'प्रताप' में ग्वालियर की बातें अवश्य लिखा करें। आप अपने को 'प्रताप' का ग्वालियर स्थित प्रतिनिधि समझें और इसी दृष्टि से जो कुछ लिखें, वह खूब प्रामाणिक लिखें।

आशा है, आप सानंद होंगे। मेरे योग्य कार्य लिखिएगा।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

कानपुर
19.11.1927

प्रिय चतुर्वेदीजी वंदे!

आपका कृपा पत्र प्राप्त हुआ।

आपके हृदय और परिश्रम का जितना अधिक विचार करता हूँ, उतना ही आदर और प्रेम से उनके सामने सिर झुकाने की इच्छा होती है। मुझे यथार्थ में बड़ा क्लेश होता है इस बात को अनुभव करके कि आपके ऐसे त्यागी कार्यकर्ता को इतनी मानसिक और शारीरिक बाधाओं के बीच ऐसा आवश्यक काम करना पड़ता है। आपने जो कुछ लिखा, वह मुझे हृदय से स्वीकार है। 'प्रताप' आपका है। आप वैसे कहें तो 'प्रताप' की सारी शक्तियाँ आपके चरणों में अर्पित हो जाएँ। चैरिटी की बात नहीं, ऐसी आत्माओं के कुछ भी काम आना सौभाग्य है, अपने काम का पोषण है, लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ना है। दैनिक 'प्रताप' 22 तारीख को निकलने लगेगा, आप उसके लिए छोटे-छोटे लेख लिखें। मैं समझता हूँ कि बड़े लेख कम पढ़े जाते हैं। एक अंक में बात पूरी हो जाए। आप हर मास 10, 12, 15 तक ऐसे लेख दें। आपकी जो आज्ञा होगी, 'प्रताप' उसे आपके चरणों में रखेगा।

हमने अभी यह तय किया है कि जिन लेखकों से दैनिक में लिखवाएँ, उन्हें एक रुपया कॉलम देंगे, परंतु आपके लिए आपकी आज्ञा हमें मान्य होगी।

योग्य सेवा आदेश दें।

भवदीय
ग. शं. विद्यार्थी

●

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
04.02.1928

प्रियवर वंदे!

मैं अजमेर और आगरा से घर आया, इसलिए चिरगाँव के फिर दर्शन न हो सके। आकर यहाँ हड़ताल के झमेले में फँस गया, इसलिए शीघ्र पत्र न लिख सका।

सब भाइयों को नमस्कार। लड़कों से वंदे, मुंशीजी से बंदगी।

विनीत
ग.शं. विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

कानपुर
09.02.1928

प्रिय चतुर्वेदीजी वंदे!

मैं बाहर था, इसलिए उत्तर शीघ्र न दे सका, क्षमा कीजिए। 'विशाल भारत'[1] का प्रथम अंक देखा। अभी पढ़ा नहीं। पत्र में मौलिकता तो है ही, किंतु इस संघर्षण के युग में चमक-दमक अधिक आकर्षक शक्ति बन रही है। अन्य पत्रिका तो एक-दूसरे को नीचे गिराने के लिए अपना दिवाला तक निकालने का प्रबंध कर रही हैं। पता नहीं इन पत्रिकाओं के इस ढंग से हिंदी को कितनी हानि पहुँचेगी।

मैं आपके जवाबी कार्ड का पैसा इस्तेमाल नहीं कर रहा, जैसा कि आप चाहते थे। मैं इस समय किसी व्यक्तित्व पर कुछ कहते हुए सहमत हूँ। प्रयत्न करूँगा कि इस गण का परिशोध ठीक कर डालूँ।

आशा है, आपको कलकत्ता रुचा होगा।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी



1. कलकत्ता से प्रकाशित मासिक 'विशाल भारत' को उसके प्रथम संपादक चतुर्वेदीजी (1928 से 37) का साहित्यिक अवदान माना जाता है। उन्होंने कई विशेषांक निकाले—रवींद्र अंक, पद्मसिंह शर्मा, कला और राष्ट्रीय अंक, जनपदीय साहित्य और हिंदी लेखकों के पत्र, हिंदी लेखकों की जीवनी, प्रवासी भारतीय आदि को राष्ट्रीय महत्त्व दिलाने में 'विशाल भारत' का योग माना गया है। वे गणेशजी को अपना प्रेरणा पुरुष मानते थे।

डॉ. वृंदावनलाल वर्मा के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
01.03.1928 ई.

प्रियवर वंदे!

आपका कार्ड मिला। मैं 4 ता. को झाँसी पहुँचा था। मालूम हुआ कि आप शिकार से 9 मार्च को लौटेंगे। 'गढ़ कुंडार' श्री रामनाथजी के पास भेज आया था, मिल गई होगी। आद्योपांत पढ़ गया। खूब लिखी गई। झाँसी वैसे न जाता, किंतु भगवतनारायण भार्गव का तार आया था। जाने पर यह सोचकर कि 'गढ़ कुंडार' पर अपने मन की कुछ आपसे कहूँगा, पहुँचा। किंतु इसका खेद रहा कि आप से भेंट न हुई। मुझे तो इस पुस्तक के पढ़ने में बहुत आनंद आया। अच्छा उपन्यास है। सर वाल्टर स्काट के अच्छे उपन्यासों की टक्कर का। मेरी राय से कहीं-कहीं अच्छे Retouching की आवश्यकता है। स्वामी आत्मानंद और पांडेय के चरित्रों, खंगार, क्षत्रिय, हिंदू भाव और मुसलमान वैभव के संघर्षण पर अब भी कुछ अधिक रंग देने की आवश्यकता है। पांडेय का चरित्र बहुत गूढ़ है। उसे और स्पष्ट होना चाहिए। आत्मानंद और भी अधिक Inspiring सिद्ध होना चाहिए। खंगारों में मदांधता की मात्रा उतनी होनी चाहिए जितनी यदुवंश में अस्त होते समय थी और फिर, विनाश के पश्चात् उनके पतन का एक हलका सा चित्र भी आँखों के सामने आ जाए तो और भी अच्छा हो। मिलने पर भी, और विशेष कह सकूँगा, किंतु इतना मुक्त कंठ से कहता हूँ कि पुस्तक बहुत अच्छी रहेगी, और उसका स्थान हिंदी के स्थायी उपन्यासों में होगा। कहीं-कहीं अतिवर्णन का कुछ दोष है, संभव है यह दोष मेरी अपनी रुचि का हो।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी

●

हिंदी सहित्य के वर्तमान 'स्वनामधन्य' अलोचकों की आँख खोल देने वाला यह पत्र है। कितनी स्पष्ट और सारगर्भित दृष्टि लेखक के लिए सन्निहित है। 'खंगार' वर्माजी के उपन्यास 'गढ़ कुंडार' का बहुत प्रभावशाली पात्र है। वर्माजी के 'झाँसी की रानी', 'मृगनयनी' आदि उपन्यासों के कारण उन्हें हिंदी का 'वाल्टर स्कॉट' कहा गया, जो गणेशजी का उनके विषय में प्रथम मूल्यांकन था।

डॉ. वृंदावनलाल वर्मा के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
10.04.1928 ई.

प्रियवर वंदे!

दूसरा उपन्यास भी मिला। उसे भी पढ़ चुका। मेरी राय उसके संबंध में बहुत अच्छी है। इन दोनों उपन्यासों को अब एक बार फिर देख जाऊँगा। यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आपने दोहराया नहीं, या दूसरी बार देखा ही नहीं। मिलने पर, मैं कुछ ब्योरे के साथ इनकी चर्चा करूँगा, किंतु इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि खूब लिखे गए। अच्छा चरित्र चित्रण है।

आप सी.पी. हो आए होंगे।

आपका
ग.शं. विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
10.10.1928

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे।

श्री···वाला लेख मुझे पसंद नहीं था। मैं उसमें उतना द्वेष नहीं मानता जितना बात कहने में सुरुचि का खयाल रखने की कमी। मैं 'तड़ातड़ ओझा' वाले लेख को बहुत कुरुचिपूर्ण, भद्दा और कुरुचिकारक समझता हूँ। मेरे जैसे बहुधंधी आदमी से भूलों का हो जाना अनिवार्य चीज सा है। हर चीज को देख सकना कठिन है। यही यहाँ हुआ। मुझे बहुत खेद है कि ऐसा भद्दा लेख 'प्रताप' में चला गया। जिस चीज का वह उत्तर है वह भी ऐसी ही भद्दी है, किंतु मैं निःसंकोच कहता हूँ कि उसका भद्दापन हमें अपनी कृति में औचित्य देखने की क्षमता प्रदान नहीं करता।

आप पत्रों के संबंध में कुछ लिखिए, अच्छा है। मैं 'प्रताप' के संबंध में इससे अधिक क्या बतलाऊँ कि 1913 में जन्म हुआ, 15 वर्ष से चल रहा है, दिन किसी प्रकार कट रहे हैं। ऐसा मालूम पड़ रहा है कि अब आगे ऐसे कंगलेपन से पत्र न निकाले जा सकेंगे जैसे कंगलेपन से 'प्रताप' का जन्म हुआ था। कुछ समय ही बदला सा मालूम होता है, अब आदर्शवादी पत्र शायद ही सफल हों। शायद अब उनके लिए समय ही न रहा हो।

आशा है, आप सानंद होंगे।

मैनेजर महोदय कहते हैं कि अभी तक विज्ञापनी रुपया नहीं मिला। यदि कुछ कम कराने की बात हो, तो कम करा दूँ।

आपका

ग.शं. विद्यार्थी

●

पं. सदगुरुशरण अवस्थी की आत्मकथा 'मार्ग के गहरे चिह्न' में संस्मरणात्मक लेख से इसका खुलासा होता है कि हिंदी-मराठी के पत्र···ने महात्मा गांधी पर भद्दी-कुरुचिपूर्ण टिप्पणी छापी। उत्तर में नवीनजी ने 'तड़ातड़ ओझा' के छद्म नाम से बहुत ही क्रोध भरा लेख लिखा, जो 'प्रताप' में छपा। गणेशजी ने इस लेख को 'प्रताप' के स्तर से निम्न माना है।

माखनलाल चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
04.02.1930

प्रियवर वंदे!

इस पत्र के साथ जो विज्ञापन है उसे कृपा करके एक मास तक 'कर्मवीर' में दे दीजिए। यह विज्ञापन भी बड़ी लड़की कृष्णा के संबंध में है। अब उसके विवाह की चिंता है। आगामी वर्ष करना चाहता हूँ।

मेरे योग्य सेवा लिखिएगा।

आपका
गणेशशंकर
विद्यार्थी

पुनश्चः इस विज्ञापन के संबंध में पत्र आप अपने नाम से भी मँगा सकते हैं। उस अवस्था में आप शिवनारायणजी का नाम न दें, अपना दें और जब कुछ पत्र आ जाएँ, तब मेरे पास भेज दें।

आपका
गणेशशंकर विद्यार्थी



पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
04.02.1930

प्रिय चतुर्वेदीजी,

वंदे!

आपका 9 दिसंबर का एक पत्र मेरी डाक में पड़ा हुआ था, वह आज फिर दिखाई दिया। बीमारी के कारण उत्तर न दे सका था। आज कुछ समय मिला, इसलिए आपके उस पत्र का उत्तर लिख रहा हूँ। दोनों आलोचनाएँ अर्थात् 'विशाल भारत' की और 'चाँद' के उस अंक की मेरी लिखी हुई थीं। आपने द्विवेदीजी[1] के पत्र की नकल भेजकर मेरी धारणा को और भी दृढ़ कर दिया। मैं उन्हें बहुत पहले से बहुत कोमल भावनाओं का व्यक्ति मानता हूँ। वे छोटी से छोटी अनुकंपा को नहीं भूलते और अपने निकट के आदमियों को इतना चाहते हैं कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है। ऊपर से उनमें इतनी शुष्कता दिखाई देती है कि दूर का आदमी उनसे सदा घबड़ाया करता है। आपने यह अवसर बुरा छोड़ा। दो-चार सौ रुपए की तो कोई बात नहीं है, अब भी मैं तैयार हूँ। आप जैसा पारखी ही उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। किसी समय भी आप समय निकालिए। आप जानते हैं कि जानसन बड़ा होते हुए भी इतना बड़ा न समझा जाता, यदि उसकी जीवनी का लेखक बॉसवेल न बनता। आप पूज्य

1. यह पत्र श्री चतुर्वेदीजी के लेख में उद्धृत है। यहाँ पूरा दिया गया है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938 ई.) 'सरस्वती' के संपादन काल (1903-20) में कानपुर में रहते थे। गणेशजी ने उन्हीं से हिंदी में लेखन व पत्रकारिता के मार्ग पर चलना सीखा था। द्विवेदीजी हिंदी के महान् साहित्यकार तथा आचार्य थे। उनकी ऊपरी रुक्षता के कारण उनके गुणों की चर्चा अधूरी रही थी। गणेशजी चाहते थे कि चतुर्वेदीजी उनकी संपूर्ण जीवनी लिखें जैसी उन्होंने सत्यनारायण कवि रत्न, दीबंधु एंड्रयूज व प्रवासी भारतीयों की लिखी थी। पत्र का उद्देश्य है, आचार्यजी के गुणों की और चतुर्वेदीजी की जीवनी-लेखन कुशलता का समन्वय हो, जिसका व्यय 'प्रताप' उठाने को तैयार था।

द्विवेदीजी के पास कुछ दिन अवश्य रह जाइए। संभव है, वे अभी जिएँ, किंतु किसी के जीने के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। उनमें कितने ही ऐसे गुण हैं कि आने वाली संतति उन गुणों की कथा सुनकर ही बहुत कुछ सीख सकेगी। आप उनके बॉसवेल बन जाइए। जो खर्च पड़ेगा, उसका जिम्मेदार मैं। अब संकोच न कीजिए। आपके पास भी कामों की कमी नहीं है, किंतु दो-तीन बार में आप कुछ सप्ताहों का समय निकाल सकते हैं।

आशा है, आप मेरी इस प्रार्थना पर पूरी तरह ध्यान देंगे। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

आपका

ग.शं. विद्यार्थी



कुँवर सुरेश सिंह के नाम—

सत्याग्रह कमेटी, श्रद्धानंद पार्क
ए.बी. रोड, कानपुर
17.04.1930

प्रिय कुँवर साहब,

वंदे!

आपके यहाँ कानपुर से हमारे पाँच कार्यकर्ता जा रहे हैं। इनमें अध्यक्ष श्री पितरेजी हैं। ये बहुत अनुभवी व देशभक्त हैं। मेरी इच्छा यह है कि वे लिखने-पढ़ने और संगठन का काम करें और उन्हें अभी आगे आने न दिया जाए। जरूरत पड़ने पर वे आगे बढ़ेंगे, किंतु अनावश्यक रूप में उन्हें आगे न बढ़ने दिया जाए। उनसे आपको संगठन के कार्य में खूब मदद मिलेगी।

आशा है, आप सकुशल होंगे। सब कार्यकर्ता भाइयों को नमस्कार।

आपका
गणेशशंकर विद्यार्थी



श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर के नाम—

'प्रताप' कार्यालय,
कानपुर
03.05.1930

मान्यवर पराड़करजी,

प्रणाम!

आपका कृपा पत्र मिला। मैं हर तरह से तैयार हूँ। कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि जमानत माँगी जाए, तो दी जाए, जब्त होने के लिए और जब जब्त हो जाए तो फिर पत्र बंद रखा जाए, किंतु इस संबंध में आप जो कुछ तय करेंगे, उसे हम लोग मान लेंगे। स्थानीय अधिकारी कानपुर के किसी पत्र से जमानत नहीं माँगना चाहते, किंतु हेली के सामने उनकी नहीं चलेगी। यह संभव है कि इस प्रांत में उस प्रकार की नादिरशाही न हो, जैसी देहली और कलकत्ते में हुई। इस बात पर भी सोच लेने की आवश्यकता है कि यदि एक-दो राष्ट्रीय पत्रों से जमानत माँगी गई और औरों से न माँगी गई, तो हम सब क्या करेंगे?

आशा है, आप अच्छी तरह होंगे।

विनीत
ग.शं. विद्यार्थी

●

---

26 जनवरी, 1930 को स्वतंत्रता की घोषणा का पाठ, मार्च-अप्रैल में गांधीजी का दांडी मार्च और देशभर में आंदोलन समर्थक पत्रों के प्रकाशन व प्रदर्शनों पर सरकार ने दमन का सहारा लिया। करीब साठ हजार लोग पकड़े गए और 27 अप्रैल, 1930 को नया प्रेस आर्डिनेंस 1930 लागू कर दिया गया। इसमें शराब की दुकान पर पिकेटिंग, विदेशी वस्त्र बहिष्कार और सत्याग्रह के साथ सरकारी नौकरी छोड़ने या टैक्स न देने पर भी सजा लगा दी गई। इस पर 'प्रताप', 'आज', 'अभ्युदय', 'हंस' आदि ने विरोधी लेख छापे, जिस पर सरकार ने जमानत के नए नियम लागू कर दिए। पत्र में इसी जमानत का संकेत है। पहली बार जमानत में 500 से 5000 दूसरी बार में 1000 से 10 हजार और छापाखाना जब्त करना शामिल था।
गांधीजी ने पत्रों को जमानत से इनकार करके पत्र स्वयं बंद कर देने की सलाह दी। 10 मई को 'आज' बंद हो गया, 'प्रताप' समेत 'वर्तमान', 'सुकवि' आदि से भी जमानत माँगी गई। यह पत्र बंद हुए।

बड़ी पुत्री कृष्णा देवी के नाम—

हरदोई जेल
अगस्त, सन् 1930

प्यारी कृष्णा,

प्रसन्न रहो!

अपनी माता से कह देना कि वह तनिक भी न घबराएँ। मैं बहुत अच्छी तरह हूँ। तबियत अच्छी है। मेरी वह चिंता न करें। ईश्वर की कृपा से मैं सकुशल घर लौटूँगा। इस समय उन पर जो विपत्ति है, देश के हजारों भले परिवारों पर वह विपत्ति है। हम लोग धर्म का काम कर रहे हैं। हम सबको यह संतोष होना चाहिए कि हमें जो कष्ट झेलना पड़ रहा है, वह किसी पाप-कर्म के लिए नहीं है। हमारे कष्टों से अवश्य ही परम पिता हमारा कल्याण करेंगे। इन कष्टों की समाप्ति के पश्चात् अच्छा समय आएगा। ईश्वर और धर्म की सत्ता पर विश्वास रखें।

सस्नेह
ग.शं. विद्यार्थी



बड़ी पुत्री श्रीमती कृष्णा देवी के नाम—

हरदोई जेल
सितंबर, सन् 1930

प्यारी कृष्णा

प्रसन्न रहो!

...वर्षा होने पर यहाँ हम लोगों को भी कष्ट होता है, अपनी बैरक में बैठे रहना पड़ता है। मैदान में, जो हमें आँगन के रूप में मिला हुआ है, घूमना-फिरना रुक जाता है। वैसे घूमने-फिरने के लिए काफी चौड़ी जगह है। मैं यह समझता हूँ कि हम लोगों की दशा कुछ वैसी ही है, जैसी कि बड़े घरों में रहनेवाली पर्दानशीन महिलाओं की होती है। तुम्हारी माताजी वर्षों परदे में रही हैं। उनसे कह देना कि यहाँ हम लोग उनकी उस दशा से दस-बीस गुना अच्छे ही हैं। इसलिए उन्हें मेरे संबंध में चिंता न करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि वह घबराती न होंगी। इस समय तो देश पर आँधी आ रही है। जो सब पर बीतेगी, वही हम लोगों पर भी बीतेगी।

सप्यार
ग.शं. विद्यार्थी



श्री माखनलाल चतुर्वेदी के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
27.11.1930

प्रियवर वंदे!

आपका पत्र मिला। आप गधे के गले में मोतियों की माला क्यों डाल रहे हैं। मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे जितने साहित्य-सेवी मित्र हैं वे सब पागल हो गए हैं। मैं साहित्य के मर्म को क्या जानूँ? किंतु आप लोगों ने ठोंक-पीटकर वैद्यराज बना डाला। मैं बड़ी कठिनाई में हूँ। क्या कहूँ और क्या न कहूँ? बालकृष्ण के कारण सम्मेलन के प्रपंच से छुटकारा भी नहीं पा सकता। मालूम नहीं आप लोग किस गड्ढे में पटकना चाहते हैं? साहित्य-सेवियों के सामने क्या कहूँगा और गोरखपुर में कैसी बीतेगी, इसकी चिंता तो इस समय उस चिंता से अधिक है जो हम लोगों के अपने-अपने परिवारों के संबंध में सरकार की ममता के कारण होनी चाहिए। इधर आप यह दूसरा बोझ लाद रहे हैं। आपकी कोमल कृति भेंट हो, तो मुझ जैसे शुष्क और अपारखी को? मैं तो आपके पद्यों और अपने संबंध में इस उक्ति को चरितार्थ समझता हूँ कि भैंस के आगे बीन बजे और भैंस बैठे पगुराय। आगे आपकी जो इच्छा हो, सो कीजिए। यदि आप अपने मोती हंस के सामने बिखेरने की जगह पर कौए के सामने डालना ही उचित समझते हैं, तो बेचारी दुनिया इसके सिवाय और क्या कर सकती है कि आपकी समझ पर जितना बन सके, उतना हँसे।

मैं इधर मियादी बुखार में पड़ गया था। एक मास तक रोग से पीड़ित रहा। अब भी कमजोरी है, किंतु अच्छा हूँ और कुछ काम भी करने लगा हूँ।

बालकृष्ण अब विवाह के लिए तैयार हैं। यदि उधर कोई अच्छी लड़की हो तो बताइए। मैं श्रीलोढ़े को भी लिखने वाला था। आप तो उनसे मेरा नमस्कार कहते हुए कह दीजिए। आप दोनों उद्योग करें, तो अब बालकृष्ण 'आजादी-

आजादी'[1] चिल्लाता हुआ ही बंधनों में बाँध दिया जाए। यह उसके लिए हितकर होगा। आशा है, आप सानंद होंगे। मेरे योग्य काम लिखिएगा।

आपका

गणेशशंकर विद्यार्थी



1. बालकृष्ण शर्मा (1897-1960) सन् 1917 से कानपुर आकर गणेशजी के पास रह रहे थे। उनका पहला विवाह सन् 1915 में हुआ था। शीघ्र ही वे विधुर हो गए।

पुत्र हरिशंकर विद्यार्थी के नाम—

हरदोई जेल
01.12.1930

प्रिय हरि,

…इन उलझनों में अब होशियारी से काम लेना सीखो। कुछ व्यावहारिक बुद्धि प्राप्त करने का तुम्हें इससे बढ़कर कोई अवसर प्राप्त न होगा। आजकल की शिक्षा एकांगी है। युवक व्यावहारिक ज्ञान से कोरे होते हैं, किंतु इस अवसर से तुम बहुत लाभ उठा सकते हो, जो आगे चलकर तुम्हारे लिए बहुत ही लाभदायक होगा।

शुभेच्छु
ग.श. विद्यार्थी



पुत्र हरिशंकर विद्यार्थी के नाम—

हरदोई जेल
09.12.1930

प्रिय हरि,

…सब कामों में स्वयं न उलझो। अधिकांश काम दूसरों से कराओ। दूसरों से काम करा सकना केवल स्वयं काम कर लेने की शक्ति से अधिक बड़ी शक्ति है। दूसरों से काम लेने में एक बात का खयाल रखो। जिसे जो काम सौंपा जाए, उसके संबंध में उस पर इतना विश्वास अवश्य करो कि जब तक काम बिगड़ने न लगे, तब तक उसे न टोको। शिकायत करनेवाले की ओर ध्यान न दो। किसी हालत में व्यग्र न हो। जितने व्यग्र होगे, वातावरण उतना ही अधिक व्यग्र बनाएगा। कभी कोई कठिन समस्या का निर्णय करना हो, तो तुरंत उसका निर्णय न करो, उसे नोट कर लो और रात में विचार कर सबेरे उसका निर्णय करो।

…मेरी यह स्पष्ट राय है कि इस साल तुम कॉलेज में नहीं पढ़ोगे। इस वर्ष पढ़ना-लिखना बंद। केवल स्वास्थ्य सुधारना आवश्यक है। बी.ए., एम.ए. की डिग्री से काम नहीं चलेगा। वह तो जब चाहोगे, तब मिल जाएगी, किंतु गया हुआ स्वास्थ्य हाथ नहीं आएगा और कमजोर शरीर जन्म भर कष्ट देता है। अपने भाई-बहनों को भी तंदुरुस्ती ठीक रखने की शिक्षा दो। ओंकार रोज व्यायाम करे और मैं तो चाहता हूँ कि कृष्णा, विमला और सरला भी लेटकर व्यायाम करना सीख लें।

सस्नेह
ग.शं. विद्यार्थी



श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के नाम—

प्रियवर वंदे!

आपका पत्र मिला। उत्साह तो हर एक लेखक में होता है, पर आपमें उस उत्साह को पूरा करने की धुने भी हैं। मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि दस वर्ष में आप भी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक हो जाएँगे। मैं आपके उत्साह की कद्र करता हूँ। आपका नोट इसी सप्ताह छप रहा है। बराबर लिखते रहें।

भवदीय
गणेशशंकर विद्यार्थी



श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (जन्म 1906 ई.) हिंदी में संस्मरण साहित्य के विख्यात लेखक को यह पत्र गणेशजी ने सन् 1929-30 के आस-पास लिखा था। पत्र की सही तिथि ज्ञात नहीं हो सकी। प्रभाकरजी ने उस समय हिंदी-सेवा प्रारंभ ही की थी।

माँ श्रीमती गोमती देवी के नाम—

पूजनीया माँ,

चरणों में प्रणाम!

मैं तुम्हें कुछ भी सुख नहीं पहुँचा सका। सदा कष्ट देता रहा। फिर कष्ट दे रहा हूँ। पिता की यह दशा है तो भी मैंने हृदय पर पत्थर धर लिया है। एक प्रकार से मैं बड़ा पापी हूँ। अम्माँ, इस बार और क्षमा करो। अगर इस बार मेरे पैर पीछे पड़ते हैं तो जिंदगी विष-तुल्य हो जाएगी। तुम्हारे पुण्य प्रताप से मैंने अब तक बहुत सहा है। तुम आशीष दो कि मेरा हृदय अटल बना रहे और मैं सबकुछ सह लूँ। तुम धीरज न त्यागना। धर्म का काम है। धर्म के मार्ग में विपत्तियाँ आती हैं, परंतु फिर बाद को फल अच्छा मिलता है। तुम आशीष दोगी तो मेरी आत्मा को बल मिलेगा।

हरि की माता तुम्हारे चरणों में है। उस स्त्री को आज तक मुझसे कोई सुख नहीं मिला। उसका हृदय सदा दबा हुआ रहा। जहाँ तक हो सके, उसके मन को उठाए रखना। एक बार चरणों के दर्शन करूँगा।

चरण-रज

गणेशशंकर



पुलिस व प्रशासन की हरकतों से गणेशजी प्रायः अपने चरित्रबल से अविचल रहते थे। किंतु स्नेहमयी माता व पिताजी उद्वेगकारी समाचार पाकर परेशान हो जाते थे।

अंतिम पत्र

श्रीमती इंदुमती गोयनका के नाम—

'प्रताप' कार्यालय, कानपुर
25.03.1931

आदरणीया बहनजी,

सादर नमस्कार!

मैं आपसे भली भाँति परिचित हूँ। मेरी धारणा है कि मैंने आपको कलकत्ते में आज से दस वर्ष पहले देखा था। उस समय आप बहुत छोटी थीं। यहाँ की दशा निस्संदेह बहुत बुरी है। हम लोग शांति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। आपकी यह इच्छा कि आप प्राणों पर खेलकर भी शांति के लिए प्रयत्न करें, बहुत स्तुत्य है, किंतु मैं अभी आपको आगे आने के लिए नहीं कह सकता। मुसलमान नेताओं में से एक भी आगे नहीं बढ़ता। पुलिस का ढंग बहुत निंदनीय है। अधिकारी चाहते हैं कि लोग अच्छी तरह से निपट लें। पुलिस खड़ी-खड़ी देखा करती है। मस्जिद और मंदिर में आग लगाई जाती है। लोग पीटे जाते हैं और दुकानें लूटी जाती हैं। यह दंगा तो कल ही समाप्त हो जाता, यदि अधिकारी तनिक भी साथ देते। मैंने अपनी आँखों से अधिकारियों की इस उपेक्षा को देखा है। ऐसी अवस्था में मैं आपको कैसे कहूँ कि आप आगे आइए। अधिकारियों को तो यह ईश्वरदत्त अवसर प्राप्त हुआ है। वे इस पर संतुष्ट हैं। ईश्वर उनके इस संतोष को भंग करे, इस बात को सभी भले आदमी चाहेंगे।

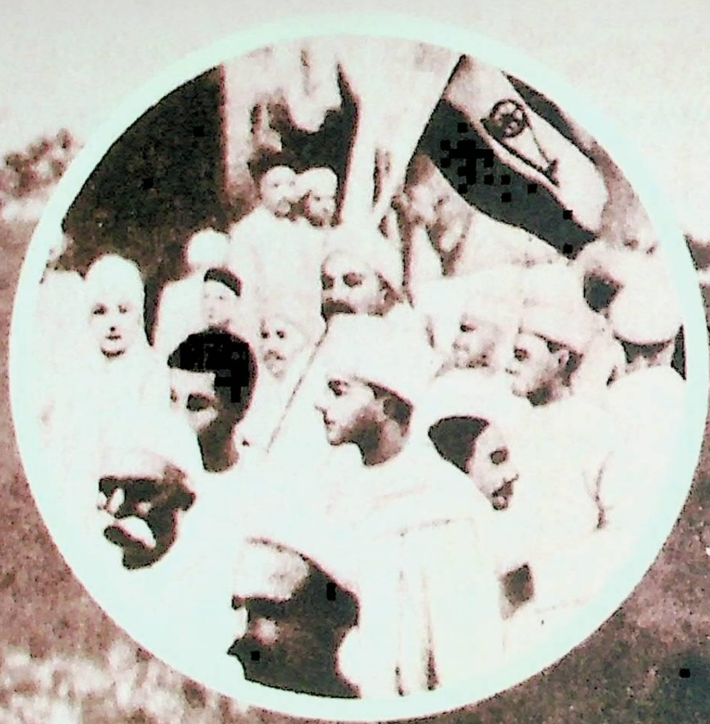
विनीत
गणेशशंकर विद्यार्थी



गणेशजी के अंतिम हस्तलेख से बढ़कर इसकी विशेषता एक और है। इस पत्र में घोर निराशा, असमर्थता और विवशता का वर्णन है, जैसा उन्होंने कभी नहीं किया था। यद्यपि 'प्रताप' बंद होने, मानहानि, जुलूसों में पथराव, पत्नी और पुत्रियों के प्लेग होने की आशंका सरीखे जटिल अवसर उन्होंने देखे थे। उनका विश्वास हिल

गया था, क्योंकि गत 24 मार्च की दोपहर से रात तक वे मित्रों के साथ दंगाइयों को निजी प्रभाव से जो कुछ रोक सके थे उसको कायम रखना पुलिस की मदद से ही हो सकता था। पुलिस ने तीन दिनों के दंगे में 25-30 गुंडे पकड़े थे—बयानों से प्रकट है कि कप्तान व्यक्तिगत बदला लेना चाहता था, इसलिए भगत सिंह की फाँसी का समाचार मिलते ही, जब युवक दुकानें बंद कराने गए थे, 'तंजीम' के समर्थकों से झगड़ा हो गया। तत्काल इसको पुलिस ने अपने गुंडे भेजकर दंगे में बदल दिया और गणेशजी पर तोहमत लगानी चाही। इसी में गणेशजी को आत्मोत्सर्ग करना पड़ा। उन्हें इस पत्र में हम एक नए रूप में पाते है—हताश और विवश तथा साजिश के शिकार। अध्येता यह भी देखेंगे कि गणेशजी हमेशा बराबर वालों से 'वंदे' और बड़ों को प्रणाम लिखते थे और प्राय: पूरा हस्ताक्षर भी नहीं करते थे। इसमें यह विवेचन भी उनकी मानसिक दशा का एक दर्पण है।





श्री मारवाड़ी
लाला कमलापत सिं



औद्योगिक जगत के आदर्श पुरुष स्वनामधन्य लाला कमलापत सिंहानिया का स्मरण देश के सुप्रतिष्ठित उद्योग समूह—जे.के. आर्गनाइजेशन के संस्थापक के रूप में किया जाता है। वे गणेशशंकर विद्यार्थी के अत्याधिक अभिन्न थे, व भामाशाह की तरह लोक-कल्याण के कार्यों में उदारता के साथ गणेशजी का सहयोग करते थे। उनके प्रेरणास्रोत लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और कर्मयोगी पं. मदन मोहन मालवीय थे। पारंपरिक वेशभूषा को गौरव के साथ अपनाने वाले लाला कमलापत का व्यक्तित्व बहु-आयामी था। उनके कर्मों में कर्मठता और अनुशासन का साम्य था। उनकी सहज विनोदप्रियता और करुणामयी दानशीलता जग जाहिर थी।

उस काल-खंड की लगभग सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों में लालाजी सक्रिय थे और महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन से प्रभावित होकर उन्होंने विदेशी कपड़ों की होली तो जलाई ही, साथ में महीन कपड़ा बनानेवाली इजिप्शियन रूई और विदेशी मशीनों का बहिष्कार करके अंग्रेजों के वर्चस्व वाले टेक्सटाइल उद्योग में एक बड़ी चुनौती का सफलतापूर्वक सामना करके उद्योग जगत् को चमत्कृत किया था। 8 अगस्त 1930 को स्वतंत्रता-संग्राम सेनानियों के तीन मील लंबे जुलूस का नेतृत्व करके उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक पंडितों को भी हतप्रभ कर दिया था।

मर्चेण्ट चैंबर यू.पी. के संस्थापक अध्यक्ष लालाजी का प्रसिद्ध कथन है, ''मैं विश्वास करता हूँ कि जो व्यक्ति अपने हाथों से काम करता है, उसका उसके फल के साथ एक गरिमामय, कुलीन, सुंदर और सम्मानजनक जीवन पर भी दावा बनता है।''

गणेशजी द्वारा संस्थापित-संचालित और संपादित ''प्रताप'' के जन्मशती वर्ष के अवसर पर लालाजी की पुण्य स्मृति में उनके यशस्वी पौत्र डॉ. गौर हरि सिंहानिया द्वारा प्रस्तुत ''युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी : व्यक्तित्व और कृतित्व'' उनका कीर्ति स्तंभ है।

'8 अगस्त, 1930—असहयोग आंदोलन का ऐतिहासिक जुलूस जिसका नेतृत्व लाला कमलापत सिंघानिया ने कि

मैं लड़ाई का पक्षपाती हूँ। मैं समस्त सत्ताओं का विरोधी हूँ, फिर चाहे वह सत्ता मौजूदा नौकरशाही की हो या जमींदारों की, धनवानों की हो या ऊँची जातियों की।

—विद्यार्थीजी, प्रताप, 1928 (इसी ग्रंथ से)

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी लोकोत्तर महापुरुष थे। उनकी स्मृति में प्रकाशित 'युगपुरुष गणेशशंकर विद्यार्थी' पूरे राष्ट्र को पुन: कर्तव्य पथ पर समारूढ़ कर सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

—स्वामी सत्यमित्रानंद गिरि

प्रस्तुत ग्रंथ वर्तमान समय में पूर्णत: उपयोगी है व देश और दुनिया को वर्तमान अंधेरे से बाहर लाकर 'विश्वबंधुत्व' के मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करेगा।

—डॉ. सै. कल्बे सादिक

विद्यार्थीजी राष्ट्रीयता, सामाजिक समरसता और जनकल्याण के लिए प्रतिबद्ध थे। उनके जीवन आदर्शों से प्रेरणा लेकर हम समता, समृद्धि और स्वाभिमान की भावना से परिपूर्ण राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं।

—**भैरोसिंह शेखावत,** पूर्व उपराष्ट्रपति, भारत सरकार

विद्यार्थीजी का पत्रकारीय मानक, निश्चय ही उन्हें युगद्रष्टा के रूप में प्रतिष्ठापित करता है। उनका 'प्रताप' हिंदी और पत्रकारिता का ही प्रताप नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय पत्रकारिता का प्रताप है।

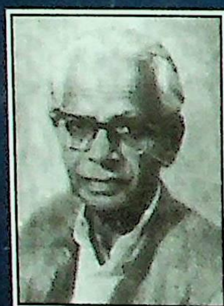
—सत्यप्रकाश त्रिपाठी

वह इंसानियत का मुजस्सिमा, अखलाक का पैकर, इत्तिहाद का अलम बरदार, तड़पती और बेचैन हालत में कभी हिंदुओं के मुहल्लों और कभी मुसलमानों के मोहल्लों में नजर आता था, जिसको हम दुश्मनान-ए-इंसानियत और बहशी लोग गणेशशंकर विद्यार्थी कहते थे।

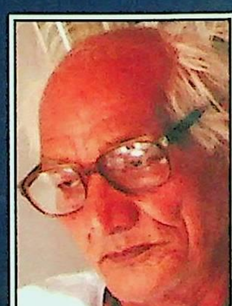
—रियाजुद्दीन

यह संकलन सर्वांग सुव्यवस्थित है। इसमें न तो कुछ छूटा है, न टूटा। च्युति एवं त्रुटि की अविद्यमानता ने ग्रंथ को प्रमाण-पुष्ट, संरक्षणीय तथा संस्मरणीय बना दिया है।

—डॉ. ब्रजलाल वर्मा


शिव वर्मा


डॉ. वी.सी. पांडेय


श्री तिलक

इस महत कार्य में सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री शिव वर्मा की सतत प्रेरणा और विश्वविख्यात इतिहासकार डॉ. वी.सी. पांडेय की परिकल्पना संपादक मंडल के पाथेय रहे हैं।

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com

